अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र

INTERNATIONAL ECONOMICS

डॉ. डी. एन. गुर्टू
बी. एससी. आनर्स (लंदन),
एम ए. (यू एस ए), पी-एच डी (यू एस ए)
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग
बिरला इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नालॉजी एण्ड साइंस, पिलानी

कॉलेज बुक डिपो, जयपुर

Topics for Study

1 The need for a separate theory of International Trade. The Theory of Free Trade. Trade under absolute cost differences and comparative cost differences. Trade with constant; diminishing and increasing unit costs. Heckscher-Ohlin theory. Factor price equalization.

2 Empirical varification of comparative cost and Hecksher Ohlin theories. Leontief paradox. Reciprocal demand. Marshall-Edgeworth offer curves. Determination of terms of trade and gains from trade.

3 Effects of tariffs on production, distribution and terms of trade effects of quotas. Custom unions. GATT. The cause for protection in less developed economies. Trade barriers to export of less developed economies. Stabilization of primary product prices. Role of UNCATAD. Regional Economic Co-operation between less developed economies.

4 Balance of payment, Exchange rates. The adjustment mechanism under gold standard, fixed exchange rates and flexible exchange rates. Effects of devaluation. Price effects and income multipliers. Exchange control. Role of the IMF. The problem of international liquidity. Destabilizing effects of short-term capital movement Long-term private investments, trends and problems. Foreign aid. Debt service burden of less developed economies. Role of IBRD and IDA.

5 Trends in the value, composition and direction of India's trade in recent years. Exchange control in India. Devaluation of the rupee in 1966 Role of the STC in India's foreign trade. India's balance of payments. Recent trends and present position.

Published by College Book Depot, Jaipur
Printed at Hema Printers, Jaipur

नवीन संस्करण की भूमिका

'अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र' का यह परिवर्द्धित एवं संशोधित संस्करण पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए अतीव हर्ष हो रहा है। इसमें तुलनात्मक लागत सिद्धान्त पर रिकार्डो, हैबरलर, हैक्सलर एवं ओहलिन आदि अर्थशास्त्रियों के विचारों का पृथक् से विवेचन किया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष, विश्व-बैंक तथा भारत के विदेशी व्यापार के विभिन्न पहलुओं का अद्यतन (up-to-date) बनाने के लिए नवीनतम आँकड़े प्रस्तुत किए गए हैं। प्रत्येक समस्या को उसके सम्पूर्ण परिवेश में रख कर देखने का प्रयास किया गया है। आशा है यह रचना विद्यार्थियों, शिक्षकों तथा विषय में सामान्य रुचि रखने वाले पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

रचनात्मक आलोचना तथा सुझाव सहर्ष स्वागतव्य हैं।

लेखक

दो शब्द

अन्तर्राष्ट्रीय जगत मे व्यापार और व्यवसाय का महत्त्व अत्यन्त प्राचीन काल से है किन्तु राष्ट्र-राज्यो के उदय ने इसे एक अपूर्व मोड़ दिया है। वर्तमान विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के बीच स्थित सम्बन्धो की प्रकृति न केवल राजनीतिक अथवा कूटनीतिक है वरन् यह मुख्य रूप से आर्थिक है। कार्ल मार्क्स की भाषा में समस्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार आर्थिक कारणों से अनुप्रेरित होते हैं। लेनिन ने समस्त अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों की जड़ में पूंजीवाद को माना है। विश्व का विभिन्न समूह मे विभाजन मुख्यतः आर्थिक कारण से ही है।

इस पृष्ठभूमि में यदि हम समाजवादी, पूंजीवादी और तीसरे विश्व-युद्ध की गतिविधियों का ज्ञान प्राप्त करना चाहें तो अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का अध्ययन परम आवश्यक होगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ इसी आवश्यकता की पूर्ति की दिशा मे एक प्रयास है। इसकी सार्थकता दिशा के विभिन्न सीमा-चिन्हो द्वारा निर्धारित की जा सकेगी।

लेखक

अनुक्रमणिका

1 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पृथक् सिद्धान्त की आवश्यकता

(THE NEED FOR A SEPARATE THEORY OF INTERNATIONAL TRADE)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अर्थ
(The Meaning of International Trade)

लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से विभिन्न व्यक्तियों अथवा व्यक्ति समूहों के बीच वस्तुओं के विनिमय को व्यापार कहते हैं। परन्तु यह व्यापार का सकुचित अर्थ है। *विस्तृत अर्थ में व्यापार उन सभी आर्थिक क्रियाओं को कहते हैं जिनसे* समाज में उत्पादित वस्तुओं के उपभोग के लिए वितरण किया जाता है। संक्षेप में व्यापार के अन्तर्गत उन सभी मानवीय क्रियाओं का समावेश होता है जो वस्तुओं के उत्पादन से वितरण तक की जाती हैं।

किसी देश के व्यापार को दो भागों में बाँटा जा सकता है—

(अ) *आन्तरिक व्यापार—वह व्यापार जो एक ही देश के विभिन्न स्थानों* या क्षेत्रों के बीच होता है उसे आन्तरिक व्यापार कहते हैं। जैसे भारत में जयपुर का कोई व्यक्ति अथवा फर्म नई दिल्ली के किसी व्यक्ति अथवा फर्म के साथ व्यापार करे तो यह आन्तरिक-व्यापार कहलाएगा। आन्तरिक व्यापार को गृह-व्यापार (*Home-Trade*), राष्ट्रीय-व्यापार (*National Trade*) तथा अन्तर क्षेत्रीय-व्यापार (Inter-Regional-Trade) भी कहते हैं।

(ब) अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की इकाइयाँ राष्ट्र होते हैं। जब दो या दो से अधिक राष्ट्रों के बीच वस्तुओं या सेवाओं का आदान-प्रदान किया जाता है तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार जन्म लेता है। अर्थात् जब एक वस्तु एक देश से दूसरे देश को भेजी जाती है अथवा मँगवायी जाती है तो यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कहलाता है। जैसे कि भारत द्वारा अमेरिका, रूस तथा जर्मनी आदि देशों से मशीनें तथा तकनीकी ज्ञान आदि का मँगवाना एवं अपने यहाँ से इन राष्ट्रों को सूखे मेवे, चाय, कॉफी, कच्चा लोहा, हस्तकला की परम्परागत वस्तुओं का भेजना अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में आते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बाह्य-व्यापार (External Trade) अथवा विदेशी-व्यापार (Foreign Trade) भी कहते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के तीन अंग होते हैं—यथा (1) आयात व्यापार, (2) निर्यात व्यापार, एवं (3) पुनर्निर्यात व्यापार। इन तीनो पक्षो अथवा अंगो का वर्णन आगे यथास्थान विभिन्न अध्यायों मे किया गया है। यहाँ हमारा मन्तव्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अर्थ को स्पष्ट करना है।

जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दो अथवा अधिक राष्ट्रों के मध्य होने वाला व्यापार है तो यह जानना आवश्यक है कि राष्ट्र क्या है? 'राष्ट्र' शब्द राजनीति शास्त्र के विद्यार्थियों की रुचि का प्रमुख विषय है, किन्तु आर्थिक दृष्टिकोण से भी इस शब्द का विशेष अर्थ मे प्रयोग किया जाता है जिसने अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय को सम्भव बनाया है। वेजहाट ने लिखा है कि "आर्थिक अर्थ मे एक राष्ट्र उत्पादकों का वह समूह है जिसमे श्रम एव पूंजी का संचार स्वतन्त्रतापूर्वक हो सकता है।"[1] भाषा, धर्म, संस्कृति, परम्परा एव भौगोलिक अन्तरो द्वारा राष्ट्रों के बीच अनेक असमानताएँ पैदा करदी जाती हैं और इनके परिणामस्वरूप उनके पारस्परिक व्यापारिक सम्बन्ध प्रभावित होते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग प्रायः सभी विचारको ने नहीं किया है। वेस्टेबल की भाँति कुछ विचारक राष्ट्र की अपेक्षा समाज शब्द का प्रयोग करना अधिक उपयुक्त समझते हैं। उनका कहना है कि "सामान्यतः सामाजिक विज्ञानो की दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विभिन्न समाजो के बीच का व्यापार है अर्थात् यह उन सामाजिक अंगों के बीच का व्यापार है जिनको समाजशास्त्र अपने अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत मानता है।"[2]

'राष्ट्र' शब्द के विशेष अर्थ के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दो विशेषताएं सामने आती हैं—(i) प्रत्येक राष्ट्र मे श्रम एवं पूंजी का संचार स्वतन्त्रतापूर्वक होता है अर्थात् अन्तर्देशीय स्तर पर उत्पादन के सभी साधनो मे गतिशीलता आसानी से स्थापित हो जाती है।

(ii) उत्पादन के साधन एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र तक गतिशील होने के लिए स्वतन्त्र नहीं होते। राष्ट्रीय कानूनों द्वारा अनेक ऐसे प्रतिबन्ध लगा दिए जाते हैं जो दूसरे राष्ट्रों के उत्पादन के साधनों को आने मे रोक देते हैं तथा स्वयं के साधनो को वहाँ जाने से प्रतिबन्धित कर देते हैं। सस्थापक अर्थ-शास्त्रियों (Classical Economists) के मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की यह विशेषता सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। मि क्लीमेंट (M. O Clement) तथा अन्य के कथनानुसार व्यापार उन

1 "A Nation in the economic sense-that is a group of producers, within which labour and capital freely circulate" —*Bagehot*

2 "From the point of view of social science in general, we may further say that international trade is trade between 'societies' i. e between the different social organisms which sociology assumes as its field of investigation" —*Bastable, C. F* The Theory of International Trade, p 5

दुनिया मे होते हैं जहाँ माल की गति तथा उत्पादन के तत्व की गतिशीलता अपूर्ण होती है।[1]

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का जन्म
(The Origin of International Trade)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रचलन अनेक कारणो से लोकप्रिय बना है। अनेक स्थितियों ने इसके जन्म एव विकास पर प्रभाव डाला है। इसकी परम्पराओं के जन्म का मूल कारण *अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन* है। इस सम्बन्ध मे *मि हैरॉड लिखते हैं*— साधारणत विनिमय को श्रम-विभाजन के द्वारा आवश्यक बनाया जाता है। जब यह श्रम विभाजन राष्ट्रीय सीमाओं को पार कर लेता है तो विदेश व्यापार का जन्म होता है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन का आवश्यक परिणाम है।"[2] प्रत्येक देश स्वावलम्बी बनने के लिए एक विशाल अनुपात मे श्रमिको को प्रमुख वस्तुओ के उत्पादन म तथा शेष श्रमिको को अन्य वस्तुओ के उत्पादन मे लगाता है। जिस प्रकार दो व्यक्तियो की योग्यताएँ एव क्षमताएँ एक जैसी नहीं होतीं उसी प्रकार दो देशो की योग्यताओं एव क्षमताओं के बीच भी असमानता पाई जाती है। जो देश जिस वस्तु के उत्पादन मे अधिक क्षमता एव कुशलता रखता है उसे वही वस्तु उत्पादित करनी चाहिए। इससे वह स्वय भी लाभान्वित होगा और दूसरे देश भी स्वय उत्पादन करने की अपेक्षा उस वस्तु का आयात करने से लाभ मे रहेंगे। प्रत्येक देश की सुविधाएँ भिन्न होती है। अत उनके बीच स्वभावत ही श्रम-विभाजन हो जाता है।

श्रम विभाजन को आवश्यक एव उपयोगी बनाने वाली अनेक परिस्थितियाँ हैं—(i) *देशों के प्राकृतिक साधनो का अन्तर*—कुछ देश खनिज पदार्थों की दृष्टि से सम्पन्न होते हैं जबकि दूसरे देशों मे इनका अभाव होता है। कुछ देशो का जलवायु कुछ चीजो के उत्पादन के लिए बहुत अच्छा होता है और इसलिए वहाँ ऐसी चीजो को बहुतायत मे उत्पन्न करके उनका निर्यात किया जाता है। इस प्रकार प्राकृतिक साधन अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन को जरूरी बना देते हैं।

(ii) *विभिन्न देशों की जनसख्या असमान होती है*—अधिक जनसख्या वाले देश इतना अधिक उत्पादन नहीं कर पाते कि उनकी जनता के लिए वह पर्याप्त हो सके। दूसरी ओर कम जनसख्या वाले देशो मे सामग्रियो का उत्पादन वहाँ की जनता की माँग से अधिक किया जाता है। यह स्थिति आयात और निर्यात को जरूरी बना देती है।

1 "Trade occurs in a world where the movement of goods and the mobility of productive factors are more or less imperfect" —*M O. Clement, Richard L Pfister and Kenneth J Rothwell* : Theoretical Issues in International Economics, Constable, London, 1967, p 3

2 "An exchange in general is necessitated by the division of labour, so foreign trade appears when the division of labour is pushed beyond national frontiers It is the necessary consequence of an international division of labour" —*Harrod* : International Economics, p 9

(iii) प्राकृतिक साधनों की भांति मानवीय गुणों के आधार पर भी राष्ट्रों के बीच अन्तर रहता है—कुछ देश शारीरिक श्रम की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं जबकि दूसरे दस्तकारी की दृष्टि से कुशल होते हैं। देश का राजनीतिक एवं सामाजिक वातावरण और दीर्घकालीन जातिय व्यवस्थाएं इस प्रकार के अन्तरों का कारण होती हैं। शारीरिक श्रम की आवश्यकता वाले उद्यमों को उन देशों में अपनाया जाएगा जहां स्वस्थ और शक्तिशाली जनता निवास करती है। दूसरी ओर जिन कार्यों में बुद्धि, साहस एवं योग्यता की आवश्यकता है उन्हें प्रगतिशील, शिक्षित एवं वैज्ञानिक ज्ञान सम्पन्न समाज में अपनाया जाएगा।

(iv) **विभिन्न देशों की पूंजी का प्रकार अलग-अलग होता है**—कहीं चल पूंजी अधिक होती है तो कहीं अचल पूंजी अधिक होती है। इस प्रकार के अन्तर के आधार पर देशों के बीच विशिष्टीकरण किया जाता है।

(v) विभिन्न देशों के राजनीतिक तथा सामाजिक वातावरण के भिन्न होने के कारण भी उनके बीच विभिन्नताएं स्थापित हो जाती हैं। ये श्रम-विभाजन को जरूरी बना देती हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यकता
(Necessity of International Trade)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आज के युग की आवश्यकता बन चुका है। यद्यपि इसका महत्त्व सभी देशों के लिए एक जैसा नहीं है फिर भी कोई देश इसकी अवहेलना नहीं कर पाता। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कई कारणों से जरूरी बन जाता है, इसमें भाग लेने वाले प्रायः सभी पक्ष लाभान्वित होते हैं तथा इससे किसी का कोई अनिष्ट नहीं होता। इसमें आयात करने वाला देश भी उतना ही लाभान्वित होता है जितना निर्यात करने वाला देश होता है। जब विभिन्न देशों के बीच मूल्य-अनुपात भिन्न-भिन्न होता है तो सस्ती चीजों को एक देश खरीद लेता है और महंगी चीजों को बेच देता है। मांग की लोच के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ की मात्रा निर्धारित होती है। इसी के अनुसार व्यापार की शर्तें तय की जाती हैं। मांग जितनी अधिक लोचदार होती है, उतना ही अधिक लाभ होता है और जितनी कम लोचदार होती है उतना ही कम लाभ होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यकता आधुनिक युग में जिन कारणों से है उन कारणों को दो भागों में बांटा जा सकता है—

(क) आर्थिक कारण

(ख) गैर-आर्थिक कारण

(क) आर्थिक कारण

(i) श्रम-विभाजन—जो देश जिस चीज के उत्पादन का विशेषज्ञ होता है वह उसे स्वयं बनाता है और उसे दूसरे देशों को निर्यात करता है अन्य वस्तुओं का वह उन देशों से आयात करता है जो उन चीजों के उत्पादन के विशेषज्ञ हैं। मि. बेस्टेबेल के मतानुसार अनेक वस्तुएं ऐसी हैं जिनको एक देश पर्याप्त कम कीमत पर

उत्पादित नहीं कर सकता है। ऐसी स्थिति में ये चीजें अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय द्वारा अत्यन्त सरलता से प्राप्त की जा सकती हैं।

(ii) प्राकृतिक साधनों का पूर्ण उपयोग—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उपलब्ध प्राकृतिक साधनों का अधिकतम उपयोग सम्भव हो जाता है। प्रायः प्रत्येक देश में कुछ विशेष प्राकृतिक साधन उपलब्ध होते हैं जिसके उत्पादन में वह देश विशिष्टता प्राप्त कर लेता है और उसमें उसे तुलनात्मक रूप से अधिक लाभ प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रत्येक देश अपने प्राकृतिक साधनों पर आधारित उद्योगों को अपने यहाँ विकसित करता है जिससे उसके प्राकृतिक साधनों का अधिकतम उपयोग सम्भव हो जाता है। बेस्टेबेल के मतानुसार देश की उत्पादन शक्तियाँ देश के प्राकृतिक-साधनों का स्वतन्त्र उपयोग करती हैं। जिसमें अधिकतम लाभ की सम्भावना रहती है और इस कारण उत्पादन इकाई की मान्यता बढ़ जाती है।

(iii) औद्योगीकरण को बढ़ावा—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार औद्योगीकरण को भी बढ़ावा देता है। औद्योगीकरण के लिए जब किसी देश के पास किसी वस्तु जैसे कच्चा माल, मशीनें आदि का अभाव होता है तो उसे विदेशों से आयात करके पूरा किया जा सकता है। भारत विदेशों और तकनीकी ज्ञान का आयात करके औद्योगिक विकास को बढ़ावा देता है। जापान और इंग्लैण्ड कच्चे माल के लिए दूसरे देशों पर निर्भर रहते हैं।

(iv) आर्थिक संकट काल में सहायता—आर्थिक संकट के कष्टों को भी विदेशी-व्यापार की सहायता से कम किया जा सकता है। यदि किसी देश में अकाल या खाद्यान्न की कमी हो जाए तो उस कमी को बाहर से अन्न मँगाकर दूर किया जा सकता है। उदाहरणार्थ हमारे देश में गत कुछ वर्ष पूर्व अन्न की कमी को अमेरिका से PL–480 के अन्तर्गत गेहूँ का आयात करके पूरी की गई।

(v) रोजगार एवं आय में वृद्धि—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की अवस्था में देश का निर्यात-व्यापार बढ़ता है। फलतः निर्यात उद्योगों में लगे श्रमिकों की मजदूरी में वृद्धि होती है और इसके फलस्वरूप अन्य उद्योग एवं व्यवसायों में कार्यरत श्रमिकों की आय में भी वृद्धि होती है। इस प्रकार सम्पूर्ण देश की आय का स्तर ऊँचा होना और विकास की प्रक्रिया सचयी हो जाती है।

(vi) बाजार का विस्तृत क्षेत्र—अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार के कारण वस्तुओं एवं सेवाओं की बाजार की सीमा बहुत ही विस्तृत हो जाती है। व्यापार का क्षेत्र बढ़ जाने के कारण देश को अपने प्राकृतिक संसाधनों के पूर्ण उपयोग का अवसर मिल जाता है। बड़े बाजार से अधिक प्रत्यायों के प्राप्त होने से विनियोगों को बढ़ाने वाले बलों को शक्ति मिलती है।

(vii) एकाधिकारों पर रोक—विदेशी-व्यापार के कारण देश के व्यापारी आपस में संगठन करके एकाधिकार की स्थापना नहीं कर सकते हैं और न एकाधिकार मूल्य ही ले सकते हैं, क्योंकि उन्हें सदैव विदेशी-प्रतियोगिता का खतरा बना रहता है।

(viii) बड़े पैमाने पर उत्पादन—विदेशी-व्यापार के कारण जब बाजार का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है तो देश को अपने प्राकृतिक-साधनों का पूर्णतम उपयोग करने की सुविधा प्राप्त हो जाती है। इस कारण उत्पादन की मात्रा अधिकतम बिन्दु तक पहुँच जाती है जिससे आर्थिक प्रगति को बढ़ावा मिलता है। प्रो० हिक्स के मतानुसार "विदेशी व्यापार करने के लिए किसी देश को बड़े पैमाने पर उत्पादन करने से लाभ होने लगता है।"

(ix) उत्पादन विधि में सुधार को बढ़ावा—अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार की अवस्था मे विदेशी-प्रतियोगिता के भय के कारण देश के उत्पादक अपनी उत्पादन-विधियों मे सुधार करने के लिए सदैव सचेष्ट एवं कार्यशील रहते हैं। क्योंकि तभी वे अपनी वस्तुओं का उत्पादन अधिक अच्छा और कम लागत पर करने एवं बाजारों को बनाए रखने मे सफल हो जाते हैं। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार के कारण उत्पादन मे निरन्तर सुधार होता रहता है। जिससे सम्बन्धित देश को उत्पादन के क्षेत्र मे बड़ा लाभ होता है।

(x) कच्चे माल की उपलब्धता—विदेशी-व्यापार के माध्यम से आवश्यक कच्चे माल, मशीनरी तथा शिल्प योग्यता विदेशों से मँगवाकर देश के औद्योगीकरण को आगे बढ़ाया जा सकता है।

(xi) उपभोक्ताओं को वस्तुओं का सस्ती कीमत पर मिलना—विदेशी व्यापार के द्वारा उपभोक्ता को न केवल वे वस्तुएँ प्राप्त होती हैं, जो स्वयं उसके देश मे नहीं होती, वरन् वह वस्तुएँ उन देशों से खरीद सकता है जहाँ उनकी कीमतें न्यूनतम होती है। इससे मानव-समाज के रहन-सहन के स्तर मे वृद्धि हो जाती है।

(xii) मूल्यों में समता—विदेशी-व्यापार द्वारा मूल्यो मे समता स्थापित होती है। यदि एक स्थान पर वस्तु का मूल्य कम है और दूसरे स्थान पर अधिक है तो कम मूल्य वाले स्थान से वस्तु अधिक मूल्य वाले स्थान पर मँगाई जाएगी। परिणाम स्वरूप इस स्थान पर पूर्ति मे वृद्धि हो जाने पर मूल्य मे कमी आ जाएगी। इस प्रकार व्यापार मे सुविधाओं के कारण मूल्य मे समानता आने की प्रवृत्ति रहती है।

(ख) गैर-आर्थिक कारण

(i) शिक्षाप्रद महत्त्व—जिन देशों के लोग निश्चय, अकर्मठ, असभ्य, पूर्ण सन्तुष्ट या अविकसित होते हैं और वे अपने किसी लक्ष्य को प्राप्त करने में अपनी समस्त शक्तियों का प्रयोग नहीं कर पाते होते हैं ऐसे देशों मे विदेशी व्यापार शुरू होने से नए लक्ष्यों से उनका परिचय बढ़ता है तथा उन वस्तुओं को आसानी से प्राप्त करने की लालसा पैदा हो जाती है जिन्हे वे पहले अप्राप्य समझते थे, और यह सब शिक्षा का आयात करने से होता है। परिणामस्वरूप उस राष्ट्र मे नई शक्ति का संचार होता है तथा लोगों मे प्रतियोगिता की भावना बढ़ जाती है जिससे कि वे भी समृद्ध राष्ट्र के लोगो के समान अपना जीवनयापन कर सकें।

(ii) सांस्कृतिक महत्त्व—विदेशी-व्यापार से विभिन्न देशो के बीच व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं जिससे व्यापारिक प्रतिनिधि मण्डल एक देश से दूसरे देश

का आते जाते रहते हैं । इस प्रकार भिन्न-भिन्न संस्कृति के लोग एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं । इससे एक देश के निवासियों के रीति-रिवाज राजनैतिक आचार विचार के सम्बन्ध में ज्ञान बढता है । वे एक दूसरे को समझने लगते है, आपस में सामञ्जस्य स्थापित होता है । विश्व एकता का बढावा मिलता है । इसीलिए कहा जाता है कि 'अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार सभ्यता का सबसे बड़ा प्रचारक है।"

(iii) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और एकता की स्थापना—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के द्वारा विभिन्न राष्ट्र पारस्परिक सम्पर्क में आते हैं एक दूसरे को समझने लगते हैं तथा परस्पर अच्छे सम्बन्ध बनाते हैं जिसके कारण आपसी सहायता की भावना सभी देशों के अन्दर जाग्रत हो जाती है और राजनैतिक-शान्ति में वृद्धि होती है। जब अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति होती है तो मानव-जाति के विचार संस्थाएँ और संस्कृति का पूर्ण विकास हो पाता है। आज विश्व में ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहाँ राजनैतिक-सम्बन्ध न होने पर भी आर्थिक-सम्बन्ध स्थापित हुए हैं और बाद में आर्थिक-सम्बन्धों के फलस्वरूप राजनैतिक सम्बन्ध भी स्थापित हो गए हैं। जैसे कि भारत एवं तैवान के मध्य राजनैतिक सम्बन्ध न होने पर भी भारत ने तैवान को मालगाडी के डिब्बो का निर्यात कर आर्थिक सम्बन्ध स्थापित किए। इस आर्थिक सम्बन्ध के बाद दोनो देशों में राजनैतिक-सम्बन्ध व सहयोग में वृद्धि हुई।

इस प्रकार अनेक कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लाभदायक एवं आवश्यक बन जाता है। यह देश के साधन स्रोतों का अधिक से अधिक उपयोग करने का अवसर देता है। इससे एक देश के लोग बचत कर सकते हैं—उन्हें पूंजी की रचना में सहायता मिलती है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्शल ने बताया है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से दोहरा लाभ होता है—इससे देश में उपलब्ध साधनों का अधिकतम उपयोग किया जा सकता है तथा विदेशों से वस्तुएँ मँगाकर देशवासियों की आवश्यकताएँ पूरी की जा सकती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अनेक कारणों से एक ऐसा आकर्षण पैदा हो जाता है जो प्रायः राष्ट्रीय व्यापार में नहीं हो पाता। व्यापार करने वाले को नए-नए स्थानों पर घूमना होता है, अनेक चीजें देखनी होती हैं, नए लोगों के साथ व्यवहार करना होता है। विचारकों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को सभ्यता का सबसे बड़ा प्रचारक माना है।

अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार का महत्त्व या उसके लाभ
(Importance or the Advantages of International Trade)

जिन कारणों एवं परिस्थितियों ने राष्ट्रों के व्यापार को प्रोत्साहन दिया है वे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आधार बने हैं। प्राकृतिक साधनों का असमान वितरण, श्रम की मात्रा में अन्तर, जलवायु की अनुकूलता एवं प्रतिकूलता की स्थिति आदि के प्रभाव से एक राष्ट्र किसी वस्तु विशेष का उत्पादन तो अधिक कुशलता एवं कम व्यय में कर सकता है, परन्तु दूसरा देश ऐसा करने की क्षमता नहीं रखता है। विभिन्न राष्ट्रों के तकनीकी विकास एवं वैज्ञानिक आविष्कारों के स्तर का अन्तर वहाँ किन्हीं वस्तुओं के उत्पादन को अन्य की अपेक्षा अधिक कर देता है। निन

वस्तुओ के उत्पादन में एक राष्ट्र दक्ष होता है वे वस्तुएँ आवश्यकता से अधिक उत्पादित की जाती हैं जबकि अन्य चीजों का उत्पादन पर्याप्त नही हो पाता है।

अतः आवश्यक है कि वह देश अतिरिक्त उत्पादित वस्तुओ का दूसरे देशों को निर्यात करे और जो वस्तुएँ वह पर्याप्त मात्रा मे पैदा नही कर पाता है उनका दूसरे देशो से आयात करे जहाँ पर इनका उत्पादन क्षमता एव कम मूल्य के साथ होता है। इस दृष्टि से आज की दुनिया का प्रत्येक राष्ट्र परावलम्बी है। दूसरे के सक्रिय सहयोग एवं समर्थन के बिना वह अपना जीवन व्यवस्थित रूप मे संचालित नही कर सकता है। इस स्थिति ने सारे संसार को एक इकाई बना दिया है। परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आज जनजीवन के लिए परम महत्त्वपूर्ण है।

(क) यह देश के कृषि, उद्योग, श्रम एवं समाज की दृष्टि से पर्याप्त महत्त्व रखता है, यह न केवल एक देश के जीवन स्तर को ऊँचा बनाए रखने के लिए जरूरी है, वरन् इसके बिना कुछ देश तो अपनी जनसख्या का पर्याप्त मात्रा मे पोषण भी नहीं कर पाते। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अभाव मे कुछ देश कच्चे माल को लेकर बैठे रहेंगे जबकि दूसरे देश खाली मशीनो का दर्शन करते रहेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार जैसाकि वाल्टर क्रोज का कहना है—"अधिक लोगों को जीवित रहने की सुविधा देता है। उन्हे विभिन्न रसों का आनन्द लेने और अपने जीवन स्तर को ऊँचा बनाए रखने की सुविधाएँ देता है।"[1]

(ख) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एक देश की कृषि की स्थिति को बढाने मे सहयोग करता है, क्योंकि आवश्यक यन्त्रों एवं खाद्य आदि वस्तुओं को आसानी से उपलब्ध किया जा सकता है। कृषि उत्पादन अत्यधिक होने पर उसे कमी वाले प्रदेशो मे भेज दिया जाता है। यदि ऐसा नही किया जाता तो कृषि उत्पादन कम करना होगा और देश की अर्थ-व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ेगा।

(ग) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विभिन्न उद्योगों पर अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव डालता है। एक देश के उद्योग-धन्धे तभी चल सकते हैं जब उनके लिए उपयुक्त कच्चा माल प्राप्त किया जा सके। कच्चे माल के अभाव में उद्योग धन्धों का पर्याप्त विकास नही हो पाता।

(घ) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार श्रमिकों के लिए पर्याप्त महत्त्व रखता है, इससे उनकी आय अधिक हो जाती है। अनेक देशों के मजदूरो की आय का प्रमुख स्रोत विदेशी व्यापार होता है। श्रमिको को प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष दोनों रूप मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा प्रभावित किया जा सकता है। आयात और निर्यात का काम सम्भालने के लिए अनेक मजदूरों को रोजगार मिलता है। कभी-कभी ऐसा लगता है कि आयात के कारण देश मे रोजगार की सम्भावनाएँ कम हो जाएँगी, किन्तु यह सोचना सही नहीं है क्योंकि आयात के द्वारा निर्यात का सृजन भी किया जाता है। यदि

1 "International Trade permits more people to live, to gratify more varied tests and to enjoy a higher standard of living than would be possibe in its absence." —*Walter Krause* : The International Economics, p. 3.

कोई देश केवल आयात करे और निर्यात न करे तो कुछ समय में ही उसकी अर्थ-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाएगी।

(च) आयात और निर्यात के द्वारा समाज के विभिन्न वर्गों को लाभ होता है इससे उपभोक्ता लाभान्वित होते हैं क्योंकि उनकी आवश्यकता की अनेक चीजें विदेशों से आयात की जाती हैं। इसके अतिरिक्त यह उत्पादकों के लिए लाभदायक है क्योंकि अनेक यन्त्र, रसायन पदार्थ, विभिन्न प्रकार की धातुएँ एवं अन्य अनेक वस्तुएँ आयातित की जाती हैं जिनसे उत्पादकों को उत्पादन करने में सरलता होती है।

(छ) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण होता है। राष्ट्रीय सुरक्षा का ध्यान में रखकर ही समय-समय पर विभिन्न देशों की सरकारें अपनी आयात और निर्यात की नीति में परिवर्तन करती रहती हैं।

(ज) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तकनीकी विकास को सम्भव बनाता है, इसके कारण जो प्रतियोगिता जन्म लेती है उससे देश में उत्पादित वस्तुओं के गुण एवं मात्रा में वृद्धि हो जाती है। देशी व्यापारी अपनी वस्तु को श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। आयात और निर्यात देश को विभिन्न साधनों से सम्पन्न बनाते हैं और प्रकार उसकी सुरक्षा का सहारा देते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विभिन्न देशों के आर्थिक विकास को सम्भव बनाता है और जो देश अपने विकास के लिए आवश्यक उपकरणों का स्वयं नहीं बना सकते वे उनका आयात करते हैं। पारस्परिक निर्भरता बढ़ जाने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहन मिलता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अध्ययन का महत्व आज के राष्ट्रवादी एवं अन्तर्राष्ट्रवादी युग में अत्यन्त बढ़ गया है। प्रो. किंडलेबर्गर के शब्दों में "बढ़ते हुए राष्ट्रवाद की दुनिया में, अथवा बढ़ते हुए अन्तर्राष्ट्रीयतावाद या दोनों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र ज्ञान और समझौतों का एक महत्वपूर्ण साधन है।"[1]

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की हानियाँ
(Demerits of International Trade)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आवश्यक एवं उपयोगी होते हुए भी अनेक प्रकार से नुकसानदायक बन जाता है। इसके ये विभिन्न दोष, इतने स्वाभाविक एवं अपरिहार्य नहीं हैं। कुछ सावधानी बरतने के बाद इन पर रोक लगाई जा सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्भावित दोष अग्रलिखित हैं—

(1) इसमें प्राकृतिक सम्पदा का दुरुपयोग किया जाता है। जब एक देश केवल अपनी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर उत्पादन करता है तो उसके सीमित साधन धीरे-धीरे समाप्ति की दिशा में अग्रसर हो जाते हैं।

1 "In a world of rising Nationalism, rising Internationalism or both, International Economics is an important tool of understanding and negotiation."
—*Charles P. Kindleberger* : International Economics, 1963, p 12

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण, कोयला, पेट्रोल, मैंगनीज आदि विभिन्न पदार्थों का अधिक से अधिक प्रयोग किया जाता है। इससे इनके शीघ्र समाप्त होने का अन्देशा बढ़ जाता है। खनिज पदार्थ एक बार काम में आने के बाद समाप्त हो जाते है। यदि इनका प्रयोग राष्ट्रीय आवश्यकताओं की दृष्टि से ही किया जाए तो ये इतनी जल्दी समाप्त न हों।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व्यापारियों को यह लालच देता है कि वे लाभ कमाने के लिए वस्तुओं का निर्यात अधिक करें। इसके परिणामस्वरूप देश मे वस्तुओं की कमी आ जाती है और कीमतें बढ़ जाती हैं। इस प्रकार देशवासी उन वस्तुओं के उपयोग से वंचित रह जाते हैं। फलत. उनका जीवन स्तर गिरना प्रारम्भ हो जाता है।

(3) विदेशी प्रतियोगिता देश के उद्योग धन्धों को नुकसान पहुँचाती है, इसके कारण नए उद्योग नहीं पनप पाते और पुराने उद्योग भी पूर्ण रूप पाने में कठिनाई का अनुभव करते हैं। विदेशी व्यापार आर्थिक दृष्टि से उन्नत देशों के लिए लाभदायक हो सकता है किन्तु यह विकासशील देशों के लिए हानिकारक होता है। इन देशों के उद्योग धन्धे अपने सीमित साधनों के होने के कारण प्रतियोगिता में टिक नहीं पाते। भारत मे कुटीर उद्योग धन्धों का पतन विदेशी प्रतियोगिता का ही एक परिणाम माना जाता है।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विशिष्टीकरण को जन्म देता है। इसके अनुसार एक देश के द्वारा कुछ विशेष चीजें बनायी जाती हैं किन्तु दूसरी चीजों के लिए उसे अन्य देशों पर निर्भर रहना होता है। इस प्रकार का व्यापारिक केन्द्रीयकरण आर्थिक स्थायित्व की दृष्टि से अच्छा नहीं माना जाता। यदि इन प्रमुख उद्योग धन्धों मे कोई संकट आ जाए तो सारे देश की अर्थ-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है, इसके परिणाम भी भयंकर हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त एक देश के आर्थिक संकट का अन्य देशों पर भी गहरा प्रभाव पड़ता है।

(5) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कई बार हानिकारक वस्तुओं के निर्यात को प्रोत्साहन देता है,और इसके परिणामस्वरूप सम्बन्धित देश पर बुरा प्रभाव पड़ता है। आयातकर्त्ता देश इन चीजों को प्रयोग करने की गलत आदत से दूषित हो जाता है। उदाहरण के लिए जब भारत से एक बड़ी मात्रा मे चीन को अफीम भेजी जाती थी तो वहाँ के लोग उसका प्रयोग करके बहुत आलसी बन गए।

(6) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से राशिपातन (Dumping) की आशंकाएँ बढ़ जाती हैं। एक देश अपनी वस्तुओं को जितनी कम कीमत पर बेचता है वह उस देश के लागत मूल्य से भी कम होती है, उसके परिणामस्वरूप वहाँ के छोटे और बड़े उद्योग धन्धे नष्ट हो जाते हैं। जब वह देश अपने प्रयास में सफल हो जाता है तो उन चीजों की कीमत पुनः बढ़ा देता है। इस प्रकार वह अनुचित रूप से अत्यधिक लाभ कमाना चाहता है। इस सम्भावना से बचने के लिए यह जरूरी है कि विदेशी व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाया जाए।

2

स्वतन्त्र व्यापार के सिद्धान्त, पूर्ण लागतों के अन्तर और तुलनात्मक लागतों के अन्तर का व्यापार, स्थिर, घटती हुई और बढ़ती हुई इकाई लागतों की दशा में व्यापार

(THE THEORY OF FREE TRADE, TRADE UNDER COST DIFFERENCES AND COMPARATIVE DIFFERENCES TRADE WITH CONSTANT DIMINISHING & INCREASING UNIT COSTS)

स्वतन्त्र व्यापार का सिद्धान्त
(The Theory of Free Trade)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्त प्रचलित हैं जिनके द्वारा इस बात का स्पष्टीकरण किया जाता है कि आयात और निर्यात क्यों होते हैं तथा वे कौन सी दशाएँ हैं जिनके कारण एक देश कुछ वस्तुओं का निर्यात करता है और अन्य वस्तुओं का आयात करता है। ये सिद्धान्त मुख्य रूप में चार प्रकार के हैं। हैबरलर (Haberler) का कहना है कि चारों सिद्धान्त यद्यपि विभिन्न लेखकों द्वारा प्रतिपादित किए गए हैं और इनका कभी भी एक संवाद के रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया है किन्तु फिर भी ये एक दूसरे के बहुत कुछ पूरक हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के ये चार सिद्धान्त हैं—

(1) तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त (Comparative Cost Theory)

(2) पारस्परिक पूर्ति एवं माँग का सिद्धान्त (Reciprocal Supply and Demand Theory)

(3) आर्थिक साम्य का सिद्धान्त (Economic Equilibrium Theory)

(4) आंशिक साम्य का सिद्धान्त (Partial Equilibrium Theory)

1 पहला सिद्धान्त तुलनात्मक लागत का है। लेखकों का कहना है कि इस सिद्धान्त का जन्मदाता सम्भवतः रॉबर्ट टोरेन्स था। इसे आधुनिक रूप में परिभाषित करने का श्रेय डेविड रिकार्डो को दिया जाता है। अपने आन्तरिक मूल्यों के श्रम सिद्धान्त में इन्होंने इस सिद्धान्त की व्याख्या की। बाद में जे एस मिल ने इस

सिद्धान्त में कुछ अन्य बातों को जोड दिया। केयरनेस और मि. बेस्टेबेल को इस सिद्धान्त का प्रमुख निरूपणकर्त्ता माना जाता है। प्रो. टॉसिग (Taussing) का नाम इस सिद्धान्त के व्याख्याकारो मे लिया जाता है।

अठारहवी शताब्दी मे स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष मे जो तर्क दिए जाते थे, उनका आधार मूल्यो की असमानता थी। यह विश्वास किया जाता था कि प्रत्येक देश को अपनी घरेलू चीजो के बदले उन वस्तुओं का आयात करना चाहिए जिनको या तो वह स्वय पैदा नही कर सकता अथवा यदि करता है तो निश्चय ही उन मूल्यो पर जो विदेशो मे उसके उत्पादन पर लगता है। स्वतन्त्र व्यापार के अधीन इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु उस देश मे पैदा की जाएगी जहाँ उसकी लागत का खर्चा सब से कम आएगा। एडम स्मिथ द्वारा प्रतिपादित स्वतन्त्र व्यापार का सिद्धान्त इससे आगे नही बढता। यद्यपि तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त एडम स्मिथ के पहले विचारको द्वारा भी प्रतिपादित किया गया था किन्तु उसमे स्पष्टता का अभाव था।

सन् 1817 मे प्रकाशित अपनी पुस्तक मे मि रिकार्डो ने इस सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया। रिकार्डो का कहना था कि इग्लैण्ड को कपडे या अन्य निर्मित वस्तुओ को तैयार करने और उनका निर्यात करने मे अधिक लाभ होगा अपेक्षाकृत कृषि वस्तुओ को उगाने और निर्यात करने के। विदेशो को कपडा भेजकर इग्लैण्ड जितना अनाज मंगा सकता था उतना वह स्वय पैदा नही कर सकता था। मि. ई लेसर (Mr E Lessar) और ई आर. ए. सेलिगमेन (E. R A Seligman) ने इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने का श्रेय टोरेन्स (Torrens) को दिया है। किन्तु हॉलैण्ड (Holland) इस विचार से सहमत नही है। उनका कहना है कि टोरेन्स ने सिद्धान्त के पूरे महत्त्व को कभी नही पहचाना और न ही उन्होने कभी इसको व्यवहृत किया। उन्होने मि. रिकार्डो को इसका श्रेय दिया है क्योकि बाद के अर्थशास्त्रियो ने इस सिद्धान्त का परिचय रिकार्डो से ही प्राप्त किया। इसके अतिरिक्त रिकार्डो के विचार पर्याप्त स्पष्ट भी है।

2. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का दूसरा सिद्धान्त 'पारस्परिक पूर्ति एव मांग का सिद्धान्त' (**Reciprocal Supply and Demand Theory**) कहा जाता है। इसका प्रतिपादन प्रो मार्शल द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की कुछ समस्याओ को हल करने के लिए किया गया। इसका अध्ययन करने के लिए मार्शल ने प्रस्ताव-वक्रो का प्रयोग किया। यह सिद्धान्त असल मे तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त है। इसका आधार रिकार्डो की रचनाएँ और मिल के अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त हैं।

3 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का तीसरा सिद्धान्त आर्थिक साम्य (**Economic Equilibrium**) का सिद्धान्त है जिसका प्रतिपादन मि. पैरेटो ने किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी भी वस्तु के मूल्य का निर्धारण उसकी माँग और पूर्ति के सन्तुलन द्वारा किया जाता है। किसी वस्तु की मांग उपभोक्ताओ की आवश्यकताओं, प्राथमिकताओ, इच्छाओ तथा उनकी आय आदि पर निर्भर करती है। दूसरी ओर वस्तुओ की पूर्ति उसके उत्पादन की सम्भावना और उत्पत्ति की भौतिक एवं तकनीकी

दशाओं पर निर्भर करती है। जहाँ मांग और पूर्ति का साम्य स्थापित हो जाए वही उस वस्तु की कीमत निर्धारित हो जाती है। यह कीमत वस्तु की उत्पादन लागत के बराबर होती है जिसमे लाभ भी सम्मिलित है। एक वस्तु के उत्पादन में प्रयुक्त किए गए साधनो की कीमत उसकी उत्पादन लागत मे शामिल की जाती है।

4 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का चौथा सिद्धान्त आंशिक साम्य (Partial Equilibrium) कहलाता है। इसका उल्लेख हमको रिचार्ड श्लर (Richard Schller) तथा एनरिको बैरोन (Enrico Barone) के लेखो मे मिलता है। ये दोनो लेखक एक ही विषय सामग्री पर भिन्न-भिन्न तकनीको को अपनाकर विचार करते हैं। *बैरोन ने वक्र रेखाओ का प्रयोग किया जबकि श्लर ने अंक-*गणितीय माध्यम से समझाया है। इस सिद्धान्त के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का पूरा चित्र प्रस्तुत किया जा सकता है वरन् केवल एक भाग को ही हमारे सामने रखा जा सकता है।

लागत विभिन्नताओं का सिद्धान्त
(Doctrine of Cost Differences)

विभिन्न देशो मे एक ही वस्तु के उत्पादन की लागत अलग-अलग आती है। लागत की भिन्नता तीन प्रकार की हो सकती है--

(1) लागतो का पूर्ण अन्तर (Absolute Cost Differences)
(2) समान लागत (Similar Cost Differences)
(3) तुलनात्मक लागत अन्तर (Comparative Cost Differences)

अब जब भी विभिन्न देशो मे किसी वस्तु का व्यापार होगा उस समय उस वस्तु के उत्पादन मे आई लागत का प्रभाव अवश्य पड़ेगा। यह प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लागतो के सिद्धान्त के अनुसार तीन प्रकार का होगा--

1 पूर्ण लागतो के अन्तर का व्यापार
2 समान लागत के अन्तर का व्यापार
3 तुलनात्मक लागत के अन्तर का व्यापार

1 पूर्ण लागतो के अन्तर का व्यापार
(Trade under Absolute Cost Differences)

लागतो का पूर्ण अन्तर यह मानकर चलता है कि श्रम एक देश के अन्तर्गत पूर्ण रूप से गतिशील किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पूर्णत गतिहीन है। देश मे गतिशील होने के कारण श्रम वितरण उत्पादन की विभिन्न शाखाओ में इस प्रकार हो जाता है कि प्रत्येक जगह उसकी सीमान्त उत्पादकता एक जैसी हो जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर श्रम एक उद्योग से दूसरे उद्योग मे नहीं जा सकता और इसीलिए श्रम की लागत द्वारा पूर्ति को नियन्त्रित नही किया जा सकता। ऐसी स्थिति मे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर दो देशो के बीच वस्तुओ का विनिमय केवल तभी हो सकता है जब दोनो ही देश किसी एक चीज को निरपेक्ष (Absolute) रूप से कम लागत पर उत्पन्न करे।

लागत के इस पूर्ण अन्तर को हम एक उदाहरण द्वारा समझा सकते हैं। माना कि रूस में जूते की एक इकाई की उत्पादन लागत 5 श्रम इकाइयाँ हैं और ब्लेड की एक इकाई की उत्पादन लागत 10 श्रम इकाइयाँ है। भारत में जूते की एक इकाई की उत्पादन लागत 10 श्रम इकाइयाँ हैं और ब्लेड की एक इकाई की उत्पादन लागत 5 श्रम इकाइयाँ हैं तो इस स्थिति में रूस ब्लेड की एक इकाई के बदले में जूते की ½ इकाई का विनिमय करेगा और भारत ब्लेड की एक इकाई के बदले जूते की दो इकाइयों का विनिमय करेगा। इस प्रकार रूस में इन दोनों चीजों का लागत अनुपात 1.2 है जबकि भारत में 1: ½ है। अतः रूस को जूतों के उत्पादन में लाभ रहेगा जबकि भारत को ब्लेड के उत्पादन में पूर्ण लाभ होगा। ये दोनों देश अपनी-अपनी लाभ की वस्तुओं में विशिष्टीकरण प्राप्त करेंगे। यह स्थिति लागतों का पूर्ण अन्तर कहलाती है। रूस द्वारा भारत को जूतों का निर्यात किया जाएगा और भारत द्वारा रूस को ब्लेड भेजे जाएंगे।

यदि सम्पूर्ण उत्पादन की ओर ध्यान दिया जाए तब भी दोनों देशों के लिए एक ही वस्तु के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करना लाभदायक होगा माना रूस तथा भारत दोनों ही अलग-अलग उत्पादन करते हैं तो ऐसी स्थिति में—

रूस   1 इकाई जूता + 1 इकाई ब्लेड = 15 श्रमिक
भारत   1 इकाई जूता + 1 इकाई ब्लेड = 15 श्रमिक
अर्थात्   2 इकाई जूता + 2 इकाई ब्लेड = 30 श्रमिक

अब माना कि रूस ने जूते के उत्पादन में और भारत ने ब्लेड के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त कर ली है तो ऐसी स्थिति में—

रूस द्वारा दो इकाई जूते का उत्पादन व्यय = 10 श्रमिक
भारत द्वारा दो इकाई ब्लेड का उत्पादन व्यय = 10 श्रमिक
अर्थात् दो इकाई जूते + दो इकाई ब्लेड का उत्पादन व्यय = 20 श्रमिक

अतः स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होने की दशा में 2 इकाई जूते और 2 इकाई ब्लेड केवल 20 श्रमिकों द्वारा उत्पादित किया जाएगा जबकि अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार के अभाव में इतनी ही वस्तु उत्पादित करने के लिए 30 श्रमिकों की आवश्यकता पड़ती है। यही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का लाभ है और इसी लाभ के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उत्पन्न होता है। इस प्रकार पूर्ण-लागत-अन्तर की स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अनिवार्य रूप से होने लगता है।

लागतों के पूर्ण अन्तर को रेखाचित्र द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है। इस रेखाचित्र में रूस का उत्पादन सम्भावना वक्र (Production Possibility Curve) एक इकाई जूता=½ इकाई ब्लेड के आधार पर खींचा गया है और भारत का उत्पादन सम्भावना वक्र। इकाई जूता=2 इकाई ब्लेड के आधार पर बनाया गया है। चित्र में AB रेखा भारत की और AC रेखा रूस की उत्पादन सम्भावना रेखाएँ हैं। CB उस 'अतिरेक' को प्रदर्शित कर रहा है जो कि अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार होने की दशा में भारत व रूस को प्राप्त होगा अर्थात् यही अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार का लाभ है

और इसी लाभ के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उत्पन्न होता है। B व C के बीच कोई भी विनिमय दर दोनो देशो के लिए लाभदायक होगी। चित्र मे उत्पादन सम्भावना रेखा एक सीधी रेखा, इस मान्यता के आधार पर खीची गई है कि उत्पादन 'लागत-समता-नियम' के अधीन है।
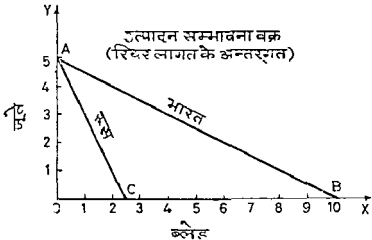
व्यवहार मे लागतो के पूर्ण अन्तर से प्राप्त लाभ अपवाद-स्वरूप ही दिखाई देते है। प्रत्येक देश मे आवश्यकता की सभी वस्तुओ का किसी न किसी मात्रा मे उत्पादन करना आवश्यक समझा जाता है। पूर्ण विशिष्टीकरण द्वारा उत्पादन-लागत मे कमी करना तो सम्भव है परन्तु इससे देश की अन्य देशो पर निर्भरता मे बहुत अधिक वृद्धि हो जाती है। विशेष रूप से विकासशील देशो मे तो सभी वस्तुओ की उत्पादन लागत अधिक होने के विशिष्टीकरण की कोई सम्भावना ही नही रह जाती। राजनीतिक एव राष्ट्रीय भावना के कारण भी कोई देश अन्य देशो पर अपनी निर्भरता को बढाना नहीं चाहता है। अत पूर्ण लागत अन्तर का सिद्धान्त आधुनिक सन्दर्भ म अर्थहीन प्रतीत होता है।

2 समान लागत के अन्तर का व्यापार

(Trade under Similar Cost Difference)

जब दो विभिन्न देशों मे दो वस्तुओ के उत्पादन व्यय का अनुपात एक जैसा होता है तो यह लागतो मे समान अन्तर कहलाता है। परन्तु ऐसी स्थिति मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्भव नहीं है। इसको हम निम्नानुसार समझा सकते हैं—

देश	उत्पादन की श्रम लागत		घरेलू व्यापार की शर्त
	जूते	ब्लेड	
भारत	10	20	10 20 अथवा 1 2
रूस	5	10	5 . 10 अथवा 1 2

माना कि यदि रूस मे जूते की एक इकाई की लागत 5 श्रम इकाइयाँ हैं और ब्लेड की एक इकाई की लागत 10 श्रम इकाइयाँ हैं, दूसरी ओर भारत मे भी जूते

की एक इकाई की लागत 10 श्रम इकाइयाँ हैं और ब्लेड की इकाई की लागत 20 श्रम इकाइयाँ है तो लागत का अनुपात दोनों देशों में 1 : 2 रहेगा। ऐसी स्थिति में श्रम-विभाजन या विशिष्टीकरण किसी भी देश के लिए लाभदायक सिद्ध नहीं होगा। न तो रूस को इसमें फायदा होगा कि वह ब्लेड के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करने के लिए उत्पत्ति के साधनों को जूतों के उत्पादन से हटाकर ब्लेड के उत्पादन में लगाए और न भारत को इसमें लाभ होगा कि वह श्रम का परिवर्तन करे। जब दो देशों में किन्हीं दो वस्तुओं का उत्पादन-व्यय समान होता है तो प्रत्येक देश को प्रत्येक वस्तु उत्पादित करनी होती है तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नहीं होता है।
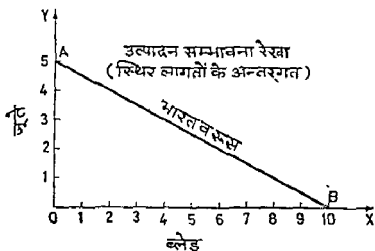
उपरोक्त में माना कि AB रेखा भारत व रूस दोनों देशों की उत्पादन सम्भावना रेखा है। यह रेखा एक इकाई जूता = 2 इकाई ब्लेड के आधार पर खींची गई है क्योंकि दोनों ही देशों में लागत-अनुपात समान है। इसलिए दोनों देशों के मध्य व्यापार नहीं हो सकता है क्योंकि इससे किसी को कोई लाभ नहीं होगा।

3. तुलनात्मक लागतों के अन्तर का व्यापार
(Trade under Comparative Cost Differences)

लागतों का तीसरा अन्तर तुलनात्मक होता है। यद्यपि मि हैवलर ने यह माना था कि विश्व का अधिकांश व्यापार लागतों में पूर्ण अन्तर पर आधारित है किन्तु वाल्टर क्राउज (Walter Krause) के मतानुसार अन्य अन्तर भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारों में महत्त्व रखते हैं। मान लीजिए इस सम्बन्ध में दो प्रश्न हैं—

(i) किसी देश को किसी क्षेत्र में कोई विशेष लाभ नहीं होता तो वह विशेषीकरण अथवा व्यापार क्यों करेगा।

(ii) जिस देश को विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में लाभ प्राप्त होता है वह किस वस्तु का विशेषीकरण और व्यापार करे?

इन दोनों प्रश्नों का उत्तर तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के आधार पर दिया जा सकता है। इसके अनुसार प्रत्येक देश को यह देखना चाहिए कि जिस वस्तु के उत्पादन में उसे सबसे अधिक लाभ होता है वह उसी में विशेषीकरण प्राप्त करे। इसके विपरीत जिस देश को किसी वस्तु के उत्पादन में लाभ नहीं होता है उस ऐसी वस्तु के उत्पादन में विशेषीकरण करना चाहिए जिसमें उसे कम से कम हानि होती है। रिकार्डो ने इसी मान्यता के आधार पर अपना सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।

लागतों में तुलनात्मक अन्तर—दो देशों के बीच लागतों में तुलनात्मक अन्तर उस समय होता है जबकि एक देश को दूसरे देश की अपेक्षा दोनों वस्तुओं के उत्पादन में ही श्रेष्ठता प्राप्त होती है यद्यपि यह श्रेष्ठता एक वस्तु के सम्बन्ध में कम और दूसरी वस्तु के सम्बन्ध में अधिक होती है। निम्न उदाहरण द्वारा तुलनात्मक लागत अन्तर को स्पष्ट किया जा सकता है।

देश	उत्पादन की श्रम-लागत		घरेलू व्यापार की शर्तें		
	जूते	ब्लेड			
भारत	80	90	80 90	अर्थात् 1	0 88
रूस	120	100	120 100	अर्थात् 1	1 2

उपरोक्त उदाहरण में स्पष्ट है कि रूस की अपेक्षा भारत में दोनों ही वस्तुओं का उत्पादन अधिक सस्ता है परन्तु भारत में जूतों के उत्पादन में अधिक तुलनात्मक लाभ है क्योंकि जूतों में उसका लागत अन्तर (120–80) ब्लेड में लागत अन्तर (100–90) की अपेक्षा अधिक है अथवा लागत-अनुपात की दृष्टि से देखने पर

$$\frac{80}{120} < \frac{90}{100}$$

अथवा

$$\frac{2}{3} < \frac{9}{10}$$

$$\therefore \quad 0\ 66 < 0\ 90$$

यदि दोनों देशों के बीच किसी प्रकार का व्यापार नहीं होता है तो भारत और रूस में वस्तुओं का निम्न विनिमय अनुपात रहेगा—

भारत एक इकाई जूते = 0 88 इकाई ब्लेड

रूस एक इकाई जूते = 1 2 इकाई ब्लेड

परन्तु यदि दोनों देशों के मध्य व्यापार होने लगे और भारत जूतों के उत्पादन में तथा रूस ब्लेड के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त कर ले और एक दूसरे के साथ *व्यापार करने लगे तो इससे दोनों देशों को लाभ होगा।* इस प्रकार भारत के लिए यह लाभदायक रहेगा कि वह रूस को जूते भेजे क्योंकि वहाँ से जूतों की एक इकाई के बदले 1 2 इकाई ब्लेड मिल सकती है जबकि उसे अपने देश में एक इकाई जूतों के बदले में केवल 0 88 इकाई ब्लेड ही मिलती है। दूसरी तरफ रूस ब्लेड के उत्पादन में विशिष्टीकरण करके और ब्लेड का भारतीय जूतों से विनिमय करके अपेक्षाकृत कम व्यय पर जूते प्राप्त कर सकता है।

यदि सम्पूर्ण उत्पादन की ओर ध्यान दिया जाए तो भी दोनो देशो के लिए किसी एक वस्तु के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करना अधिक लाभदायक होगा। माना कि भारत और रूस दोनो ही अलग-अलग जूते तथा ब्लेड का उत्पादन करते हैं तो ऐसी स्थिति में—

भारत एक इकाई जूते + एक इकाई ब्लेड = 170 श्रमिक

रूस एक इकाई जूते + एक इकाई ब्लेड = 220 श्रमिक

∴ 2 इकाई जूते + 2 इकाई ब्लेड = 390 श्रमिक

अब माना कि भारत जूतो मे और रूस ब्लेड के उत्पादन मे विशिष्टता प्राप्त कर लेता है तो ऐसी स्थिति मे--

भारत द्वारा 2 इकाई जूते उत्पादन करने का व्यय = 160 श्रमिक

रूस द्वारा 2 इकाई ब्लेड उत्पादन करने का व्यय = 200 श्रमिक

∴ 2 इकाई जूते + 2 इकाई ब्लेड का उत्पादन व्यय = 360 श्रमिक

उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि पहले 2 इकाई जूते और 2 इकाई ब्लेड का उत्पादन व्यय 390 श्रमिक था जब दोनो देशो ने अलग-अलग वस्तुओ का उत्पादन करना आरम्भ कर दिया तो उत्पादन व्यय 360 श्रमिक हो गया, इससे एक ही मात्रा मे प्राप्त होने वाली वस्तुओं के उत्पादन व्यय मे 30 श्रमिको की बचत हुई। अत. स्पष्ट है कि दोनों मे से एक देश को दूसरे देश की अपेक्षा दोनो वस्तुओं के उत्पादन मे अधिक दक्षता प्राप्त है परन्तु लागत का अनुपात भिन्न-भिन्न है तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा उस वस्तु को उत्पादित करके भेजने मे अधिक लाभ होगा जिससे उत्पादन मे अधिक तुलनात्मक लाभ होता है। रिकार्डो के मतानुसार, "इस तुलनात्मक लागत अन्तर की अवस्था मे भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लाभप्रद होगा यदि कुशल देश उसमे विशिष्टीकरण प्राप्त करे जिसमे उसकी कुशलता अधिकतम हो तथा अकुशल देश उसमे विशिष्टीकरण प्राप्त करें जिसमे अकुशलता न्यूनतम हो।"

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को हम रेखा चित्र द्वारा भी समझा सकते है। माना कि AB भारत की उत्पादन सम्भावना रेखा एक इकाई जूते = 0 88 इकाई ब्लेड के आधार पर खीची गई है। AC रेखा रूस की उत्पादन सम्भावना रेखा है जो कि एक इकाई जूते = 1·2 इकाई ब्लेड के आधार पर खीची गई है। BC वह 'अतिरेक' है जिसे विदेशी-व्यापार के द्वारा दोनों देश आपस मे बाँट सकते हैं। B व C के बीच किसी भी विनिमय दर से दोनों देशों को लाभ होगा।
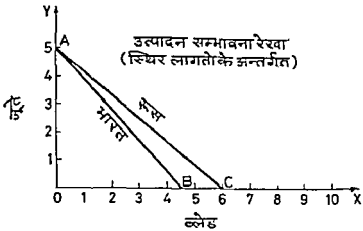
वासरमैन व हल्टमैन के अनुसार यह सिद्धान्त सिद्ध करता है कि "एक देश को अपने साधनों का व्यवहार सबसे अधिक लाभदायक विकल्प में करना चाहिए, या तो उन वस्तुओं का उत्पादन किया जाए जिनमें उसे सबसे अधिक तुलनात्मक लाभ प्राप्त था या उन वस्तुओं का उत्पादन किया जाए जिनमें उसे सबसे कम तुलनात्मक हानि है।"[1]

सरल गणितीय रूप में इसे निम्न प्रकार में समझाया जा सकता है—

यदि A व B दो देश बनाते हैं तब

A_1 = प्रथम देश में A की श्रम लागत है,

A_2 = द्वितीय देश में A की श्रम लागत है,

B_1 = *प्रथम देश में B की श्रम लागत है,*

B_2 = द्वितीय देश में B की श्रम लागत है,

यदि $\frac{A_1}{A_2} < 1$ है तो प्रथम देश में 'A' द्वितीय देश में सस्ती होगी।

यदि $\frac{A_1}{A_2} < \frac{B_1}{B_2} < 1$, तो प्रथम देश को A एवं B दोनों ही वस्तुओं के उत्पादन में निरपेक्ष या तुलनात्मक दृष्टि से प्रथम देश को A वस्तु के उत्पादन में व द्वितीय देश को B वस्तु के उत्पादन में लाभ होगा।

तुलनात्मक लागत अन्तरों के आधार
(Bases of Comparative Cost Differences)

सामान्य रूप से यह देखा जाता है कि एक उन्नत और विकसित देश में वस्तुओं के उत्पादन की लागत अर्द्ध-विकसित या अविकसित देशों की अपेक्षा कम आती है। जो देश प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से सम्पन्न है उसका उत्पादन ऐसे

1. *Wasserman and Hultman* : Modern International Economics, p 258

देशो की अपेक्षा कम लागत मे होता है जहाँ खनिज पदार्थों का अभाव है, जलवायु उपयुक्त नही है, वर्षा समय पर और पर्याप्त नही होती, रेतीले या पहाडी प्रदेश हैं। जिन देशो के निवासियों का स्वास्थ्य अच्छा होता है वे कमजोर और बीमार जनसंख्या वाले देशो की अपेक्षा सस्ते मे उत्पादन कर पाते हैं। इसे देखकर ऐसा लगता है कि लागतो के अन्तर स्पष्टतः कुछ कारणों के परिणाम हैं जिनका सरलता से उल्लेख किया जा सकता है। असल मे ऐसा नही है। प्रायः यह देखा जाता है कि एक राज्य कुछ चीजो का उत्पादन अधिक व्यय से करता है किन्तु वह दूसरी चीजें बहुत कम लागत पर उत्पादित करता है। पिछड़ा हुआ, बुरे प्राकृतिक साधनों से युक्त और अस्वस्थ जनसंख्या वाला राज्य भी कुछ चीजें कम लागत पर पैदा करता है। उत्पादिता के निर्धारणकर्ता विभिन्न उत्पादनो को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करते है।

तुलनात्मक लागत अन्तरो के आधार मुख्यतः निम्नलिखित हैं—

(1) श्रमिको की साक्षरता,

(2) देश मे पूँजी की मात्रा,

(3) प्रति श्रमिक भूमि की मात्रा,

(4) तकनीकी का स्तर, प्रबन्ध की कुशलता, व्यावसायिक सगठनो के प्रकार,

(5) उपभोक्ताओं की माँग, एवं

(6) आय का स्तर।

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का विश्लेषण (Analysis of Comparative Cost Theory)

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का जन्म 18वीं शताब्दी की वणिकवादी नीति (Mercantilist Policy) की आलोचना के रूप मे हुआ। बाद मे अर्थशास्त्रियों ने इसे इसलिए अपनाया क्योंकि यह सरक्षणात्मक प्रशुल्क के विरुद्ध तथा स्वतन्त्र व्यापार की नीति के पक्ष मे एक वैज्ञानिक का तर्क था। इग्लण्ड मे वणिकवादियों का कहना था कि जब इग्लैण्ड स्वय खाद्यान्न तथा अन्य कृषि वस्तुएँ पैदा कर सकता है तो उसे ये चीजें पोलैण्ट या रूस से क्यो मँगानी चाहिए? डेविस रिकार्डो ने इसका उत्तर देते हुए कहा कि इग्लैण्ड को कृषि-वस्तुओ को पैदा करने तथा निर्यात करने मे इतना लाभ नही है जितना अन्य वस्तुओ को बनाने और उनका निर्यात करने मे है।

तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त की मान्यता है कि यदि व्यापार को स्वतन्त्र छोड दिया जाए तो प्रत्येक देश दीर्घकालीन मे विशेषीकरण कर लेगा। वह उन्ही वस्तुओ का उत्पादन और निर्यात करेगा जिनमे उसे वास्तविक लागतो की दृष्टि से तुलनात्मक लाभ है। वह उन वस्तुओ का आयात करेगा जो देश मे वास्तविक लागत की तुलनात्मक हानि उठाकर उत्पादित की जा सकती है। यह विशेषीकरण सभी सम्बन्धित देशों के पारस्परिक लाभ के लिए होता है। इससे ससार मे उत्पादन की मात्रा बढ़ जाती है।

वास्तविक लागत (Real Costs) को श्रम के समय (Labour-Time) के रूप मे अभिव्यक्त किया गया। सस्थापक अर्थशास्त्रियो ने तुलनात्मक लागत को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार माना है। एडम स्मिथ की मान्यता के अनुसार एक देश अपने उत्पादनो के बदले दूसरे देशो से उन्ही उत्पादको को लेना है जिन्हे या तो वह पैदा नही कर सकता अथवा विदेशो की अपेक्षा अधिक लागत मे पैदा कर सकता है।

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के विभिन्न रूपान्तर
(Various Versions of Comparative Cost Theory)

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का इतिहास सस्थापक अर्थ-शास्त्रियो से प्रारम्भ होता है। इसे वणिकवादी सिद्धान्त की प्रतिक्रिया माना जा सकता है। वणिकवादी सिद्धान्त की पृष्ठभूमि मे यह विकसित हुआ। सस्थापक अर्थ-शास्त्री अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दृष्टि से प्रतिबन्धो और सरक्षणो की नीति का विरोध करते थे। अन इन्होने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को अपने पक्षपोषण के लिए प्रमुख तक बनाया। 18वी शताब्दी मे स्वतन्त्र व्यापार के सिद्धान्त का प्रारम्भ हुआ। इसके लिए यह आर्थिक तर्क दिया गया कि आयातकर्त्ता देश अपन घरेलू उत्पादन के बदले मे ऐसी वस्तुओ का आयात करना है जिन्हे वह घर म उत्पादित नही कर सकता अथवा केवल अधिक लागत के साथ उत्पादित कर सकता है। स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत यह अन्तर्निहित है कि एक देश केवल उसी वस्तु को उत्पादित करेगा जिसमे यातायात लागत को निकाल कर उत्पादन लागत सबसे कम आती है।

सस्थापक अर्थ-शास्त्रियो मे सुपरिचित चमकते हुए सितारे डेविड ह्यूम, एड्म स्मिथ, हेनरी थोर्नटन (Henry Thornton), डेविड रिकार्डो तथा ज एस. मिल को माना जाता है। इनके अतिरिक्त इस सम्प्रदाय के कुछ कम प्रभावशाली अर्थ-शास्त्री भी हैं जिन्हे आंशिक रूप से मौलिक कहा जा सकता है। इनमे टोरेन्स (Torrens), माल्थस (Malthus), ब्लेक (Blake), व्हीटली (Wheatly), लौग फील्ड (Long Field) और सीनियर (Senior) आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यहाँ इन सभी विचारको के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त करना उपयुक्त रहेगा ताकि सिद्धान्त को विभिन्न पक्षो से देखा जा सके। सस्थापक अर्थ-शास्त्रियो के अतिरिक्त कुछ आधुनिक विचारको का उल्लेख भी किया जाएगा जिन्होंने सिद्धान्त के नए रूपान्तर प्रस्तुत किए।

डेविड ह्यूम—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त की दृष्टि से ह्यूम ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। ह्यूम की रचना मे पर्याप्त मौलिकता दिखाई देती है। इसने अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक-यन्त्र के सम्बन्ध मे विचार किया। अनेक व्यावसायिक त्रुटियो को दूर करने के साथ-साथ ह्यूम ने कुछ कार्यात्मक सम्बन्ध भी विकसित किए। उसने गतिशील तत्त्वो की अवहेलना नही की। उसका मत था कि दो समतुल्य स्थितियो के बीच यदि धन की माता मे परिवर्तन आता है तो उत्पादन

का आकार अस्थायी रूप से प्रभावित होगा। इस विचार ने माल्थस और कैनीशियन के सिद्धान्तों को पर्याप्त प्रभावित किया।

एडम स्मिथ—एडम स्मिथ ने भुगतान सन्तुलनों (Balances of Payment) के समायोजन यन्त्र की व्याख्या की, जो ह्यूम के सिद्धान्त से पर्याप्त मेल खाती है। एडम स्मिथ ने स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता और श्रम-विभाजन के लाभों को अधिक ऐतिहासिक उदाहरणों द्वारा विस्तार के साथ अभिव्यक्त किया है। इसने वणिकवादियों की त्रुटियों का भी स्पष्ट उल्लेख किया है।

हेनरी थोर्नटन—इसने अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक यन्त्र पर विचार किया है। बाद के अर्थ-शास्त्रियों में माल्थस, जे. एस. मिल, टॉसिग और कीन्स आदि सभी ह्यूम और थोर्नटन की शाखा के विचारक हैं।

डेविड रिकार्डो—तुलनात्मक लागतों के सिद्धान्त को सर्वप्रथम प्रकाशित करने का श्रेय रिकार्डो को दिया जाता है। मि. लेसर (Mr. Leser) ने यह श्रेय टोरेन्स को दिया है। प्रो. सैलिगमैन ने भी इस मत का समर्थन किया किन्तु प्रो. होलेंडर ने रिकार्डो का पक्ष लेते हुए कहा है कि टोरेन्स ने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के पूर्ण महत्त्व को कभी स्वीकार नहीं किया और स्पष्टतः इसका उपयोग नहीं किया।

सिद्धान्त के प्रथम प्रतिपादक के बारे में सन्देह किया जा सकता है किन्तु यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि इस सिद्धान्त की स्पष्ट अभिव्यक्ति रिकार्डो की रचना (Principles) के प्रथम संस्करण (1817) के 7वें अध्याय में हुई। रिकार्डो के अनुसार-(1) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में तुलनात्मक लागत सिद्धान्त लागू होता है, (2) स्वतन्त्र व्यापार में प्रत्येक देश कम लागत वाले उत्पादनों में विशेषीकरण प्राप्त कर लेता है, (3) लागत को श्रम-समय (Labour-Time) की इकाई के रूप में जाना जा सकता है, (4) राष्ट्रीय-स्तर पर उत्पादन के सभी साधन गतिशील होते हैं किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय-स्तर पर वे गतिहीन होते हैं। उत्पादन का एक मात्र महत्त्वपूर्ण साधन श्रम है। रिकार्डो ने अपने सिद्धान्त को निम्नलिखित गणितीय उदाहरण द्वारा प्रतिपादित किया है—

देश	वस्तु की इकाई के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम	
	कपड़ा	शराब
पुर्तगाल	90	80
इंग्लैण्ड	100	120

उपर्युक्त उदाहरण में बताया गया है कि इंग्लैण्ड में एक गैलन शराब की लागत कार्य के 120 घण्टे (Working Hours) हैं तथा एक गज कपड़े की लागत कार्य के 100 घण्टे हैं। पुर्तगाल में शराब और कपड़े की लागत क्रमशः 80 और 90 कार्य के घण्टे हैं। स्पष्ट है कि इंग्लैण्ड की अपेक्षा पुर्तगाल को इन दोनों वस्तुओं

के उत्पादन मे लाभ रहेगा फिर भी तुलनात्मक दृष्टि से उसे शराब के उत्पादन मे अधिक लाभ होगा। इगलैण्ड मे तुलनात्मक रूप से कपडा सस्ता है। इन दोनो देशो के बीच जब व्यापार होगा तो इग्लैण्ड कपडे का निर्यात करेगा और शराब का आयात करेगा।

यदि इग्लैण्ड को व्यापार का सम्पूर्ण लाभ प्रदान करना है तो अंग्रेजी कपडे की एक इकाई के लिए शराब की $\frac{8}{9}$ इकाई के अनुपात मे विनिमय करना चाहिए। यदि सारा लाभ पुर्तगाल को सौपना है तो अंग्रेजी कपडे और पुर्तगाली शराब के विनमिय का अनुपात क्रमश. 1 तथा $\frac{5}{6}$ होना चाहिए। रिकार्डो का कहना था कि अंग्रेजी कपडा और पुर्तगाली शराब का विनिमय कपड की एक इकाई के लिए शराब की एक इकाई के अनुपात मे होगा। इस प्रकार इग्लैण्ड 100 व्यक्तियो के उत्पादन को 80 व्यक्तियो के उत्पादन के लिए बदलेगा। इस अनुपात मे व्यापार से होने वाली प्राप्तियाँ दोनो देशो के बीच विभाजित हो जाएगी। रिकार्डो के सिद्धान्त को समझने के लिए कुछ विशेष बातो का अध्ययन किया जाना उपयुक्त है। ये निम्नलिखित है—

(1) तुलनात्मक लागत और व्यापार शर्तें—रिकार्डो के उदाहरण मे दो वस्तुओ के विनिमय को लिया गया है। विनिमय मे वस्तु की एक इकाई के बदले दूसरी वस्तु की एक इकाई को लिया जाता है। प्रत्यक देश को उसी वस्तु मे तुलनात्मक लाभ होता है जिसे वह कम लागत पर उत्पादित कर सके। बाद मे ऐलिस (1825) और जेम्स मिल (1826) ने भी यह प्रतिपादित किया कि व्यापार के लाभ दो देशो के बीच बराबर विभाजित हो जाएँगे, बाद के सस्थापक विचारको ने भी प्राप्ति के अनुपात को दोनो देशो के लिए समान बताया है।

(2) आंशिक विशेषीकरण की सम्भावना—रिकार्डो ने अन्तर्राष्ट्रीय विशेपीकरण के लाभ के लिए अपने तर्क का समर्थन तुलनात्मक लागत के अनुरूप किया है। दो व्यक्तियो के बीच व्यापार से सादृश्यता दिखात हुए उसने उदाहरण दिया है—*यदि दो व्यक्ति टोप और जूते दोनो चीजें बना सकते है तथा एक व्यक्ति* दोनो कार्यो मे अधिक कुशल है। वह टोप बनाने के कार्य मे अपने प्रतियोगी से 20 प्रतिशत अधिक है और जूते बनाने के कार्य मे 33 प्रतिशत अधिक है तो यह उन दोनों के हित मे रहेगा कि कुशल व्यक्ति जूते बनाने के कार्य मे लगे और अकुशल व्यक्ति टोप बनाने का कार्य करे।

उक्त उदाहरण में रिकार्डो ने पूर्ण विशेपीकरण को लाभप्रद माना है। पेरेटो (Pareto) ने बताया है कि विशेषीकरण न करने की अपेक्षा पूर्ण विशेपीकरण को आवश्यक रूप से लाभप्रद मानना भ्रमपूर्ण है। उसने अपने गणितीय चित्र द्वारा प्रदर्शित किया है कि कुछ परिस्थितियो मे पूर्ण विशेपीकरण एक वस्तु की अपेक्षा दूसरी का अधिक हो सकता है। यह उन वस्तुओ की सापेक्षिक माँग पर निर्भर करता है। एक वस्तु मे होने वाली वृद्धि आवश्यक नही कि दूसरी वस्तु की कमी से होने वाली हानि को पूरा कर देगी। कभी कभी इस तर्क को स्वतन्त्र व्यापार के पक्षपाती तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की आंशिक अस्वीकृति भी मान लिया जाता है।

रिकार्डो का कहना था कि यदि दो व्यक्तियों में से प्रत्येक को एक चीज के उत्पादन मे तुलनात्मक लाभ है तो दोनों को पूर्ण विशेषीकरण कर लेना चाहिए। यह मत सन्तोषजनक नही है। उत्पादन लागत मे तुलनात्मक अन्तर होने पर पूर्ण विशेषीकरण आवश्यक रूप से दोनो देशो के लिए लाभदायक रहेगा यह मानना गलत है। केवल एक देश द्वारा आंशिक विशेषीकरण किए जाने की सम्भावना है।

(3) दो से अधिक वस्तुओं में व्यापार—तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त विभिन्न समस्याओं का अध्ययन इस सरल मान्यता के अन्तर्गत करता है कि व्यापार केवल दो वस्तुओं का और दो व्यक्तियों द्वारा किया जा रहा है। सम्भवत यह सोच लिया जाता है कि दो से अधिक राज्यो अथवा वस्तुओं के होने पर विश्लेषण जटिल बन जाएगा किन्तु पहले से निकाले गए निष्कर्षों मे गम्भीर परिवर्तन नही करने पड़ेंगे। मि० ग्राहम (Mr. Graham) ने इस दावे को संस्थापक सिद्धान्त के प्रति गम्भीर आपत्तियो का आधार माना है। वस्तुओ और देशों की सख्या अधिक होने पर निष्कर्षो मे परिवर्तन किया जाना आवश्यक बन जाता है जो दो वस्तुओ और दो देशो के आधार पर निकाले गए हैं। सम्भवत. लोंगफील्ड वह पहला व्यक्ति था जिसने दो से अधिक वस्तुओ तक अपने विश्लेषण को बढाया।

(4) दो से अधिक देशों के बीच व्यापार—पुराने लेखकों ने विदेशी व्यापार मे भाग लेने वाले केवल दो देशो का उल्लेख किया है। दो देशो से अधिक के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे भाग लेने के उदाहरण बहुत कम प्रस्तुत किए गए हैं। जे० एस० मिल ने तीसरे देश को भी व्यापार की शर्तों पर विचार करते समय उल्लेखित किया है किन्तु रिकार्डो ने कहीं भी दो से अधिक देशो के व्यापार को अपने उदाहरणो का आधार नहीं बनाया।

(5) यातायात लागत—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त प्राय: इस मान्यता के आधार पर प्रतिपादित किया गया है कि यातायात लागत नही होती। यही कारण है कि आलोचकों ने इसे विरोध का आधार बनाया। यातायात लागतें घरेलू व्यापार की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे अधिक महत्व रखती हैं क्योंकि बाजारों की दूरी अधिक होती है, इसके अपवाद भी है। किसी-किसी वस्तु की कीमत घरेलू स्तर पर भी यातायात लागत के कारण पर्याप्त बढ जाती है। यातायात लागत उत्पादन और उत्पादन के साधनों की कीमत को प्रभावित करती है। ऐतिहासिक दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त ने इसे अपना दायित्व स्वीकार नही किया है। यातायात की लागत यद्यपि निर्यातकर्त्ता द्वारा दी जाती है किन्तु वह उसे वस्तु की कीमत में जोड देता है और इस प्रकार आयातकर्ता से वसूल कर लेता है।

(6) वृद्धिशील और ह्रासमान लागतें—रिकार्डो ने तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त मे बताया है कि उत्पादन की लागतों मे निरन्तरता पाई जाती है। बाद के साहित्य मे भी इस मान्यता को जाने या अनजाने मे स्वीकार किया गया है। लागतो को निरन्तर मानने पर औसतन और सीमान्त लागतों का प्रश्न नही

उठना क्योंकि ये दोनों समरूप बन जाती हैं। यदि व्यक्तिगत उत्पादक की लागत उसके उत्पादन के साथ बढ़ जाती है तो तुलनात्मक लागत सिद्धान्त तो लागू होगा किन्तु यह तुलनात्मक सीमान्त लागतों का रूप धारण कर लेगा।

रिकार्डो ने माना कि उत्पादन की मात्रा बदलने पर भी लागतें एक जैसी बनी रहती हैं। इस धारणा का आधार रिकार्डो की पूर्व मान्यताएँ हैं जैसे-केवल दो वस्तुएँ केवल दो देश, उत्पादन का एकमात्र साधन श्रम, यातायात लागत को अलग रखना आदि। रिकार्डो का कहना था कि एक देश व्यापार तभी करता है जब उसे किसी विशेष वस्तु के उत्पादन की सीमान्त लागत में तुलनात्मक लाभ होता है। वह देश अपने श्रमिकों को दूसरी वस्तुओं से हटाकर लाभप्रद वस्तु के उत्पादन में लगा देता है, और उस समय तक लगाता है जब तक उसकी तुलनात्मक सीमान्त लागत व लाभ होन रहें। निरन्तर लागत के अन्तर्गत व्यापार से लाभ स्पष्ट होता है।

निरन्तर लागत के अन्तर्गत एक देश जब तक किसी विशेष वस्तु के आयात में कोई लाभ प्राप्त नहीं करता तब तक वह उसका उत्पादन या आयात नहीं करता। वृद्धिशील लागत की परिस्थिति के अन्तर्गत उत्पादित वस्तुओं के सम्बन्ध में यह बात लागू नहीं होती।

(7) कीमतें मौद्रिक लागत एवं वास्तविक लागतें—रिकार्डो तथा उसके अनुयायियों ने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को मौद्रिक लागतों की अपेक्षा वास्तविक लागतों के रूप में वर्णित किया। कुछ आधुनिक विचारकों का मत है कि इस दृष्टि से सम्थापक सिद्धान्त में पूरी तरह से परिवर्तन किया जाना चाहिए।

प्रायः सभी सस्थापक अर्थशास्त्री यह मानते थे कि स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत तथा यातायात लागत के अभाव में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की एक जैसी वस्तुओं की कीमतें एक ही मुद्रा में सभी देशों में एक जैसी होंगी। देश में उत्पादित वस्तु की कीमतें उत्पादन की मौद्रिक लागतों (Money costs) के अनुपात में होंगी। पूर्ति की कीमतों के अन्तर व्यापार के तात्कालिक निर्धारणकर्ता होते हैं। कीमतों और मौद्रिक लागतों के अन्तर वास्तविक लागतों के अन्तरों में अभिव्यक्त होते हैं और इसलिए कल्याण की दृष्टि से मूल्यांकन के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। सस्थापक विचारकों ने वास्तविक लागतों को स्थानापन्न महत्त्व न देकर प्रथम स्तर का महत्त्व प्रदान किया। घरेलू तथा विदेशी उत्पादक जिस कीमत पर एक वस्तु के उत्पादन को देने के लिए तैयार होंगे उसका अन्तर ही यह तय करता है कि उस वस्तु का आयात किया जाएगा या निर्यात किया जाएगा या देश में ही उत्पादित की जाएगी। यातायात लागतों के अभाव में प्रत्येक वस्तु की कीमत हर जगह एक सी होती है। यदि घरेलू उत्पादन की मौद्रिक लागत अधिक है या कीमतें विदेशी पूर्ति की अपेक्षा अधिक हैं तो उस वस्तु का आयात किया जाएगा।

रिकार्डो के मतानुसार उत्पादन के साधन राष्ट्रीय-स्तर पर पूर्ण व्यावसायिक गतिशीलता और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पूर्ण गतिहीनता रखते हैं। यही कारण है

कि देश मे उत्पादित वस्तुओ का सापेक्षिक मूल्य उत्पादन की सापेक्षिक वास्तविक लागतों द्वारा प्रशासित होता है। यह नियम विभिन्न देशो में उत्पादित वस्तुओं पर लागू नही होता।

रिकार्डो ने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को श्रम के समय की इकाई के रूप मे वर्णित किया है। देश मे उत्पादित वस्तुओं का मूल्य उनकी श्रम-समय (Labour-time) की लागतो के अनुपात मे होता है। बाद के कुछ विचारको ने भी इसका समर्थन किया है किन्तु आजकल मूल्य के श्रम-लागत सिद्धान्त के समर्थक बहुत कम रह गए हैं। कुछ विचारक तो इसकी खातिर तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को भी अस्वीकार करने पर बल देते हैं। दूसरे इसकी आधुनिक मूल्य सिद्धान्त के सन्दर्भ मे पुनर्व्याख्या करते हैं।

आलोचना—रिकार्डो द्वारा प्रतिपादित तुलनात्मक लागत सिद्धान्त अनेक जटिलताओ से पूर्ण है। उसने अनेक सरल मान्यताओ पर अपने सिद्धान्त को आश्रित किया किन्तु केवल कुछ को ही वह सत्य प्रमाणित कर सका। अनेक मान्यताओ का केवल उल्लेख मात्र किया गया है तथा उनको स्पष्ट रूप से वर्णित नही किया गया है। रिकार्डो के निष्कर्षो की आलोचना करते हुए विचारकों ने बताया कि—(i) ये उसकी मान्यताओ से नही निकले हैं, तथा (ii) इन निष्कर्षों की आधारभूत मान्यताएँ गलत हैं। यदि इनको सुधारा या सही किया जाता है तो निष्कर्ष बदल जाते है। जेकब वाइनर (Jacob Viner) के मतानुसार रिकार्डो की प्रमुख मान्यताएँ ये थी—दीर्घकालीन समायोजनो के लिए पर्याप्त समय, स्वतन्त्र प्रतियोगिता, केवल दो वस्तुएँ और दो देश, उत्पादन भिन्न होने पर निरन्तर श्रम-लागतें आदि-आदि।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परवर्ती सिद्धान्तो ने एक-एक करके रिकार्डो की मान्यताओ को छोड दिया। स्वयं रिकार्डो ने भी बताया है कि श्रम-लागतो को किस प्रकार मौद्रिक लागतो तथा कीमतों मे बदला जा सकता है?

सम्प्रतिष्ठित अर्थ-शास्त्रियों ने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का प्रतिपादन वास्तविक लागत के सन्दर्भ मे किया था। इस दृष्टिकोण की अनेक आलोचनाएँ की गईं—

(i) यह दृष्टिकोण केवल तभी उचित रहेगा जब वस्तुओ की बाजार कीमतें उनके उत्पादन की वास्तविक लागतो के अनुरूप हों।

(ii) विभिन्न उद्योग उत्पादन के विभिन्न साधनो का प्रयोग भिन्न-भिन्न अनुपातो मे करते हैं। इसके अतिरिक्त उत्पादन का प्रत्येक साधन विभिन्न रूपों मे उपलब्ध होता है। अतः ऐसा कोई वस्तुगत मापक नही है जिसके आधार पर विभिन्न तत्वो की वास्तविक लागत का मूल्यांकन किया जा सके। यह कार्य केवल तभी सम्भव है जब उत्पादन का साधन केवल एक हो।

(iii) विभिन्न उद्योगो मे समान श्रम के लिए अलग-अलग मजदूरी दी जाती है तथा भिन्न वेतन पाने वाले श्रम के विभिन्न प्रकारों को अलग-अलग अनुपातों मे प्रयुक्त किया जाता है। ऐसी स्थिति मे यदि हम श्रम को उत्पादन का एक मात्र तत्व

मानें तो वस्तुओं का मूल्य श्रम के समय की लागत से निर्धारित नहीं होगा वरन् वेतन की लागत से होगा।

(iv) वास्तविक लागत का दृष्टिकोण उत्पादन तथा उत्पादन के साधनों के बाजार में पूर्ण स्पर्द्धा का अस्तित्व मानकर चलता है, जिससे वास्तविक संसार में प्राय नहीं होती। अमल में व्यापार का निर्धारण मौद्रिक लागतों एवं कीमतों द्वारा होता है। अपूर्ण-स्पर्द्धा धन सम्बन्धी लागतों एवं कीमतों का वास्तविक लागतों के बराबर होना आवश्यक नहीं है।

वास्तविक लागत सिद्धान्त के विरुद्ध की गई उपर्युक्त आलोचनाओं से बचने के लिए तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को अवसरगत लागत (Opportunity Cost) के रूप में वर्णित किया गया। जेकब वाइनर (Jacob Viner) के कथनानुसार अवसरगत लागत सिद्धान्त को सर्वप्रथम हेबरलर द्वारा प्रतिपादित किया गया।

अवसर लागत सिद्धान्त
(Opportunity Cost Theorem)

प्रो हैबर्लर के मतानुसार श्रम-लागत सिद्धान्त महत्त्वहीन है। आपने उत्पादन सम्भावना वक्र का प्रयोग करके इस सिद्धान्त को दो से अधिक साधनों पर लागू किया। आपका मत था कि अवसर लागत सिद्धान्त को तुलनात्मक वास्तविक लागतों के सिद्धान्त के स्थानापन्न के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है।

प्रोफेसर हैबर्लर द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धान्त "अवसर लागत सिद्धान्त" (Opportunity Cost Theorem) कहलाता है। यह सिद्धान्त हमें बताता है कि निर्दिष्ट मात्रा में एक वस्तु का आयात करने हेतु कोई देश अपनी वस्तु की कितनी मात्रा का निर्यात करेगा। हम जानते हैं कि दो देशों के बीच दो वस्तुओं का विनिमय-अनुपात इनकी उत्पादन-लागत द्वारा निर्धारित होता है। पहले हम यह स्पष्ट करें कि विशिष्टता न होने की स्थिति में प्रत्येक देश दोनों वस्तुओं की कितनी इकाइयों का उत्पादन करेगा। मूल्य-सिद्धान्त के अनुसार दो वस्तुओं का इष्टतम संयोग उस स्तर पर होता है जहाँ कि उत्पादनकर्ता की उत्पादन सम्भावना वक्र का ढाल सम लागत वक्र (Iso-cost-curve) के ढाल के बराबर हो।

अवसर लागत

अवसर लागत की धारणा इस तथ्य पर आधारित है कि उत्पत्ति के साधन सीमित और बहुप्रयोगात्मक होते हैं क्योंकि प्रत्येक साधन सीमित है। इसलिए उसको सभी प्रयोगों में पूर्ण रूप से प्रयुक्त नहीं किया जा सकता है। समाज की दृष्टि से उसको किसी एक उद्देश्य के लिए प्रयोग करने का अर्थ है उसको अन्य उद्देश्यों में प्रयोग करने के अवसर का त्याग करना। किसी एक वस्तु के उत्पादन की लागत अन्य वस्तु की वे मात्राएँ हैं जिनका हमें त्याग करना पड़ता है। इस प्रकार उत्पादित वस्तु की लागत को उसमें लगे साधनों में व्यक्त करने के बजाय उस वस्तु में व्यक्त किया जा सकता है जो उत्पन्न नहीं की

जाती है। उत्पन्न न की जाने वाली वस्तु एक प्रकार से खोया अवसर है और इसलिए यह उस वस्तु की अवसर लागत है जो वास्तव में उत्पन्न की गई है। उदाहरण के लिए माना कि यदि एक किसान कुछ साधनों से 100 क्विंटल गेहूँ का उत्पादन कर रहा है और यदि उन्ही साधनों से वह 120 क्विंटल जौ उत्पन्न कर सकता है तो 100 क्विंटल गेहूँ की अवसर लागत 120 क्विंटल जौ है। इसी प्रकार यदि एक बढ़ई एक दिन मे कार्य करके एक टेबल या 2 कुर्सियाँ बना सकता है तो यह कहा जा सकता है कि एक टेबल की अवसर लागत 2 कुर्सियाँ हैं जो एक टेबल के बदले तैयार की जा सकती है। इसी प्रकार यदि कुछ साधनों से 20 इकाई खद्दर का कपड़ा या 10 इकाई रेशमी कपड़ा बनाया जा सकता है तो 20 इकाई खद्दर-कपड़े की अवसर लागत=10 इकाई रेशमी कपड़ा होगा, क्योंकि 20 इकाई खद्दर का कपड़ा=10 इकाई रेशमी कपड़ा है। अतः इनकी प्रतिस्थापना दर 2:1 होगी। अर्थात् 2 इकाई खद्दर के कपडे का त्याग करके एक इकाई रेशमी कपड़ा बनाया जा सकता है अथवा एक इकाई रेशमी कपडे का त्याग करके दो इकाई खद्दर का कपड़ा बनाया जा सकता है। यह 2:1 का अनुपात इन दो वस्तुओ खद्दर का कपड़ा व रेशमी कपड़े के उत्पादन की लागत का अनुपात है। इस अनुपात को हम अवसर लागत अनुपात अथवा तुलनात्मक लागत अनुपात अथवा प्रतिस्थापना लागत अनुपात कह सकते हैं। क्योंकि यह अनुपात एक वस्तु की दूसरी वस्तु के लिए प्रतिस्थापन दर को प्रदर्शित करता है। अतः स्पष्ट है कि किसी निश्चित वस्तु की अवसर लागत वह उत्तम विकल्प है जिसका परित्याग कर दिया जाता है। अब हम अवसर लागत सिद्धान्त की धारणा का अध्ययन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अन्तर्गत करेंगे।

हम जानते है कि "मूल्य के श्रम सिद्धान्त" के प्रयोग का एक मात्र उद्देश्य दो देशो मे सापेक्षिक मूल्यो का निर्धारण है। रिकार्डो के मतानुसार श्रम-लागत वस्तु की पूर्ति पर प्रभाव डालकर मूल्य का निर्धारण करती है। प्रो हैबर्लर ने प्रतिष्ठित सिद्धान्त की इस कमजोरी को दूर करके बताया कि वस्तुओं के सापेक्षिक मूल्य उनके उत्पादन मे प्रयुक्त श्रम की निरपेक्ष मात्राओ द्वारा नहीं वरन् त्याग किए गए विकल्पों, अर्थात् प्रतिस्थापना अनुपातों द्वारा निर्धारित होंगे। इस सिद्धान्त का हम अब तीनों लागतो अर्थात् स्थिर, घटती तथा बढती हुई लागतो की अवस्था मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अध्ययन करेंगे।

स्थिर लागतों की अवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार
(International Trade under Conditions of Constant Costs

यदि यह मान लिया जाए कि उत्पादन लागतें स्थिर हैं, अर्थात् उत्पादन की प्राप्ति समता प्रतिफल के अन्तर्गत हो रही है, तो उत्पादन सम्भावना वक्र एक सरल रेखा के रूप मे होगा। यदि हम दो देशों—भारत व जापान तथा दो वस्तुओं इस्पात एवं वस्त्र का उदाहरण लें तथा यह मानें कि प्रत्येक देश में दोनों वस्तुओ का उत्पादन स्थिर लागतों के अन्तर्गत निम्नानुसार हो रहा है—

साधन की इकाइयाँ	उत्पादन की इकाइयाँ			
	भारत		जापान	
	इस्पात	कपड़ा	इस्पात	कपड़ा
200	—	—	200	300
100	200	200	100	150
80	160	160	80	120
60	120	120	60	90
40	80	80	40	60
20	40	40	20	30
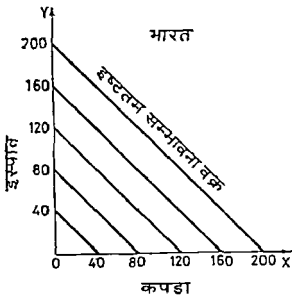
उपरोक्त रेखाचित्रों (पृष्ठ 38 सहित) में प्रस्तुत विभिन्न उत्पादन सम्भावना वक्र साधन के भिन्न-भिन्न स्तरों पर प्राप्त उत्पादन के विभिन्न स्तरों को दर्शाते हैं। इन रेखाचित्रों में श्रम की इकाइयों को प्रदर्शित नहीं किया गया है। परन्तु श्रम एवं उत्पादन की मात्राओं के बीच एक निश्चित अनुपात लिया गया है।

भारत एवं जापान दोनों देशों के इष्टतम उत्पादन सम्भावना वक्र इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं कि श्रम की उपलब्ध मात्रा से कपड़े व इस्पात की कितनी इकाइयाँ प्राप्त होती हैं।

अब यह मान लें कि भारत में श्रम की 100 इकाइयाँ उपलब्ध हैं जबकि जापान में 200 इकाइयाँ उपलब्ध हैं। यदि भारत की श्रमशक्ति का पूर्ण उपयोग होता है तो वहाँ 200 इकाइयाँ इस्पात, या 200 इकाइयाँ कपड़ा, अथवा दोनों का
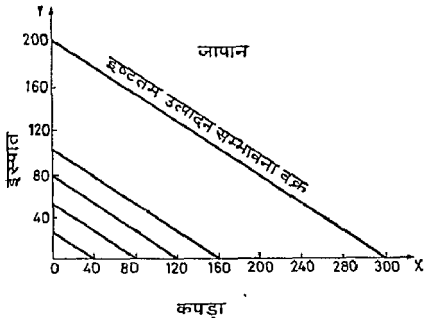
कोई संयोग प्राप्त करना सम्भव है। यदि इसके विपरीत जापान में श्रम का पूर्ण उपयोग किया जाए तो वहाँ 200 इकाइयाँ इस्पात या 300 इकाइयाँ कपड़ा अथवा दोनों का कोई संयोग प्राप्त किया जा सकता है। बहुधा हमारी मान्यता यह रहती है कि प्रत्येक देश उपलब्ध साधन का पूर्ण उपयोग करता है और इसी कारण यह मान लिया जाता है कि वह इष्टतम सम्भावना वक्र पर कहीं भी स्थित हो सकता है।

भारत के लिए उत्पादन रूपान्तरण की सीमान्तर दर (Marginal Rate of Product Transformation or MRPT) $= \frac{\Delta \text{ इस्पात}}{\Delta \text{ कपड़ा}}$ होगी।

अर्थात् इस स्थिति में $MRPT = \frac{-1}{1}$ होगी, जबकि जापान के लिए यह $\left(\frac{-2}{3}\right)$ के बराबर होगी क्योंकि इस स्थिति में MRPT स्थिर है, अतः दोनों उत्पादन सम्भावना वक्र एक सरल रेखा के रूप में होंगे जो कि केवल स्थिर लागतों को ही प्रदर्शित नहीं कर करते वरन् इन वक्रों के ढाल (Slope) कीमत अनुपात (Price ratio) को भी बताते हैं।

आन्तरिक दृष्टि से दोनों देश इस्पात व कपड़े के उन संयोगों को चुनेंगे जिनका निर्धारण उत्पादन सम्भावना वक्रों एवं समाज की तटस्थता वक्रों के स्पर्श-बिन्दुओं (Touching Points) द्वारा होता है। यह स्मरणीय है कि समाज के तटस्थता वक्र देश की जनता द्वारा व्यक्त दोनों वस्तुओं की माँग अथवा जनता की रुचि को प्रदर्शित करते हैं जबकि उत्पादन सम्भावना वक्र देश की उत्पादन या पूर्ति क्षमता को दर्शाते हैं।

सन्तुलन की अवस्था मे

$$\frac{\partial C}{\partial \text{ कपडा}} \bigg/ \frac{\partial C}{\partial \text{ इस्पात}} = \frac{\partial U}{\partial \text{ कपडा}} \bigg/ \frac{\partial U}{\partial \text{ इस्पात}}$$

जहाँ

$\frac{\partial C}{\partial \text{ कपडा}}$ = कपडे की सीमान्त लागत

$\frac{\partial C}{\partial \text{ इस्पात}}$ = इस्पात की सीमान्त लागत

$\frac{\partial U}{\partial \text{ कपडा}}$ = कपडे की सीमान्त उपयोगिता

$\frac{\partial U}{\partial \text{ इस्पात}}$ = इस्पात की सीमान्त उपयोगिता

माना कि भारत व जापान के लिए उत्पादन सम्भावना वक्रो एव समाज की तटस्थता वक्रो का स्पर्श क्रमश U एव P बिन्दुग्रो पर होता है। श्रम शक्ति के पूर्ण रोजगार की स्थिति म भारत कपडे व इस्पात म प्रत्येक की 100 इकाइयो का उत्पादन करेगा जबकि जापान कपडे की 150 इकाइयो व इस्पात की 100 इकाइयो का उत्पादन करेगा। यह स्थिति अग्राकित चित्रो(पृष्ठ 40 सहित)से प्रकट की गई है–
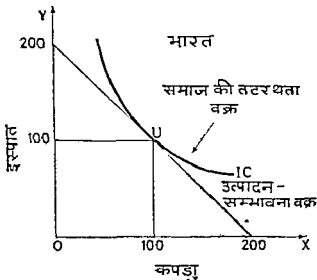
भारत मे कपडे व इस्पात का इष्टतम सयोग

अब यदि भारत म कपडे की मॉग वढ जाए तो यहाँ स्थिर प्रतिस्थापन की दर से कपडे का उत्पादन अधिक एव इस्पात का उत्पादन कम कर दिया जाएगा। इसी प्रकार की स्थिति जापान के लिए भी उत्पन्न हो सकती है। कुल मिलाकर यह

कहा जा सकता है कि प्रतिस्थापन की निर्दिष्ट दर (2:3) पर माँग में परिवर्तन के अनुरूप एक वस्तु का अधिक उत्पादन तभी प्राप्त किया जा सकता है जबकि दूसरी वस्तु के उत्पादन में कमी की जाए।
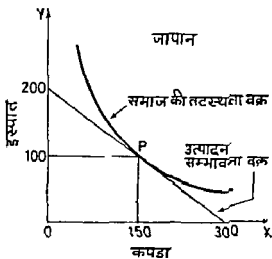
जापान में कपड़े व इस्पात का इष्टतम संयोग

अब तक हमने यह मान्यता ली थी कि श्रम ही उत्पादन का एकमात्र साधन है। अब हम इस मान्यता को छोड़कर पैमाने के समता प्रतिफल (Constant returns to scale) का उदाहरण लेंगे। यह सर्वविदित है कि पैमाने में परिवर्तन का अर्थ भूमि, श्रम, पूंजी आदि साधनों में एक ही अनुपात से वृद्धि या कमी होने से है। पैमाने के समता प्रतिफल एवं स्थिर लागतों की स्थिति वस्तुतः पर्यायवाची हैं। ऐसी स्थिति में दोनों वस्तुओं के रूपान्तर की सीमान्त दर यानी MRPT भी स्थिर रहेगी। यदि भारत में कपड़े का उत्पादन बढ़ाया जाए तो इस्पात के उत्पादन में हुई कमी कपड़े के अतिरिक्त उत्पादन की अवसर लागत होगी। भारत में प्रति इकाई कपड़े की अवसर लागत या MRPT एक इकाई इस्पात है। इसी प्रकार जापान में यह इकाई कपड़े के विरुद्ध ⅔ इकाई इस्पात है, या प्रति इकाई इस्पात के बदले 1.5 इकाई कपड़ा है। पैमाने के समता प्रतिफल अथवा स्थिर लागत की स्थिति में अवसर लागत या MRPT स्थिर रहती है। इन रूपान्तर दरों (MRPT) को दो वस्तुओं के बीच आन्तरिक विनिमय अनुपात की संज्ञा भी दी जा सकती है।

उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट होता है कि दो वस्तुओं के आन्तरिक विनिमय-अनुपात की अभिव्यक्ति उत्पादन सम्भावना वक्र के ढलाव द्वारा की जाती है। भारत के लिए यह अनुपात (1:1), अर्थात् एक इकाई इस्पात = एक इकाई कपड़ा है जब कि जापान में यह (1:1·5), अर्थात् एक इकाई इस्पात = 1·5 इकाई कपड़ा है। अतः भारत को इस्पात के उत्पादन में एवं जापान को कपड़े के उत्पादन में तुलनात्मक

लाभ है। इस प्रकार जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रारम्भ होता है तो भारत सभी साधनों को इस्पात हेतु प्रयुक्त करेगा जबकि जापान केवल कपडे का उत्पादन करेगा।

परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए यह आवश्यक है कि इससे दोनो देशो को लाभ मिलता हो। यह तभी सम्भव है जबकि भारत के लिए व्यापार की शर्तें एक इकाई इस्पात=एक इकाई कपडे से बेहतर हो, अर्थात् आन्तरिक विनिमय दर से अधिक हो। इसी प्रकार जापान के लिए जब तक व्यापार की शर्तें या विनिमय अनुपात एक इकाई इस्पात=1 5 इकाई कपडे से बेहतर नही होगा तब तक उसके लिए यही श्रेयस्कर है कि वह विदेशी व्यापार न करे। विदेशी व्यापार केवल उसी स्थिति मे होगा जब प्रत्येक देश को वस्तु की अवसर लागत से अधिक इकाइयां व्यापार के माध्यम से प्राप्त हो जाएँ। यदि भारत को इस्पात मे विशिष्टता प्राप्त करने के बाद भी इस्पात की एक इकाई के बदले एक इकाई से ज्यादा कपडा जापान से न मिले तो बेहतर यही है कि वह इस्पात व कपडा दोनो ही का उत्पादन करे। इसी प्रकार कपडे मे विशिष्टता प्राप्त करके अतिरिक्त कपडे के बदले भारत से इस्पात इसी शर्त पर मँगाएगा कि उस देश मे कपडे के बदले प्राप्य मात्रा से अधिक इस्पात मिल जाए। अर्थात् जापान को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से तभी लाभ प्राप्त होगा जबकि एक इकाई कपडे के बदले ⅔ इकाई से अधिक इस्पात मिले।
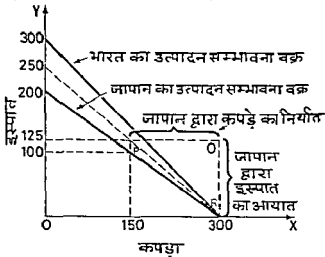
स्थिर लागतो के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

उपरोक्त चित्र से स्पष्ट होता है कि भारत के लिए सबसे अधिक लाभप्रद स्थिति वह होगी जबकि व्यापार की शर्तें जापान के आन्तरिक विनिमय अनुपात के समान हो। इसी प्रकार जापान को सबसे अधिक लाभ तब होगा जब व्यापार की शर्तें भारत के आन्तरिक विनिमय अनुपात की शर्तों की सीमाओं के रूप मे स्वीकार किया जाए। वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य, विनिमय-अनुपात या व्यापार

की शर्तें इन दोनो रेखाओं के बीच कहीं भी वस्तुओं की परस्पर माँग के अनुसार निर्धारित होंगी।

अब माना कि व्यापार की शर्तें 5:6 अथवा 1:1·2 यानी एक इकाई इस्पात=1 2 इकाई वस्त्र पर तय हुई। यह भी माना कि विदेशी व्यापार प्रारम्भ होने से पूर्व जापान 100 इकाइयाँ इस्पात और 150 इकाइयाँ कपड़े का उत्पादन कर रहा था। व्यापार प्रारम्भ होने के बाद तुलनात्मक लाभ के कारण जापान केवल कपड़े का उत्पादन करता है और अतिरिक्त कपड़े का निर्यात करके आवश्यकतानुसार भारत से इस्पात का आयात करता है। जापान 300 इकाइयाँ कपड़े का उत्पादन करता है। इसमे से वहाँ 150 इकाइयों का आन्तरिक उपयोग होने के बाद शेष 150 इकाइयाँ निर्यात हेतु रहती हैं। उपरोक्त व्यापार की शर्तों के अनुसार कपड़े की 150 इकाइयो के बदले जापान को भारत से 125 इकाइयाँ इस्पात की प्राप्त होगी। इस प्रकार जापान चित्रानुसार PQ मात्रा मे (150 इकाइयाँ) कपड़े का निर्यात करके QR (125 इकाइयाँ) इस्पात का आयात करेगा। उपरोक्त चित्र से यह स्पष्ट है कि विशिष्टीकरण एव विदेशी व्यापार से जापान को पूर्वापेक्षा लाभ ही होता है क्योकि जहाँ विशिष्टीकरण से पूर्व जापान को 150 इकाइयाँ कपड़ा तथा 100 इकाइयाँ इस्पात ही उपलब्ध होता था, वहाँ विशिष्टीकरण एवं विदेशी व्यापार के कारण उसे 150 इकाइयाँ कपड़ा एव 125 इकाइयाँ इस्पात की प्राप्ति होती है।

इसी प्रकार का विश्लेषण भारत के लिए भी लिया जा सकता है तथा यह प्रमाणित किया जा सकता है कि केवल इस्पात के उत्पादन मे विशिष्टीकरण करके तथा अतिरिक्त इस्पात के बदले जापान से कपड़े का आयात करने पर भारत को उतनी ही मात्रा मे इस्पात प्राप्त करने पर भी पूर्वापेक्षा अधिक मात्रा मे कपड़ा उपलब्ध होता है। अतः भारत को भी विदेशी व्यापार का लाभ प्राप्त होता है।

बढ़ती हुई लागतों के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार
(International Trade under Conditions of Increasing Costs)

बढती हुई लागतों के अन्तर्गत भी अवसर लागत पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त लागू होता है। प्रो. हैबरलर ने बढती हुई लागतो की समस्या पर सविस्तार विचार किया और बताया कि "जिस सुगमता से एक वस्तु का प्रतिस्थापन दूसरी वस्तु के साथ किया जा सकता है, वह दूसरी वस्तु का उत्पादन बढाए जाने के साथ ही साथ कम होती जाती है।' बढ़ती हुई लागत की दशाओ के अन्तर्गत जो उत्पादन होता है वह इस बात को समझाने मे सहायक है कि क्यो कोई देश अपनी पूर्ति के एक अंश के लिए अपने घरेलू स्रोतो पर और शेष अश के लिए विदेशी स्रोतों पर निर्भर रहता है। बढती हुई लागतो की दशाओ मे पूर्ण विशिष्टीकरण नहीं होगा, केवल आंशिक विशिष्टीकरण होगा अर्थात् एक ही समय मे दोनो देशों मे दोनों ही वस्तुएँ उत्पन्न की जाएँगी। परन्तु हर देश उस वस्तु का उत्पादन अपेक्षाकृत

अधिक करेगा जिसमे उसकी अवसर लागत कम होगी। यही उसकी निर्यात वस्तु होगी।

जब वस्तुओ का उत्पादन बढती हुई लागतो के अन्तर्गत होता है तब उत्पादन सम्भावना वक्र निम्न रेखाचित्र के अनुसार मूल बिन्दु से नतोदर (Concave to the Origin O) हो जाता है, X–अक्ष पर कपडे तथा Y–अक्ष पर इस्पात की इकाइयो को लेते हैं यदि देश सभी साधनो का उपयोग इस्पात के उत्पादन हेतु किया
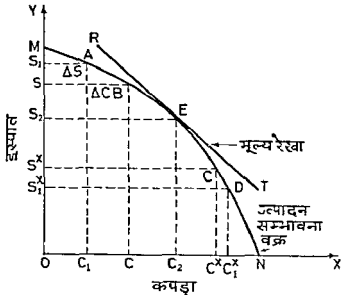
बढती हुई लागतो के अन्तर्गत उत्पादन सम्भावना वक्र

जाए तो इस्पात की OM मात्रा प्राप्त होगी। इसी प्रकार सभी साधनो का उपयोग कपडे के हेतु करने पर ON इकाइयां प्राप्त होगी। इसलिए MN उत्पादन सम्भावना वक्र वाला देश या तो केवल इस्पात, या केवल कपडा अथवा इन दोनो का कोई सयोग प्राप्त करने का प्रयास करेगा।

उपरोक्त उत्पादन सम्भावना वक्र MN रेखीय न होकर नतोदर है। इसका मुख्य कारण यह है कि कपडे की अतिरिक्त इकाइयो के उत्पादन हेतु देश को उत्तरोत्तर अधिक लागत वहन करनी पडी है अर्थात् कपडे की (इस्पात के रूप मे) अवसर लागत बढती जाती है। यही कारण है कि उत्पादन सम्भावना वक्र का ढलाव $\left(-\frac{\Delta \text{इस्पात}}{\Delta \text{कपडा}}=\frac{MC_c}{MC_s}\right)$ बढता जाता है। हम इससे पूर्व यह देख चुके हैं कि स्थिर लागतो के सन्दर्भ मे यह ढलाव (दोनो वस्तुओ की सीमान्त लागतो का अनुपात अथवा कपडे की इस्पात के रूप मे अवसर लागत) स्थिर रहता है।

माना कि उपरोक्त रेखाचित्र मे देश की मूल स्थिति A बिन्दु पर है जहाँ

OS_1 इकाइयाँ इस्पात तथा OC_1 इकाइयाँ कपड़े की निर्मित होती हैं। यदि कपड़े का उत्पादन OC तक बढ़ता है तो इस्पात का उत्पादन OS तक घटाना होगा। इस प्रकार कपड़े की अतिरिक्त इकाइयों की अवसर लागत इस्पात की मात्रा मे होने वाली कटौती है अर्थात् A व B बिन्दुओ के बीच उत्पादन सम्भावना वक्र का ढलाव या कपडे की अवसर लागत— $\frac{\triangle S}{\triangle C}$ होगी। इसी प्रकार कपड़े की अवसर लागत C व D बिन्दुओ के बीच ज्ञात की जा सकती है। विपरीत दिशा मे चलने पर भी हमारे इस निष्कर्ष मे कोई परिवर्तन नही होगा कि एक वस्तु की अतिरिक्त इकाइयाँ प्राप्त करने की (अवसर) लागत दूसरी वस्तु की त्यागी गई मात्रा के रूप मे व्यक्त की जाती है।

रेखाचित्र मे E बिन्दु उस स्तर को व्यक्त करता है जहाँ दोनो ही वस्तुओं का इष्टतम सयोग (घरेलू उपयोग हेतु) निर्मित होगा। इस बिन्दु पर कपड़े व इस्पात के मूल्यो के अनुपात एव कपड़े की अवसर लागत अथवा दोनो वस्तुओ की सीमान्त लागत के अनुपात मे समानता है। सरल रेखा RT का ढलाव वस्तुओ के मूल्यो का अनुपात $\left(\frac{P_c}{P_s}\right)$ है। जहाँ

P_c = कपड़े की प्रति इकाई कीमत है।
P_s = इस्पात की प्रति इकाई कीमत है।

उपरोक्त चित्र के माध्यम से हमने अभी तक बढती हुई लागतों के अन्तर्गत उपलब्ध साधनो से प्राप्त इस्पात एवं कपड़े के इष्टतम सयोग के निर्धारण का वर्णन किया है। अब हम यह देखेंगे कि बढती हुई लागतों के सन्दर्भ मे आयात व निर्यात व्यापार की सरचना किस प्रकार की होगी।

अब हम मानते हैं कि देश को कपडे के उत्पादन मे तुलनात्मक लाभ है अर्थात् यह देश कपडे के उत्पादन मे अधिकाधिक साधनों का उपयोग करके अतिरिक्त कपड़े का निर्यात करेगा एव आवश्यकतानुसार इस्पात बाहर से मँगाएगा। कपड़े की माँग विदेशों से आने एव देश मे उत्पादित इस्पात की माँग घट जाने के कारण कपडे का मूल्य इस्पात की तुलना मे बढ जाएगा और इसके फलस्वरूप प्रस्तुत मूल्य रेखा RT विवर्तित हो R_1T_1 के रूप मे हो जाएगी। यदि उत्पादन तकनीक यथावत रहे तथा तदनुरूपी उत्पादन सम्भावना वक्र की स्थिति भी वही रहे तो नई मूल्य रेखा R_1T_1 उत्पादन सम्भावना वक्र को E_1 बिन्दु पर स्पर्श करेगी। देश मे उत्पादित कपडे एवं इस्पात का इष्टतम सयोग क्रमश. OC_2 व OS_2 से बदल कर OC_1 तथा OS_1 हो जाएगा। अब देश मे कपडे की आन्तरिक माँग को निकाल कर शेष का आवश्यक मात्रा मे आयात किए गए इस्पात के बदले निर्यात कर दिया जाएगा। अग्रांकित चित्र मे बताया गया है कि देश मे कपड़े व इस्पात के इष्टतम उत्पादन (OC_1 एव OS_1) और उपभोग्य मात्राओं (OC एव OS) का अन्तर कपड़े के निर्यात तथा इस्पात के आयात द्वारा पाटा जा सकता है।
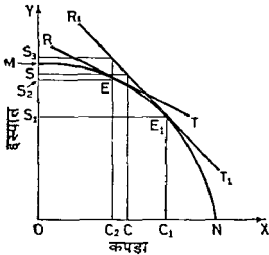
बढ़ती हुई लागतो के अन्तर्गत विदेशी व्यापार

जैसा कि चित्र मे बताया गया है, मूल्यो मे परिवर्तन होने पर मूल्य रेखा की स्थिति RT से बदल कर R_1T_1 हो जाती है तथा दोनो वस्तुओ के उत्पादन का साम्य स्तर E से हटकर E_1 पर आ जाता है। देश अब कपडे का उत्पादन OC_2 से बढ़कर OC_1 एव इस्पात का उत्पादन OS_2 से घटकर OS_1 कर देता है। अब माना कि देश की जनता इस्पात तथा कपडे की क्रमश OS एव OC इकाइयाँ उपभोग करना चाहती है। फलस्वरूप CC_1 इकाइयाँ वस्त्र की निर्यात की जाकर SS_1 इकाइयाँ इस्पात की आयात की जाएँगी। इसके अतिरिक्त विदेशी व्यापार के कारण देश मे कपडे व इस्पात दोनो ही का अधिक उपयोग होने लगेगा ($\because OC > OC_2$ एव $OS > OS_2$) तथा देश के लोगो के जीवन स्तर मे सुधार होगा।

यह भी सम्भव है कि देश वस्त्र के उपयोग की मात्रा पहले जितनी ही OC_2 रखे तथा नए मूल्यो के अनुरूप C_2C_1 मात्रा कपडे का निर्यात करके S_1S_3 इकाइयाँ इस्पात की बाहर से मँगाए अर्थात् विदेशी व्यापार के फलस्वरूप कपडे का उपभोग यथावत रहने पर भी इस्पात की पूर्वापेक्षा काफी अधिक मात्रा उपलब्ध हो जाती है—इस्पात का उपभोग OS_2 से बढ़कर OS_3 हो जाता है।

घटती हुई लागतो के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार (International Trade under Conditions & Diminishing Costs)

घटती हुई लागतें अथवा उत्पत्ति वृद्धि नियम किसी एक वस्तु के उत्पादन मे क्रियाशील हो सकता है अथवा दोनो ही वस्तुओ पर? हम यहाँ दोनो ही स्थितियो का अध्ययन करेंगे।

(अ) किसी एक वस्तु का घटती हुई लागत के अन्तर्गत उत्पादन

बहुत-सी परिस्थितियों में जबकि किसी वस्तु का उत्पादन घटती हुई नियम के अन्तर्गत होता है और दूसरी वस्तु का उत्पादन वृद्धिमान लागत नि अन्तर्गत होता है।
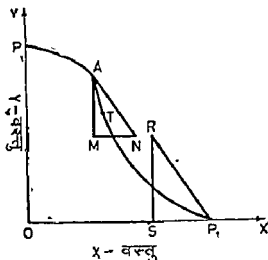
किसी एक वस्तु का घटती हुई लागत के अन्तर्गत उत्पादन

चित्र में PP_1 का उत्पादन सम्भावना वक्र है। प्रारम्भ में यह वक्र मूल से नतोदर है अर्थात् प्रारम्भ में X वस्तु के उत्पादन में वृद्धि करने पर Y का उत्पादन में बढ़ती हुई कमी करनी पड़ती है अर्थात् A बिन्दु तक यह वक्र वृद्धि अवसर लागतों को प्रदर्शित करता है इस सीमा के अन्दर उत्पादन में देश के Y वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण करना लाभप्रद रहेगा। यह देश A बिन् साम्य की अवस्था में रहेगा और AM Y-वस्तु के बदले MN X-वस्तु का आ करेगा। परन्तु यदि किसी तरह से X-वस्तु में T बिन्दु के पश्चात् भी उत्पादन जा सके तो यह देश पाएगा कि उत्पादन ह्रासमान अवसर लागतों के अन्तर्ग रहा है और इस स्थिति में इस देश के लिए पूर्ण विशिष्टीकरण करना लाभप्रद और यह देश Y-वस्तु के बदले X-वस्तु का आयात करेगा। अब वह R बिन् रहेगा और पहले की अपेक्षा श्रेष्ठ स्थिति में होगा।

(ब) दोनों वस्तुओं के घटती हुई लागतों के अन्तर्गत उत्पादन

जब दोनों ही वस्तुओं का उत्पादन घटती हुई लागतों के अन्तर्गत होता उत्पादन सम्भावना वक्र मूल बिन्दु के उन्नतोदर होती है जैसा कि अग्रांकित रेखा में दर्शाया गया है।
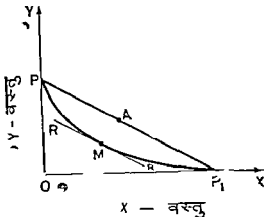
दोनों वस्तुओं के घटती हुई लागतो के अन्तर्गत उत्पादन

चित्र में PMP_1 उत्पादन सम्भावना रेखा है। यदि रेखा X–वस्तु के रूप म उत्पादन मे वृद्धि के साथ-साथ Y वस्तु के उत्पादन मे घटती लागतें और Y वस्तु मे वृद्धि के साथ-साथ X वस्त के रूप मे घटती लागतो का नियम प्रकट करती है, यदि RR कीमत रेखा है और M साम्य बिन्दु तथा अर्थव्यवस्था म आन्तरिक मितव्ययिताओ क कारण घटती लागतें क्रियाशील हैं तो इस स्थिति मे यदि किसी कारण से साम्यावस्था भग हो जाती तो उपरोक्त परिस्थिति के अनुसार या तो वह X वस्तु के उत्पादन मे या Y वस्तु के उत्पादन म विशिष्टीकरण करेगा। वह राष्ट्र किस वस्तु क उत्पादन में विशिष्टीकरण करेगा यह इस बात पर निर्भर करेगा कि शुरू म किस वस्तु के मूल्य मे वृद्धि के कारण साम्यावस्था भग होती है। यदि प्रारम्भ मे Y-वस्तु के मूल्य मे वृद्धि हो जाती है तो Y-वस्तु के उत्पादन मे वृद्धि की जाएगी और उत्पादन मे वृद्धि के साथ उत्पादन लागत मे कमी होगी और लाभ की मात्रा बढेगी और अन्ततः सन्तुलन P-बिन्दु पर स्थापित होगा। इसी प्रकार यदि X-वस्तु मे किसी कारण से वृद्धि हो जाती है तो उसके उत्पादन मे वृद्धि की जाएगी और उत्पादन वृद्धि के साथ उत्पादन लागत मे कमी रहेगी और अन्तत P-बिन्दु पर साम्य स्थापित होगा।

घटती हुई लागतों के नियम की सम्भावना अल्पकाल मे बहुत कम रहती है परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह नियम बढते हुए अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार का महत्त्वपूर्ण कारण है। यदि दानो ही वस्तुओ का उत्पादन घटती हुई लागतो के अन्तर्गत हो रहा है तो इस स्थिति मे दोनो देशो की उत्पादन सम्भावना वक्रो को एक ही आधार पर स्थापित करके, समान अवसर लागतो के समान ही सन्तुलन बिन्दु ज्ञात किया जा सकता है।

आंशिक विशिष्टीकरण
(Partial Specialisation)

स्थिर लागतो के अन्तर्गत देश पूर्ण विशिष्टीकरण के आधार पर केवल उन

वस्तु के उत्पादन मे साधनों का उपयोग करता है जिसमें उसे तुलनात्मक लाभ प्राप्त होता है। परन्तु बढती हुई लागतों के अन्तर्गत ऐसा नहीं होता है। बढती हुई लागतो के सन्दर्भ मे एक देश उस वस्तु का भी कुछ मात्रा में उत्पादन करता है जिसमे इसे तुलनात्मक लाभ नही है तथा जिसकी पर्याप्त मात्रा का आयात किया जाता है। ऐसी वस्तु के स्वदेशी उत्पादकों को आयातित वस्तुओं की प्रतियोगिता का सामना करना पडता है, हालांकि उन्हें इस वस्तु के उत्पादन लाभ प्राप्त नहीं होते हैं। यही कारण है कि विदेशी व्यापार प्रारम्भ होने के बाद भी बढती हुई लागतो के अन्तर्गत पूर्ण विशिष्टीकरण नही हो पाता। इसे हम आंशिक विशिष्टीकरण की स्थिति कहते हैं।

आनुपातिक लागतें
(Proportional Costs)

यदि दो देशों की लागतें आनुपातिक हों तो दोनों देशों के बीच विदेशी व्यापार नहीं होगा। उत्पादन लागतें उस स्थिति मे अनुपातिक होती है जब दोनों वस्तुओ अथवा उत्पादन के सभी क्षेत्रो मे देश को श्रेष्ठता प्राप्त हो और इन्ही लागत अनुपातो पर दूसरा देश भी दोनों वस्तुएँ उत्पादन करने की क्षमता रखता हो। ऐसी स्थिति में दोनो देशो के उत्पादन सम्भावना वक्र समानान्तर होगे।
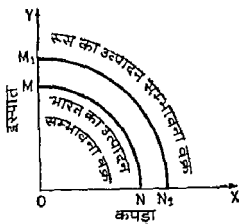
अनुपातिक लागतें

चित्र में रूस व भारत के उत्पादन सम्भावना वक्र M_1N_1 एवं M N माने गए हैं। मानाकि भारत मे इस्पात व कपड़े के उत्पादन हेतु क्रमश: 200 व 180 इकाइयाँ श्रम की आवश्यकता है जबकि रूस मे इनके लिए क्रमश: 100 व 90 इकाइयाँ श्रम चाहिए। ऐसी अवस्था मे कपडे व इस्पात की उत्पादन लागतें दोनों ही देशों मे आनुपातिक होगी और इस कारण रूस व भारत में दोनो वस्तुओ के आन्तरिक विनिमय अनुपात भी समान होगे। इसी कारण दोनों देशो के उत्पादन सम्भावना वक्र समानान्तर होंगे तथा विदेशी व्यापार की कोई सम्भावना नहीं होगी।

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की आधारभूत मान्यताओ को आलोचना (Criticism of the Basic Assumptions of the Theory of Comparative Cost)

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त कुछ मान्यताओ पर आधारित है। उदाहरण के लिए इसके द्वारा यह स्वीकार किया जाता है कि धन का अस्तित्व नही होता। केवल दो देश और दो पण्य होते है, स्थानान्तरण (यातायात) मे कोई लागत नही लगती, दोनो ही देशो म होने वाला उत्पादन लगातार प्राप्त होने वाली आय के नियम पर निर्भर है, विभिन्न सामग्रियो की कीमत उनके उत्पादन की वास्तविक लागत से निर्धारित की जाती है, उत्पादन के सभी साधन पूरी तरह से कार्यरत होते है तथा स्वतन्त्र प्रतियोगिता कायम रहती है। ये समस्त मान्यताएँ तुलनात्मक मूल्यो के लागत सिद्धान्त का आधार बनी हैं। 70970

उक्त समस्त मान्यताओ की निम्नलिखित आलोचनाएँ की जाती हैं —

(1) धन की आवश्यकता—यह मान्यता गलत थी कि समस्त व्यापार केवल लेन-देन (Barter) से ही होता है। व्यापार मे धन की भी पर्याप्त आवश्यकता होती है। वास्तविक ससार मे हम देखते है कि वस्तुओ को न केवल वस्तुओ से बदला जाता है वरन् धन से भी बदला जाता है। आयात और निर्यात करने वाले लोग व्यापार किये जाने वाले माल की कीमतो के सन्दर्भ मे सोचते हैं न कि उनके मूल्यो के सम्बन्धो मे। जब हम धन के सन्दर्भ मे बात करते हैं तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का स्पष्टीकरण करने वाले तुलनात्मक अन्तर नहीं होते वरन् निरपेक्ष अन्तर होते हैं। श्रम की लागत मे तुलनात्मक अन्तरो के रूप मे स्थानान्तरण अधिक कठिन नही है। लगा हुआ श्रम धन के रूप मे बदला जा सकता है।

देशो मे वस्तुओ की लागत का मूल्य निर्धारित करते समय मजदूरो की मजदूरी को आधार नही बनाया जा सकता। जिस देश मे उत्पादन के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ रहती हैं वहाँ वेतन का सामान्य स्तर प्राय ऊँचा रहता है। यही कारण है कि विकसित देशो मे श्रम बहुत महँगा होता है, जबकि विकासशील देशो मे यह सस्ता मिल जाता है। इसी आधार पर कुछ विकसित देश अविकसित देशो द्वारा बनाए गए माल पर पर्याप्त चुंगी लगा देते हैं क्योंकि यह उत्पादन बहुत सस्ते श्रम पर किया गया है और इन देशो के श्रम के उच्च जीवन स्तर के लिए एक महान् चुनौती है।

आलोचको द्वारा यह कहा गया है कि तुलनात्मक सिद्धान्त चाहे यह मानकर चले कि यातायात मे कोई लागत नहीं लगती तो भी यह नही कहा जा सकता कि कोई देश उस वस्तु के उत्पादन मे विशेषीकरण प्राप्त कर लेगा जिसमे उसे तुलनात्मक लागत का लाभ है। कई बार ऐसा होता है कि एक देश लाभ पर विचार किए जाने से पूर्व ही एक वस्तु के उत्पादन मे विशेषीकरण प्राप्त कर लेता है। उस वस्तु के लिए दोनो देशो मे की जाने वाली माँग पर विचार करने

से पहले ही वह विशेषीकरण का निर्णय ले लेता है। ऐसी स्थिति में दूसरा देश भी इस वस्तु के कुछ अंश का उत्पादन घरेलू रूप से करेगा। ऐसा उस समय भी होता है जब व्यापार करने वाला एक भागीदार बहुत छोटा और दूसरा भागीदार पर्याप्त बड़ा होता है, अथवा जब एक के द्वारा उत्पादित की जाने वाली वस्तु महत्त्वपूर्ण होती है और दूसरे द्वारा उत्पादित वस्तु दोनो के लिए ही कम महत्त्वपूर्ण होती है।

स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय प्रत्यक्ष रूप से केवल वस्तुओं के साथ ही नही किया जाता वरन् मुद्रा द्वारा किया जाता है। अतः स्वाभाविक है कि लोग वस्तुओं के विनिमय के सम्बन्धों पर मुद्रा सम्बन्धी मूल्यों के सन्दर्भ मे विचार करते है न कि श्रम लागतो के सन्दर्भ मे। ऐसी स्थिति मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे धन लागत के निरपेक्ष अन्तरों का प्रभाव पडता है।

(2) **दो से अधिक वस्तुएँ**—तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त अपने आपको केवल दो वस्तुओं के विचार पर केन्द्रित रखता है। इसमे यह मानकर चला जाता है कि व्यापार की जाने वाली वस्तुएँ केवल दो हैं। एक देश उस वस्तु का निर्यात करेगा जिसके उत्पादन मे उसे दूसरे देश की अपेक्षा अधिक सापेक्षिक लाभ है और उस वस्तु का आयात करेगा जिसके उत्पादन मे उसे दूसरे देश की अपेक्षा कम सापेक्षिक लाभ है। वास्तविक व्यवहार मे हम पाते हैं कि व्यापार केवल दो वस्तुओं का ही नही होता वरन् आयात और निर्यात की जाने वाली वस्तुओं का एक बहुत बड़ा क्षेत्र होता है। अतः आदान प्रदान पर विचार करते समय केवल दो वस्तुओं को ही ध्यान मे रखने की अपेक्षा सभी वस्तुओं को ध्यान मे रखा जाना चाहिए।

(3) **दो से अधिक देश**—तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त केवल यह मानकर चलता है कि व्यापार केवल दो देशो के बीच हो रहा है जबकि वास्तविकता यह है कि व्यापार दो से अधिक देशों के बीच भी हो सकता है। इनमे से प्रत्येक देश उन वस्तुओं का निर्यात करेगा जिनकी लागत तुलनात्मक रूप से देश मे कम होती है और उन चीजो का आयात करता है जिनकी लागत तुलनात्मक रूप से विदेशों मे कम होती है। इस विचार का अपना महत्त्व है फिर भी प्रत्येक देश जिन विशेष वस्तुओं का आयात-निर्यात करेगा उनको उस देश के उत्पादन की तुलनात्मक लागत के आंकड़ों द्वारा निर्धारित नही किया किया जा सकता।

प्रत्येक देश के विशेष आयातो और निर्यातों को निर्धारित करने के लिए विभिन्न देशो मे इन वस्तुओं की पारस्परिक मांग के सम्बन्ध मे अतिरिक्त सूचना प्राप्त करना जरूरी है। ऐसा न होने पर हम विशेषीकरण के सम्बन्ध मे उपयुक्त निर्णय नही ले पाते। उदाहरण के लिए हम क, ख, ग, तीन देशो को ले लेते हैं जो कपड़ा और गेहूँ दो वस्तुओं का उत्पादन कर रहे हैं। मान लीजिए कपड़े की एक इकाई के उत्पादन की श्रम लागत इन देशो मे क्रमशः 3 : 2 : 1 है और गेहूँ की एक इकाई के उत्पादन की श्रम लागत 2 : 3 : 4 है। इस उदाहरण मे 'क' को गेहूँ के उत्पादन मे 'ख' और 'ग' की अपेक्षा तुलनात्मक लागत लाभ है। दूसरी ओर 'ग' को कपड़े के उत्पादन मे 'क' तथा 'ख' की अपेक्षा तुलनात्मक लाभ रहेगा। ऐसी

स्थिति में 'क' गेहूँ के उत्पादन में विशेषीकरण प्राप्त करेगा और 'ग' कपडे के उत्पादन में विशेषीकरण प्राप्त करेगा । यहाँ प्रश्न यह है कि 'ख' किस वस्तु के उत्पादन में विशेषीकरण प्राप्त करेगा ? 'ख' का गेहूँ के उत्पादन में 'ग' की अपेक्षा और कपडे के उत्पादन में 'क' की अपेक्षा लाभ है । इनमें से वह किसी वस्तु के उत्पादन में विशेषीकरण प्राप्त करेगा यह उस समय तक ज्ञात नहीं किया जा सकेगा जब तक कपडे और गेहूँ के बीच की विनिमय दर को ज्ञात न कर लिया जाए । विनिमय दर निर्धारित करने के लिए तीनों देशों की पारस्परिक माँग सूचियों की जानकारी प्राप्त करना जरूरी है ।

(4) यातायात व्यय—तुलनात्मक लागत सिद्धान्त मानता है कि आयात का भुगतान निर्यात करते हैं। इस मान्यता के आधार पर यह विश्वास है कि यातायात में कोई व्यय नहीं किया जाता जबकि वास्तविकता यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में यातायात का व्यय सबसे ज्यादा महत्त्व रखता है । यातायात व्यय पर विचार करने के बाद ही तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की सत्यता जानी जा सकती है । इस दृष्टि से आयात की जाने वाली वस्तु को सीधे निर्यात की जाने वाली वस्तुओं से नहीं, बदला जा सकता वरन् इसके लिए यह भी देखना होगा कि यातायात-व्यय के साथ मिलकर किसी वस्तु का मूल्य या लागत कितनी हो जाती है । यदि यातायात का व्यय इतना अधिक हो जाए कि वस्तु की उत्पादन लागत तुलनात्मक रूप से बढ जाए तो उसका निर्यात और आयात नहीं किया जा सकता । ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि किसी देश की निर्यात-क्षमता उसकी तुलनात्मक उत्पादन लागत पर ही निर्भर नहीं करती वरन् यातायात के व्यय पर भी आधारित है ।

(5) उत्पादन की विभिन्नतापूर्ण लागतें—तुलनात्मक लागत सिद्धान्त यह विश्वास करता है कि व्यापार में रत दोनों देशों में निरन्तर लागत नियम (Law of Constant Unit Cost) क्रियाशील रहता है । इसके अनुसार किसी वस्तु की अतिरिक्त मात्रा तभी उत्पन्न की जाती है जब पहले के बराबर ही प्रति इकाई श्रम व्यय किया जाए । दूसरी ओर वास्तविकता यह है कि निरन्तर लागतें केवल असाधारण स्थितियों में ही देखी जा सकती हैं । सामान्य नियम के अनुसार लागत घटती बढती (Decreasing Costs and Increasing Costs) रहती हैं । जब 'क' देश को गेहूँ के उत्पादन में 'ख' देश की अपेक्षा अधिक लाभ है और 'ख' देश को कपडे के उत्पादन में 'क' देश की अपेक्षा अधिक लाभ है तो ये दोनों देश इन वस्तुओं के उत्पादन में विशेषीकरण प्राप्त कर लेंगे । विशेषीकरण लागत मूल्य को घटाता बढाता है ।

विशेषीकरण के फलस्वरूप 'क' देश धीरे-धीरे गेहूँ के उत्पादन में अधिक से अधिक लाभ से उत्पादन करने लगेगा और 'ख' देश कपडे के उत्पादन में अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करता जाएगा । इस प्रकार उसकी लागत भी क्रमश घटती जाएगी । फलस्वरूप तुलनात्मक लागत में निरन्तरता नहीं रही वरन् वह समय के अनुसार घटती और बढती रही । ज्यों-ज्यों विशेषीकरण बढता जाता है, उत्पादन में उनकी

लागत का अन्तर कम होता चला जाता है। अन्त मे एक ऐसी स्थिति आती है जब तुलनात्मक लागत बराबर हो जाती है। इस स्थिति मे आगे और विशेषीकरण की सम्भावनाएँ समाप्त हो जाएँगी।

दूसरी ओर जब 'उत्पादन' लागत के ह्रास नियम (Law of Diminisbing Cost) के अनुसार होता है तो तुलनात्मक लागत की मात्रा एव व्यापार का क्षेत्र विशेषीकरण के साथ-साथ बढता जाता है। स्थाई लागतों की अपेक्षा ह्रासमान लागतो के आधीन व्यापार की मात्रा अधिक होगी। यह मात्रा वृद्धिशील लागतों की अपेक्षा और भी अधिक होगी। ह्रासमान लागतों के अधीन व्यापार की सम्भावनाएँ उस समय भी हो सकती हैं जब व्यापार की स्थापना से पूर्व दो देशों के बीच तुलनात्मक सीमान्त मूल्यो मे अन्तर नही है। जब एक बार व्यापार प्रारम्भ हो जाता है तब तुलनात्मक सीमान्त मूल्यो मे अन्तर व्यापार की वृद्धि के साथ-साथ बढ़ता चला जाता है। निरन्तर और ह्रासमान लागतो के अधीन कम से कम एक देश एक वस्तु के उत्पादन मे पूरी तरह से विशेषीकरण प्राप्त करेगा और दोनों देश, यदि वे एक ही आकार के हैं तो एक ही वस्तु के उत्पादन मे विशेषीकरण प्राप्त कर लेंगे। वृद्धिशील लागत मे विशेषीकरण का आंशिक होना सम्भावित है। यहाँ यह उल्लेख किया जा सकता है कि वृद्धिशील लागतो के अधीन पूर्ण विशेषीकरण भी सम्भव नही है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि लागत मे हमेशा निरन्तरता नही पाई जाती वरन् वह घटती और बढ़ती रहती है। अनेक बाहरी परिस्थितियाँ इन लागतों पर प्रभाव डालती हैं और तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त की सत्यता को सन्देह मे डालती है। उत्पादन की लागत मे वृद्धि और कमी श्रम विभाजन की मात्रा को बदलती रहती है।

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की आलोचना
(The Criticism of Comparative Cost Theory)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध मे तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की व्याख्या मुख्य रूप से सस्थापक अर्थशास्त्रियो द्वारा की गई है। इस सिद्धान्त ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की अनेक व्यावहारिक समस्याओ को सुलझाने मे सहायता की। इतने पर भी इस सिद्धान्त मे अनेक कमियाँ थी जिनके परिणामस्वरूप यह अर्थशास्त्रियो की आलोचनाओ का विषय बना। एक समय था जब इस सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक प्रतिष्ठित तथा सर्वमान्य स्पष्टीकरण समझा जाता था। मि एल्सवर्थ (Ellsworth) के कथनानुसार, "इस सिद्धान्त को इतना ही निरपेक्ष और निर्विवाद सत्य माना गया जितना कि उत्पत्ति ह्रास नियम एव श्रम विभाजन आदि को।" असल मे सिद्धान्त की आधारशिलाएं अत्यन्त कमजोर थी और इसलिए इसकी रूप-रचना को हमेशा ही आलोचना का विषय बनाया गया। इस सिद्धान्त के आलोचकों मे मि. ओहलिन तथा ग्राहम आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कुछ प्रमुख आलोचनाएँ अग्रांकित प्रकार हैं—

(1) श्रम सिद्धान्त पर अतिशय जोर

सस्थापक अर्थशास्त्रियो ने तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके श्रम को विशेष महत्त्व प्रदान किया। उन्होंने उत्पत्ति के मूल्य सम्बन्धी अन्तरो (Price differences) की अपेक्षा सापेक्षिक श्रम लागतो (Labour costs) पर विशेष जोर दिया है। ऐसी स्थिति मे श्रम के मूल्य सिद्धान्त की, की जाने वाली समस्त आलोचनाएँ इस सिद्धान्त पर लागू हुई। रिकार्डो आदि विचारको ने उत्पादन लागत की गणना मुद्रा के रूप मे न करके अकुशल श्रमिक के श्रम दिनो मे की। इस बात पर विचार नही किया कि उत्पादन मे क्या खर्चा किया जा रहा है। वे श्रम क रूप मे व्यक्त वास्तविक लागत पर ही विचार करते रहे। इन विचारको का विश्वास था कि किसी वस्तु के उत्पादन मे लगाई गई श्रम की मात्रा ही उस वस्तु का सापेक्षिक मूल्य निर्धारित करती है। तुलनात्मक लागत को ज्ञात करने के लिए इन विचारको ने विभिन्न मान्यताओ का सहारा लिया। मि ओहलिन (Ohlin) का कहना है कि—'रिकार्डो को यह बत अच्छी तरह मालूम थी कि ये मान्यताएँ तथ्यो के अनुरूप नही हैं, किन्तु फिर भी उसने इनको अपनाया।"[1] वस्तुओ का तुलनात्मक विवेचन करने के लिए उत्पादन लागत के एक सामान्य सूचक (Common Denominator) की आवश्यकता थी। यदि यह कार्य मुद्रा से नही लिया जाता तो उत्पादन के सबसे महत्त्वपूर्ण घटक श्रम को अपनाना बहुत जरूरी था।

आलोचको का कहना है कि समस्त उद्योगों मे पूँजी और श्रम की लागत का अनुपात बराबर मान लेना तथ्यो के विपरीत है। कुछ उद्योग ऐसे होत हैं जिनमे श्रम की लागते पूँजी के व्यय से कई गुना अधिक होती हैं जबकि अन्य उद्योगो मे पूँजी-व्यय श्रम-लागतो से अधिक होना है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्रकार का श्रम भी एक जैसा नही होता। एक पत्थर फोडने वाले मजदूर का तथा एक भवन का नक्शा बनाने वाले अभियन्ता का श्रम एक जैसा नही माना जा सकता।

मूल्य का श्रम सिद्धान्त उत्पादन के अनेक नियमो का विवेचन नही करता। उत्पत्ति ह्रास नियम या उत्पत्ति वृद्धि नियम की व्याख्या इसके द्वारा नही की जाती। इस नियम द्वारा उत्पादन-लागतो को स्थिर मान लिया जाता है जबकि वे घटती बढती रहती हैं। उत्पादन लागत को निश्चित मान लेने के कारण उत्पादन के विभिन्न साधनो के सापेक्षिक सम्बन्धो एव सापेक्षिक मूल्यो के पारस्परिक परिवर्तनो को जानना मुश्किल हो गया। मि वेस्टेबल द्वारा परिवर्तनशील लागतो (Varying Costs) के विचार को अपना कर इस सिद्धान्त के दोषो को दूर करने का प्रयास किया गया।

मूल्य का श्रम सिद्धान्त यह भुला देता है कि कुछ वस्तुओ का मूल्य होता है किन्तु फिर भी उनसे श्रम या तो लागत ही नही और यदि लागत भी है तो मूल्य के

1 'Recardo was well aware that these assumptions do not correspond to the facts, but he was obliged to accept them' —*Ohlin*, Inter Regional and International Trade, Appendix III, p 571

अनुपात मे नही लगता। उदाहरण के लिए ऐतिहासिक स्मृति की चीजें अथवा मरे हुए लोगो के हस्ताक्षर आदि।

इन विभिन्न तर्कों के आधार पर आलोचकों का कहना है कि श्रम-लागत के दृष्टिकोण को छोड़ देना चाहिए तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विश्लेषण कीमतो के सन्दर्भ मे करना चाहिए। कीमतो के आधार पर यह तय किया जाता है कि कौनसी चीजें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र मे आएँगी और कौन देश उन्हे उत्पन्न करेगा।

(2) यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार नही हो सकता

आलोचकों का यह मत है कि इस सिद्धान्त मे चाहे कितनी ही सत्यता रही हो और विभिन्न दृष्टियो से चाहे इसको कितना ही उपयोगी बताया गया हो किन्तु यह निश्चय ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक उपयुक्त आधार नही बन सकता। यह सिद्धान्त किसी एक बाजार मे मूल्य-निर्धारण करने की दृष्टि से अपर्याप्त है। इसे विभिन्न बाजारो के मूल्यो का अध्ययन या आधार तो बनाया ही नही जा सकता। इसके अतिरिक्त विभिन्न चीजों के उत्पादन में पूँजी की विभिन्न मात्राओ की आवश्यकता होती है। किसी वस्तु के उत्पादन पर लागत इस बात पर भी निर्भर करती है कि उस देश मे पूंजी पर ब्याज की दर क्या है। जिस देश मे पूंजी के ब्याज की दर कम है वह देश वस्तुओ का उत्पादन कम लागत पर कर सकता है, किन्तु जिस देश मे पूँजी की कमी है वह केवल उन्ही चीजो का उत्पादन कम लागत पर कर सकेगा जिनमें कम पूँजी की जरूरत होती है। श्रम पर्याप्त मात्रा मे होते हुए भी पूँजी की कमी के कारण एक वस्तु की उत्पादन लागत अधिक हो सकती है। ब्याज की दर अलग-अलग होने के कारण विश्वयुद्ध के पश्चात् अनेक देशो का व्यापार एवं उत्पादन प्रभावित हुआ।

जो तत्त्व देश की उत्पादन लागत को प्रभावित करते हैं वे सभी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को भी प्रभावित करते हैं। मि. ओहलिन का कहना है कि "मजदूरी और ब्याज की दरो मे विरोधी दिशाओ मे होने वाले परिवर्तन जो कि पूंजी के अधिक उत्पादन के कारण होते है उनका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर प्रभाव होना चाहिए किन्तु यह देखा गया है कि सस्थापक अर्थ-शास्त्री इस बात को स्पष्ट करने मे असमर्थ रहे। केवल श्रम को ही लागत की इकाई मान लेना पूर्ण रूप से गलत है। पूंजी पर जो ब्याज लगता है उसके अनुसार वस्तु की लागत घटती और बढती रहती है।" प्रो. टासिग के मतानुसार "उत्पादन के अन्य घटक मजदूरी से भिन्न नही हैं।" तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त मे अन्य तत्त्वो के प्रभाव से कुछ परिवर्तन किए जा सकते हैं किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त का मूल आधार मूल्य के श्रम सिद्धान्त को ही मानना चाहिए। प्रो ओहलिन इस मत को नही मानते हैं।

(3) श्रम के विभिन्न रूप

संस्थापक अर्थ शास्त्रियो की एक अन्य मान्यता भी आलोचना का विषय बनी है। इनका कहना था कि विभिन्न श्रेणी के श्रमिको को मजदूरी का भुगतान एक निश्चित स्केल के अनुसार किया जा सकता है और कुशल श्रम को कभी भी अकुशल

श्रम के दिनो मे परिवर्तित किया जा सकता है। वे श्रम का तुलनात्मक महत्त्व निर्धारित करना चाहते हैं और इसी को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार बताते हैं। यह व्याख्या वस्तु के सही मूल्य को ज्ञात करने मे अधिक सहायक नही बनती क्योकि प्रत्येक श्रम एक ही प्रकार का नही होता है। एक देश मे मजदूरी की दर मे परिवर्तन होने पर उत्पादन लागत मे भी परिवर्तन होन लगते हैं और इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त इसकी अवहेलना नही कर सकता।

सस्थापक अर्थशास्त्रियो का कहना था कि विभिन्न श्रेणियो के मजदूरो की मजदूरी मे जो अन्तर होता है वह पर्याप्त दीर्घकालीन होता है और इसलिए उसका महत्त्व कम है। आलोचको का कहना है कि तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की यह कमी रही कि उसने दीर्घकालीन तथा अल्पकालीन दोनो प्रकार के परिवर्तनो को नही समझाया। इसके अतिरिक्त अनेक मजदूर सघो का अस्तित्व प्रतिस्पर्द्धा विहीन समूहो की रचना करता है, इसके कारण मजदूरो मे घट-बढ होती रहती है। सस्थापक सिद्धान्त मे इन परिवर्तनो के कारणो का पूर्ण विवेचन प्रस्तुत नही किया है। यदि हम इन परिवर्तनो का विवेचन करे तो तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त पूरी तरह से छोडना पडेगा। आजकल उत्पादन लागत की गणना श्रम के रूप मे नही वरन् मुद्रा के रूप मे की जाती है। प्रो. टॉसिग इस सिद्धान्त का पक्ष लेते है। उनका मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय माँग मजदूरी की अनेक श्रेणियो के सम्बन्ध को परिवर्तित नही कर सकती।

(4) पूर्ण विशेषीकरण का अभाव

सस्थापक अर्थशास्त्रियो ने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न देशो के विशेषीकरण की जो बात कही वह पूर्ण रूप से लागू नही होती। मि. ग्राहम ने अनेक उदाहरण देकर यह स्पष्ट किया है कि विशेषीकरण हमेशा अपूर्ण होता है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे हम दो ऐसे देशो को ले जिनमे एक छोटा है और दूसरा बडा तो ऐसी स्थिति मे छोटा देश एक वस्तु के उत्पादन मे पूर्ण विशेषीकरण प्राप्त नहीं कर पाएगा। विशेषीकरण प्राप्त कर लेने के बाद भी वह बडे देश की आवश्यकताओ को पूरा नही कर सकेगा। इसके अतिरिक्त बडे देश ने जिस वस्तु मे विशेषीकरण प्राप्त किया है उसे छोटा देश खरीद नही पाएगा। ऐसी स्थिति मे बडा देश न तो अपने उत्पादित माल की खपत कर पाएगा और न ही अनुत्पादित माल की खरीद कर सकेगा।

यहाँ एक बात ध्यान मे रखने योग्य यह है कि सभी वस्तुओ का मूल्य एक जैसा नही होता। जिन वस्तुओ का मूल्य कम है उनमे विशेषीकरण प्राप्त करने वाला देश विनिमय मे कठिनाई का अनुभव करेगा क्योकि उसका निर्यात मूल्य उसके आयात मूल्य से कम होगा। ऐसी स्थिति मे एक देश को सस्ती चीज के विशेषीकरण पर निर्भर रहने की अपेक्षा अन्य चीजें भी बनानी होगी। तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त ने इन बातो की कल्पना नही की थी, अत उसे दोषपूर्ण माना जाता है। प्रो ग्राहम के कथनानुसार "सस्थापक अर्थशास्त्रियो के मत को केवल तभी सही

ठहराया जा सकता है जब हम यह मान लें कि समान उपयोग की वस्तुओं का समान आर्थिक महत्त्व के दो देशों के बीच व्यापार हो रहा है ।"[1]

(5) श्रम की गतिशीलता

संस्थापक अर्थशास्त्रियों ने यह माना था कि श्रम एक देश के अन्तर्गत पूर्ण रूप से गतिशील और दो देशों के बीच वह पूर्ण रूप से गतिहीन होता है। उनकी यह मान्यता सबसे अधिक आलोचना का विषय बनी। वास्तविकता यह है कि श्रम की गतिशीलता एक देश के विभिन्न प्रदेशों में पूर्ण नहीं होती और न ही यह दो देशों के बीच पूर्ण रूप से अनुपस्थित रहती है। मि. केयरनेस का कहना था कि "प्रतिस्पर्द्धा-विहीन वर्गों की विशेषता न केवल एक देश की आन्तरिक व्यवस्था में पाई जाती है वरन् यह विभिन्न देशों के बीच भी मिलती है।" एक देश के विभिन्न प्रदेशों में रहने वाले लोग स्वतन्त्रता एवं सुविधा के साथ स्थानान्तरण नहीं कर सकते। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उत्पादन के साधनों की गतिहीनता मूल रूप से श्रम विभाजन एवं विशेषीकरण का प्रभाव है। एक देश जब विशेषीकरण प्राप्त कर लेता है तो उसके श्रमिक अन्य ऐसे देश में नहीं जाना चाहते जिसे किसी अन्य कार्य में विशेषीकरण प्राप्त है।

(6) यातायात-व्यय की उपेक्षा

संस्थापक अर्थशास्त्रियों के तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त का एक अन्य दोष यह है कि उसने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर विचार करते समय यातायात-व्यय पर ध्यान नहीं दिया। कुछ वस्तुओं के उत्पादन में यह देखा जाता है कि यातायात का व्यय उत्पादन लागतों की उपेक्षा कहीं अधिक है। किसी वस्तु का आयात या निर्यात केवल तभी किया जा सकता है जब उत्पादन लागत या यातायात व्यय दोनों को मिलाकर देखने पर कुल व्यय कम आए। कुछ अर्थशास्त्रियों ने इस सम्बन्ध में सुझाव दिया है कि उत्पादन लागत में यातायात व्यय को भी सम्मिलित किया जाना चाहिए और इसे निर्यातकर्त्ता देश को वहन करना चाहिए। यह मत सही न था।

यातायात व्यय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को इतना प्रभावित करता है कि जो वस्तु देश के एक भाग में बनती है वही दूसरे भाग में आयात की जाती है। यदि उसे देश के दूसरे भाग से मँगाया जाए तो यातायात व्यय मिलाकर लागत उतनी हो जाएगी जितनी अन्य देश से आयात करने पर भी नहीं होती।

(7) सामरिक कारणों की उपेक्षा

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सामरिक महत्त्व के प्रश्नों के प्रभाव की अवहेलना करता है। वर्तमान विश्व में सामरिक कारणों से प्रत्येक देश यह प्रयास करता है कि दूसरे देशों पर अधिक निर्भर न रहे और स्वदेशी

1 "The conclusion of the classicist can hold true only if the dice are loaded by assuming trade in two commodities of approximately equal total consumption value and between two countries of approximately equal economic importance." —*Prof. Graham*

उद्योगो को प्रोत्साहन दें। इस दृष्टि से कुछ चीजें प्राकृतिक सुविधाओ के अभाव मे भी स्वदेश मे ही उत्पन्न की जाती हैं। ऐसा न किए जाने पर देश की आत्म-निर्भरता और स्वतन्त्रता खतरे मे पड जाती है।

(8) सिद्धान्त की जटिलता

आलोचको ने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को अत्यन्त जटिल एव अवास्तविक कहकर भी उसे आलोचना का विषय बनाया है। यह अपनी जटिलता के कारण ही विभिन्न देशो मे स्थित पूर्ण लागत भिन्नताओ पर प्रत्यक्ष रूप से विचार नही कर पाता। इस सिद्धान्त द्वारा हम यह नहीं जान पाते कि यदि कोई चीज सस्ती उत्पन्न हुई है तो कम मजदूरी, कम व्याज, कम यातायात आदि कारणो ने उसके सस्तेपन पर कहाँ तक प्रभाव डाला है। लागत के अन्य सभी तत्वो को छोड कर यह केवल श्रम की उत्पत्ति के आधार पर ही विचार करता है। इसके साथ-साथ इस सिद्धान्त की जटिलता मे एक बात यह भी है कि इसने दो देशो और दो वस्तुओ के सन्दर्भ मे ही अपने विचारो को प्रतिपादित किया है जबकि वास्तविकता यह है कि ससार मे हमेशा अनेक वस्तुएँ एव विभिन्न देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे भाग लेते हैं।

(9) केवल पूर्ति पर विचार

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त केवल पूर्ति पक्ष पर ही विचार करता है। यह माँग पक्ष पर या तो विचार ही नही करता और यदि करता भी है तो बहुत ही कम। इसमे इस बात पर विचार किया जाता है कि एक देश किन वस्तुओ को खरीदेगा और किन वस्तुओ का निर्यात करेगा। यह स्पष्ट नही किया जाता कि इन वस्तुओ का व्यापार किन कीमतो पर किया जाएगा। जब तक माँग पक्ष का अध्ययन नही किया जाता तब तक केवल पूर्ति का यह अध्ययन अपर्याप्त समझा जाएगा।

(10) लागत की अपेक्षा कीमत का महत्त्व

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त लागत को अत्यधिक महत्त्व देता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार लागतो की विभिन्नताओ को मानकर चलता है जबकि वास्तविकता यह है कि आयात कर्ता और निर्यात कर्ता दोनो ही देश लागतो की इतनी चिन्ता नही करते, जितना वे इनके द्वारा चुकाई या प्राप्त की जाने वाली कीमतो की करते हैं। इस दृष्टि से कीमतो का अन्तर ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का मूल आधार है।

(11) कुछ अन्य दोष

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की उपर्युक्त आलोचनाओ के अतिरिक्त इसके कुछ अन्य दोष भी हैं जो इसे अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे मूल्य परिवर्तनो का अध्ययन करने मे अक्षम बना देते हैं। इन दोषो मे से कुछ को दूर किया जा सकता है किन्तु फिर भी वे इस सिद्धान्त से घनिष्ठ रूप मे जुड़े हुए हैं। इसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारणो का स्पष्टीकरण करते समय अनेक अवास्तविक बातो का सहारा लिया जाता है। यह सरल रूप मे इस बात को स्पष्ट

नही करता कि एक देश मे उत्पादन लागत कम क्यों आई। उत्पादन लागत की कमी के कारणों की खोज के लिए यह जिन तरीकों को अपनाता है वे इतने जटिल होते हैं कि किसी निष्कर्ष पर पहुँचाने की अपेक्षा हमको भ्रम में डाल देते हैं। केवल दो देशों और दो वस्तुओं को अपने अध्ययन का आधार बनाने के कारण यह सिद्धान्त उनके अवांछनीय निष्कर्षों को जन्म देता है। प्रो. मेन्गोल्ट (Mangoldt) का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार केवल पूर्ति अथवा तुलनात्मक लागत पर ही नहीं वरन् माँग की दशाओं पर भी निर्भर करता है। प्रो. ओहलिन की मान्यता थी कि "तुलनात्मक लागत सिद्धान्त केवल पूर्ति की परिस्थिति का सक्षेप में वर्णन करता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की व्याख्या बहुत कम करता है।"[1] यह सिद्धान्त केवल उसी समय उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण रहता है जब दो देशो और दो वस्तुओं के बारे में विचार किया जाता है।

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त में किए गए परिवर्तन
(Modification in Theory of Comparative Cost)

सस्थापक अर्थशास्त्रियो ने जिस तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को प्रतिपादित किया वह केवल कुछ निश्चित परिस्थितियो मे ही सत्य सिद्ध हो सकता था। यदि हम इन परिस्थितियों को अमान्य ठहरा दें तो पूरा सिद्धान्त ही महत्त्वहीन बन जाता है। जिन मान्यताओं के आधार पर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया उनको यदि हटा दिया जाए अथवा सुधार दिया जाए तो निष्कर्ष या तो बदल जाएँगे या विपरीत आएँगे।

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की उक्त आलोचनाओं का अर्थ यह नहीं है कि सिद्धान्त पूर्ण रूप से महत्त्वहीन है। समय-समय पर अर्थशास्त्रियो ने इसमें सशोधन किए और इसे छोड़ने की अपेक्षा सुधार करने की दृष्टि से कुछ सुझाव प्रस्तुत किए। ये निम्न प्रकार हैं—

(1) वस्तु की लागत का मापदण्ड श्रम की अपेक्षा मुद्रा को बनाया जाए। आधुनिक अर्थशास्त्री मूल्य के श्रम सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। उनका विचार है कि वस्तु की लागत मे श्रम के अतिरिक्त अन्य तत्त्व भी होते है। आजकल मूल्य को श्रम सिद्धान्त की अपेक्षा सीमान्त लागत (Marginal Cost) के रूप मे व्यक्त किया जाता है। ऐसी स्थिति मे तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को भी सीमान्त लागत के रूप मे प्रकट किया जाना चाहिए।

(2) व्यापार शर्तों मे वस्तुओं की तुलनात्मक माँग की लोच द्वारा डाले गए प्रभाव को सम्मिलित करना चाहिए। तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के समर्थकों ने बताया था कि विदेशी व्यापार मे विनिमय की दरों की सीमाएँ तुलनात्मक

1 "Hence the comparative cost reasoning alone explains very little about international trade. It is indeed nothing more than an abbreviated account of condition of supply."—*Ohlin* : Inter-Religional and International Trade, p. 586

लागत के ग्राधार पर निर्धारित की जाती हैं। किन्तु वे यह नहीं बता सके कि लाभ की मात्रा किन बातो पर निर्भर करती है। इन विचारको का मत था कि विनिमय का ग्रनुपात बाजार मे वस्तु के मोलभाव द्वारा तय होता है किन्तु ग्राज के ग्रथशास्त्री मानत हैं कि विनिमय की शर्तें मूल भाव पर नही वरन् एक देश की मांग की लोच पर निभर रहती है। जिस देश मे दूसरी वस्तुग्रो की तुलनात्मक लोच ग्रधिक ग्रनुकूल होती है उसके लिए व्यापार शर्तें ग्रधिक ग्रनुकूल होगी। इस सुझाव से तुलनात्मक लागत सिद्धान्त ग्रधिक व्यावहारिक बन जाता है।

(3) विचारको का सुझाव है कि उत्पत्ति वृद्धि ग्रौर उत्पत्ति ह्रास नियमो को भी इस सिद्धान्त पर लागू किया जाए। रिकार्डो ग्रादि सस्थापकों का मत था कि व्यापार मे सलग्न दोनो देशो क बीच उत्पत्ति समता का नियम लागू होता है ग्रौर ग्रन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे यातायात का खच कोई महत्त्व नही रखता। ग्राधुनिक ग्रथशास्त्री इस बात को स्वीकार नही करते। इन विचारको ने उत्पत्ति ह्रास नियम, उत्पत्ति वृद्धि नियम ग्रौर उत्पत्ति समता नियम का समान रूप से प्रभावशील माना है। इसके ग्रतिरिक्त वे यातायात व्यय को भी महत्त्व देते है। उनके मतानुसार घटती हुई लागते ग्रन्तराष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन देती है ग्रौर बढती हुई लागते उसे हतोत्साहित करती है।

वतमान काल म इस सिद्धान्त क ग्रन्तगत कुछ नवीन विकास ग्रौर भी हुए हैं। मि० जे० एस० मिल न ग्रपनी पुस्तक 'प्रिसीपल्स ग्राफ पोलटिकल इकनामी" मे तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का विस्तार करके उसमे ग्रन्तर्राष्ट्रीय माँग समीकरण को समाविष्ट कर दिया है। प्रो० माशल इससे सम्बन्धित विभिन्न समस्याग्रो को स्पष्ट करन के लिए रेखाचित्रो का सहारा लत है।

कुछ ग्रन्य सशोधन
(Some other Refinements)

विचारको ने तुलनात्मक लाभ के नियम को सशोधित करने के लिए विभिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किए। इन दृष्टिकोणो के ग्रनुसार तुलनात्मक लाभ के सिद्धान्त के मूल रूप मे कुछ सशोधन किए गए हैं। इनमे निम्नलिखित महत्त्व रखते हैं—

पारस्परिक पर-निर्भरता का सिद्धान्त
(The Mutual Inter-dependence Theory)

ग्राधुनिक विचारको ने मूल्य के श्रम सिद्धान्त को पूर्णत सन्तोषजनक मानने से ग्रस्वीकार कर दिया ग्रौर कहा कि ग्रतर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त को मूल्य के ग्रन्य सिद्धात के रूप मे ग्रभिव्यक्त किया जाए। वर्टिल ग्रोहिलन (Vertil Ohlin) नामक स्वीडिश ग्रर्थ शास्त्री ने पारस्परिक पर निर्भरता का मूल्य का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। यह सिद्धात पूर्ति, माँग ग्रौर कीमतो की पारस्परिक निर्भरता पर जोर देता है। इसके ग्रनुसार कीमते मांग ग्रौर पूर्ति की क्रिया प्रतिक्रिया द्वारा

निर्धारित होती है किन्तु स्वयं माँग तथा पूर्ति कीमतों से प्रभावित होती है। यह सिद्धान्त यद्यपि संस्थापक सिद्धान्त की अपेक्षा कम सरल था फिर भी अधिकांश सीमित मान्यताओं में विश्वास किए बिना ही यह वास्तविक संसार के विषयों पर विचार करने में सफल हो सका।

संस्थापक सिद्धान्त की भाँति पर-निर्भरता का सिद्धान्त भी इस मान्यता से प्रारम्भ होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार विभिन्न देशों के मध्य स्थित लागत भिन्नताएँ हैं। वस्तुओं के उत्पादन की लागत का अन्तर केवल उसमें लगाए गए श्रम पर ही निर्भर नहीं है। उत्पादन की अन्तिम लागत एक संयुक्त लागत है जो उत्पादन के विभिन्न तत्त्वों पर निर्भर है। विभिन्न देशों में उत्पादन के साधनों का संयोग भिन्न होता है और इसीलिए यह तथ्य उत्पादन की लागत में अन्तरों का कारण बनता है। मूल रूप से विभिन्न वस्तुओं की कीमतों में अन्तर उन देशों में उत्पादन के विभिन्न साधनों की सापेक्षिक स्थिति का परिणाम है। यदि दो देशों में उत्पादन के तत्त्वों की स्थिति एक जैसी हो तो उन वस्तुओं की कीमत में सापेक्षिक अन्तर नहीं होंगे और इस प्रकार उनके बीच अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार ही समाप्त हो जाएगा।

उक्त विश्लेषण को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए भारत में भूमि अपेक्षाकृत अधिक है और श्रम तथा पूँजी तुलनात्मक रूप से कम है। इस प्रकार भूमि एक सस्ता साधन है जबकि श्रम और पूँजी महँगी है। इसके परिणामस्वरूप भारत ऐसी चीजों का निर्यात करेगा जिनके उत्पादन में अधिक भूमि और कम श्रम तथा पूँजी की आवश्यकता होती है। दूसरी ओर मान लीजिए रूस में पूँजी और श्रम की अपेक्षा भूमि कम है तो वह भूमि अधिक महँगी पड़ेगी और [illegible] वह उन चीजों का निर्यात करेगा जिनके उत्पादन में भूमि की अपेक्षा श्रम पूँजी की अधिक आवश्यकता है। इस प्रकार भारत और रूस दोनों देशों के बीच [illegible] और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार मिल जाता है। दोनों देश एक [illegible]रे के पूरक बन जाते हैं और तुलनात्मक लाभ का नियम यथावत् बना रहता है।

[illegible]करण की सीमाएँ
(Limits of Specialisation)

विशेषीकरण के माध्यम से एक देश चाहे तो लाभ प्राप्त कर सकता है। प्रश्न यह है कि एक देश व्यवहार में केवल उसी क्रिया में विशेषीकरण क्यों नहीं कर लेता जिसमें उसे सबसे अधिक तुलनात्मक लाभ है। देश में विभिन्न उद्योग उत्पादन के साधनों के लिए प्रतियोगिता करते हैं। यथार्थ की दुनिया में विशेषीकरण कुछ महत्त्वपूर्ण तत्त्वों के कारण आता है। ये निम्न प्रकार हैं—

1. जो देश प्रशुल्क जैसी नीति अपनाते हैं उनकी प्रतियोगिता में अक्षम उद्योग पर्याप्त कठिनाई में पड़ जाते हैं। इस प्रकार के मानव-कृत प्रतिबन्धों से उद्योग को जीवन का आश्वासन तो मिल जाता है किन्तु उनके विकास की प्रक्रिया अकार्यकुशल बन जाती है।

2 विशेषीकरण को बाजार की व्यापकता और यातायात लागत द्वारा भी सीमित किया जाता है। दूरस्थ स्थानो तक माल पहुँचाने मे जो यातायात लागत आती है वह इसकी कीमत को बढा देती है। कभी-कभी एक कार्यकुशल उत्पादक के उत्पादन की लागत कम कार्यकुशल उत्पादक की अपेक्षा इसी कारण अधिक आती है।

3 कुछ उद्योगो मे अपने विकास पर स्वय सीमा लगाने की प्रकृति होती है। एक सीमा के परे किसी उद्योग को तुलनात्मक लाभ नही रहता। इसका कारण यह हो सकता है कि एक विशेष प्रकार का उत्पादन उस देश मे लागत वृद्धि नियम का विषय हो। ऐसी स्थिति मे एक निश्चित उत्पादन के बाद तुलनात्मक लाभ स्वय ही तुलनात्मक हानि मे परिवर्तित हो जाता है। उदाहरण के लिए मान लीजिए यदि विश्व म गेहूँ की कीमत एक रुपया प्रति किलो है। ऐसी स्थिति मे भारत अपनी कुछ भूमि का प्रयोग गेहूँ के उत्पादन के लिए लाभपूर्ण रूप मे कर सकता है। यह भूमि इतनी सीमित हो सकती है कि कुल घरेलू माँग को इस उत्पादन से पूरा न किया जा सके। यदि कम वांछनीय अतिरिक्त भूमि को गेहूँ उपजाने के लिए काम मे लाना है तो इसके लिए गेहूँ की ऊँची कीमतें होनी चाहिए। ये कीमतें स्वतन्त्र बाजार मे आसानी से प्राप्त नही की जा सकती क्योंकि वहाँ अतिरिक्त पूर्ति को विदेशो मे सस्ती कीमत पर प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार के उदाहरण पर्याप्त सामान्य हैं। फ्राँस कुछ कोयला अपनी खानो से प्राप्त करता है और कुछ आयात भी करता है, क्यूबा मे चावल पैदा किया जाता है किन्तु कुछ का आयात भी किया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका मे कुछ लोहा खानो मे से निकाला जाता है किन्तु कुछ का आयात किया जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि किसी देश को एक सीमा तक ही अपने उत्पादन मे तुलनात्मक लाभ रहता है। उसके परे वह हानि की ओर मुड जाता है अत वह अपने उपभोग के कुछ भाग को घरेलू उत्पादन द्वारा पूरा करता है और शेष के लिए आयात करता है।

बहुदेशीय व्यापार
(Multi-country Trade)

जब 'क' और 'ख' दो देशो के बीच अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता है (जो कि केवल दो देशो तक ही होता है) तो 'क' देश 'ख' देश को गेहूँ का निर्यात करता है और बदले मे रुपए प्राप्त करता है। 'क' देश इन रुपयो का प्रयोग 'ख' देश से खरीदे गए कपडे की कीमत चुकाने मे कर सकता है। यदि दो देशो के कुल आयात और कुल निर्यात इस प्रकार सन्तुलित रहते है तो इसे लेखो का द्विपक्षीय सन्तुलन कहा जाएगा। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की एक अन्य प्रक्रिया भी है जिसमे न केवल दो वरन् अनेक देश भाग लेते है। उदाहरण के लिए कॉफी बेचने पर अमेरिका से ब्राजील को जो डॉलर प्राप्त हुए हैं वह उन्हे ग्रेट-ब्रिटेन से खरीदी जाने वाली मशीनो पर खर्च कर सकता है। ग्रेट-ब्रिटेन ब्राजील द्वारा प्रदान किए गए डॉलरो को दूसरे देश मे भुगतानार्थ स्वीकार कर लेता है। वह इनका प्रयोग अमेरिका से खाद्यान्न खरीदने मे भी कर सकता है। इस प्रकार कुल मिलाकर अमेरिका ने ब्राजील की कॉफी के लिए

खाद्यान्न का विनियम किया। जब व्यापार में अनेक देश भाग लेते हैं तो उसे बहुपक्षीय (Multilateral) व्यापार कहा जाता है।

बहुपक्षीय व्यापार के अन्तर्गत होने वाले लेन-देन की तुलना घरेलू अर्थ-व्यवस्था में व्यक्तिगत चैक लिखने से की जा सकती है। यदि मि. 'क' खरीदे गए माल के लिए व्यक्तिगत चैक प्रदान करता है तो मि. 'ख' के द्वारा उसे 'क' के बैंक में भुनाया जा सकता है। यदि मि 'ख' चाहे तो इस चैक को दूसरी वस्तुओं के भुगतान के रूप में मि 'ग' को भी दे सकता है और मि. 'ग' इसे मि. 'घ' को दे सकता है और इसी प्रकार घूमता हुआ यह चैक मि. 'क' के पास लौटकर आ सकता है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि मि. 'ग' और 'घ' के पास मि 'क' का चैक आया किन्तु उन्होंने मि 'क' से प्रत्यक्ष रूप से लेन-देन नहीं किया था।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की बहुपक्षीय प्रकृति को प्रदर्शित करने के लिए विश्व को कुछ मोटे-मोटे व्यापारिक क्षेत्रों में विभाजित किया जा सकता है। ये हैं—अयनवृत (अफ्रीका, एशिया और लेटिन अमेरिका में अयनवृत देश); संयुक्तराज्य अमेरिका, आधुनिक समझौते के देश (दक्षिणी अफ्रीका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड अर्जेन्टाइना, चिल्ली तथा दूसरे अनेक देश-महाद्वीपीय यूरोप और ग्रेट-ब्रिटेन)। यदि हम सन् 1928 में इन क्षेत्रों में व्यावसायिक वस्तुओं के व्यापार का विश्लेषण करें तो पाएँगे कि संयुक्त राज्य अमेरिका ने अयनवृत को छोड़कर सभी क्षेत्रों को अतिरेक में निर्यात किया। वर्तमान समझौते वाले क्षेत्रों ने महाद्वीपीय यूरोप और ग्रेट-ब्रिटेन को अतिरेक में निर्यात किया किन्तु अन्य सभी क्षेत्रों से अतिरेक में आयात किया। इन तथ्यों को निम्नलिखित रेखाचित्र द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है।
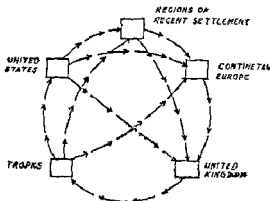
The System of Multilateral Trade

बहुपक्षीय व्यापार का आर्थिक लाभ यह है कि इससे प्रत्येक व्यक्ति उन विदेशी स्रोतों से आयात कर सकता है जो व्यावसायिक वस्तुओं की सर्वश्रेष्ठ किस्म कम कीमत पर प्रदान कर सकता है। इस प्रकार बहुपक्षीय व्यापार विश्व उत्पादन के अधिकतम उपयोग को प्रोत्साहित करता है।

हैक्शर—ओहलिन सिद्धान्त एव साधन मूल्य समानीकरण
(HECKSCHER—OHLIN THEORY AND FACTOR PRICE EQUALIZATION)

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो ने अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार माना परन्तु इन अर्थशास्त्रियों ने केवल मात्र श्रम को ही उत्पादन का एक मात्र साधन माना था।

आधुनिक अर्थशास्त्रियो ने उत्पादन के अन्य साधनो को भी लागत विश्लेषण मे सम्मिलित किया है। उन्होने देश के पास उपलब्ध सभी साधनो के आधार पर देश की उत्पादन-क्षमता एव तुलनात्मक लाभ का निरूपण किया। आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्तों मे श्रम की अपेक्षा कुल लागत को आधार बनाया गया और प्रत्येक वस्तु की अवसर लागत के आधार पर विशिष्टीकरण एव विदेशी व्यापार की सम्भावनाओ की समीक्षा की गई है।

इन्ही आधुनिक अर्थशास्त्रियो मे प्रमुख स्थान हैक्शर को दिया जाता है। हैक्शर के विचारो की विस्तृत व्याख्या ओहलिन ने की और इसी कारण इनके द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का "हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त" कहा जाता है।

अली हैक्शर का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विचार

ओहलिन की पुस्तक के प्रकाशन से पहले अली हैक्शर ने सन् 1919 मे एक लेख लिखा था, जिसमे विदेशी व्यापार के प्रभाव की व्याख्या की गई थी, विशेषरूप से भूमि, पूँजी तथा श्रम के बीच आय के वितरण का अनुमान था। हैक्शर ने सबसे पहले विभिन्न देशो मे तुलनात्मक लागतो के अन्तर के कारण की विवेचना करने का प्रयास किया। यदि दो देशो मे उत्पादन के साधनो की सापेक्ष दुर्लभता समान है तो उन दोनो देशो मे साधनो की सापेक्ष कीमतें भी समान होगी तथा उनके बीच विदेशी व्यापार असम्भव होगा। हैक्शर ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यक शर्तों को इस प्रकार वर्णित किया है—

(i) भिन्न-भिन्न सापेक्ष दुर्लभता, अर्थात् विनिमय की स्थितियों में उत्पादन के साधनों की सापेक्ष कीमतों में भिन्नता।

(ii) विभिन्न वस्तुओं में प्रयुक्त उत्पादन के साधनों के बीच अनुपातों में भिन्नता।

(iii) हैक्शर ने यह भी मान लिया था कि यह अनुपात (सामान्यतः अपत निर्गत गुणक के रूप में) अपरिवर्तनीय रहते हैं।

हैक्शर का मत है कि एक ओर विदेशी व्यापार उत्पादन के उन साधनों को बढ़ती हुई दुर्लभता को उत्पन्न करता है जो कि अन्यथा आयातित वस्तुओं के उत्पादन में प्रयोग किए जा सकते थे। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या साधनों की दुर्लभता में होने वाली वृद्धि अथवा कमी एक साथ साम्य उत्पन्न करती है? तथापि हैक्शर ने एक उदाहरण से यह स्पष्ट किया कि विदेशी व्यापार से एक नया साम्य तथा आय का पुनर्वितरण उत्पन्न हो जाता है।

ओहलिन का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

ओहलिन के मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त मूल्य के सामान्य साम्य सम्बन्धी सिद्धान्त पर आधारित है और इसी का एक विस्तार मात्र है। मूल्य का सामान्य साम्य सिद्धान्त अर्थशास्त्र में अपना विशेष महत्त्व रखता है, इसके अनुसार यह माना जाता है कि किसी वस्तु की कीमत उसकी मांग और पूर्ति द्वारा निर्धारित की जाती है। एक वस्तु की मांग पर अनेक बातों का प्रभाव पड़ता है। जैसे—उपभोक्ताओं की आवश्यकताएँ, प्राथमिकताएं, इच्छाएँ, उनकी आय, अन्य वस्तुओं की उपलब्धता और उनकी कीमत आदि। दूसरी वस्तु की पूर्ति उसके उत्पादन के साधनों की उपलब्धि पर निर्भर करती है। जहाँ वस्तु की मांग और पूर्ति के बीच साम्य स्थापित हो जाता है वहाँ उसकी कीमत निर्धारित हो जाती है। वस्तु की कीमत उसकी उत्पादन लागत के बराबर होती है, लाभ का सीमान्त भी लागत में शामिल है। किसी वस्तु की उत्पादन लागत उन सभी साधनों की कीमत का योग होती है जो वस्तु के उत्पादन में सहयोगी बनते हैं।

ओहलिन ने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की आलोचना अन्तर्राष्ट्रीय विशेषीकरण और व्यापार की विशेष प्रकृति की आलोचना द्वारा की। ओहलिन ने अन्तर्राष्ट्रीय विशेषीकरण की प्रकृति को निर्धारित करने वाली शक्तियों का स्पष्टीकरण किया है। ओहलिन के अनुसार सामान्य मूल्य सिद्धान्त, एक बाजार सिद्धान्त है तथा समय तत्त्व पर बल देता है। इसके विपरीत, अन्तर्क्षेत्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के इस परम्परागत सिद्धान्त के द्वारा स्थान तत्त्व की अवहेलना की गई है। ओहलिन के मत में स्थान तत्त्व व्यापार में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, विशेषतया, क्योंकि वस्तुओं तथा साधनों की गतिशीलता स्थान तत्त्व द्वारा सीमित होती है। अत. विभिन्न बाजारों में मूल्यों का निर्धारण एक साथ माना जाना चाहिए। संक्षेप में, लौकिक एक बाजार सिद्धान्त की जगह ओहलिन का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त 'एक बहुबाजार मूल्य सिद्धान्त' को महत्त्व देता है।

यदि दो वस्तुएँ X व Y हैं तो

$$\frac{K}{L}(X) \text{ in } A = \frac{K}{L}(X) \text{ in } B$$

अथवा $\frac{K}{L}(Y) \text{ in } A = \frac{K}{L}(Y) \text{ in } B$

लेकिन $\frac{K}{L}(X) \neq \frac{K}{L}(Y)$

3 साधनों में समरूपता—दोनों देशों में उत्पादन के साधनों में गुणात्मक समरूपता होनी चाहिए ।

4. साधनों की गतिशीलता—उत्पादन के साधन देश के भीतर पूर्ण रूप से गतिशील हैं परन्तु एक देश से दूसरे देश के बीच साधनों की गतिशीलता सम्भव नहीं है ।

5. शून्य यातायात एवं बीमा व्यय—केवल उत्पादन लागतों के अन्तर के कारण ही तुलनात्मक लाभ प्राप्त होते हैं । इसी कारण इस सिद्धान्त में यातायात व्यय, बीमा व्यय व तटकर व्यय शून्य माने गए हैं ।

6. पैमाने का समान प्रतिफल—उत्पादन के एक साधन के सन्दर्भ में तो सीमान्त उत्पादकता घटती है परन्तु सभी साधनों में आनुपातिक परिवर्तन करने पर पैमाने का समान प्रतिफल प्राप्त होता है ।

7. साधनों की स्थिर मात्राएँ—उत्पादन के साधनों की मात्राएँ दोनों देशों में स्थिर है । भूमि के अतिरिक्त श्रम व पूँजी की मात्रा स्थिर होने का अर्थ यह है कि जनसंख्या एवं पूँजी-स्टॉक की शुद्ध वृद्धि-दर शून्य मानी जाती है । नवीन पूँजी-निर्माण की इस कारण इस सिद्धान्त में उपेक्षा कर दी गई है । यही नहीं, यह भी माना जाता है कि उत्पादन के साधनों का पूर्ण उपयोग (Full Employment) हो रहा है ।

8. साधनों व वस्तुओं के बाजारों में प्रत्येक देश में पूर्ण प्रतियोगिता विद्यमान् है । साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है । इनके फलस्वरूप देश के भीतर एवं दो देशों के मध्य किसी वस्तु के मूल्यों में कृत्रिम अन्तर आने की सम्भावना नहीं होगी । केवल साधनों की उपलब्ध मात्रा के कारण उत्पादन लागतों में जो अन्तर है वही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार है ।

9. इस मॉडल में दो देशों तथा दो वस्तुओं को ही शामिल किया गया है । साथ ही उत्पादन के दो ही साधनों पूँजी (K) और श्रम (L) को ही इस सिद्धान्त में लिया गया है ।

10. साधन की माँग—इस सिद्धान्त में दोनों देशों के साधनों में से एक साधन की माँग समान मानी गई है । इसका कारण यह है कि इस सिद्धान्त के अन्तर्गत देश को उपलब्ध साधनों की मात्रा की अपेक्षा उनके सापेक्ष मूल्यों को आधार बनाया गया है ।

उपरोक्त मान्यताओं में सबसे महत्त्वपूर्ण मान्यता यह है कि दो देशों में साधन देनें (Factor-Endowments) अलग अलग हैं। यदि देश A में पूंजी की बहुतायत है तो यह पूंजी-प्रधान वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त कर उसका निर्यात करेगा। इसके विपरीत श्रम-प्रधान देश श्रम प्रधान वस्तुओं का निर्यात करेगा। परन्तु साधनों के मूल्य भी इनकी पूर्ति के अनुरूप भिन्न होंगे। जो साधन किसी देश में प्रचुर मात्रा में है उसका मूल्य अथवा लागत दुर्लभ साधन के मूल्य की तुलना में कम होना चाहिए। इसी आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि यथा सम्भव प्रत्येक देश उत्पादन की विधि को भी इस प्रकार से समायोजित करेगा कि प्रचुर मात्रा में उपलब्ध परन्तु कम मूल्य वाले साधन का अपेक्षाकृत अधिक उपयोग किया जाए। जैसे कि भारत में श्रम का बाहुल्य होने के कारण पूंजी की अपेक्षा श्रम सस्ता है और इसी कारण इस सिद्धान्त के अनुसार यहाँ श्रम प्रधान तकनीक का उपयोग किया जाना चाहिए।

विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन हेतु उत्पादन के साधनों के अनेक संयोग (Combination) लिए जा सकते हैं परन्तु इष्टतम संयोग का निर्धारण साधनों के सापेक्ष मूल्यों द्वारा ही होगा। अब हम उत्पादन फलन के माध्यम से इस सिद्धान्त की व्याख्या करेंगे।

क्योंकि हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त में दो वस्तुएँ तथा दो ही साधन लिए गए हैं, दोनों वस्तुओं के उत्पादन-फलन का फलनिक रूप इस प्रकार होगा।

$$Q_x = f\ (K, L)$$
$$Q_y = F\ (K, L)$$

जहाँ Q_x = X वस्तु की मात्रा,
Q_y = Y वस्तु की मात्रा,
K = पूंजी
और L = श्रम है।

परन्तु मान्यता के अनुसार X व Y वस्तु के उत्पादन में साधन के अनुपात भिन्न है।

$$\therefore \frac{L}{K_x} \neq \frac{L}{K_y}$$

यदि X श्रम प्रधान एव Y पूंजी प्रधान वस्तु है, तो

$$\frac{L}{K_x} > \frac{L}{K_y}$$

परन्तु X के उत्पादन में दोनों देशों में साधनों का अनुपात वही है अत

$$\frac{L}{K}(X) \text{ in } A = \frac{L}{K}(X) \text{ in } B$$

$$\text{और } \frac{L}{K}\ (Y) \text{ in } A = \frac{L}{K}\ (Y) \text{ in } B$$

यह मानते हुए कि देश A में पूंजी प्रचुर मात्रा में विद्यमान है तथा देश B में श्रम का बाहुल्य है, तो हम कह सकते हैं कि पूंजी सस्ती होने के कारण देश में पूंजी-प्रधान उत्पादन विधि प्रयुक्त होगी जब कि श्रम सस्ता होने के कारण देश B में श्रम-प्रधान उत्पादन-विधि उपयोग होगा। इन्हीं मान्यताओं के आधार पर रेखा-चित्र निम्नानुसार होगा—
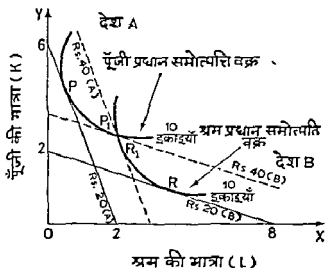
साधनों की विभिन्नता एवं उत्पादन प्रविधियाँ

उपरोक्त चित्र के अनुसार

(i) A देश में श्रम की एक इकाई का मूल्य पूंजी की तीन इकाइयों के समान है क्योंकि वहाँ पूंजी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। इसलिए देश A के लिए—

अर्थात् $P_l : P_k = 1 : 3$

अथवा $1\ L = 3\ K$

(ii) इसके विपरीत, B देश में पूंजी की एक इकाई का मूल्य श्रम की चार इकाइयों के बराबर है वहाँ श्रम प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। इसलिए देश B के लिए।

$$P_l : P_k = 4 : 1$$

अथवा $4\ L = 1\ K$

हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त के अनुसार देश A को पूंजी प्रधान तथा देश B को श्रम-प्रधान उत्पादन-विधियों का उपयोग करना होगा। इस दृष्टि से वस्तु की 10 इकाइयों का उत्पादन करने हेतु A एवं B का साम्य-स्तर क्रमशः P एवं R बिन्दुओं पर होगा। ऐसी स्थिति में दोनों देश साधनों के न्यूनतम लागत युक्त संयोग (Least-Cost Combination of Inputs) के अनुरूप

उत्पादन का यह स्तर प्राप्त करेंगे। साम्य बिन्दुओ पर उत्पादन करने पर देश A एव B को 10 इकाइया के उत्पादन से 20 रुपए की कुल लागत वहन करनी पड़ती है। परन्तु जैसा कि स्पष्ट है कि P एव R बिन्दुओ पर न्यूनतम लागत मुक्त उत्पादन केवल उस स्थिति मे होना होता है जबकि देश A मे पूंजी प्रधान व देश B मे श्रम-प्रधान उत्पादन विधि प्रयुक्त की जाए।

अब माना कि A मे श्रम प्रधान प्राविधि का उपयोग होने लगता है। उसका साम्य बिन्दु P से P_1 हो जाएगा परन्तु ऐसी स्थिति मे उत्पादन की मात्रा वही रहने पर भी लागत 20 रु से बढ़कर 40 रु हो जाएगी। इसी प्रकार यदि B मे पूंजी प्रधान प्राविधि का उपभोग करना चाहिए तो उसका साम्य स्तर R से R_1 हो जाएगा, परन्तु उत्पादन की मात्रा वही रहने पर भी लागत 20 रु से बढ़कर 40 रु हो जाएगी। कुल मिलाकर निष्कर्ष यही होगा कि प्रकृति ने देश का जो साधन प्रचुर मात्रा मे दिया है, वह वहाँ सस्ता होगा तथा इस साधन का अधिक उपयोग किया जाकर ही न्यूनतम लागत पर उत्पादन किया जा सकता है। इस सिद्धान्त की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसके अनुसार प्रत्येक देश उस वस्तु का निर्यात करेगा जिसके उत्पादन मे उपलब्ध साधन का उपयोग होता हो। इसके विपरीत देश को वे वस्तुएँ आयात करनी चाहिए जिनके घरेलू उत्पादन हेतु अपेक्षाकृत दुर्लभ एव अपेक्षाकृत महँगे साधनो का अधिक उपभोग करना पड़ता हो।

साधनो के उपयोग सम्बन्धी निर्णय साधनो की मात्रा एव इनके सापेक्ष मूल्यो के आधार पर लिए जाते हैं। विभिन्न देशो मे विशिष्टीकरण की प्रवृत्ति भी साधनो के मूल्यो पर निर्भर करती है और यही कारण है कि अलग-अलग वस्तुओं की उत्पादन-लागत भी अलग-अलग होगी। इस सिद्धान्त के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रारम्भ भी इसी आधार पर होगा कि किसी वस्तु को कोई देश उपलब्ध साधनो से न्यूनतम लागत पर कैसे तैयार कर सकता है। न्यूनतम लागत उस स्तर पर होगी जहाँ साधनो के सापेक्ष मूल्यो के आधार पर ही उत्पादन प्राविधि का चुनाव किया जाए।

हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त की आलोचना
(Criticism of the Heckscher-Ohlin Theory)

यद्यपि हैक्शर ओहलिन सिद्धान्त प्रतिष्ठित सिद्धान्त से श्रेष्ठ है परन्तु इस सिद्धान्त की निम्नलिखित आलोचनाएँ की जाती हैं—

(अ) अवास्तविक मान्यताएँ—यह सिद्धान्त भी अनेक अव्यावहारिक मान्यताओं पर आधारित है जैसे—

(i) इस सिद्धान्त मे यह माना गया है कि वस्तु बाजार और साधन बाजार मे पूर्ण प्रतियोगिता विद्यमान है परन्तु आधुनिक सन्दर्भ मे यह मान्यता पूर्णतया असगत है।

(ii) इस सिद्धान्त मे परिवहन लागतो को शून्य माना जाता है जबकि व्यवहार मे ये अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार को काफी प्रभावित करती हैं।

(iii) इस सिद्धान्त की यह मान्यता भी अनुचित है कि दोनो देशो में प्रत्येक वस्तु की उत्पादन प्रविधि समान रहती है और केवल साधनो की उपलब्ध निधि (Factor endowment) एव तदनुरूपी साधन मूल्यो के सापेक्ष अन्तर के कारण ही विशिष्टीकरण एव अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार का जन्म होता है।

(iv) इस सिद्धान्त मे यह मान लिया गया है कि उत्पादन के साधन विभाजनशील होते हैं और उत्पादन फलन एक सरल, सतत्, समरूप और उन्नतोदर होता है इसका अर्थ यह है कि एक साधन की मात्रा मे वृद्धि करने मात्र से उत्पादन मे आनुपातिक वृद्धि नही होगी (उत्पत्ति ह्रासमान नियम की क्रियाशीलता के कारण) परन्तु सभी साधनों मे आनुपातिक वृद्धि के द्वारा उत्पादन मे भी उतनी ही वृद्धि करना सम्भव है। परन्तु व्यावहारिक जीवन मे न तो उत्पादन के साधन पूर्णतया विभाजनीय होते हैं और न ही इस प्रकार के उत्पादन फलन ही देखने को मिलते हैं।

(v) ओहलिन के सिद्धान्त की अन्य मान्यताएँ भी एक स्थैतिक और परम्परागत स्थिति से सम्बद्ध चित्र प्रस्तुत करती हैं। अन्य शब्दो मे इस सिद्धान्त की शेष मान्यताएँ भी स्थैतिक है। अत: इस सिद्धान्त मे प्रावैगिकता का अभाव है।

(य) वस्तुओं की कीमतें उत्पादन के साधनो की कीमतों से निर्धारित नहीं होती--प्रो होल्ड्स ने ओहलिन के सिद्धान्त की आलोचना इस आधार पर की है कि इस सिद्धान्त मे यह मान लिया गया है कि वस्तुओ की कीमतें उत्पादन साधन की लागत से निर्धारित होती हैं। प्रो. होल्ड्स के मतानुसार यह विपरीत सम्बन्ध को व्यक्त करता है क्योकि वस्तुओ की कीमतें उपभोक्ताओ को प्राप्त उपयोगिता के आधार पर निर्धारित होती है और उन वस्तुओ के बनाने मे जिन उत्पादन के साधनो का उपयोग किया जाता है उनकी कीमतें स्वयं वस्तुओं की कीमतो पर आधारित होती हैं।

(स) उत्पादन के साधन समान नहीं होते--ओहलिन का सिद्धान्त विभिन्न देशो में उत्पादन के साधनों को बिल्कुल समरूप मानते हैं परन्तु वास्तविकता इससे कही भिन्न है। अत: समान उत्पादन के साधन की मान्यता इस सिद्धान्त की व्यावहारिकता को कम कर देती है। एस. सैम्युल्सन के मतानुसार "यह सिद्धान्त उस समय असफल हो जाता है जब दो देशो मे उत्पादन फलन भिन्न होते हैं या विभिन्न देशो मे उत्पादन के साधन समान नही होते।"

(द) दो देशो के बीच एक ही साधन सघन वस्तु का आयात निर्यात सम्भव है--प्रो. बी. एस मिन्हास का मत है कि दो देशो के मध्य एक ही साधन सघन या प्रधान जैसे श्रम-प्रधान वस्तुओ मे व्यापार सम्भव है जबकि ओहलिन-सिद्धान्त के अनुसार यह सम्भव नही है। प्रो. मिन्हास के शब्दों मे, "और यह भी स्पष्ट है कि एक श्रम-प्रधान (पूंजी-प्रधान) देश उसकी पूंजी प्रधान (श्रम-प्रधान) वस्तु का निर्यात कर सकता है और निर्यात तथा आयात प्रतिस्थापना वस्तुओ की तुलनात्मक घटक सघनता के बारे मे निष्कर्ष निकालना, तर्कसगत नही है।"

साधन मूल्य समानीकरण
(Factor Price Equalization)

प्रो हैक्शर के प्रारम्भिक लेखो का उद्धरण देते हुए ओहलिन ने दो निष्कर्ष दिए—

(i) विदेशी-व्यापार मे वस्तुओ की स्वतन्त्रता गतिशीलता और साधनो की पूर्ण गतिशीलता के परिणाम अन्तत एक से होते हैं।

(ii) वस्तुओ के स्वतन्त्र आयात निर्यात के परिणामस्वरूप दोनो देशो मे साधनो की कीमतो मे समानता हो जाएगी।

हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त के अनुसार विदेशी व्यापार उसी समय सम्भव होता है जबकि दो देशो मे उत्पादन के साधनो की सापेक्ष कीमतो मे अन्तर होता है। दोनो देशों के मध्य व्यापार उस समय तक चलता है जब तक कि साधनो की सापेक्ष कीमतो का यह अन्तर विद्यमान रहता है। विदेशी-व्यापार के कारण प्रत्येक देश मे उत्पादन के प्रचुर साधन की अधिक माँग हो जाती है और दूसरी ओर दुर्लभ साधन की तुलनात्मक माँग कम हो जाती है। इसका फल यह होता है कि पहले की तुलना मे प्रचुर साधन की कीमत मे वृद्धि होगी और दुर्लभ साधन की कीमत मे कमी की प्रवृत्ति उत्पन्न होगी। दूसरे राष्ट्र मे भी यही प्रवृत्ति उत्पन्न होगी। फलत दोनो देशो मे साधनो की कीमत मे अन्तर पहले की तुलना मे कम हो जाएगा।

विदेशी-व्यापार सभी देशो मे उत्पादन के साधनो की कीमत को समान रूप से प्रभावित नही करेगा। प्रो ओहलिन के मतानुसार सम्पूर्ण विश्व मे ब्याज दर मे सामान्य वृद्धि या मजदूरी की दर मे सामान्य वृद्धि विदेशी व्यापार का सबसे असम्भाविक प्रभाव होगा। यदि दोनो देशो मे उत्पादन की परिस्थितियाँ समान हैं और यातायात लागतो की उपेक्षा की जाती है तो उत्पादन के साधनो मे तुलनात्मक अन्तर व्यापार को लाभदायक बनाएगा। इस प्रकार व्यापार उस समय तक जारी रहेगा जब तक कि विभिन्न देशो मे उत्पादन के साधनो की कीमतो मे तुलनात्मक समानता स्थापित नही हो जाती। अन्य शब्दो मे विदेशी व्यापार के कारण उत्पादन के साधनो की सापेक्ष कीमतो का अन्तर अन्तत समाप्त हो जाएगा। जब तुलनात्मक समानता स्थापित हो जाती है तो अब तक जितने व्यापारिक सम्बन्ध कायम हो चुके है वे जारी रहेंगे। प्रो ओहलिन के मतानुसार "इस प्रकार यह स्पष्ट है कि देशो के मध्य तुलनात्मक-लागतो मे अन्तर व्यापार उत्पन्न करेगा परन्तु इस प्रकार का अन्तर पहले से स्थापित व्यापार को जारी रखने के लिए आवश्यक नही है, इसके विपरीत जैसे-जैसे व्यापार का विस्तार होगा वैसे-वैसे इस प्रकार का अन्तर निश्चित रूप से समाप्त हो जाएगा। इस प्रकार उत्पादन के साधनो की कीमतो मे तुलनात्मक अन्तर साधनो के गतिहीन होने की स्थिति मे समाप्त हो जाएगा।"

अब प्रश्न यह उठता है कि विदेशी-व्यापार के कारण कीमतो मे तुलनात्मक समानता स्थापित होगी या निरपेक्ष समानता। अर्थात् क्या सभी व्यापार करने वाले देशो मे समान किस्म के उत्पादन के साधनो का लगान, मजदूरी और ब्याज वास्तविक

रूप मे समान होगे । यदि हम विभिन्न देशों के मध्य उत्पादन की समान तकनीक की मान्यता स्वीकार करते है तो व्यापार के कारण विभिन्न राष्ट्रो में वस्तुओं की कीमत समान-स्तर पर होगी । समान कीमत और समान तकनीक के उपयोग होने पर उत्पादन के साधनो को मिलने वाली निरपेक्ष कीमतें भी समान होगी । इस निष्कर्ष मे यातायात लागतो की उपेक्षा की गई है ।

इस सिद्धान्त को हैक्शर-ओहलिन का साधन-मूल्य समानीकरण सिद्धान्त कहते है । इस सिद्धान्त को निम्न रेखाचित्रो द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

पैनल (अ) पैनल (ब)

साधनों के मूल्यों का समीकरण
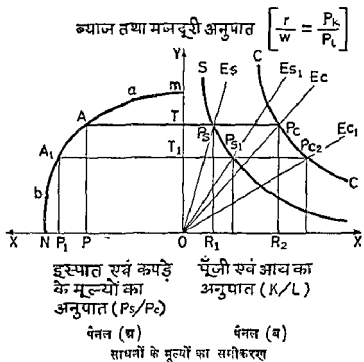
उपरोक्त चित्र मे OY अक्ष पर श्रम एव पूंजी के मूल्यो के अनुपात अर्थात् मजदूरी व ब्याज की दरो के अनुपात को लिया गया है । जबकि इन मूल्य अनुपातो के अनुरूपी साधनो के अनुपातो को OX पर लिया गया है, अर्थात् OX पर साधनो के सापेक्ष मूल्यो की अनुरूपी सापेक्ष मात्राएँ ली गई है । OX^1–अक्ष पर इस्पात एव कपड़े के मूल्यो के अनुपात (P_s/P_c) लिए गए हैं ।

रेखाचित्र पैनल (ब) मे वक्र SS एवं CC क्रमश इस्पात तथा कपड़े के समोत्पत्ति वक्र हैं । ये वक्र इस्पात तथा कपड़े की निर्दिष्ट मात्रा को दर्शाते हैं जिन्हें साधनों के सापेक्ष मूल्यो तथा उनकी मात्राओ के अनुपात के विभिन्न संयोगो द्वारा प्राप्त किया जा सकता है । जैसाकि OX–अक्ष से स्पष्ट है, इस विश्लेषण मे इस्पात व कपड़े के उत्पादन हेतु पूंजी व श्रम के अनुपात (K/L) को स्थिर माना गया है ।

पैनल (अ) मे नतोदर वक्र MN कीमत अनुपात $\left(\frac{P_s}{P_c}\right)$ को प्रकट करता है।

इस वक्र की नतोदरता इस बात को प्रकट करती है कि उत्पादन की प्राप्ति ह्रासमान प्रतिफल के अन्तर्गत हो रही है अर्थात् a बिन्दु के दांयी ओर तथा b बिन्दु के बांयी ओर किसी वस्तु की बढती हुई पूर्ति को केवल उसकी कम कीमत पर ही बेचा जा सकता है।

अब यदि हम यह मान लें कि बाजार म इस्पात एव कपडे के मूल्यो का अनुपात OP है तो इसके अनुरूप साधनो का मूल्य अनुपात A होगा। यदि A बिन्दु से एक रेखा OX–अक्ष के समानान्तर खीची जाए तो यह रेखा इस्पात एव कपडे व समोत्पत्ति वक्रो को क्रमश P_s व P_c पर काटेगी। यदि P_s व P_c बिन्दुओ को मूल बिन्दु O से मिलाकर बढा दिया जाए तो हम OE_s तथा OE_c दो उत्पादन किरण-रेखाएं (Production rays) प्राप्त होगी। OE_s तथा OE_c पर स्थित विभिन्न बिन्दु क्रमश इस्पात एव कपडे की उन मात्राओ को दर्शाते हैं जो विभिन्न मूल्य-अनुपातो $\left(\frac{P_s}{P_c}\right)$ पर मांगी एव उत्पन्न की जाएगी। OX–अक्ष पर लम्ब डाल कर मांग की इन मात्राओ के उत्पादन हेतु आवश्यक श्रम एव पूंजी की विभिन्न मात्राओ (स्थिर अनुपातो म) का पता लगाया जा सकता है। इस्पात व कपडे के मूल्यो का अनुपात P होन पर जब साधनो के मूल्यो का अनुपात A के अनुरूप एव इस्पात तथा कपडे के उत्पादन का स्तर SS एव CC पर क्रमश P_s एव P_c पर निर्धारित हो तो श्रम एव पूंजी का अनुपात इस्पात एव कपडे के उत्पादन हेतु क्रमश OR_1 एव OR_2 होगा। हमारी मान्यता यह है कि इस्पात एवं कपडे के इन उत्पादन-स्तरो पर उपलब्ध श्रम एव पूंजी का पूर्ण उपयोग हो सकेगा।

$$\text{अर्थात्}\ OR_1 + OR_2 = R = \frac{K}{L}$$

उपरोक्त स्थिति तब ही लागू होगी जबकि यह मान लिया जाए कि कीमत अनुपात स्थिर रहता है। यह आवश्यक भी है क्योकि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत अत्यधिक क्षमता उपस्थित नही रह सकती। अब प्रश्न यह है कि कुल उत्पादन मे श्रम एव पूंजी का योगदान कितना है? अथवा श्रम एव पूंजी का कितना-कितना पारितोषक होगा? इसके लिए OP_c रेखा जो OY–अक्ष को T बिन्दु पर काटती है पूंजी तथा श्रम के अश अथवा योगदान को प्रकट करता है। चित्र मे OT इस बात को प्रकट करता है कि ब्याज मजदूरी अनुपात (r/w) इकाई से अधिक है अथवा इकाई से कम है। यदि इस बिन्दु पर ब्याज मजदूरी अनुपात इकाई से अधिक है, अर्थात् $\frac{r}{w} > 1$ है तो इसका यह अर्थ हुआ कि पूंजी का ब्याज, श्रम की मजदूरी-दर की अपेक्षा अधिक है। यदि इसके विपरीत $\frac{r}{w} < 1$ हो, तो ब्याज की दर, मजदूरी दर से

अपेक्षाकृत कम है। यहां यह मान लिया गया है कि OT की दूरी पर ब्याज एवं मजदूरी का अनुपात इकाई के बराबर है, अर्थात् $\frac{r}{w} < 1$ है।

माना कि अब हम मूल साम्य बिन्दु A मे परिवर्तन कर देते हैं जिससे कपड़े की तुलना में इस्पात की मांग बढ़ जाती है। इसके फलस्वरूप इस्पात की कीमत मे वृद्धि हो जाएगी और कपड़े व इस्पात का नया मूल्य अनुपात $\frac{P_s}{P_c}$ एक नया साम्य बिन्दु A_1 पर प्राप्त होगा। इस स्तर पर कपड़े व इस्पात का मूल्य-अनुपात OP_1 होगा। यदि A_1 से OX- अक्ष के समानान्तर रेखा खींची जाए तो इस्पात व कपड़े के समोत्पादन वक्रो (SS एव CC) को यह रेखा क्रमश: P_{s2} एव P_{c2} पर काटेगी। इन बिन्दुओ को यदि मूल बिन्दु O से मिला कर बढ़ा दिया जाए तो हमें OE_s, तथा OE_c, उत्पादन किरण रेखाएं प्राप्त होंगी। OP_{s2} एव OP_{c2} की लम्बाई क्रमश: इस्पात एव कपड़े के उत्पादन-स्तरो को व्यक्त करेगी। यह स्पष्ट है कि बढ़े हुए मूल्य पर भी इस्पात का उत्पादन कम है जबकि कपड़े का उत्पादन अब पूर्वापेक्षा अधिक है ($\because OP_{s2} > OP_s$ एवं $OP_{c2} > OP_c$)। इस्पात मे उत्पादन में कमी का कारण यह है कि इस्पात का उत्पादन करने वाले देश मे श्रम की लागत अपेक्षाकृत अधिक है। अथवा उत्पादन की विधि पूंजी प्रधान हो गई है। पूंजी के सस्ते हो जाने के फलस्वरूप इसका प्रयोग श्रम की अपेक्षा अधिक होगा। इसका परिणाम यह होगा कि वे सभी वस्तुएं, जिनका उत्पादन मे पूंजी का अधिक प्रयोग किया जा सकता है, सस्ती हो जाएगी। अत. उन देशो को अधिक लाभ होगा जहां पूंजी अधिक है और पूंजी प्रधान वस्तुओ का उत्पादन अधिक होता है। अर्थात् पूंजी प्रधान देशो को तुलनात्मक लागत लाभ प्राप्त होंगे। चित्र मे पूंजी के इस सस्तेपन को ब्याज मजदूरी अनुपात $\left(\frac{r}{w}\right)$ की गिरावट से दिखाया गया है जो कि OT से कम हो कर OT_1 हो जाता है, अर्थात् इस स्थिति मे $\frac{r}{w} < 1$ होगा।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि साम्यावस्था कहां प्राप्त होगी। इसके लिए हमने माना कि कोई दो देश A तथा B हैं तथा दो वस्तुओं इस्पात एवं कपड़े का निर्माण करते हैं। प्रत्येक देश के लिए दो उत्पादन सम्भावना पथ हैं। साथ मे ही यह भी मान लिया गया है कि सभी बाजारो मे पूर्ण प्रतियोगिता है तथा परिवहन लागतें अनुपस्थित रहती हैं। दोनो देशों मे व्यापार के बाद भी दोनो वस्तुओ का उत्पादन चालू रहता है, अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण अपूर्ण रहता है। दोनों ही देशों में उत्पादन फलन समरूप है, अर्थात् सभी उत्पादन साधनो मे समान रूप मे होने वाला प्रतिशत परिवर्तन वस्तु के उत्पादन मे होने वाले प्रतिशत परिवर्तन के समान होता है। साथ ही यह भी माना गया है कि उत्पादन फलन इस प्रकार का होता है कि दोनो वस्तुओं में से एक वस्तु हमेशा श्रमप्रधान होती है जबकि

दूसरी वस्तु हमेशा पूंजी प्रधान होनी है। चाहे साधनो की सापेक्षिक पूर्ति एव साधन कीमत अनुपात कैसा ही क्यो न हो। उत्पादन में सभी साधन समरूप हैं, यद्यपि उनकी उपस्थित मात्रा भिन्न हो सकती हैं। उत्पादन साधनो की सख्या वस्तुओ की सख्या से अधिक नही होती।
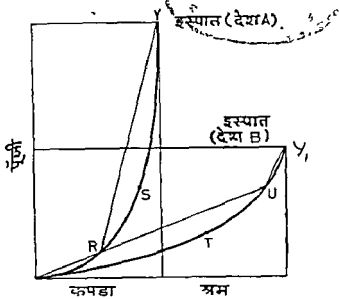
विदेशी व्यापार के पश्चात् साधनो का समानीकरण

उपरोक्त चित्र को एजवर्थ-बाउली आयताकार चित्र (Box diagram) कहते हैं। इस चित्र मे दोनो देश A एव B के उत्पादन फलन का उद्गम कपड के लिए O पर है परन्तु दोनो वस्तुओं के लिए आवश्यक साधनो की मात्रा मे अन्तर होने के कारण इस्पात के लिए दोनो देशो के उद्गम बिन्दु पृथक् पृथक् हैं। देश A के लिए Y तथा देश B के लिए Y^1 है।

इन भिन्न भिन्न उद्गमो के अन्तगत अधिकतम दक्षता के बिन्दु-पथ क्रमश OY (देश A) और OY^1 (देश B) होगे। विदेशी व्यापार के पूर्व दोनो देश अधिकतम दक्षता पथ के क्रमश S एव T बिन्दुओं पर उपलब्ध पूंजी व श्रम का उपयोग कर रहे थे (दी हुई मांग स्थितियो के आधार पर)।

जब व्यापार सम्भव हो जाता है तो समरूप उत्पादन फलन की मान्यता के कारण तथा उत्पादित वस्तुओ की कीमतो के समान होने पर, उत्पादन-साधनो का पारितोषिक भी आवश्यक रूप से समान होना चाहिए। यह तब ही सम्भव है जबकि व्यापार के फलस्वरूप उत्पादन या तो R बिन्दु पर होता है या U बिन्दु पर। साधन कीमतो की समानता उपरोक्त दो बिन्दुओ R या U म किसी पर भी देखी जा सकती है। यह स्पष्ट है कि R बिन्दु सरल रेखा OU पर अकित है तथा U बिन्दु

सरल रेखा UY^1 पर अंकित है जो कि सरल रेखा RY के समानान्तर है, अर्थात् RY तथा UY^1 का ढाल समान है।

किण्डल बर्गर का मत है कि ऐसी बहुत-सी बातों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के दो बिन्दु R तथा U उत्पन्न नहीं हो सकते। विदेशी व्यापार के बाद एक अथवा दोनों देश पूर्ण रूपेण विशिष्टता अपना सकते हैं। देश B कपड़े का उत्पादन OY तक अथवा देश A इस्पात का उत्पादन OY^1 तक कर सकता है। देश A तथा B मे माँग की स्थितियाँ इस प्रकार अलग-अलग हैं कि देश A का उत्पादन बिन्दु S से हटकर O की अपेक्षा Y की ओर जाता है; ताकि इसमे देश A पूँजी की प्रचुरता होते हुए भी यह श्रम-प्रधान वस्तुओं का निर्यात करता है।

साधन-मूल्य समानीकरण की विवेचना का दूसरा तरीका प्रो. ए. पी. लर्नर ने प्रस्तुत किया है। उन्होंने दो वस्तुओं के सम उत्पाद वक्रों को लिया है जो उन सापेक्ष कीमतों को अथवा मात्राओं को प्रदर्शित करते हैं जिसमें कि उनका विनिमय दो देशों के बीच होने वाले व्यापार के बाद किया जाता है।
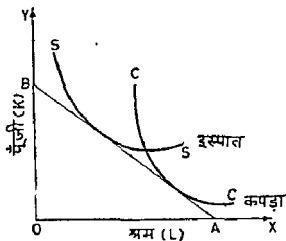
उत्पादन-फलन की सहायता से साधन-मूल्य समानीकरण का स्पष्टीकरण

चित्र मे इस्पात तथा कपड़े के क्रमश: SS तथा CC सम उत्पाद वक्र हैं। हम इन समोत्पाद वक्रों द्वारा किसी भी मात्राओं को (मूल्यों को) दिखा सकते हैं, जैसे 60 मीटर कपड़ा तथा 4 टन इस्पात अथवा 600 मीटर कपड़ा तथा 40 टन इस्पात आदि। क्योंकि उत्पादन फलन एक डिग्री के समरूप है, अधिकाधिक मात्राओं को प्रदर्शित करने वाले उत्तरोत्तर सम उत्पाद वक्रों की रचना या आकार हमेशा समान होगा। अत: इनसे हमें एक सरल रेखीय *विस्तार मार्ग प्राप्त होगा*। क्योंकि अपनाई

गई इकाइयाँ उत्पत्ति कीमतों को प्रकट करती है जो कि दो देशो मे व्यापार के बाद समान होती है। जबकि यह माना गया है कि यातायात लागत अनुपस्थित होनी है तथा पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति प्रचलित है। परन्तु प्रो० किण्डलबर्गर के मतानुसार यह मॉडल उस स्थिति मे गलत हो जाता है जबकि समोत्पाद वक्र एक से अधिक बार क्रॉस कर जाते हैं, क्योंकि इसका यह तात्पर्य होगा कि उन वस्तुओं मे से कम से कम एक के लिए साधन-प्रतिस्थापनापन्न की सीमा की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है।

आलोचना

यह सिद्धान्त अवास्तविक मान्यताओ पर आधारित है जैसे विदेशी-व्यापार मे परिवहन-लागत सम्मिलित की जाती है और उस पर कई प्रकार के नियन्त्रण भी होते हैं जिसके परिणामस्वरूप व्यापार से सामान्यतया सम्बन्धित देशो मे वस्तु-मूल्य अनुपातो मे समानता नही आ पाती और इसीलिए साधन मूल्य भी समान नही हो पाते हैं।

इसी प्रकार विभिन्न देशो मे असमान उत्पाद-फलनो के कारण, साधन प्रतिफलो का समानीकरण नही हो पाता। उत्पादन-फलनो मे विषमता का प्रभाव साधनो के सीमान्त उत्पादो पर पडता है जिससे फलस्वरूप विभिन्न साधनो का प्रतिफल अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अलग-अलग होता है। साथ ही माँग की स्थितियाँ निर्धारित की जा सकती है जिनके अन्तर्गत आय का पुनर्वितरण होता है और साधनो का भी पुन आवंटन होता है। इससे स्वतन्त्र विदेशी-व्यापार की कोटियो मे समानता स्थापित करने वाले साधन-मूल्य मे अस्थिरता उत्पन्न होती है फलत साधन-मूल्य समानीकरण नही हो पाता।

कुछ आवश्यक मान्यताओ मे छूट देने से सिद्धान्त की सगतता ही प्रभावित हो जाती है और कुछ अवस्थाओ मे इस प्रकार की छूट देने के फलस्वरूप साधन मूल्यो का पूर्ण समानीकरण असम्भव हो जाता है, परन्तु समानीकरण की प्रवृत्ति केवल घटती है, पूर्णत समाप्त नही होती। कुछ अन्य दशाओ मे व्यापार मे साधन-मूल्यो को समान करने की प्रवृत्ति ही समाप्त हो जाती है और कभी-कभी तो विदेशी-व्यापार से साधन मूल्यो मे अन्तर्राष्ट्रीय विषमताएँ बढ जाती हैं।

पूर्ण समानीकरण सिद्धान्त के अत्यधिक प्रतिबन्धित स्वरूप पर टिप्पणी करते हुए हैरोड ने लिखा है कि "यह विदेशी-व्यापार सिद्धान्त में एक कौतूहल है।" यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि साधन-मूल्य समानीकरण सूत्र स्पष्ट रूप से पूर्ण विश्लेषण की शक्ति तथा मान्यता को ही अभिव्यक्त करता है। साथ ही यह शुद्ध सैद्धान्तिक कार्यों की कुछ गम्भीर परिसीमाओं पर भी प्रकाश डालता है।

4 तुलनात्मक लागत एवं हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त का आनुभाविक प्रमाणीकरण अथवा लियनतीफ का विरोधाभास

(EMPIRICAL VERIFICATION OF COMPARATIVE COST AND HECKSHER - OHLIN THEORY OR LEONTIEF PARADOX)

नोबल पुरस्कार विजेता डॉ. लियनतीफ ने सन् 1954 में प्रादा-प्रदा मॉडल (Input-Output Model) के आधार पर हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त का आनुभाविक परीक्षण किया। लियनतीफ ने एक ओर अमेरिकी अर्थ व्यवस्था से सम्बन्ध निर्यात और दूसरी ओर आयात प्रतिस्थापन उद्योग के आँकडे लिए। उन्होंने इनके आधार पर निर्यात और आयात उद्योगों में सम्बद्ध उद्योगों का उत्पादन बढ़ाने के लिए पूंजी की आवश्यकता का अनुमान किया। परन्तु लियनतीफ के निष्कर्ष हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त से प्राप्त निष्कर्षों से बिल्कुल विपरीत है। कारण यह है कि हम यह मानते हैं कि अमेरिका में श्रम की तुलना में पूंजी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होने के कारण वहाँ ब्याज दर कम है और वहाँ पूंजी प्रधान तकनीक का उपयोग किया जाता है। यदि हम हैक्शर, ओहलिन सिद्धान्त का अनुकरण करें तो अमेरिका से निर्यात की ... वाली वस्तुएँ पूंजी-प्रधान होनी चाहिए और क्योंकि श्रम वहाँ पर अपेक्षाकृत ... है इसलिए अमेरिका में श्रम-प्रधान उद्योगों में निर्मित वस्तुओं का आयात करना चाहिए।

परन्तु लियनतीफ ने यह पाया कि अमेरिका से निर्यात अधिक श्रम-प्रधान और आयात अधिक पूंजी-प्रधान है। उनके निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

"इस बात पर विश्वास करने के पर्याप्त कारण हैं कि अमेरिकन माल के निर्यात के प्रति दस लाख डॉलर के पीछे आवश्यक श्रम की मात्रा, निर्यात की समान मात्रा के आयात के पीछे आवश्यक श्रम की तुलना में कहीं अधिक है।" संक्षेप में लियनतीफ के मतानुसार अमेरिका के निर्यात उद्योगों में पूंजी का उपयोग आयात उद्योग की अपेक्षा कम होता है। लियनतीफ के परिणाम को अग्रांकित सारणी में प्रकट किया गया है।

अमेरिका के प्रति दस लाख डॉलर के निर्यात और प्रतियोगिता
आयात मे प्रयुक्त घरेलू पूंजी और श्रम की आवश्यकता
(सन् 1947 की तरचना का औसत)

विवरण	निर्यात	आयात
पूंजी (डॉलरो मे)	2550,780	3091,339
श्रम (श्रम वर्ष)	182 313	170 004

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि लियनतीफ के अनुसार अमेरिका के निर्यात आयातो की तुलना मे अधिक श्रम प्रधान है। अन्य शब्दों म अमेरिका विदेशी व्यापार मे इसलिए शामिल होता है कि वह पूंजी के उपयोग मे मितव्ययी होना चाहता है और अतिरिक्त श्रम का निर्यात करना चाहता है। वस्तुत यह निष्कर्ष हैक्शर-ओहलिन के सिद्धान्त के सर्वथा विपरीत है जिसके अनुसार प्रत्येक देश को वे वस्तुएं निर्यात करनी चाहिए जिनके उत्पादन मे प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध एव अपेक्षाकृत सस्ते साधन का उपभोग होता हो। यही कारण है कि लियनतीफ द्वारा प्रस्तुत स्थिति को "लियनतीफ विरोधाभास" (Leontief Paradox) के नाम से पुकारा जाता है। इस विरोधाभास के अन्तर्गत यह आवश्यक नहीं है कि साधनो की उपलब्धि (प्रचुर मात्रा मे या न्यून मात्रा म) का आयात-निर्यात व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव होता है।

लियनतीफ के उपरोक्त निष्कर्ष के बावजूद हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त सामान्य एव तार्किक दृष्टियो से सही प्रतीत होता है। विदेशी व्यापार की सरचना एव आयात व निर्यात की सम्भावनाओ पर साधन विशेष की प्रचुरता एव लागत-मूल्य का काफी प्रभाव पडता है। प्रत्येक देश सामान्यतया उस वस्तु की अधिक मात्रा बनाने का प्रयास करता है जिसका उत्पादन यह अधिकांशत कम लागत पर कर सके और बहुधा लागत कम तभी होती है जब देश प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध एव सस्ते साधन का अधिक उपयोग करे। परन्तु हाल ही मे कुछ अर्थशास्त्रियो ने "लियनतीफ-विरोधाभास" की चर्चा पुन प्रारम्भ कर दी है। इनके मतानुसार पूंजी की गणना कई प्रकार से की जानी चाहिए। भूमि एव श्रम मे भी पूंजी का अश विद्यमान होता है, अत केवल कार्यशील पूंजी या यन्त्रो को ही नही वरन् मानवीय योग्यताओ आदि को भी पूंजी मे शामिल किया जाना चाहिए।

वस्तुत. मानवीय योग्यता भी श्रम मे निहित एक प्रकार की पूंजी है। किसी व्यक्ति के प्रशिक्षण मे भी पूंजी का उपयोग होता है, और इसीलिए व्यक्तिगत दक्षता को भी पूंजी का एक भाग मानना चाहिए। स्वय लियनतीफ ने यह स्वीकार किया कि प्रशिक्षित व्यक्ति का श्रम वास्तविक रूप मे श्रम के रूप मे न लेकर पूंजी के एक अश के रूप मे लिया जाना चाहिए। तथापि लियनतीफ ने बताया कि मानवीय योग्यता को पूंजी के रूप मे परिगणित करना एक कठिन कार्य है।

लियनतीफ ने एक अन्य स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा कि अमेरिकी

श्रमिक अन्य देशो के श्रमिक की अपेक्षा अधिक कुशल है। इस कारण यदि श्रम की केवल सामान्य दक्षता को लिया जाए तो भारत के सामान्य श्रमिकों व अमेरिका के सामान्य श्रमिको मे कोई अन्तर नही होगा, तथा हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त वैध माना जा सकेगा।

कुछ लोग यह तर्क भी देते हैं कि यदि साधनों की निधि (Factor Endowments) की परिभाषा एवं उत्पादन-फलन की सही रूप मे व्याख्या की जाए तो हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त को सही सिद्ध करना सम्भव होगा। कुछ अर्थशास्त्रियों ने यह भी कहा है कि श्रम की निपुणता पूँजी के विनियोग द्वारा ही नहीं अपितु घटको द्वारा भी प्रभावित होती है। परन्तु सही रूप में दक्ष श्रमिक को श्रम के रूप मे लिया जाए अथवा पूँजी के रूप मे, यह प्रश्न अब तक अनिर्णीत है।

लियनतीफ के अध्ययन और निष्कर्षों के पश्चात् अनेक विद्वानो ने इसी प्रकार के अन्य अध्ययन भी किए हैं जिनमे से कुछ प्रमुख अध्ययन निम्नानुसार है—

प्रथम अध्ययन

भारत के सम्बन्ध मे बम्बई विश्वविद्यालय के प्रो. डॉ. आर. भारद्वाज ने इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित दो अध्ययन किए हैं—

(i) भारत तथा शेष विश्व—इस सन्दर्भ में प्रोफेसर भारद्वाज ने बताया कि भारत के निर्यात सामान्यतया श्रम-प्रधान हैं जबकि आयात उन वस्तुओं के है जो देश मे पूँजी प्रधान उद्योगो द्वारा निर्मित होती हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि भारत का शेष विश्व के साथ होने वाला व्यापार हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त के ही अनुरूप है।

(ii) भारत एव सयुक्त राज्य अमेरिका—*डॉ. भारद्वाज ने बताया* कि भारत अमेरिका को पूँजी-प्रधान उद्योगों मे निर्मित वस्तुएँ निर्यात करता है जबकि अनाज, कपास आदि ऐसी वस्तुओ का आयात करता है जो यहाँ श्रम प्रधान उद्योगो मे निर्मित होते हैं। इससे यह सिद्ध होता कि भारत और अमेरिका के मध्य होने वाला व्यापार हैक्शर-ओहलिन के सिद्धान्त के अनुरूप नही है। परन्तु डॉ भारद्वाज का यह निष्कर्ष उपयुक्त प्रतीत नही होता। कारण यह है कि भारत मे खाद्यान्न, कच्चे माल व अनेक दूसरी वस्तुओं के आयात एव निर्यात लागतो की भिन्नता पर आधारित होने की अपेक्षा PL–480 एव दोनो देशो के मध्य हुए अन्य समझौतो के परिणाम थे।

द्वितीय अध्ययन

प्रो के. एन. प्रसाद ने भी भारत मे आदा-प्रदा विश्लेषण के माध्यम से हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त की सत्यता का परीक्षण करने का प्रयत्न किया है। डॉ प्रसाद का मत है कि लियनतीफ विरोधाभास मे एक भारी त्रुटि यह है कि प्राकृतिक साधनो के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी प्रयुक्त उत्पादन घटको की गणना मे उसकी उपेक्षा की गई है। प्रो. प्रसाद के अध्ययन का निष्कर्ष इस प्रकार है "ये परिणाम यह प्रदर्शित करते हैं कि यदि 100 करोड रुपये की कीमत के

श्रायातो को देश मे ही पैदा किए जाए तो उसके लिए निर्यात की तुलना मे 155% अधिक पूंजी की श्रावश्यकता होगी जबकि निर्यात की तुलना मे श्रम की श्रावश्यकता 3% कम होगी। फिर यदि हम 100 करोड रुपये के निर्यात मे प्रयुक्त उत्पादन घटको को लें तो प्रयुक्त पूंजी श्रायातो की तुलना मे 2½ गुणा कम होगी और श्रम के सन्दर्भ मे स्थिति लगभग वही है, अर्थात् श्रायात की तुलना मे प्रयुक्त श्रम की मात्रा 3% के लगभग अधिक है। परन्तु निर्यातो मे प्रयुक्त नैसर्गिक साधनो की मात्रा श्रायातो की तुलना मे लगभग दुगुनी है। इसका प्रमुख कारण कृषि है। सन् 1955-56 मे भारत मे विदेशी व्यापार का गठन इस प्रकार था कि इसके निर्यातो मे प्रमुख स्थान कृषि उपज का था और अब इस प्रकार नैसर्गिक साधनो का है। इसी वजह से यदि हमारे कुल श्रायातो का जब देश मे उत्पादन किया जाएगा तो श्रम और पूंजी दोनो की अधिक श्रावश्यकता होगी। इसी प्रकार समान उत्पादन फलनो की मान्यता के साथ भारत पूंजी का भुगतान नैसर्गिक साधनो के द्वारा कर रहा है।'

तृतीय अध्ययन

जर्मनी के स्तोपू एव रोस्पर ने जर्मनी के विदेशी व्यापार का विश्लेषण करके बताया कि उस सन्दर्भ मे हैक्शर-श्रोहलिन सिद्धान्त सत्य है।

चतुर्थ अध्ययन

जापान के अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार के विषय मे एक अध्ययन तो हैक्शर-श्रोहलिन सिद्धान्त की सत्यता की पुष्टि नहीं करता है जबकि एक दूसरा अध्ययन इस सिद्धान्त की सत्यता की पुष्टि करता है।

पचम अध्ययन

कनाडा मे किए गए एक अध्ययन के अनुसार हैक्शर-श्रोहलिन सिद्धान्त के अनुरूप कनाडा का विदेशी व्यापार नहीं होता है। परन्तु यह निष्कर्ष इसलिए अन्तिम नही माना जा सकता क्योकि कनाडा का अधिकांश व्यापार अमेरिका से होता है जहाँ पूंजी प्रधान उद्योगो का अधिक महत्त्व है।

निष्कर्ष

हैक्शर-श्रोहलिन सिद्धान्त सामान्य एव तार्किक दृष्टियो से उपयुक्त प्रतीत होता है। विदेश व्यापार की सरचना और आयात एव निर्यात की सम्भावनाओ पर साधन विशेष की प्रचुरता और लागत मूल्य का बहुत प्रभाव पडता है। व्यावहारिक रूप मे प्रत्येक देश साधारणतया उस वस्तु की अधिक मात्रा उत्पादित करने का प्रयत्न करता है जिसका उत्पादन वह कम लागत पर कर सकता है और बहुधा लागत कम तभी होती है जब देश मे प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध एव सस्ते साधन का अधिक उपयोग किया जाता है। यही नही यदि द्विपक्षीय व्यापार की समीक्षा की जाए तो अधिकांश देशो का विदेशी व्यापार हैक्शर-श्रोहलिन सिद्धान्त के अनुरूप पाया जाएगा। हैक्शर श्रोहलिन सिद्धान्त के विषय मे निष्कर्ष के रूप मे यही कहा जा सकता है कि अर्थशास्त्रियो के

पास कोई ठोस प्रमाण इस सिद्धान्त को सही या गलत साबित करने के लिए नहीं है। अतः पर्याप्त एवं विश्वसनीय आँकड़ो के आधार पर ही इस सम्बन्ध में कोई अन्तिम निर्णय लिया जाना चाहिए। साथ ही एक देश या क्षेत्र के विषय में प्राप्त निष्कर्ष को अन्य देशों के सन्दर्भ में काफी सतर्कतापूर्वक लेना चाहिए।

विदेशी व्यापार के प्रति वर्तमान दृष्टिकोण

गत कुछ वर्षों में दो नवीन सिद्धान्त विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में प्रकाश में आए हैं जो निम्नानुसार है—

(अ) क्रेविस सिद्धान्त (Kravis Theory)

(ब) लिण्डर सिद्धान्त (Linder Theory)

(अ) क्रेविस सिद्धान्त (Kravis Theory)

इस सिद्धान्त के अनुसार साधनों की निधि की अपेक्षा तीन बातें विदेशी-व्यापार को सम्भव बनाती हैं—

(i) प्राकृतिक साधन

(ii) टेक्नोलोजी

(iii) वस्तु विशेष की माँग तथा पूर्ति की लोच।

क्रेविस ने अपने एक लेख में यह सिद्ध किया है कि निर्यात उद्योगों में मजदूरी आयात-प्रतियोगिता वाले उद्योगों व अन्य सभी उद्योगों से अधिक होने की प्रवृत्ति होती है। परन्तु मजदूरी स्तर में यह अन्तर बहुत अधिक नहीं होता। क्रेविस ने अपनी बाद की वार्ताओं में यह तर्क दिया है कि व्यापार का स्वरूप विभिन्न मजदूरी-सरचनाओं से अधिक प्रभावित नहीं होता। उन्होंने लियोनतीफ के विरोधाभास पर विचार करते हुए इस बात पर सन्देह व्यक्त किया है कि अमेरिका में पूंजी की अपेक्षा श्रम की प्रचुरता है। विशेष रूप से वे अमेरिका द्वारा विदेशों को अत्यधिक पूंजी का निर्यात करने की बात कहते हैं। क्रेविस के मतानुसार इसका अर्थ यह नहीं है कि वहाँ पूंजी का अभाव है।

क्रेविस का मत है कि व्यापार का वस्तु स्वरूप निर्धारण अर्थात् कौन देश किस वस्तु का उत्पादन करेगा (मजदूरी अनुपात के सम्बन्ध में) प्रमुख रूप से उपलब्धि एवं उत्पादकता द्वारा किया जाता है। उपलब्धि का अर्थ है, व्यापार उन वस्तुओं तक सीमित होगा जो स्वदेश में उपलब्ध नहीं है, जैसे खनिज पदार्थ जो भौतिक कारणों से उपलब्ध नहीं है तथा वे वस्तुएँ जिनका उत्पादन केवल ऊँची लागत से ही बढ़ाया जा सकता है। अन्य शब्दों में इस तथ्य को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि वस्तु की पूर्ति बेलोचदार रहती है। क्रेविस यह तर्क देते हैं कि माँग की अपेक्षा प्राकृतिक ससाधनों की कमी के कारण अनुपलब्धि होती है और तकनीकी उन्नति तथा उत्पाद-विभेद किसी नवीन देश को अस्थायी रूप से एकाधिकार शक्तियों का संचय करने की छूट देती है। अतः प्राकृतिक एवं कृत्रिम दुर्लभताओं से अनुपलब्धि पैदा होती है।

(द) लिण्डर सिद्धान्त (Linder Theory)

लिण्डर ने निर्मित वस्तुम्रो ग्रौर प्राथमिक वस्तुग्रो के व्यापार मे भेद किया है। लिण्डर का मत है कि प्राथमिक वस्तुम्रो मे वस्तुत प्राकृतिक साधनो की गहनता है ग्रौर जिसे ग्रपेक्षाकृत उत्पादन के साधन के ग्रश दोनो के रूप मे स्पष्ट किया जा सकता है परन्तु निर्मित वस्तुग्रो का व्यापार इस रूप म स्पष्ट नही किया जा सकता। वास्तव मे व्यापार के प्रतिरूप ग्रौर स्वरूप के सम्बन्ध मे हम ठीक भविष्यवाणी नही कर सकते। हम केवल यह कर सकते हैं कि एक ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन करें जो दो राष्ट्रो के बीच व्यापार की मात्रा को बढाता है। लिण्डर के मतानुसार व्यापार करने वाले देशो के मध्य माँग के स्वरूप म जितनी ग्रधिक समानता होगी, व्यापार की मात्रा उतनी ही ग्रधिक होगी। सक्षेप म लिण्डर सिद्धान्त के ग्रनुसार किसी भी देश का निर्यात वस्तु की माँग के स्वरूप पर निर्भर करता है।

यद्यपि लिण्डर ने ग्रपनी परिकल्पना मे इस सिद्धान्त का ग्रनुभव जन्य विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है परन्तु सिद्धान्त ग्रत्यन्त ही क्लिष्ट है ग्रौर इसम काफी विश्लेषण ग्रौर जाँच करने की ग्रावश्यकता है।

यद्यपि व्यापार सिद्धान्त के प्रति दोनो दृष्टिकोण ग्रधिक सरल नही रहे हैं फिर भी ये प्रयास महत्वपूर्ण ग्रौर विशिष्ट हैं।

---

5 प्रतिपूरक मांग, मार्शल-एजवर्थ का प्रस्ताव वक्र

(RECIPROCAL DEMAND, MARSHALL-EDGEWORTH OFFER CURVES)

जे. एस. मिल ने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की प्रतिपूरक अथवा पारस्परिक माँग के सिद्धान्त द्वारा व्याख्या की। इस सिद्धान्त मे यह स्पष्ट किया गया है कि वस्तुओ का विनिमय किस अनुपात मे किया जाता है। मिल द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त की व्याख्या आगे चलकर मार्शल द्वारा की गई है। इसे व्यापार की वास्तविक शर्तों का निर्धारण कर्त्ता बनाया गया है।

मिल ने बताया कि दो देशों के बीच वस्तुओं की विनिमय दर की सीमाएँ दोनो ही देशो की आन्तरिक विनिमय दरों द्वारा निर्धारित होती हैं। कोई भी देश उस दर से कम अपनी वस्तुओ का विदेशों के साथ विनिमय करने के लिए तैयार नहीं होगा जिस दर पर अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार के अभाव में देश के अन्दर ही वस्तुओ का विनिमय हो रहा होगा।

रिकार्डो की भांति मिल की भी यह मान्यता थी कि देश के भीतर वस्तुओं का विनिमय उनकी उत्पादन लागतो के आधार पर होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय में विनिमय की परिस्थितियों के विश्लेषण के लिए मिल ने भी रिकार्डो के समान ही दो वस्तुओ और दो राष्ट्रो का जो समान आकार और आर्थिक शक्ति वाले हैं, उदाहरण लिया है। उन्होने भिन्न-भिन्न श्रम-उत्पादन लागतो के साथ दो देशो मे दो वस्तुओ के दिए हुए उत्पादन के स्थान पर दिए हुए श्रम की मात्रा के साथ दो देशों मे दो वस्तुओ के उत्पादन की भिन्न मात्रा का उदाहरण लिया है। एल्सवर्थ के मतानुसार, "इस प्रकार उनका सिद्धान्त रिकार्डो के तुलनात्मक श्रम-लागतों के सिद्धान्त के स्थान पर तुलनात्मक लाभ या श्रम की तुलनात्मक प्रभावशीलता के आधार पर प्रतिपादित किया है।"

प्रतिपूरक मांग का सिद्धान्त
(Theory of Reciprocal Demand)

इस सिद्धान्त को मिल का व्यापार शर्तों का सिद्धान्त, पारस्परिक माँग का सिद्धान्त अथवा अन्तर्राष्ट्रीय माँग या मूल्य मात्रा समीकरण भी कहते हैं।

शर्तें प्रतिपूरक माँगों द्वारा निर्धारित होती हैं, जिससे आयात एवं निर्यात मूल्य में साम्य बना रहता है। मिल के अनुसार "अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य का नियम केवल सामान्य मूल्य नियम का ही विस्तार मात्र है जिसे हम माँग एवं पूर्ति के समीकरण के नाम से जानते हैं।"

अब हम मिल के पारस्परिक माँग के सिद्धान्त को एक काल्पनिक उदाहरण द्वारा समझने का प्रयत्न करेंगे। माना कि एक श्रमिक एक दिन में 10 घण्टे कार्य करके निम्न प्रकार से उत्पादन करता है—

श्रम लागत संरचना

देश	उत्पादन (इकाइयों में)		घरेलू
	शराब (W)	कपड़ा (C)	विनिमय अनुपात
अमेरिका	3	3	1 इकाई शराब=1 इकाई कपड़ा
ब्राजील	1	2	1 इकाई शराब=2 इकाई कपड़ा

उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि उसी श्रम-लागत (10 घण्टे) के साथ अमेरिका और ब्राजील शराब व कपड़े की भिन्न-भिन्न मात्राओं का उत्पादन करते है। अमेरिका को शराब और कपड़ा दोनो वस्तुओं के उत्पादन मे निरपेक्ष लाभ प्राप्त है। ब्राजील की तुलना मे शराब मे वह उसी श्रम की मात्रा से एक इकाई के स्थान पर 3 इकाई और कपड़े की 2 इकाई की तुलना मे 3 इकाई का उत्पादन करता है। परन्तु कपड़े की तुलना मे शराब के उत्पादन मे अधिक तुलनात्मक लाभ प्राप्त है। ब्राजील को शराब की तुलना मे कपड़े के उत्पादन में तुलनात्मक हानि कम है। अतः यदि अमेरिका शराब के उत्पादन में और ब्राजील कपड़े के उत्पादन में विशिष्टीकरण करते हैं तो दोनों देश लाभान्वित होंगे।

व्यापार शर्तें—एल्सवर्थ के शब्दों मे "सम्भाव्य वस्तु विनिमय-शर्तों (विदेशी विनिमय अनुपात) की सीमा घरेलू विनिमय अनुपात से स्थापित होती है। घरेलू विनिमय अनुपात प्रत्येक देश मे श्रम की तुलनात्मक कुशलता से निर्धारित होता है।"[1] अर्थात् दो देशों के बीच वस्तुओं की विनिमय दर की सीमाएँ दोनों ही देशों की आन्तरिक विनिमय दरों द्वारा निर्धारित होती हैं।

अमेरिका मे घरेलू विनिमय अनुपात—1 इकाई शराब=1 इकाई कपड़ा

ब्राजील मे घरेलू विनिमय अनुपात—1 इकाई शराब=2 इकाई कपड़ा

अतः सम्भावित व्यापार-शर्त की सीमा एक इकाई शराब=एक इकाई कपड़ा से 2 इकाई कपड़े तक।

अतः वास्तविक विनिमय अनुपात इन दो सीमाओं अर्थात् 1 इकाई शराब =1 इकाई कपड़ा और 1 इकाई शराब=2 इकाई कपड़े के बीच कहीं भी निर्धारित हो सकती है।

1 *P. T. Ellsworth* : The International Economy, p. 65.

आन्तरिक लागतें विदेशी व्यापार मे वस्तुओ की विनिमय दर को निर्धारित नही करती है। यद्यपि वे विनिमय दर की वे सीमाएँ निर्धारित करती हैं जिनके मध्य ही विदेशी-व्यापार सम्भव होगा। यदि विदेशी व्यापार मे वस्तुओ की विनिमय दर उस सीमा को पार करती है तो फिर किसी एक देश के लिए विदेशी व्यापार लाभप्रद नही रहेगा।

वास्तविक विनिमय दर के निर्धारण के लिए मिल ने माँग और पूर्ति के नियम का सहारा लिया है। मिल ने कहा कि वास्तविक विनिमय दर का निर्धारण दोनो देशो की पारस्परिक मोल-तोल करने की शक्ति अर्थात् इनकी पारस्परिक माँग की लोच पर निर्भर करेगा। यदि किसी देश के पास अन्य देशो की वस्तुओ की माँग बहुत तीव्र है तो इस देश के लिए विदेशी व्यापार की शर्तें अर्थात् विनिमय दर प्रतिकूल होगी। इसके विपरीत यदि इस देश के पास विदेशी वस्तुओ की माँग कम तीव्र है और इस देश की वस्तुओ के लिए विदेशी माँग अधिक तीव्र है तो व्यापार की शर्तें अर्थात् विनिमय दर इस देश के अनुकूल होगी। इस प्रकार वास्तविक विनिमय दर के निर्धारण मे विभिन्न देशो की पारस्परिक माँग की लोच का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है।

आलोचना

मिल के सिद्धान्त की निम्नलिखित आलोचनाएँ की गई हैं—

1 **मिल का सिद्धान्त रिकार्डो के सिद्धान्त का पूरक नहीं है**—बहुत से अर्थशास्त्रियो की मिल के योगदान के सम्बन्ध मे धारणा यह है कि मिल ने रिकार्डो के तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त मे पूरक योगदान दिया है। परन्तु यह धारणा गलत है जैसा कि प्रो० शुम्पीटर का मत है कि माँग व पूर्ति सारणियाँ जिनका पारस्परिक कटाव-बिन्दु प्रतिपूरक माँग के समीकरण का ज्यामितिक चित्र प्रस्तुत करता है। एक ऐसा दृष्टिकोण दर्शाता है जिसे रिकार्डो ने (एकाधिकृत वस्तुओ व अस्थाई उच्चावचन को छोडकर) हमेशा अस्वीकृत किया था। वे एक नवीन तथा अधिक सामान्य सिद्धान्त को ठीक उसी प्रकार प्रस्तुत करते हैं जिस प्रकार विदेशी विनिमय-दरो का सामान्य सिद्धान्त, जो कि इस धारणा की अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय-दर स्वर्ण-बिन्दुओ के मध्य स्थापित होती है, पूरक से कही अधिक है। यही नही, सामान्य सिद्धान्त ने पुराने सिद्धान्त को महत्वपूर्ण स्थान से हटा दिया है जिस प्रकार सामान्य सिद्धान्त ने स्वर्ण-बिन्दु सिद्धान्त को विशिष्ट मामले के अनेक साध्यो मे से एक साध्य बना दिया है ठीक उसी प्रकार प्रतिपूरक माँग के *सिद्धान्त* ने *तुलनात्मक-लागत सिद्धान्त* को *व्यापारिक* प्रतियोगिता के अन्तर्गत व्यापार के विशिष्ट पहलू के सम्बन्ध मे एक साध्य के स्थान पर ला दिया है।" वस्तुत मिल का प्रतिपूरक माँग का सिद्धान्त रिकार्डो के तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त को गलत सिद्ध कर देता है।

2 **अवास्तविक मान्यताएँ**—मिल का पारस्परिक माँग का सिद्धान्त अवास्तविक मान्यताओ जैसे पूर्ण रोजगार, पूर्ण प्रतियोगिता, स्वतन्त्र विदेशी व्यापार,

उत्पादन के साधनों में पूर्ण गतिशीलता, तुलनात्मक-लागत-सिद्धान्त तथा विशिष्टीकरण, दो देश तथा दो वस्तु मॉडल पर आधारित है। अतः यह सिद्धान्त व्यावहारिक नहीं है।

3. अदल-बदल वाली शर्त पर आधारित—जेवेन्स का मत है कि मिल का सिद्धान्त व्यापार की अदल-बदल वाली शर्त पर आधारित है पर व्यापार की अदल-बदल वाली शर्त अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार से उत्पन्न होने वाले लाभ का ठीक माप प्रस्तुत नहीं करती है।

4. स्वयं-सिद्ध कथन—शैडवेल ने मिल के इस दृष्टिकोण की आलोचना की है कि व्यापार की शर्त का निर्धारण वहाँ होता है जहाँ आयात तथा निर्यात के मूल्य साम्य की स्थिति मे हों। शैडवेल का कहना है कि यह स्वयं-सिद्ध है वास्तविक नहीं और यह व्यापार की शर्त के निर्धारण पर बिल्कुल प्रकाश नहीं डालता है।

प्रो वेस्टवेल ने इस आलोचना को निराधार बताया। वेस्टवेल का मत है कि मिल का सिद्धान्त केवल साम्य की व्याख्या नहीं करता वरन् उन शक्तियों पर भी प्रकाश डालता है जो साम्य को स्थापित करने में क्रियाशील होती हैं।

5 पूर्ति सम्बन्धी दशाओं की उपेक्षा—मिल के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए प्रो॰ मार्शल ने कहा है कि उन्होंने पूर्ति सम्बन्धी स्थितियों की उपेक्षा की है। वास्तव मे पूर्ति सम्बन्धी दशाएँ भी व्यापार शर्तों को प्रभावित करती है। मार्शल के मतानुसार "विदेशी वस्तुओं के लिए देश की प्रभावपूर्ण माँग की लोच न केवल इसकी सम्पत्ति और उसके लिए इसकी जनसंख्या की इच्छाओं की लोच द्वारा बल्कि इसकी अपनी विभिन्न प्रकार की वस्तुओं की पूर्ति,को विदेशी बाजारो की मांग के साथ समायोजित करने की क्षमता द्वारा भी प्रभावित होती है।"

6. व्यापार से बड़े देशों को छोटे देशों की अपेक्षा लाभ कम होना आवश्यक नहीं—मिल का कथन था कि छोटे देश विदेशी व्यापार पर अधिक निर्भर रहते हैं और इस कारण उन्हें बड़े देशो की अपेक्षा विदेशी व्यापार में अधिक लाभ होता है परन्तु मार्शल का कहना है कि एक धनी देश भी (अ) नई वस्तुओं का प्रचलन कर सकता है, (ब) विस्तृत सुसगठित व्यापारिक सम्बन्धों से लाभान्वित हो सकता है, (स) एवं विशेष वस्तु की बिक्री करने के बजाय नए बाजार खोज सकता है, और (द) निर्धन देशों की अपेक्षा वह विभिन्न बाजारों की माँग के अनुसार अपने उत्पादन को समायोजित करने की अधिक अच्छी स्थिति में होता है। अतः वह छोटे देशों की अपेक्षा अधिक लाभ कमा सकता है।

उपरोक्त आलोचनाओं के होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि उन्होंने रिकार्डो के समान अपना विश्लेषण दो वस्तुओं और दो देशों तक ही सीमित नहीं रखा वरन् उन्होंने संक्षिप्त रूप से दो से अधिक वस्तुओं और दो से अधिक देशों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य की समस्या पर विचार किया। उनका मत था कि दो से अधिक वस्तुओं और देशों के सन्दर्भ मे भी वही आधारभूत नियम लागू होते हैं। मिल ने यातायात लागतों के अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव पर भी अपना विचार व्यक्त किया।

उन्होंने कहा कि बहुपक्षी विनिमय भी होना है और एक ही साम्य बिन्दु के स्थान पर बहुसाम्य बिन्दु भी हो सकते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यो के निर्धारण एव व्याख्या में और भी बहुत से नाजुक प्रश्न उपस्थित हो सकते हैं। अन्त मे जेकाब्रकइनर का यह कथन उल्लेखनीय है कि *"यद्यपि पारस्परिक मांग विश्लेषण एक अपूर्ण प्रयास* है फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यो के प्रतिभावो को व्यक्त करने वाल उपलब्ध अब तक के विकल्पो से उत्तम है।"

मार्शल-एजवर्थ का प्रस्ताव वक्र
(Marshall-Edgeworth Offer Curves)

मिल द्वारा प्रतिपादित व्यापार-शर्तों क सिद्धान्त म मार्शल ने सशोधन करते हुए बताया कि व्यापार की शर्तों का निर्धारण करते समय दो देशों मे विद्यमान मजदूरी की दरो का भी दृष्टिगत रखना चाहिए। इसीलिए मार्शल ने व्यापार की शर्तों के निर्धारण हेतु मौद्रिक लागतो को अपने विश्लेषण मे शामिल किया। मार्शल द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त मे निम्नलिखित दो बाते महत्त्वपूर्ण हैं—

(i) दी हुई व्यापार शर्तों (अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य) पर किसी वस्तु की मांग व पूर्ति इस बात पर निर्भर करेगी कि उस देश मे उत्पादन एव (आन्तरिक) उपभोग की क्षमता कितनी है, तथा

(ii) व्यापार की शर्तें स्वय प्रत्येक वस्तु की मांग व पूर्ति की लोच पर निर्भर करती हैं।

परन्तु मार्शल ने यह स्वीकार किया कि प्रत्येक देश मे वस्तुओं की मांग व पूर्ति का सही अनुमान लगाना कठिन है क्योंकि इन वस्तुओं की मात्रा एव इनका गठन परिवर्तनशील है। वस्तुत इनमे मजदूरी के स्तर के साथ साथ परिवर्तन होते रहते हैं। इसी कारण मार्शल ने किसी देश के आयात व निर्यात मे सम्मिलित वस्तुओ का मूल्य जानने हेतु एक सामान्य (मौद्रिक) माप लेना श्रेष्ठ समझा। उन्होने यह *मान्यता ली कि किसी भी देश म यह माप श्रम की स्थिर इकाई का परिमाण मात्र* है। अनेक वैकल्पिक अनुपातो के बीच साम्य स्थिति उस विनिमय अनुपात पर होगी जहाँ वस्तु की निर्यात (पूर्ति) एव आयात (मांग) मात्राएँ समान हैं। इसी विनिमय-अनुपात को व्यापार की शर्तों की सज्ञा दी जा सकती है।

मार्शल का सिद्धान्त निम्न मान्यताओ पर आधारित है—

(i) केवल दो देश हैं जो आपस मे व्यापार करते है और वे किसी अन्य देश के साथ व्यापार नहीं करते।

(ii) प्रत्येक देश वस्तु को दूसरे की सीमाओ तक पहुँचाने की लागत सहन *करता है और इसके बाद ही वस्तु की कीमत निर्धारित की जाती है अथवा व्यापार* का व्यवहार दो देशो के व्यापारियो के बीच बराबर विभाजित किया जाता है। यह मान्यता यातायात व्यय के विचार-विमर्श को अलग रखने का प्रयास करती है।

(iii) कोई देश व्यापार से उत्पन्न होने वाले भुगतानो के अतिरिक्त किसी भुगतान को करने के लिए बाध्य नहीं है। इस मान्यता के द्वारा पूंजी को गति द्वारा उत्पन्न उलझनो से दूर किया जाता है।

(iv) प्रत्येक व्यापारी अपने निर्यात के बदले प्राप्त होने वाले सामान को अपने देश मे वापस लाता है और अपने निर्यात के विरुद्ध कोई बिल नही रखता। इससे विदेशी मुद्रा की समस्या हल हो जाती है।

(v) प्रत्येक देश की मुद्रा का मूल्य केवल उसकी घरेलू अर्थ-व्यवस्था मे ही है।

मार्शल ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के ढांचे के निर्धारकों के रूप मे मांग व पूर्ति दोनो के सयुक्त कार्यवहन पर बहुत बल दिया। मार्शल के मतानुसार, "दो देशों के बीच होने वाले व्यापार मे किसी को भी केवल मांग या पूर्ति से ही विशेष रूप से सम्बन्ध नही किया जा सकता। प्रत्येक की मांग उसके निवासियों की विदेशों से कुछ वस्तुएँ प्राप्त करने की इच्छा से उत्पन्न होती है और उसकी पूर्ति का मूल (Origin) उन वस्तुओं को, जो कि अन्य देशो के लोग लेना चाहते हैं, उत्पन्न करने की सुविधाओं मे छिपा है। परन्तु उसकी मांग व्यापार को जन्म देने मे सामान्यत. केवल उसी सीमा तक ही प्रभावशाली है जहां तक उसके पीछे उपयुक्त वस्तुओं की पूर्ति की आड है और उसकी पूर्ति उस सीमा तक सक्रिय होती है जहां तक कि विदेशी वस्तुओं के लिए उसकी मांग विस्तृत है।"

इस सिद्धान्त को निम्न सारणी द्वारा और अच्छी तरह समझा जा सकता है—

अनुमानित व्यापारिक सूची* (इकाइयो मे)

व्यापार की शर्तें (अमेरिका की प्रत्येक 100 इकाई इस्पात के लिए भारत के कपड़े की इकाइयां)	भारत के कपड़े के लिए अमेरिका की मांग (भारत के कपड़े की अमेरिका में वास्तविक बिक्री)	अमेरिका द्वारा इस्पात की पूर्ति	भारत में अमेरिकी इस्पात की बिक्री कीमत (प्रत्येक 100 इकाई इस्पात में कपड़े की इकाइयां)	भारत द्वारा अमेरिकी इस्पात के बदले की जाने वाले कपड़े की पूर्ति
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)
10	1,000	1,000	230	23,000
20	4,000	20,000	175	35,000
30	9,000	30,000	143	42,900
35	14,000	40,000	122	48,000
40	20,000	50,000	108	54,000
46	27,600	60,000	95	57,000
55	28,500	70,000	86	60 200
68	54,400	80,000	82 5	66,000
78	70,200	90,000	78	70,200
83	83,000	1,00,000	76	76,000
86	94,600	1,10,000	74·5	81,950
88·5	1,06,200	1,20,000	73 5	88 500

*Based on A. Marshall, Money, Credit and Commerce, p. 162

नोट—कालम 1, 2 तथा 4 अनुमानित है।

$$\text{कालम } 3 = \frac{\text{कालम } 2}{\text{कालम } 1} \times 100 \text{ तथा कालम } 5 = \frac{\text{कालम } 4 \times \text{कालम } 3}{100}$$

सारणी मे प्रत्येक देश की अन्य देश की वस्तु के लिए की जाने वाली मांग (आयात) को दिखाया गया है तथा उस देश विशेष द्वारा प्रत्येक विनिमय अनुपात पर की जाने वाली अपनी वस्तु की पूर्ति (निर्यात) को भी दिखाया गया है। उदाहरण के लिए यदि विनिमय-अनुपात (व्यापार की शर्तें) प्रत्येक 100 इकाई इस्पात के लिए 40 इकाई कपडा है (कालम 1 के अनुसार) तो भारत द्वारा की जाने वाली कपडे की पूर्ति (निर्यात) 54000 इकाइयां (कालम 5 के अनुसार) होगी। किन्तु इस विनिमय अनुपात पर अमेरिका द्वारा किया जाने वाला कपडे का उपभोग (मांग) केवल 20 000 इकाइयों के बराबर ही होगा (कालम 2 के अनुसार)। अत इस विनिमय अनुपात पर भारत के पास कपडे की अतिरिक्त मात्रा बची रहती है। भारत अपनी इस अतिरिक्त कपडे की मांग को बेचने के लिए उसकी कीमत कम कर देता है, अत सारणी मे विनिमय अनुपात घटकर माना कि ९5 इकाई कपडा (प्रति 100 इकाई इस्पात के) हो जाता है (कालम 1 अनुसार)। इस विनिमय अनुपात पर भी भारत द्वारा की जाने वाली कपडे की पूर्ति (निर्यात) 60,200 इकाई के बराबर है (कालम 5 के अनुसार) जबकि अमेरिका का कपडे का उपभोग केवल 38,500 इकाइयों का है (कालम दो के अनुसार)। अत साम्य की स्थिति मे विनिमय अनुपात 78 100 होगा (कालम 1 अनुसार) इस स्थिति मे भारत द्वारा लिया जाने वाला कपडे का निर्यात 70 200 इकाई का होगा (कालम 5 के अनुसार) जो कि अमेरिका द्वारा की जाने वाली कपडे की मांग के बराबर है। इस प्रकार उपरोक्त अनुसूचियां वास्तव मे पारस्परिक मांग अनुसूचियां ही हैं और इन्हे रेखा चित्रो द्वारा और ज्यादा स्पष्ट रूप से समझाया जा सकता है। पारस्परिक मांग वक्रो को मार्शल एजवर्थ का प्रस्ताव वक्र (Marshall Edgeworth Offer Curve) भी कहते हैं।

प्रस्ताव वक्र (Offer Curve)

प्रस्ताव वक्र किसी भी देश की प्रत्येक वस्तु की मांग व पूर्ति के लिए विभिन्न सयोगो को प्रकट करता है। इसीलिए प्रस्ताव वक्र को मांग पूर्ति वक्र (Demand Supply Curve) भी कहते हैं।

अब हम उपरोक्त सारणी को लेकर प्रस्ताव वक्रो के द्वारा समझने का प्रयत्न करेंगे। ये दोनो देश अमेरिका व भारत दो वस्तुएं इस्पात कपडे का आपस मे आदान-प्रदान करना चाहते हैं। अमेरिका इस्पात का निर्यात (पूर्ति) करता है तथा कपडे का आयात (मांग) करता है। इसके विपरीत, भारत कपडे का निर्यात (पूर्ति) करता है एव इस्पात का आयात (मांग) करता है। चित्र में OY अक्ष पर कपडे की पूर्ति अर्थात् भारत द्वारा कपडे का निर्यात एव अमेरिका द्वारा कपडे का आयात को लिया गया है। जो सारणी मे कालम 2 पर प्रकट किया गया है जबकि OX अक्ष पर अमेरिका द्वारा इस्पात की पूर्ति अर्थात् भारत द्वारा इस्पात का आयात एव अमेरिका द्वारा इस्पात का निर्यात लिया गया है जो कि सारणी में कालम 3 को प्रकट करता है।

होने वाले परिवर्तनों या व्यापार से होने वाली प्राप्तियों के साथ एक रूप बना लेते हैं। देश के कल्याण का व्यापार की शर्तों में परिवर्तन पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसका अनुमान लगाना सरल नहीं है, यह विशेष परिस्थितियों पर निर्भर करता है। यह उन शक्तियों पर आधारित है जो व्यापार की शर्तों मे परिवर्तन का कारण बनती है। जब कभी एक देश के शुद्ध लेन-देन का व्यापारिक शर्तों मे परिवर्तन होता है तो इससे यह प्रतीत होता है कि देश की स्थिति पहले की तुलना मे अच्छी नही है क्योंकि उसे आयात की निश्चित मात्रा के लिए अधिक सामान निर्यात करना पड़ेगा। समस्त चीजें अपरिवर्तित रहते हुए भी यदि एक देश के निर्यात के लिए विदेशों मे माँग कम हो जाए तो उस देश के व्यापार की स्थिति बदतर हो जाएगी। दूसरी ओर यदि तकनीकी परिवर्तनों के कारण उत्पादन लागत घट जाए तो उसे लाभ होगा क्योंकि वह अपने निर्यात के लिए अधिक आयात प्राप्त कर सकेगा।

व्यापार की आय-शर्तें कल्याण मे होने वाले परिवर्तनों की विश्वसनीय सूचना नही देती। हो सकता है कि आयात की कीमत तथा मात्राएं अपरिवर्तित रहें और पिछले वर्ष और इस वर्ष दोनों मे आयात और निर्यात, का मूल्य बराबर रहे। यदि निर्यात के मूल्य बढते हैं तो देश कल्याण की दृष्टि से अच्छी स्थिति में रहेगा क्योंकि यह अपने निर्धारित निर्यात की मात्रा के बदले अधिक आयात प्राप्त कर सकेगा और इस प्रकार वास्तविक राष्ट्रीय आय बढ़ जाएगी। व्यापार की आय-शर्तें अपरिवर्तनीय होती हैं और इसलिए वे कल्याणकारी प्राप्तियों को अभिव्यक्त नही करती। जब एक देश की शुद्ध लेन-देन की व्यापारिक शर्तें घटती हैं तो उसके व्यापार की आय शर्तें बढ सकती हैं निर्यात के मूल्यों मे सापेक्षिक कमी होते हुए भी निर्यात की मात्रा के बढ़ने पर व्यापार की आय शर्तों का सूची-पत्र बढ सकता है। एक विकासशील देश के लिए आयात की क्षमता उसके विकास कार्यक्रमों एवं कल्याण की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो सकती है इसके परिणामस्वरूप उसकी स्थिति में सुधार हो सकता है।

विनिमय का अनुपात—स्वतन्त्र व्यापार के परिणामस्वरूप विश्व मे उत्पादन की मात्रा अधिक से अधिक बढ जाती है किन्तु इस बढ़े हुए उत्पादन के वितरण की समस्या पर्याप्त महत्त्वपूर्ण बन जाती है। व्यापार करने वाले देशों के बीच विश्व के उत्पादन का विभाजन एक राष्ट्र के आयात और निर्यात के मध्य स्थित विनिमय के अनुपात पर निर्भर करता है। यही विनियम का अनुपात उसके व्यापार की शर्तों को सुधारने मे सक्षम हो सकता है और इस प्रकार वह विश्व के उत्पादन मे से अधिक से अधिक भाग अपने लिए प्राप्त कर सकेगा। अर्थशास्त्रियों ने सामान्य रूप से इस बात की सम्भावना प्रकट की है कि एक राष्ट्र दूसरे देशों के विरुद्ध शुल्क से स्वयं लाभ उठा सकता है। इतने पर भी इन अर्थशास्त्रियों ने इसे अधिक व्यावहारिक महत्त्व प्रदान नहीं किया है। इसके दो कारण हैं। प्रथम यह है कि जो देश प्रशुल्क लगा रहा है वह केवल तभी लाभान्वित हो सकता है जबकि विदेशी पूर्ति लोचविहीन हो अर्थात् विदेशी उत्पादक आयात करने वाले देश को कम सामान बेचने की अपेक्षा अपने

माल की कीमत घटा दे । अधिकांश भागो मे हम यह प्राशा नहीं कर सकते कि विदेशी पूर्ति पूर्ण रूप से लोचहीन होगी ।

प्रशुल्क का प्रभाव—विदेशी उत्पादक अपने निर्यात के लिए अन्य रास्ते भी रख सकते हैं अथवा वे दूसरी वस्तु का उत्पादन भी प्रारम्भ कर सकते है अथवा वे उत्पादन की मात्रा को भी घटा सकते हैं । प्रशुल्क लगाने वाले देश का आकार भी महत्त्व रखता है, जो देश विश्व बाजार मे छोटा है, व्यापार की शर्तों को सुधारने के उसके अवसर उतने ही कम हो जाते हैं । दूसरे, व्यापार की सुधरी हुई शर्तों स प्राप्त किया जा सकने वाला लाभ उस समय समाप्त हो सकता है यदि विदेशियो के द्वारा प्रशुल्क लगा दिए जाएँ । ऐसी स्थिति मे प्रशुल्को का युद्ध (Tariff War) छिड जाएगा । इससे विश्व का सम्पूर्ण व्यापार तेजी से घट जाएगा । विशेषीकरण से प्राप्त होने वाले लाभ समाप्त हो जाएँगे और विश्व का उत्पादन कम हो जाएगा तो प्रत्येक को हानि होगी । कोई भी देश अपने व्यापार की शर्तों को आसानी से खराब करने की अनुमति नही देगा और यदि किसी ने ऐसा करने का प्रयास किया तो वह उसका पूरा विरोध करेगा । स्पष्ट है कि व्यवहार मे कोई भी एक देश लाभान्वित नही होगा ।

व्यापार शर्तों के निर्धारक घटक
(Determination of Terms of Trade)

किसी देश की व्यापारिक शर्तें हमेशा अनुकूल या प्रतिकूल नही रहती वरन् वे समय-समय पर बदलती रहती हैं राष्ट्रो की आन्तरिक स्थिति मे होने वाले परिवर्तन, व्यापार की शर्तों का समय-समय पर बदलत रहते हैं । यह हो सकता है कि एक समय व्यापार का सन्तुलन जिस देश के अनुकूल था वह अन्य समय उनक प्रतिकूल हो जाए । वास्तव मे व्यापार शर्तों को प्रभावित करने वाली अनेक बाते हैं । इनम प्रमुख निम्न प्रकार हैं—

1 माँग मे परिवर्तनो के प्रभाव 2 प्रशुल्को के प्रभाव 3 अवमूल्यन का प्रभाव 4 पूँजी की गतिशीलता का प्रभाव 5 आयातक देश के आकार का प्रभाव 6. व्यापार चक्रो का प्रभाव 7 स्थानान्तरणो का प्रभाव 8 आर्थिक विकास के प्रभाव 9 राजनैतिक स्थिति के प्रभाव ।

1 माँग में परिवर्तनो के प्रभाव

व्यापार-शर्तों मे परिवर्तन का एक कारण किसी देश के आयात या निर्यातो के लिए माँग मे परिवर्तन होता है । इस विषय के सैद्धान्तिक विश्लेषण मे विशेष माँग परिवर्तन के प्रभाव को निर्धारित किया जाता है । इसके मॉडल मे A और B दो देश होते हैं तथा X एव Y दो वस्तुएँ होती हैं । दोनो देशो की अर्थ व्यवस्था म प्रतियोगिता पूर्ण होती है और वे दोनो हर समय पूर्ण रूप से कार्यरत रहते हैं । विदेशो मे माँग की लोच एव स्वदेश मे माँग की लोच के द्वारा व्यापार शर्तों का पर्याप्त रूप से प्रभावित किया जाता है । माँग मे होने वाले परिवर्तन विभिन्न रूप धारण कर सकते हैं और उनका प्रभाव भी अलग-अलग तरह से होगा । वास्तविक

व्यवहार में इस सम्बन्ध में कोई भविष्यवाणी नहीं की जाती कि किस प्रकार का परिवर्तन कब होगा और उसका क्या प्रभाव रहेगा। अन्य बातों के समान रहने पर यदि देश द्वारा निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के लिए विदेशों में माँग कम है तो देश अनुकूल व्यापारिक शर्तें प्राप्त कर सकता है और यदि विदेशों में माँग की लोच अधिक है तो व्यापार शर्तें उस देश के विरुद्ध अर्थात् प्रतिकूल हो जाएगी।

2 प्रशुल्कों के प्रभाव

आयात पर लगाया गया प्रशुल्क अपने प्रभाव से एक देश की व्यापार शर्तों को बदल देता है। परन्तु प्रशुल्क का विशिष्ट प्रभाव किस प्रकार से पड़ेगा यह इस बात पर निर्भर करता है कि प्रशुल्क किस प्रकार से लगाया गया है और प्रस्ताव वक्रों की माँग की लोच किस प्रकार की है। प्रशुल्क नीति के प्रभाव को आंशिक साम्य विश्लेषण अथवा मार्शल के प्रस्ताव वक्रों की सहायता से अधिक सरलतापूर्वक समझा जा सकता है।
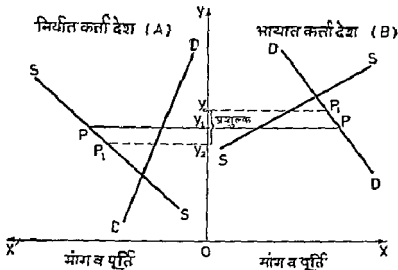
प्रशुल्क का प्रभाव

आंशिक साम्य की दशा--माना कि कोई देश A निर्यातकर्ता तथा देश B आयातकर्ता है। निर्यातकर्ता देश में घरेलू माँग और पूर्ति कम लोचदार है। आयातकर्ता देश B y_0 y_2 के बराबर प्रशुल्क लगाता है जिससे प्रत्येक बाजार में मूल्य स्तर P से P_1 हो जाता है तथा आयात की घरेलू कीमत में वृद्धि हो जाने के कारण आयात कम हो जाएगा। प्रशुल्क का कुछ भाग निर्यातकर्ता देश द्वारा और कुछ भाग आयातकर्ता देश द्वारा वहन किया जाएगा। क्योंकि विदेशी निर्यातकर्ता की पूर्ति अधिक है और घरेलू माँग कम है। इसलिए निर्यातकर्ता कीमतें P से घटाकर P_1 कर देगा ताकि वह अधिक वस्तुओं का निर्यात कर सके। चित्र में कुल प्रशुल्क y_0 y_2 के . . लगाया जाता है जिसमें से y_1y_2 भाग निर्यातकर्ता देश द्वारा और y_0y_1 भाग

आयातकर्त्ता देश द्वारा वहन किया जाता है क्योंकि $y_0y_1 < y_1y_2$ है, इसलिए प्रशुल्क का अधिकांश भाग निर्यातकर्त्ता देश द्वारा वहन किया जाता है। प्रशुल्क लगाने से देश-B में कीमतों में जो वृद्धि होती है वह उससे कम है जो कि देश A में कीमतों में कमी होती है अर्थात् देश B में जो कीमतों में वृद्धि होती है वह निर्यातकर्त्ता देश में कीमतों में होने वाली कमी की अपेक्षा कम है। ऐसी स्थिति में व्यापार की शर्तें प्रशुल्क लगाने वाले आयातकर्त्ता देश (B) के अनुकूल होंगी।

प्रस्ताव वक्रों के आधार पर स्पष्टीकरण--माना कि भारत तथा अमेरिका के इस्पात और कपड़े के प्रस्ताव वक्र क्रमशः OI तथा OA है। ये वक्र परस्पर P बिन्दु पर काटते हैं। भारत तथा अमेरिका एक दूसरे के यहाँ से क्रमशः इस्पात एवं कपड़े का आयात करते हैं अर्थात् भारत तथा अमेरिका क्रमशः कपड़ा तथा इस्पात का निर्यात करते है।

अब माना कि अमरिका द्वारा इस्पात पर निर्यातकर (प्रशुल्क) लगा दिया जाता है। इसके फलस्वरूप इसका प्रस्ताव वक्र OA से स्थानान्तरित होकर OA' हो जाता है। इसी प्रकार अमेरिका द्वारा कपड़े के आयात पर प्रशुल्क लगाने पर भी इस देश का प्रस्ताव वक्र OA से OA की स्थिति में ही स्थानान्तरित हो सकता है। चाहे प्रशुल्क कपड़े के आयात पर लगाए या इस्पात के निर्यात पर प्रशुल्क का मुख्य उद्देश्य यह है कि अब अमेरिका इस्पात के बदले में कपड़े की ज्यादा मात्रा चाहता है। माना कि अमेरिका पहले पहले OC मात्रा कपड़े के बदले CV इकाइयाँ इस्पात की विनिमय करता था परन्तु प्रशुल्क के बाद अब S'P' इकाइयों का ही विनिमय करता है। तथा शेष P'V इकाइयाँ प्रशुल्क के रूप में प्राप्त कर लेता है।
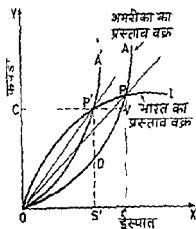
प्रस्ताव वक्र एवं प्रशुल्क प्रभाव

अर्थात् जहाँ पहले अमेरिका OS' मात्रा इस्पात के बदले DS' इकाइयाँ कपड़े का विनिमय करने को तैयार था अब निर्यात कर लगाने के बाद OS' मात्रा

इस्पात के बदले कपड़े की P'S' इकाइयाँ विनिमय करना चाहता है। इस प्रकार प्रशुल्क लगाने के कारण अमेरिका की प्रस्ताव वक्र के OA से OA' हो जाने से दोनों वस्तुओं का विनिमय अनुपात $\frac{OP}{OS}$ से बदलकर $\frac{OP'}{OS'}$ हो जाता है अर्थात् व्यापार की शर्तें अब अमेरिका के अनुकूल हो गई हैं।

यदि अमेरिका द्वारा कपड़े के आयात पर प्रशुल्क लगाने की प्रतिक्रिया स्वरूप भारत भी इस्पात के आयात पर प्रशुल्क लगा दे तो अमेरिका को प्रशुल्क नीति के कारण लाभ प्राप्त नहीं होगा तथा भारत की प्रतिशोधात्मक (Retaliatory) नीति के कारण अमेरिका की व्यापार-शर्तें उसके लिए प्रतिकूल रहेंगी।

यदि भारत व अमेरिका दोनों ही प्रशुल्क की आड़ में व्यापार करना प्रारम्भ कर दें तो इससे दोनों ही देशों को व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभ कम हो जाएँगे। निम्नलिखित चित्र में प्रतिशोध की नीति के प्रभाव व्यक्त किए गए हैं—
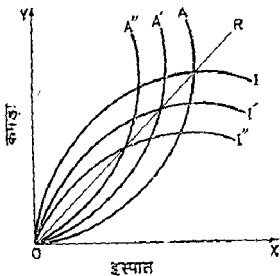
प्रस्ताव वक्र एवं प्रतिशोधात्मक प्रशुल्क नीतियाँ

उपरोक्त चित्र से स्पष्ट है कि भारत तथा अमेरिका द्वारा प्रतिशोधात्मक प्रशुल्क नीतियाँ अपनाने के कारण व्यापार की शर्तें अपरिवर्तित रहेंगी। इसीलिए दोनों वस्तुओं का विनिमय अनुपात रेखा OR स्थिर है। इस नीति का प्रभाव यह पड़ता है कि इसके फलस्वरूप व्यापार का परिमाण काफी कम हो जाता है। व्यापार की मात्रा में हुई इस कमी के कारण विदेशी व्यापार से दोनों देशों को होने वाले लाभ की मात्रा भी कम हो जाती है। इसी कारण से एडम स्मिथ ने प्रशुल्क नीति का विरोध किया था।

3 अवमूल्यन का प्रभाव

जब अवमूल्यन के राष्ट्रीय आय पर पड़ने वाले प्रभावों पर विचार किया जाता है तो व्यापार-शर्तों एव आर्थिक मन्दी के बीच स्थित सम्बन्धो का ज्ञान होता है। अर्थशास्त्रियो की रुचि का प्रश्न मुख्य रूप से यह है कि क्या अवमूल्यन के कारण निर्यात मूल्यों की अपेक्षा आयात मूल्य अधिक बढ जाता है और इस प्रकार क्या उस देश की वास्तविक आमदनी घट जाती है ? इस सम्बन्ध में प्रकाशित साहित्य द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि व्यापारिक शर्तों मे विरोधी परिवर्तन वास्तविक आमदनी को आवश्यक रूप से नही घटाता है। आर्थिक मन्दी और व्यापार शर्तों के मध्य सम्बन्ध रहता है।

अवमूल्यन के कारण देश की मुद्रा का मूल्य विदेशी मुद्रा के रूप मे कम हो जाता है। इसके फलस्वरूप देश की वस्तुओ की विदेशो मे माँग अर्थात् देश की निर्यात माँग म वृद्धि होगी। इसके विपरीत अवमूल्यन के कारण विदेशी वस्तुओ का देश की मुद्रा के रूप मे अधिक भुगतान करना पडता है। इस कारण विदेशी वस्तुओ की माग अर्थात् देश मे विदेशी वस्तुओ की पूर्ति मे कमी हो जाएगी। कहने का तात्पर्य यह है कि मुद्रा अवमूल्यन के परिणाम स्वरूप देश के निर्यातो मे वृद्धि और आयातो मे कमी हो जाती है। निम्नांकित चित्रों से अवमूल्यन का विदेशी व्यापार पर पडने वाले प्रभावों को व्यक्त किया गया है—
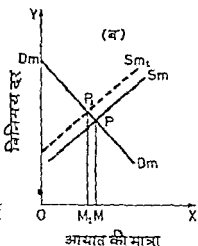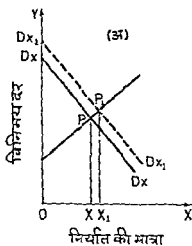
अवमूल्यन का आयात व निर्यात की माँग पर प्रभाव

उक्त रेखाचित्र (अ) अवमूल्यन का निर्यात माँग पर पडने वाले प्रभाव का प्रकट करता है तथा (ब) मे अवमूल्यन के कारण आयातित वस्तुओ की पूर्ति मे हुई कमी को प्रकट किया गया है। उपरोक्त चित्रो मे स्पष्ट है कि अवमूल्यन के परिणामस्वरूप निर्यात OX से बढकर OX_1 हो जाता है जबकि आयात OM से घटकर

OM_1 हो जाता है। निर्यातों में वृद्धि होने और आयातों में कमी होने से व्यापार की शर्तें देश के अनुकूल हो जाती हैं। इसके साथ ही अवमूल्यन आयात में कमी करके और निर्यात में वृद्धि करके भुगतान सन्तुलन पर भी अनुकूल प्रभाव डालता है। यह बात निम्न रेखाचित्र के द्वारा स्पष्ट की गई है—
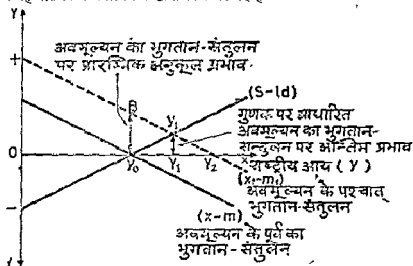
अवमूल्यन का भुगतान सन्तुलन पर प्रभाव

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वर्तमान सन्दर्भ में भुगतान सन्तुलन में केवल वस्तुओं के आयात व निर्यात को ही सम्मिलित किया गया है जिससे अवमूल्यन के परिणामस्वरूप जब निर्यात में वृद्धि एव आयात में कमी हो जाती है तो देश का भुगतान सन्तुलन पहले की अपेक्षा अनुकूल हो जाता है। उपरोक्त रेखाचित्र में y_0 प्रारम्भिक आय के स्तर को प्रकट करता है जहाँ आयात और निर्यात बराबर हैं। अवमूल्यन के बाद भुगतान सन्तुलन अनुकूल होने के कारण भुगतान सन्तुलन वक्र (X–M) दायीं ओर विवर्तित हो जाता है और y_0 B राशि का विशुद्ध भुगतान देश को अन्य देशों से प्राप्त होगा परन्तु कालान्तर में निर्यात के आयात से अतिरेक में कमी होती जाएगी और अन्ततः y_2 आय पर आयात और निर्यात पुनः बराबर हो जाएँगे। वस्तुतः अवमूल्यन के फलस्वरूप भुगतान सन्तुलन एवं देश की राष्ट्रीय आय पर जितना अनुकूल प्रभाव पड़ेगा वह इस बात पर निर्भर करेगा कि (S-Id) वक्र का ढलाव अर्थात् गुणक का मूल्य कितना है।

जब एक देश अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करता है तो इसके निर्यात की विदेशी कीमतें गिर जाती हैं। इसके विपरीत आयात की घरेलू कीमतें साधारणतः बढ़ जाती हैं। इसलिए अनेक लोग यह निष्कर्ष निकालते हैं कि अवमूल्यन से विदेशी व्यापार अनुकूल हो जाता है। कुछ लेखकों का कहना है कि यह निष्कर्ष व्यापार की शर्तों की गलत परिभाषा पर आधारित है क्योंकि इसमें निर्यात की विदेशी कीमत

और आयात की घरेलू कीमत पर विचार किया जाता है। सही प्रक्रिया तो यह होगी कि निर्यात और आयात मूल्यों की एक ही मुद्रा में तुलना की जाए फिर वह चाहे घरेलू हो चाहे विदेशी। अवमूल्यन के फलस्वरूप प्रायः आयात और निर्यात दोनों के मूल्य घरेलू मुद्रा में बढ़ जाते हैं और विदेशी मुद्रा में घट जाते हैं। आयात मूल्यों की अपेक्षा निर्यात मूल्य घटते हैं या इसका निश्चय करने के लिए अधिक जानकारी की आवश्यकता है।

आर्थिक मन्दी के परिणामस्वरूप आयात और निर्यात की कीमतों पर जो प्रभाव पड़ता है वह पूर्ति की लोच द्वारा निर्धारित होता है। यदि आयात और निर्यात के लिए पूर्ति की लोच असीमित हो तो अवमूल्यन द्वारा निर्यात के घरेलू मूल्य में कोई अन्तर नहीं आएगा किन्तु इससे आयात का घरेलू मूल्य आनुपातिक रूप से बढ़ जाएगा। 5% अवमूल्यन करने से व्यापार की शर्तें 5% घट जाएंगी। असल में अवमूल्यन का प्रभाव निर्यात और आयात पर तथा निर्यात और आयात के लिए माँग और पूर्ति की लोच पर निर्भर रहता है।

इस सम्बन्ध में दूसरा प्रश्न यह उठता है कि क्या वास्तविक स्थितियाँ अवमूल्यन करने वाले देश को बदतर बना देंगी? श्रीमती रोबिन्स के निष्कर्ष के अनुसार 'क्योंकि देश आयात की अपेक्षा निर्यात में अधिक विशेषीकरण प्राप्त करते हैं इसलिए व्यापार शर्तों का बदतर होना सम्भव है।" इसलिए एक देश जिन वस्तुओं का निर्यात करता है उनकी विश्व पूर्ति में वह अधिक प्रभावशाली रहेगा और जिनका आयात करता है उनकी माँग में कम प्रभावशाली रहेगा। इसके अतिरिक्त आयात के लिए माँग की लोच कम हो जाएगी क्योंकि देश सामान्य रूप से उन अनेक वस्तुओं का आयात करते हैं जिनको वे घरेलू रूप से पैदा नहीं कर सकते। निर्यात के लिए पूर्ति की लोच उस समय अधिक होगी जब निर्यात करने वाले देश में बेरोजगारी हो। इन सभी तत्वों के मिले-जुले प्रभाव के कारण व्यापार शर्तों के बदतर होने की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं। अवमूल्यन और व्यापार शर्तों के बीच स्थित सम्भावित सम्बन्धों के बारे में बहुत कुछ लिखा गया है, किन्तु किसी मत की अनुभववादी जाँच नहीं हो पाई है और इसलिए विचारकों के बीच पर्याप्त मतभेद हैं।

4 पूँजी की गतिशीलता का प्रभाव

हम यह जानते हैं कि देश में पूँजी की प्राप्ति होने पर भुगतान सन्तुलन पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है जबकि पूँजी बाहर जाने पर भुगतान सन्तुलन पर प्रतिकूल प्रभाव होगा। इस प्रकार के पूँजी स्थानान्तरण देश के निवासियों या विदेशी नागरिकों के स्वत्व अधिकारों को प्रभावित करते हैं। पूँजी की प्राप्ति का अर्थ यह होगा कि देश के लोगों को विदेशी लोग भुगतान कर रहे हैं जबकि पूँजी के भुगतान का आशय यह होगा कि देश के लोग विदेशियों को भुगतान कर रहे हैं। इस प्रकार पूँजी की पर्याप्त प्राप्ति देश की व्यापार शर्तों को अनुकूल बनाती हैं जबकि पूँजी की प्राप्ति में कमी अथवा विदेशियों के देश के नागरिकों पर बढ़ते हुए दावे से व्यापार की शर्तें देश के लिए प्रतिकूल हो जाती हैं।

5 आयातक देश के आकार का प्रभाव

व्यापार की शर्तें आयात करने वाले देश की माँग के आकार पर भी निर्भर करती हैं। *एक विशाल देश जैसे भारत या चीन की माँग प्रायः विशाल होती है।* एक बड़ा ग्राहक होने के कारण वह अपने लिए लाभप्रद रूप मे सौदेबाजी कर सकता है विशेषतः जबकि निर्यातक देश छोटा हो और अपने अतिरिक्त उत्पादन के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे दूसरा ग्राहक ढूँढने में असमर्थ हो।

6 व्यापार चक्रों का प्रभाव

देश या विदेश मे व्याप्त आर्थिक मन्दी या स्फीति का प्रभाव व्यापार-शर्तों पर अवश्य पड़ता है। जिन देशों में कोई देश अपनी वस्तुओं का निर्यात करता है यदि वह देश मुद्रास्फीति से पीड़ित है तो वहाँ आयात की जाने वाली वस्तुओं की *माँग बढ़ जाएगी और निर्यात कर्त्ता देश के पक्ष मे व्यापार-शर्तें हो जाएगी।* इसके विपरीत यदि दूसरे देश मे आर्थिक मन्दी है तो वहाँ आयात की जाने वाली वस्तुओं की माँग कम होगी और निर्यात करने वाले राष्ट्र की व्यापार-शर्तें प्रतिकूल होंगी।

7. स्थानान्तरणों के प्रभाव

जब एक देश से दूसरे देश को भुगतान का हस्तान्तरण हो जाता है तो उसके फलस्वरूप व्यापार शर्तों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। इस प्रभाव के सम्बन्ध मे अर्थशास्त्री बहुत समय पूर्व से ही विचार करते रहे हैं। यद्यपि इस विचार-विमर्श का लम्बा इतिहास है किन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ऐसा लगने लगा है कि *अर्थशास्त्री उपयुक्त विश्लेषण पर किसी प्रकार की सहमति तक नहीं पहुँच सकेंगे।* सरल रूप मे समस्या यह है कि जब एक देश दूसरे देश को भुगतान करता है या भुगतान का स्थानान्तरण (Transfer Payment) करता है तो व्यापार-शर्तों के शुद्ध लेन-देन (The Net Barter Terms of Trade) का क्या होगा। भुगतान की निश्चित प्रकृति महत्त्व नहीं रखती। विश्लेषणकर्त्ता लोग सामान्य रूप से इसे एकपक्षीय अथवा अवांछित भुगतान मान लेते हैं, उदाहरण के लिए—युद्ध की क्षतिपूर्तियाँ। *स्थानान्तरण चाहे कर्ज का हो चाहे कर्ज के पुनः भुगतान का हो, चाहे ब्याज के भुगतान का अथवा एक अनुदान का हो किन्तु व्यापार-शर्तों के सम्बन्ध* मे समान समस्याएँ उठती हैं।

इस सम्बन्ध मे दो दृष्टिकोण हैं—प्रथम दृष्टिकोण के अनुसार स्थानान्तरण को एक वास्तविक समस्या माना जाता है जबकि दूसरे के अनुसार उसे धन-सम्बन्धी समस्या कहा जाता है। वास्तविक शर्तों मे एक दृष्टिकोण ऐसे मॉडल की माँग करता है जो इस संस्थापक मान्यता पर आधारित हो कि अर्थशास्त्र सभी साधनों का हर समय पूरा प्रयोग करता है। इस प्रकार के सभी लेन-देन अदला-बदली के प्रबन्ध पर आधारित होते हैं। *धन द्वारा अर्थव्यवस्था के यथार्थ व्यवहार को प्रभावित नहीं* किया जाता। केवल भौतिक मात्राएँ ही उपयोगी होती हैं। इसके विपरीत कार्य-विहीन साधन स्रोतों की कंनिश्चियन मान्यता पर आधारित मॉडल में स्थानान्तरण के विश्लेषण पर धन सम्बन्धी पहलू का प्रभाव रहता है। पूर्ति की वक्र रेखाएँ पूर्ण

रूप से लोचशील होती है और कुल मांग के आधार पर उत्पादन और आय का स्तर निर्धारित किया जाता है। स्थानान्तरण के प्रभावों के सम्बन्ध में कैनेशियन एवं सस्थापक अर्थशास्त्रियों के मॉडल विशेष रूप से महत्त्व रखते हैं। सस्थापक मॉडल (Classical Model) में दोनों देश स्वत ही सारे साधनों का प्रयोग करते हैं। यह प्रयोग निरन्तर चलता रहता है। इसके विपरीत कैनेशियन मॉडल (Keynesian Model) की मान्यता यह है कि देशों के पास अनेक साधन स्रोत ऐसे होते हैं जिनको काम में नहीं लिया जाता है। इस प्रकार निश्चित घरेलू कीमत-स्तरों पर पूर्ति की वक्र रेखाएँ पूर्ण रूप से लोचशील बन जाती हैं।

सस्थापक एवं कैनेशियन व्यवस्थाओं में स्थानान्तरण समस्या के बीच दो प्रमुख अन्तर पाए जाते हैं। प्रथम यह है कि जिस प्रकार सस्थापक मान्यताओं के आधीन स्थानान्तरण की वित्तीय व्यवस्था दोनों देशों में आवश्यक रूप से कुल व्यय को परिवर्तित करने में सफल होती है उसी प्रकार कैनेशियन मान्यता के आधीन नहीं होती। भुगतान करने वाला देश स्थानान्तरण को अपनी बचत करके पूरी तरह या आंशिक रूप से वित्तीय प्रबन्ध कर सकता है जबकि प्राप्त करने वाला देश अपनी बचत को बढ़ाकर धन को पूर्ण रूप से बढ़ाकर खीच सकता है। दूसरे, स्थानान्तरण के फलस्वरूप व्यय में होने वाला कोई भी परिवर्तन आय और भुगतानों के सन्तुलन पर कई गुने प्रभाव रखेगा।

8 आर्थिक विकास के प्रभाव

सम्बन्धित देशों के आर्थिक विकास के प्रभाव के कारण भी व्यापार शर्तों पर प्रभाव पड़ता है। अर्द्ध-विकसित देशों की समस्याएँ तथा डॉलर की कमी से सम्बन्धित विचार-विमर्श ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर आर्थिक विकास और तकनीकी परिवर्तन द्वारा डाले गए प्रभाव में विशेष रुचि पैदा की है। आर्थिक विकास का अर्थ सरल रूप में केवल उत्पादन की वृद्धि है। यह वृद्धि तकनीकी प्रगति, पूंजी के समायोजन या श्रम की पूर्ति के कारण हो सकती है। आर्थिक विकास के प्रभावों का अध्ययन करते समय जिस मॉडल को अपनाया जाता है उसमें दो देश, दो साधन स्रोत और दो वस्तुएँ होती हैं। ये दोनों देश अपने सभी मजदूरों को लगातार कार्य पर रखते हैं और इनके साधन स्रोत एक देश से दूसरे देश में नहीं जा सकते। इस मॉडल में धन का कोई स्थान नहीं है और इसलिए विश्लेषण वास्तविक शर्तों में ही होना है।

9. राजनैतिक स्थिति के प्रभाव

व्यापार की शर्तें सम्बन्धित देशों की राजनैतिक स्थितियों से भी पर्याप्त प्रभावित होती हैं। राजनैतिक कारणों के प्रभाव-स्वरूप वस्तुओं की उपलब्धि सरल या कठिन बन जाती है। यदि राजनैतिक परिस्थितियाँ अनुकूल हैं तो व्यापारिक शर्तें भी सम्बन्धित देश के अनुकूल ही रहती हैं और यदि राजनैतिक परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं हैं तो वे व्यापार की शर्तों को प्रतिकूल बना सकती हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि एक देश की व्यापार-शर्तें अनेक ऐसे तत्त्वों से प्रभावित होती हैं जो उसके आधीन भी हैं और नहीं भी। स्वदेश में यदि पूर्ति की लोच अधिक है तो एक देश विदेशों की माँगों के अनुसार शीघ्र ही समायोजन कर लेगा। इसी प्रकार यदि आयात करने वाले देश की माँग का आकार बड़ा है तो उसका भी व्यापार शर्तों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ेगा। एक बड़े आकार वाला देश, जहाँ माँग अत्यधिक है, पूर्ति करने वाले देश के साथ सौदा करते समय सुदृढ़ स्थिति में रहता है क्योंकि वह उसका एक बहुत बड़ा ग्राहक है। दूसरी ओर जब पूर्ति करने वाला देश छोटे आकार का होता है तो उसे सौदेबाजी में सुविधा रहती है।

व्यापार शर्तों के मापने में दोष
(Defects in Measuring the Terms of Trade)

प्रो० टॉसिग की भाँति कुछ अन्य अर्थशास्त्री व्यापार शर्तों की सांख्यिकीय रूप में गणना करते हैं। अनेक अर्थशास्त्रियों ने इस प्रकार की गणना को गलत बताया और विभिन्न आलोचनाएँ प्रस्तुत कीं—

(1) सूचकांकों की समस्या—इस प्रकार की गणना में आयात और निर्यात के आधिक्यों के कारणों की उपेक्षा कर दी जाती है। जब आयात और निर्यात के वास्तविक मूल्यों की एक सूची बनाई जाती है तो वह निश्चय ही अत्यन्त रोचक लगती है किन्तु इस सूची के अतिरिक्त उन कारणों को स्पष्ट करना भी जरूरी होता है जिनके फलस्वरूप आयात अथवा निर्यात में वृद्धि होती है। कारणों के अनुसार ही आयात और निर्यात का रूप भी बदल जाता है, अतः उनको एक ही श्रेणी में रखने की अपेक्षा अलग-अलग श्रेणियों में रखा जाए तो उपयुक्त होगा।

(2) लाभ-हानि का निर्धारण—वास्तविक आयात-निर्यात के मूल्यों का सूचीपत्र अन्तर्राष्ट्रीय लाभ-हानि को स्पष्ट करने में अनुपयुक्त रहता है। यह स्पष्ट है कि हर्जाने के भुगतानों को हानि माना जाए किन्तु यह हानि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण नहीं हुई। एक देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अतिरिक्त भी आर्थिक हानि तथा लाभ से प्रभावित हो सकता है। व्यापार शर्तों की मान्यता का प्रयोग पहले यह प्रदर्शित करने के लिए किया गया था कि कुल लाभ को दो देशों के बीच किस प्रकार वितरित किया जाता है। अधिक लाभ किस देश को दिया जाए और कम लाभ किस देश को दिया जाए इस प्रश्न का उत्तर व्यापार की शर्तों के आधार पर दिया गया। व्यापार की शर्तें लाभ और हानि को तय कर सकती हैं किन्तु उनके आधार पर लाभ-हानि का पता लगाना मौलिक रूप से असम्भव है।

(3) एकपक्षीय ब्याज भुगतान—इस प्रकार की गणना करते समय एकपक्षीय ब्याज भुगतानों को समाविष्ट कर लिया जाता है जो अपने आप में गलत होता है। इसके अतिरिक्त ऋण स्वीकृति के परिणामस्वरूप जो निर्यात बढ़ता वह प्रतिकूलता का सूचक नहीं है।

(4) अनेक वस्तुएँ तथा सेवाएँ—व्यापार शर्तों को मापना उस स्थिति में अत्यन्त सरल होता है जब एक देश केवल एक जैसी चीजों का आयात और निर्यात

करता है। वास्तविक व्यवहार में प्रत्येक देश अनेक वस्तुओं तथा सेवाओं का आयात और निर्यात करता है। ऐसी स्थिति में यदि हम व्यापार शर्तों में होने वाले परिवर्तन को मापना चाहें तो सूचकांकों का सहारा लेना होगा।

(5) गुणों में परिवर्तन—जिन चीजों का व्यापार किया जा रहा है यदि उनके गुणों में प्राय परिवर्तन होता रहता है तो सापेक्षिक कीमतों में होने वाले परिवर्तन अधिक लाभदायक नहीं रहते। अतीतकाल में निर्मित माल के गुणों में विशेष सुधार हो गया है। इतना सुधार प्राथमिक उत्पादनों के क्षेत्र में नहीं हुआ है

(6) रचना में परिवर्तन—अधिकांश माल विभिन्न प्रकारों तथा प्रकारों में उत्पन्न होता है। यदि आयात या निर्यात की जाने वाली वस्तु की कीमतों में परिवर्तन आता है तो उनकी रचना में भी तदनुसार परिवर्तन आ जाता है।

(7) तोलने की समस्या—आयात और निर्यातों की कीमतों की रचना परिवर्तित होने के कारण विभिन्न वस्तुओं के तोलन की समस्या उठ खड़ी होती है। विभिन्न वस्तुओं की कीमतों का औसत लगाने की प्रक्रिया में सभी पक्षों का समान महत्त्व नहीं दिया जा सकता। विभिन्न पक्षों का महत्त्व समय समय बदलता रहता है और ऐसी स्थिति में एक विशेष समय में जो तौल प्रतिनिधित्वपूर्ण था वह दूसरे समय में भी हो यह जरूरी नहीं है।

(8) यातायात तथा बीमे की कीमत—अधिकांश देश ऐसे आयात करते हैं जिनमें यातायात और बीमा के खर्च भी सम्मिलित रहते हैं। वे ऐसे निर्यातों को पसन्द करते हैं जिनमें यह खर्चा सम्मिलित नहीं रहता। जहाजों तथा इनसे सम्बन्धित कार्य मुख्य रूप से विकसित देशों के हाथ में है और इसलिए अर्द्ध विकसित देशों के विदेशी विनिमय के भण्डार पर यह एक अतिरिक्त व्यय होता है। इसके विपरीत यातायात और बीमा खर्च को सम्मिलित करने पर विकसित देशों की आयात कीमतें इस खर्चे को भी सम्मिलित कर लेती हैं जो प्रसंग में अर्द्ध विकसित देशों का प्राप्त नहीं किया जाता। यदि प्रगतिशील देशों के आयातों का कीमत बढ़ता है तो यह यातायात तथा बीमा आदि का खर्च बढ़ने के कारण भी हो सकती है। इस प्रकार बड़ा भारी धन निर्यात कर्ता अर्द्ध विकसित देशों को न जाकर घर में ही रहेगा। यदि व्यापार शर्तों में सेवाओं का भी सम्मिलित कर लिया जाए तो वे अधिक वास्तविक बन सकेंगी। व्यापार शर्तों द्वारा पूर्ण कीमतों को नहीं वरन् कीमतों के अनुपात का सर्वनिर्देश किया जाता है।

(9) नमूनों की समस्या—नमूने के आकार में होने वाले परिवर्तन के साथ साथ व्यापार शर्तें भी बदल जाती हैं। प्राय यह पाया गया है कि व्यापार शर्त इन परिवर्तनों से पर्याप्त प्रभावित होती है।

इस प्रकार व्यापार शर्तों को मापने में अनेक सांख्यिकीय समस्याएं उठती हैं। इन समस्याओं का उचित कोई सरल हल नहीं खोजा जा सकता फिर भी इनका

अर्थ यह नहीं है कि व्यापार शर्तों को मापने के लिए किए गए प्रयास पूरी तरह महत्वहीन हैं। असल में ये विभिन्न सीमाएँ एक प्रतिबन्ध का कार्य करती हैं, ताकि व्यापार शर्तों की सांख्यिकीय का स्वेच्छा से प्रयोग न किया जा सके।

व्यापार-शर्तों का व्यावहारिक महत्त्व
(Practical Importance of Terms of Trade)

(1) **लाभ का अनुमान**—व्यापार शर्तों की मान्यता को विभिन्न दृष्टियों से उपयोगी माना गया। इसका व्यावहारिक जीवन में प्रभाव होता है। विचारकों के मतानुसार इस मान्यता का पहला महत्त्व तो यह है कि इसके आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में होने वाले लाभ का अनुमान लगाया जा सकेगा। एक देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विनिमय से कितना लाभ प्राप्त करेगा ? यह बात व्यापार-शर्तों की सहायता से ही जानी जा सकती है। जब व्यापार शर्तें व्यावहारिक होती हैं तो देश को अधिक लाभ प्राप्त होता है, जब व्यापार शर्तें प्रतिकूल होती हैं तो लाभ कम प्राप्त होता है।

(2) **उत्पादन व रोजगार की स्थिति**—व्यापार शर्तों के आधार पर यह तय किया जाता है कि उत्पादन के विभिन्न साधनों का कितना प्रतिदान प्राप्त हो सकेगा तथा रोजगार की कितनी मात्रा कार्यरत रह सकेगी। व्यापार शर्तों के अनुकूल तथा प्रतिकूल रहने पर ही उत्पादन के साधनों का पुरस्कार एवं रोजगार निर्भर करता है। जब व्यापार की शर्तें अनुकूल होती हैं तो निर्यात के उद्योग बहुत कुछ सम्पन्न हो जाते हैं और रोजगार तथा मजदूरी की मात्रा भी बढ़ जाती है।

(3) **आर्थिक विकास में सहयोग**—व्यापार शर्तों की मान्यता आर्थिक विकास में सहायता प्रदान करती है। जो देश आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं, यदि उनके अनुकूल व्यापार शर्तें बन जाती हैं तो उनकी औद्योगिक प्रगति एवं आर्थिक विकास तीव्र गति से आगे बढ़ेगा। ये देश अनुकूल व्यापार शर्तें होने पर ही कच्चे माल का निर्यात करके अधिक पूँजीगत वस्तु एवं मशीनों का आयात कर सकते हैं। जब व्यापार-शर्तें एक देश के प्रतिकूल होती हैं तो उसे निर्यात का कम से कम पुरस्कार मिलता है और इसलिए सम्बन्धित देश का आर्थिक विकास रुक जाता है।

(4) **विदेशी विनिमय की आवश्यकता**—व्यापार शर्तों के आधार पर विदेशी विनिमय की आवश्यकता का अनुमान लगाया जा सकता है। व्यापार शर्तों द्वारा हमारे सम्मुख निर्यात एवं आयात के मूल्य का तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत किया जाता है और इसके आधार पर हम विनिमय के सापेक्षिक परिणामों का अनुमान लगा सकते हैं। इस अनुमान के आधार पर एक देश अपनी विदेशी मुद्रा की स्थिति तथा उसमें होने वाले परिवर्तनों को जान सकता है।

व्यापार शर्तें और अर्द्ध-विकसित देश
(Terms of Trade and Under-developed Countries)

प्राथमिक उत्पादन—अर्द्ध-विकसित देश निर्मित वस्तुओं के उत्पादन में विशेषज्ञ नहीं होते वरन् वे प्राथमिक वस्तुओं के उत्पादन के विशेषज्ञ होते हैं। इन देशों की

व्यापार शर्तें प्राय प्रतिकूल होती जा रही हैं। इसका कारण यह नहीं कि इनका उत्पादन खपत की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से बढ रहा है, सच तो यह है कि औद्योगिक देशो में उत्पादन की क्षमता प्राथमिक वस्तुओं के उत्पादनकर्ता देशों की अपेक्षा अधिक बढ गई है। प्राथमिक वस्तुओं का उत्पादन करने वाले देशों में व्यापार शर्तों के विपरीत होने का कारण मि० सिंगर (Mr W H Singer) ने वर्णित किया है। उनके मतानुसार तकनीकी प्रगति के फल या तो अधिक आय के रूप में उत्पादकों को प्रदान किए जाते हैं अथवा कम कीमतों के रूप में उपभोक्ताओं को दिए जाते हैं। जहाँ तक निर्माता देशो का सम्बन्ध है, वे तकनीकी प्रगति के फलों को उच्च आमदनी के रूप में उत्पादकों को सौंपते हैं जबकि प्राथमिक वस्तुओं का उत्पादन करने वाले देशो में यह फल कम कीमतों के रूप में उपभोक्ताओं को प्रदान किया जाता है। विचारकों का कहना है कि औद्योगिक देशो में मजदूरी के व्यापार संघ अधिक शक्तिशाली होते हैं। कृषि-प्रधान देशो में जहाँ कि मजदूर बिखरा हुआ रहता है, वे ऐसे नहीं होते। प्राथमिक वस्तुओं का उत्पादन करने वाले देशो में बेरोजगारी और बढती हुई जनसख्या के दबाव मजदूर की सौदेबाजी करने की शक्ति को घटा देते हैं।

लोचहीनता—औद्योगिक देशो की अर्थ व्यवस्थाएँ प्राथमिक वस्तुओं का उत्पादन करने वाले देशो की अपेक्षा अधिक लोचशील हैं। जब उनके उत्पादनों की विश्व कीमतें गिरती हैं तो वे अन्य वस्तुओं का उत्पादन करने लगते हैं। यह बात प्राथमिक वस्तुओं का उत्पादन करने वाले देशों में सम्भव नहीं है क्योंकि उनकी अर्थ-व्यवस्थाएँ अत्यन्त कठिन होती हैं और उनमें समायोजन करने की क्षमता नहीं होती। यही कारण है कि कुछ प्राथमिक उत्पादन करने वाले प्रगतिशील देश अपनी व्यापार शर्तों में विपरीत स्थिति का सामना नहीं कर पाते।

कृत्रिम कच्चा माल—सम्पन्न देशो में खाद्यान्न और कच्चे माल के घरेलू उत्पादन में वृद्धि होने के कारण उन्हें ये चीजें अब अर्द्ध-विकसित देशो से आयात नहीं करनी होती। तकनीकी विकास के कारण कच्चे माल की आवश्यकता अब पर्याप्त घट गई है। कृत्रिम रेशे का आविष्कार हो जाने के कारण प्राकृतिक कच्चे माल का उत्पादन पर्याप्त प्रभावित हुआ है और इसलिए प्राथमिक वस्तुओं का उत्पादन करने वाले देशो के निर्यात घट गए है। प्राथमिक उत्पादन की निर्यात-कीमतों में अस्थायित्व रहता है और इसलिए सम्पन्न देश अधिक कृत्रिम कच्चे माल की ओर उन्मुख होते जा रहे हैं।

विशेषीकरण—अर्द्ध विकसित देशो ने मुख्य रूप से कृषि और खनिज पदार्थों के निर्यात में विशेषीकरण प्राप्त किया है किन्तु इन वस्तुओं के लिए माँग की लोच अत्यन्त कम है। इसके विपरीत सम्पन्न देशो ने मुख्य रूप से औद्योगिक माल के निर्यात में विशेषीकरण प्राप्त किया है। इसके लिए माँग की लोच अपेक्षाकृत ऊँची है। ज्योंही एक देश की राष्ट्रीय आय बढती है त्योंही निर्मित वस्तुओं पर होने वाले खर्च का अनुपात बढ जाता है और भोजन पर होने वाले खर्च का अनुपात

घट जाता है। इस प्रकार विश्व की ग्राय में वृद्धि के साथ-साथ सम्पन्न देशों के निर्यातों की माँग बढ जाती है ग्रौर प्राथमिक वस्तुग्रो का उत्पादन करने वाले देशो की माँग इतनी नही रहती।

सम्पन्न देशो मे घरेलू कृषि उद्योग की रक्षा के लिए कृषि-सम्बन्धी माल के ग्रायात पर प्रतिबन्ध लगाए जाते हैं। इसके फलस्वरूप कृषक देशो के निर्यात की माँग घटती है। सयुक्तराज्य ग्रमेरिका ग्रादि कुछ सम्पन्न देशों मे स्वय के कृषि उद्योग मे बेरोजगारी को दूर करने के लिए न केवल कृषि सम्बन्धी ग्रायातो पर प्रतिबन्ध लगाए हैं वरन् कृषि सम्बन्धी माल के निर्यात की सहायता करके ग्रनुचित रूप से कम विकसित देशो के साथ प्रतियोगिता भी की है। इसके परिणामस्वरूप कम विकसित देशो के निर्यात विपरीत रूप से प्रभावित हुए हैं।

ग्रर्द्ध-विकसित देशो की जनसख्या सम्पन्न देशो की ग्रपेक्षा ग्रधिक तीव्र गति से बढ रही है। इसके फलस्वरूप इन देशों मे ग्रायातो की ग्रावश्यकताएँ बढ गई हैं। दूसरी ग्रोर सम्पन्न देशों में जनसख्या कम होने के कारण वहाँ ग्रर्द्ध-विकसित देशो से होने वाले निर्यात की माँग का प्रसार रुक गया है। ग्रतीतकाल मे ग्रधिकांश विदेशी गैर-सरकारी निवेश निर्यात-उद्योगों मे किए जाते थे; यह प्रवृत्ति ग्रभी भी कायम है। प्राथमिक वस्तुग्रो का उत्पादन करने वाले देशों मे निर्यात उद्योगों का प्रसार होने के कारण उनके निर्यातों की कीमतें घट गई हैं। ग्रर्द्ध-विकसित देश ग्रपने ग्रायातों ग्रौर निर्यातों के लिए सम्पन्न देशो पर निर्भर हैं। उनमे सौदेबाजी की क्षमता भी कम है। इन समस्त कारणों से ग्रर्द्ध-विकसित देशों की व्यापार-शर्तें उनके विपरीत गतिशील हैं।

ग्रन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले लाभ
(The Gains from International Trade)

ग्रन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का मूल ग्राधार मूल्यो के बीच भिन्नताएँ होती हैं। ग्रन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का ग्रस्तित्व यह प्रमाणित करता है कि एक वस्तु के मूल्यो के बीच ग्रन्तर्राष्ट्रीय-स्तर पर पर्याप्त ग्रन्तर होंगे। विभिन्न देशों मे वस्तुग्रो की लागत का ग्रन्तर विभिन्न कारणो का परिणाम होता है।

कुछ विचारको ने श्रम को विशेष महत्त्व दिया है। उनका कहना है कि मजदूरी ही सबसे ग्रधिक महत्त्वपूर्ण लागत होती है ग्रौर इसलिए यदि किसी देश में एक वस्तु के उत्पादन मे कम मजदूरी लगती है तो निश्चय ही वह कम कीमत मे तैयार हो सकेगी। ग्रन्य विचारको के ग्रनुसार यह स्पष्टीकरण पर्याप्त नही है। उदाहरण के लिए संयुक्तराज्य ग्रमेरिका में मजदूरी की दरें बहुत ऊँची हैं, किन्तु इतने पर भी उसके निर्यात की मात्रा ग्रायात की तुलना मे ग्रधिक है। ऐसी स्थिति मे मजदूरी की दरों का ग्रन्तर व्यापार के रूपों का स्पष्टीकरण नही कर सकता ग्रौर इसलिए ग्रन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के किसी ग्रन्य ग्राधार की तलाश करनी पड़ेगी।

वस्तुग्रो की कीमत ग्रौर लागत मे व्यवस्थित ग्रन्तर्राष्ट्रीय ग्रन्तरो के कारण देशों के बीच ग्रादान-प्रदान सम्भव बनता है। एक देश जिन चीजों को कम कीमत

मे पैदा कर सकता है उसका निर्यात करेगा और जिन चीजो को महँगी लागत पर पैदा कर सकता है उनका आयात करेगा। यही सामान्यीकरण विदेश-व्यापार के अस्तित्व का आधार है। इसे तुलनात्मक लाभ का सिद्धान्त कहा जाता है।

दो देशो के बीच उत्पादन लागत का अन्तर प्राकृतिक एवं मनुष्यकृत दोनो प्रकार के साधनो का परिणाम है। प्रकृति ने विभिन्न देशो मे महत्त्वपूर्ण तथा स्थायी अन्तरो की स्थापना की है। इनम से कुछ तांबे की दृष्टि से सम्पन्न हैं तथा अन्य पेट्रोल की दृष्टि से। कही पर बडे-बडे झरने गिरते हैं तो कही उपजाऊ प्रदेश हैं। कुछ देशो मे केवल इतनी बरसात होती है कि वहाँ चावल और रूई की खेती की जा सके जबकि अन्य देशो मे इससे भी अधिक बरसात होती है। दूसरे देश बरसात की दृष्टि स शून्य होते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ देश ऐसे होते हैं जहाँ कुछ प्रमुख कार्यो को सम्पन्न करने के लिए उपयुक्त साधन स्रोतो का योग प्राप्त होता है।

कुछ देशो मे बडे बडे जटिल उद्योगो को समर्थित करने के लिए बहुत बडी जनसख्या होती है जबकि दूसरो मे इतनी कम जनसख्या होती है कि वहाँ भूमि से पर्याप्त लाभ नही उठाया जा सकता। जनसख्या को एक दृष्टि से तो हम प्राकृतिक साधन कह सकते हैं और दूसरी दृष्टि से उसको मनुष्य कृत साधन कहेंगे। लोगो की सख्या मात्र तो प्रकृति की देन है किन्तु उनकी कुशलता एव उनके दृष्टिकोण की रचना मनुष्यकृत विशेषता होती है जो एक देश के तुलनात्मक लाभ को प्रभावित करती है। एक देश जो जनसख्या मे सम्पन्न है किन्तु उसकी कुशलता मे गरीब है तो वह कुछ कार्यों के लिए उपयुक्त हो सकता है किन्तु निर्मित माल के उत्पादन एव निर्यात के लिए उपयोगी नही रहेगा। दूसरी ओर जिस देश की जनसख्या कम है किन्तु लोग पर्याप्त शिक्षित हैं तो उसे उत्पादन म अपेक्षाकृत लाभ रहेगा।

जनसख्या की कुशलता कई प्रकार की होती है। कुछ देशो मे फैक्ट्रियो मे काम करने वालो की सख्या अधिक होती है जो आधुनिक मशीनो को चला सकें। दूसर देशो म इजीनियरो और वैज्ञानिको की बहुतायत होती है जो शोधपूर्ण कार्य मे रत हो। यह कहा जाता है कि सयुक्त राज्य अमेरिका को अनुसन्धान और नवीन प्रयोगो मे तुलनात्मक लाभ रहता है किन्तु जब वह प्रयोग पुराना पड जाता है तो दूसरे देश अमेरिका से आगे बढ जाते हैं। यह हो सकता है कि एक देश का एक भाग कृषको तथा औद्योगिक एव वैज्ञानिक कुशलता से पूर्ण श्रम शक्ति से युक्त हो और दूसरा भाग भौतिक साधनो जैसे—सडक, पुल, बाँध, जहाज, फैक्ट्री आदि से सम्पन्न हो। प्राकृतिक एव मनुष्यकृत साधन परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं।

व्यापार और उत्पादन के सांख्यिकीय अध्ययनो के द्वारा यह प्रदर्शित किया जाता है कि 'तुलनात्मक लाभ का सिद्धान्त' प्रशुल्क एव अन्य बाधाओ के होते हुए भी व्यापार के वास्तविक रूपो को स्पष्ट कर सकता है। तुलनात्मक लाभ का पता लगाने के लिए कई एक मॉडल प्रस्तुत किए गए है। इनमे एक द्विसाधन मॉडल (Two Factor Model) भी है। मि० रिकार्डो ने 'दो देश, दो वस्तु' के मॉडल का प्रयोग 1927 म किया था। इस शताब्दी के अन्तिम दिनो मे 'अनेक देश और

अनेक वस्तुओं का मॉडल सामने आया। इस मॉडल के समर्थकों ने रिकार्डो के निष्कर्षों को सन्देह की दृष्टि से देखा।

बहुद्देशीय मॉडल (Multipurpose Model) स्वीडन के दो अर्थशास्त्रियों ऐली हेक्सर (Eli Hecksher) और बरटिल ओहलिन (Bertil Ohlin) के कार्यों मे मिलता है। श्रम कीमत मॉडल की भाँति यह मॉडल भी यातायात की लागत पर ध्यान नही देता तथा यह मानकर चलता है कि प्रत्येक जगह रुचियाँ एक जैसी हैं। श्रम लागत मॉडल से भिन्न इस मॉडल की मान्यता है कि प्रत्येक देश की तकनीकी समान होती है।

हैक्सर तथा ओहलिन का सिद्धान्त दो मान्यताओ के साथ आगे बढ़ता है—(i) विभिन्न उत्पादनो मे अलग-अलग साधनो की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए—एक कार के निर्माण मे अधिक मशीन, समय एवं श्रम की आवश्यकता होगी। इतना श्रम एवं समय सूती कपड़े के निर्माण मे जरूरी नही होगा, (ii) देशो के बीच साधन सम्पन्नता की दृष्टि से अन्तर होता है। कुछ देशो मे मजदूरो की अपेक्षा पूँजी अधिक होती है जबकि कुछ देशों मे पूँजी की अपेक्षा मजदूर अधिक होते है—ऐसी स्थिति मे पूँजी सम्पन्न देश उन वस्तुओ के उत्पादन में विशेषीकरण करेंगे जिनमे कि अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है, उदाहरण के लिए—कार बनाना, हवाई जहाज बनाना आदि। ये देश अपने उत्पादन मे से कुछ का निर्यात करेंगे ताकि उस सामान का आयात कर सकें जिसमे अधिक श्रम की आवश्यकता होती है। ठीक इसी प्रकार श्रम की अधिक संख्या वाले देश उन वस्तुओ के उत्पादन मे विशेषीकरण करेंगे जिनमे अधिक श्रम लगाने की जरूरत होती है। ये भी अपने उत्पादन मे से कुछ का निर्यात करेंगे ताकि पूँजी की बहुतायत वाले सामान का आयात किया जा सके।

उत्पादित वस्तु के मूल्यों एवं उत्पादन के साधनों के मूल्यो के बीच पर्याप्त गहरा सम्बन्ध होता है। इस सम्बन्ध का एक परिणाम यह है कि स्वतन्त्र व्यापार मे साधन स्रोतों के मूल्यों को भाग लेने वाले देशों के बीच एक जैसा बनाने का प्रयास किया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं—

(1) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन एवं स्पष्टीकरण
(2) प्राकृतिक साधनों का अधिकतम उपयोग
(3) उच्च जीवन स्तर
(4) उपभोक्ताओं को सस्ती वस्तुओं की प्राप्ति
(5) अकाल अथवा संकटकाल मे सहायता
(6) आर्थिक विकास की तीव्रगति
(7) कच्चे माल की उपलब्धि
(8) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग
(9) विदेशी विनिमय की उपलब्धि
(10) सांस्कृतिक सम्बन्ध

(1) **अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण**—प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का कारण श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण है। वर्तमान में कोई भी देश आत्म-निर्भर नहीं है। संयुक्तराज्य अमेरिका जैसे विकसित राष्ट्र भी अनेक वस्तुओं के लिए दूसरे देशों पर निर्भर रहते हैं। इस निर्भरता का कारण अधिकाधिक अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण एवं श्रम विभाजन की क्रियाएँ हैं। विशिष्टीकरण के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक देश उन्हीं वस्तुओं के उत्पादन पर अधिक ध्यान देता है जिनके लिए उसे तुलनात्मक लाभ अधिक प्राप्त होता है अथवा जिनकी उत्पादन-लागत न्यूनतम होती है। ऐसा करने से वे वस्तुएँ उस देश म सस्ती एवं अच्छी उत्पन्न की जा सकती हैं। अच्छा एवं सस्ता उत्पादन होने के फलस्वरूप उन वस्तुओं का बाजार मे अधिक विस्तार होता है। बाजार का विस्तार होने पर वस्तु का उत्पादन भी बड़े पैमाने पर किया जाता है जिससे उस देश को बड़े पैमाने के लाभ या पैमाने की मितव्ययताएँ भी प्राप्त हो जाती हैं।

(2) **प्राकृतिक साधनों का अधिकतम उपयोग**—जैसा कि हम जानते हैं कि प्रत्येक देश केवल उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करता है जिनके उत्पादन में उसे तुलनात्मक लाभ अधिक प्राप्त होते हैं। अत प्रत्येक देश मे उपलब्ध प्राकृतिक साधनों का पूरा-पूरा प्रयोग किया जाए क्योंकि किसी भी वस्तु के उत्पादन म उत्पादन के विभिन्न साधनों की आवश्यकता होती है, अत वह देश आवश्यक दुर्लभ साधनों का आयात करके अपने प्रचुर साधन का प्रयोग उत्पादन क्रिया मे कर सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अभाव में दुर्लभ साधनों को प्राप्त नहीं किया जा सकता है, जिससे अपने प्रचुर साधन का उपयोग भी असम्भव बना रहता है। अत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक मुख्य लाभ प्राकृतिक साधनों का अनुकूलतम उपयोग भी है।

(3) **उच्च जीवन स्तर**—जब उपभोक्ताओं को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप वस्तुएँ अच्छी एवं सस्ती उपलब्ध हो जाती हैं तो वे अपनी सीमित आय से अधिक मात्रा मे वस्तुओं का उपयोग कर सकते हैं। इसके साथ साथ उन वस्तुओं का भी उपयोग कर सकते हैं जो उस देश मे उत्पन्न नहीं की जाती हैं। इस प्रकार उनका जीवन स्तर ऊँचा हो जाता है।

(4) **उपभोक्ताओं को सस्ती वस्तुओं की प्राप्ति**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण बाजार प्रतियोगिता मे वृद्धि हो जाती है। पुन विशिष्टीकरण एवं देश के प्राकृतिक साधनों का पूर्ण उपयोग होने से उत्पादन लागत भी कम हो जाती है। अत उपभोक्ताओं को अच्छी वस्तुएँ कम कीमत में प्राप्त हो जाती है। बाजार के विस्तार के फलस्वरूप उत्पादन बड़े पैमाने पर किया जाता है। जिन वस्तुओं का उत्पादन उत्पत्ति वृद्धि नियम के अन्तर्गत हो रहा है उनकी उत्पादन लागत कम हो जाती है। अत सम्पूर्ण विश्व मे उत्पादित की जा रही सभी वस्तुओं की कीमतें कम हो जाती हैं तथा विदेशी व्यापार के कारण वस्तुओं की कीमतों म समानता की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। परिणामस्वरूप सभी देशों की वस्तुएँ सस्ते मूल्य पर उपलब्ध हो जाती हैं। इससे उपभोक्ताओं को लाभ प्राप्त होता है।

(5) **अकाल अथवा संकटकाल में सहायता**—जब देश में अकाल, भूचाल, महामारी, युद्ध, अथवा अन्य संकट उत्पन्न हो जाते हैं तो उससे सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है। देश में आवश्यक वस्तुओं का अभाव उत्पन्न हो जाता है तथा वस्तुओं की कीमत आसमान छूने लगती हैं। ऐसे संकटकालीन समय में विदेशी व्यापार उस देश की अर्थ-व्यवस्था के लिए वरदान सिद्ध होता है। अन्य देशों से आवश्यक वस्तुओं का आयात करके समस्या का समाधान किया जा सकता है। जैसे भारत में गत कुछ वर्षों पहले पड़े अकाल एवं भुखमरी का मुकाबला अमेरिका से PL 480 के अन्तर्गत गेहूँ मँगाकर किया गया।

(6) **आर्थिक विकास की तीव्र गति**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप विश्व के गरीब देश भी अपने आर्थिक विकास की गति को तीव्र कर सकते है। उनको विदेशी पूंजी प्राप्त हो सकती है जिसकी सहायता से अपने देश में भावी उद्योगों की स्थापना कर सकते है जिससे देश की राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होती है तथा देश का आर्थिक विकास तीव्र गति से होता है। आज विश्व के जितने भी विकसित देश हैं उनके विकास के पीछे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ही एक प्रमुख कारण रहा है। इसी प्रकार आज भारत का जो विकास हुआ है उसमें मुख्य रूप से विदेशी व्यापार का योगदान है।

(7) **कच्चे माल की उपलब्धि**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से उन देशों को भी औद्योगीकरण और आर्थिक विकास का अवसर मिल जाता है जिनके पास कच्चे माल के अतिरिक्त अन्य साधन उपलब्ध हैं। जैसे ग्रेट ब्रिटेन के सूती वस्त्र उद्योग एवं ऊनी वस्त्र उद्योग, विदेशी रूई एवं ऊन के बलबूते पर चलते हैं। इसी प्रकार भारत का जूट उद्योग भी बंगलादेश के कच्चे जूट पर निर्भर है अत. विदेशी व्यापार देश के औद्योगीकरण को प्रोत्साहित करता है।

(8) **अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप एक-दूसरे पर निर्भरता बढ़ती जाती है। अत दोनों पक्षों के आपसी सहयोग से ही दोनों की आवश्यकताओं को पूरा किया जा सकता है। इसी उद्देश्य की प्राप्ति हेतु विश्व मे अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का निर्माण किया गया है जिनमे मुख्य संस्थाएँ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद्, एशियन बैंक आदि। इन सबका मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना को प्रोत्साहित करना है।

(9) **विदेशी विनिमय की उपलब्धि**—आजकल विदेशी-विनिमय किसी भी देश के आर्थिक विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। विशेषकर विकासशील राष्ट्रों के लिए विदेशी विनिमय की अति आवश्यकता होती है। विदेशी विनिमय के द्वारा वे विदेशों से आवश्यक मात्रा में औद्योगिक सामग्री एवं तकनीकी ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। विदेशी विनिमय अर्जित करने के लिए उस देश को अपने निर्यातों में वृद्धि करनी पड़ती है। जापान, जर्मनी, अमेरिका, फ्रांस आदि देशों ने अपने निर्यातों मे वृद्धि करके काफी मात्रा मे विदेशी विनिमय का संग्रह कर रखा है।

(10) सांस्कृतिक सम्बन्ध—विदेशी व्यापार विभिन्न देशों के मध्य व्यापारिक सम्बन्ध ही स्थापित नहीं करता है वरन् विदेशी व्यापार के उद्देश्य से एक देश के व्यक्ति जब अन्य देशों में व्यापारिक जानकारी हेतु आते जाते हैं तो भिन्न भिन्न संस्कृति के लोग आपस में मिलते जुलते हैं तो उससे एक-दूसरे के रीति रिवाज, राजनीतिक आचार-विचार, रहन-सहन आदि के बारे में जानकारी मिलती है जिससे वे एक दूसरे को समझने लगते हैं एवं आपस में सामञ्जस्य स्थापित होता है तथा विश्व एकता को बढ़ावा मिलता है।

व्यापार से लाभ-एक सरल रेखाचित्रीय विश्लेषण

प्रोफेसर सैम्युअलसन तथा केम्प के विचारों के आधार पर विदेशी व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभों को रेखाचित्रों के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है।

माना कि किसी अर्थव्यवस्था में केवल दो ही वस्तुएँ X तथा Y का उत्पादन किया जाता है। PQ अर्थ व्यवस्था का उत्पादन सम्भावना वक्र है जो मूल बिन्दु से नतोदर (Concave) है। व्यापार रहित अवस्था में उपभोग एवं उत्पादन पूर्णतः एक जैसे हैं, अर्थात् स्वावलम्बन की दशा में दिए हुए घरेलू मूल्यों के अनुपात पर देश के सन्तुलन उत्पादन एवं सन्तुलन उपभोग, दोनों ही की अभिव्यक्ति PQ पर A बिन्दु द्वारा होगी। यहाँ PQ स्वावलम्बन की स्थिति की सीमा है।
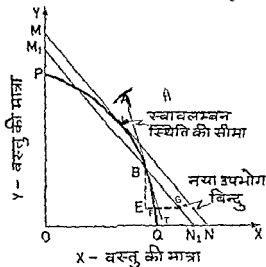
स्वतन्त्र व्यापार की दशा में X तथा Y वस्तु के मूल्यों का अनुपात प्रचलित अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों द्वारा निर्धारित किए जाएँगे। उपरोक्त चित्र में यह MN रेखा द्वारा व्यक्त किया गया है। व्यापारोपरान्त का सन्तुलन A बिन्दु पर होगा जहाँ से देश MN रेखा के सहारे उपभोग हेतु प्रगति करता है। वस्तुतः सैम्युअलसन के मतानुसार MN रेखा बजट सीमा रेखा अथवा उपभोग सम्भावना रेखा को प्रकट करती है।

क्योंकि MN रेखा A बिन्दु को छोड़कर प्रत्येक स्तर पर स्वावलम्बन की सीमा रेखा PQ से बाहर स्थित है। इसके सभी बिन्दुओं पर उपभोक्ता PQ की अपेक्षा अधिक मात्रा मे X व Y वस्तु प्राप्त कर सकते हैं। यदि स्वावलम्बन की स्थिति मे देश A बिन्दु पर स्थित हो तथा व्यापारोपरान्त भी यही स्थिति रहे तो व्यापार से न तो देश को लाभ होगा और न ही हानि होगी।

परन्तु अब माना कि देश विदेशी व्यापार प्रारम्भ करता है, परन्तु साथ ही X–वस्तु पर मूल्यानुसार प्रशुल्क भी रोपित करता है जिसके फलस्वरूप X, Y–वस्तु के मूल्यों का अनुपात बदल जाता है। माना कि इस अवस्था मे नया अनुपात TT के ढलाव के बराबर है। अब देश का उत्पादन सन्तुलन B बिन्दु पर होगा जहाँ पूर्वापेक्षा X–वस्तु का अधिक परन्तु Y का कम उत्पादन होगा। यह मानते हुए कि प्रशुल्क रोपण के बाद भी अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यो का अनुपात यथावत अर्थात् MN के ढलाव के बराबर रहता है, ऐसी स्थिति मे देश X–वस्तु का विदेशो से आयात करके Y वस्तु का निर्यात करेगा। विदेशी व्यापार के लिए मूल्यों का अनुपात M_1N_1 के अनुरूप रहेगा जबकि रेखा MN एवं M_1N_1 समानान्तर होने के कारण समान अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यो के अनुपात को प्रकट करेगी।

इस प्रकार देश को उपभोग सम्भावना सीमा M_1N_1 हो जाती है और नया उपभोग बिन्दु G पर स्थित होगा। ऐसी अवस्था में देश Y वस्तु की BE मात्रा का निर्यात करके EG मात्रा मे X–वस्तु का आयात करेगा। यहां X–वस्तु की EF इकाइयां तो उपभोक्ताओ को प्रत्यक्षत: प्राप्त होगी जबकि FG इकाइयां सरकार को राजस्व के रूप मे प्राप्त होगी। नयी सीमा रेखा M_1N_1 अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यो के उसी अनुपात (MN के तुल्य) को प्रकट करते हुए भी प्रत्येक स्थिति में MN रेखा के भीतर स्थित है जो कि मुक्त व्यापार की सीमा रेखा है अर्थात् प्रतिबन्धित व्यापार की तुलना मे स्वतन्त्र व्यापार की स्थिति में M_1N_1 की तुलना मे MN रेखा पर X व Y दोनों ही वस्तुओ की अधिक मात्रा का उपभोग किया जा सकता है। यह मानते हुए कि आवटन सम्बन्धी दक्षता की अप्रतिभूत हानि रहित आदर्श अन्तरण सम्भव है, अत हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि प्रतिबन्धित व्यापार की तुलना मे मुक्त व्यापार से कल्याण का उच्चतर स्तर प्राप्त किया जा सकता है।

लाभ की मात्रा को प्रभावित करने वाले तत्त्व
(The Factors to Influence the Gain)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त होने वाला लाभ ही उसका मुख्य आधार होता है। इस लाभ का विभिन्न देशों के बीच विभाजन कई तत्वों द्वारा प्रभावित किया जाता है। इस सम्बन्ध मे पहली बात तो यह है कि एक ही वस्तु के उत्पादन मे दो देशों की लागत एक जैसी नही होती। लागत के अनुसार ही लाभ की मात्रा भी बदल जाती है। उत्पादन की लागतों मे जितना अधिक अन्तर रहता है, लाभ की मात्रा भी उतनी ही अधिक हो जाती है। इस सम्बन्ध मे प्रो. हैरोल्ड ने लिखा है कि "एक देश विदेश-व्यापार तब करता है जब व्यापारी यह पाएँ कि विदेशों में

व्यापार से होने वाले लाभ का मापक
(Measurements of the Gain from Trade)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले लाभों को मापने पर अर्थशास्त्रियों ने समय-समय पर विचार किया है। सस्थापक अर्थ-शास्त्रियों ने इस प्रश्न के सम्बन्ध मे तीन दृष्टिकोण अपनाए हैं। *प्रथम, एक राष्ट्र की आय को तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त की सहायता से मापा जाए।* दूसरे, उसे राष्ट्रीय आय की वृद्धि के आधार पर मापा जाए और तीसरे, उसे अन्तर्राष्ट्रीय वितरण के सूचीपत्र एवं प्राप्ति की प्रकृति के अनुसार मापा जाए। सस्थापक अर्थ-शास्त्रियो ने इन तीनों ही तरीकों का प्रयोग किया है। *यदि हम एक ही समय की परिधि मे विचार करें तो पाएँगे कि* प्रथम और द्वितीय मापकों के बीच अधिक अन्तर नही है। लाभ की इस विशेष मात्रा को या तो आय की प्रति इकाई लागत की कमी के रूप मे अभिव्यक्त किया जा *सकता है अथवा उसे प्रति इकाई लागत की आय मे वृद्धि के रूप मे अभिव्यक्त किया* जा सकता है। कहने का अर्थ यह है कि चाहे लागत मे कमी हो अथवा कीमत में वृद्धि दोनो स्थितियों मे लाभ होगा।

व्यापार के अभाव मे होने वाली हानि द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की प्राप्तियो को मापा जा सकता है। जब कुछ कारणों से आयातों के उत्पादन का घरेलू मूल्य बढ जाता है तो निर्यात के बदले में किए गए आयात से प्राप्त होने *वाला लाभ भी बढ जाता है क्योंकि राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता इस बदली हुई परिस्थिति* मे अधिक खतरनाक हो सकती है। यदि देश आत्म-निर्भर रहने का प्रयास करेगा तो उसको अधिक लागत लगाकर वस्तुओं का उत्पादन करना होगा। इस बदली हुई परिस्थिति मे यद्यपि देश की राष्ट्रीय आय अर्थात् आयात-निर्यात के बीच *विनिमय की दर एवं उसके निर्यात का मूल्य एक जैसा ही रहता है फिर भी व्यापार* से प्राप्त होने वाला उसका लाभ बढ जाता है। दूसरी ओर यदि तकनीकी विकास या अन्य किसी कारण से आयातित वस्तुओं की घरेलू लागत घट जाती है तो *व्यापार से होने वाली प्राप्ति घट जाएगी क्योंकि इस बदली हुई परिस्थिति मे राष्ट्रीय* आत्मनिर्भरता से प्राप्त होने वाली हानि कम होगी। कहने का अर्थ यह है कि जिस वस्तु का उत्पादन एक देश कम लागत से कर सकता है, उसे विदेशों से मंगाने पर कोई प्राप्ति नहीं होगी। यदि निर्यात के उत्पादन की लागत मे होने वाली कमी *आयात के उत्पादन की घरेलू लागत मे होने वाली कमी के बराबर है तो व्यापार से* होने वाली प्राप्ति अप्रभावित रहेगी।

कुछ वस्तुओं को घरेलू स्तर पर उत्पादित करना असम्भव रहता है। इस प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन का घरेलू मूल्य बहुत अधिक होगा। ऐसी स्थिति में इन वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त होने वाला लाभ भी पर्याप्त होगा, यह मत अधिक उपयुक्त प्रतीत नही होता। जिन वस्तुओं को *देश में उत्पादित ही नही किया जा सकता, उनसे व्यापार मे होने वाली प्राप्ति* को अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता। इस प्रकार व्यापार से प्राप्ति उस अन्तर

का स्वदेश में ही उत्पादन होगा जिनका आयात प्रतिबन्धित कर दिया गया है। इसके परिणामस्वरूप इन वस्तुओं की उत्पादन लागत बढ़ जाएगी और व्यापार की जाने वाली शेष वस्तुओं के विनिमय से प्राप्त लाभ विनिमय की उपयुक्त दर की ओर बदल जाएगा। जब एक देश अपने आयात पर प्रतिबन्ध लगा देता है तो विदेशों में उसके निर्यातों की माँग घट जाती है। ऐसी स्थिति में यदि कच्चे माल अथवा साधनों को दूसरे उद्योगों में नहीं बदला जाएगा तो निर्यात उद्योगों में बेरोजगारी फैलेगी। यदि इन साधन स्रोतों को अन्य उद्योगों मे बदल दिया गया तो इनकी उत्पादिकता इतनी ऊँची न हो सकेगी जितनी कि निर्यात उद्योगों की थी। इस प्रकार व्यापार की शर्तों को सुधारने का यह प्रयास अधिक सफल नही रहा।

व्यापार शर्तों को सुधारने का एक अन्य तरीका यह है कि कृत्रिम आर्थिक मन्दी की स्थापना की जाए। यह आर्थिक मन्दी की अनेक प्रकार के बुरे परिणामो को उत्पन्न करती है और इस प्रकार व्यापार शर्तों मे होने वाले सुधार से प्राप्त लाभों को महत्त्वहीन बना देती है। यदि निर्यातों के उत्पादन की घरेलू लागत में होने वाली वृद्धि व्यापार शर्तों में होने वाले सुधार से अधिक है तो व्यापार से होने वाली प्राप्तियाँ व्यापार शर्तों में होने वाले सुधारों के बावजूद भी घट जाएँगी। इसी प्रकार यदि रुचियों मे परिवर्तन के कारण या अन्य किन्हीं कारणो से आयातों की उपयोगिता इतनी गिर जाती है कि वह विनिमय के अनुपात मे होने वाले सुधार से कम हो जाती है तो व्यापार शर्तों मे सुधार होने पर भी व्यापार से होने वाली प्राप्तियाँ घट जाएँगी।

व्यापार से होने वाली प्राप्तियों मे परिवर्तन विभिन्न तत्त्वो में परिवर्तन होने के कारण आता है। उदाहरण के लिए विनिमय के अन्तर्राष्ट्रीय अनुपात में होने वाले परिवर्तन, निर्यातों के उत्पादन मे होने वाली वास्तविक लागत में परिवर्तन, आयातो के उत्पादन की सम्भावित घरेलू लागत में परिवर्तन, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा मे परिवर्तन, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की रचना मे परिवर्तन आदि-आदि। इन विभिन्न तत्त्वों मे होने वाले परिवर्तन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाली एक देश की प्राप्तियों को बहुत प्रभावित करते हैं। आयात और निर्यात की जाने वाली विभिन्न वस्तुओं की प्राप्तियाँ अलग-अलग होती हैं। इसके अतिरिक्त उत्पादन की सम्भावित घरेलू लागत और आयात की जाने वाली लागत के बीच वस्तु के अनुसार अन्तर रहता है। यदि तुलनात्मक लागत में बड़ा अन्तर रखने वाली वस्तुओं के स्थान पर उन वस्तुओं को ला दिया जाए जो तुलनात्मक लागत में थोड़ा अन्तर रखती हैं और व्यापार का पूर्ण आकार एक जैसा ही रहने दिया जाए तो व्यापार से होने वाली प्राप्तियाँ बढ़ जाएँगी।

व्यापार से होने वाली प्राप्तियों का वितरण
(Distribution of the Gains from Trade)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाली प्राप्तियों को विभिन्न देशों के बीच किस प्रकार वितरित किया जाए? यह एक प्रमुख प्रश्न है। रिकार्डो का मत था

7 उत्पादन, वितरण एवं व्यापार की शर्तों पर प्रशुल्क के प्रभाव
(EFFECTS OF TARIFFS ON PRODUCTION, DISTRIBUTION AND TERMS OF TRADE)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में एक देश विभिन्न कारणों से अपने आयात और निर्यात पर कर लगाता है। यह कर लगाने की प्रक्रिया स्वतन्त्र व्यापार के सिद्धान्त के विपरीत है जिसके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को पूर्णतः स्वतन्त्रतापूर्वक संचालित होना चाहिए, उस पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न रहे। स्वतन्त्र व्यापार की यह नीति आज की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में उपयुक्त नहीं ठहरती। आर्थिक प्रतियोगिता में विकसित देशों से अपनी रक्षा करने के लिए एक विकासशील देश संरक्षण की नीति का प्रयोग करता है। प्रशुल्क (Tariff) की प्रक्रिया संरक्षण की नीति का ही एक भाग है जिसे अपनाकर एक देश अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में अपना अस्तित्व बनाए रखता है।

प्रशुल्क सिद्धान्त का इतिहास
(The History of Tariff Theory)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में लगाए गए प्रशुल्कों का इतिहास ही मूल रूप से प्रशुल्क सिद्धान्त का इतिहास है। इस इतिहास द्वारा यह स्पष्ट किया जाता है कि हम आर्थिक सिद्धान्त की नीति को किस प्रकार प्रभावित कर सकते हैं ? प्रशुल्क के इतिहास को मुख्य रूप से निम्न भागों में विभाजित किया जाता है—

1. विरोधी प्रशुल्क प्रवृत्तियाँ (1815 से 1860)
   (Divergent Tariff Trends)

संयुक्तराज्य अमेरिका में 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रशुल्क के लिए शिशु उद्योगों का जो तर्क दिया जाता था वह पर्याप्त प्रभावपूर्ण रहा। इस समय वहाँ अनेक नए उद्योग प्रारम्भ हुए जिनको विदेशी प्रतियोगिता के विरुद्ध संरक्षण प्रदान किया जाना जरूरी था। इसी काल में ग्रेट-ब्रिटेन में प्रशुल्कों की स्थिति कुछ भिन्न थी। यहाँ इस बात पर जोर दिया जा रहा था कि स्थित प्रशुल्कों को कम से कम किया जाए। इस प्रकार एक ओर जहाँ अमेरिका संरक्षण की नीति की दिशा में अग्रसर हो रहा था वहाँ ग्रेट-ब्रिटेन स्वतन्त्र व्यापार की ओर बढ़ रहा था।

अपने जन्म काल से ही संयुक्तराज्य अमेरिका में आयातों पर कर लिए जाते थे। इन प्रारम्भिक प्रशुल्कों का प्रभाव यद्यपि संरक्षणात्मक था किन्तु इनका मुख्य उद्देश्य संघीय सरकार के राजस्व को बढ़ाना था। इन दिनों यहाँ कोई आयकर नहीं लिया जाता था और इसलिए सरकार को अपने व्यय की व्यवस्था के लिए आबकारी करों पर निर्भर रहना पड़ता था। इनमें प्रशुल्क सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था। आयात कर को उगाहना अत्यन्त सरल होता है, इसके लिए केवल पुलिस तथा बन्दरगाहों की आवश्यकता होती है।

सन् 1815 में एक नए प्रशुल्क कानून का समर्थन किया जाने लगा जिसके द्वारा न्यू इंगलैण्ड तथा मध्य अटलांटिक राज्यों के नए उत्पादकों की रक्षा की जा सके। अमेरिकी काँग्रेस ने ऊनी तथा सूती वस्त्रों पर सन् 1816 में अधिक कर लगा दिए तथा काँच एवं लोहा आदि पर 1824 में करों की मात्रा बढ़ा दी।

प्रशुल्क के प्रश्न पर उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका के बीच विवाद था। यह विवाद 1828 में चोटी पर पहुँच गया। 1840 में संघीय बजट में अतिरिक्त धन की बहुतायत थी और इसीलिए राजकोष सचिव ने सुझाया कि प्रशुल्क को कम करने पर ही करों से प्राप्त राजस्व को घटाया जा सकेगा। फलतः कर-योग्य आयातों पर लगाए गए कर में 26 प्रतिशत की कटौती की गई। 1846 तथा 1875 में संरक्षणात्मक करों को और घटाया गया। इतने पर भी अमेरिका इस दृष्टि से योरोप से भिन्न था क्योंकि वहाँ स्वतन्त्र व्यापार (Free Trade) की व्यवस्था थी।

ग्रेट-ब्रिटेन में स्वतन्त्र व्यापार का प्रचलन एक प्रकार से कुलीनतन्त्र की प्राचीन शक्तियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी। कार्न लाज (Corn Laws) के अनुसार आयातित खाद्यान्न पर लगाए गए प्रशुल्कों का लाभ मुख्य रूप से देहाती कुलीन-वर्ग को प्राप्त होता था। अब इनके राजनैतिक प्रभुत्व को समाप्त करने का प्रयास किया गया। ग्रेट-ब्रिटेन में भी अमेरिका की भाँति प्रशुल्क नीति एक संवैधानिक प्रश्न बन गई। एडम स्मिथ जैसे अर्थशास्त्रियों के विचारों ने स्वतन्त्र व्यापार की नीति का समर्थन किया। कार्न लॉज पर होने वाले वाद-विवाद से पचास वर्ष पूर्व ही इन्होंने यह कह दिया कि जो आचरण प्रत्येक परिवार के व्यक्तिगत जीवन में महत्त्व रखता है उसे राज्य के स्तर पर मूर्खतापूर्ण नहीं कहा जा सकता।

स्वतन्त्र व्यापार की नीति का समर्थन बाद में डेविड रिकार्डो (David Ricardo) तथा एडम स्मिथ के अन्य अनुयायियों द्वारा भी किया गया। उनका मत था कि कार्न लॉज द्वारा मजदूरों को दो प्रकार का कष्ट पहुँचाया जा सकता है। प्रथम, प्रशुल्क द्वारा खाद्यान्न की कीमतें बढ़ा दी जाएँगी तथा कर्मचारियों की क्रय-शक्ति कम कर दी जाएगी। दूसरे, प्रशुल्क द्वारा व्यापारिक लाभ की कीमत पर भूमि के किराए को बढ़ाया जाएगा। कम लाभ होने से बचत कम होगी, व्यय कम होगा और इस प्रकार श्रम की माँग घट जाएगी।

ग्रेट-ब्रिटेन में स्वतन्त्र व्यापार की नीति का प्रारम्भ नेपोलियन के युद्धों से पूर्व ही हो चुका था। विलियम पिट (William Pitt) ने सन् 1784 में अपने

करो को पहले ही कम कर दिया था। इसके बाद टोरी दल की सरकार ने औद्योगिक कच्चे माल पर से करों को घटा दिया। इन कमियो को ब्रिटेन के उत्पादकों का समर्थन प्राप्त हुआ क्योकि कच्चे माल पर प्रशुल्कों द्वारा उनकी उत्पादन लागत बढ़ गई थी।

स्वतन्त्र व्यापार की विजय एवं पराजय (1860 से 1914)
(The Triumph and Decline of Free Trade)

स्वतन्त्र व्यापार की दिशा मे ग्रेट-ब्रिटेन का अगला कदम व्यवस्थापक के स्थान पर कूटनीतिक बन गया। 1860 में ग्रेट-ब्रिटेन तथा फ्रांस के बीच कोबडिन चिवेलियर (Cobden-Chevalier) की सन्धि हुई जिसके अनुसार दोनो देशो ने प्रशुल्क में पारस्परिक कटौती की। फ्रांसीसी शराब पर से ब्रिटेन ने कर को कम कर दिया। उसके बाद फ्रांस ने अन्य देशो के साथ भी प्रशुल्क सन्धियाँ की। 1860 और 1870 के बीच मे जो व्यापारिक सन्धियाँ की गई उनके दो महत्त्वपूर्ण परिणाम हुए—(1) इनके फलस्वरूप प्रशुल्क मे नई कटौतियाँ हुई और (2) अब तक प्रत्येक देश द्वारा की गई कटौतियो को सामान्यकृत किया गया।

कालान्तर मे जब परिस्थितियाँ बदली तथा लोगो के दृष्टिकोण मे अन्तर आया तो स्वतन्त्र व्यापार का आन्दोलन ढीला पड़ा। सन् 1870 मे योरोप की उपनिवेशवादी नीतियो मे भारी परिवर्तन दिखाई दिया। अर्द्ध-शताब्दी तक साम्राज्यवादी भावनाओं का जोर रहा। 1873 मे जर्मनी के बिस्मार्क ने लोहे पर से प्रशुल्क हटा दिया और घोषणा की कि 1877 तक लोहे से निर्मित वस्तुओ पर से प्रशुल्क पूरी तरह समाप्त कर दिया जाएगा। परिस्थितिवश बिस्मार्क को सन् 1879 मे उद्योगो एवं कृषि को संरक्षण प्रदान करने के लिए नए प्रशुल्क लगाने पड़े।

उच्च प्रशुल्को की नवीन प्रवृत्ति को शिशु उद्योगो के तर्क द्वारा समर्थित किया गया। इस तर्क की स्पष्ट व्याख्या जर्मनी के मि० फ्रेडरिक लिस्ट ने की जो कि संयुक्तराज्य अमेरिका मे रहे थे और उच्च प्रशुल्क दीवारो के पीछे द्रुतगति से होने वाले आर्थिक विकास से पर्याप्त प्रभावित थे। जर्मनी लौटने पर उन्होंने इस तर्क का अपने देश मे प्रचार किया। उनका कहना था कि स्वतन्त्र व्यापार विश्व की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ हो सकता है किन्तु एक राष्ट्र के लिए यह उस समय तक लाभदायक नहीं है जब तक वह अपने राष्ट्रीय उद्योगों को पर्याप्त विकसित न करले। मि० लिस्ट का कहना था कि एक देश केवल तभी सम्पन्न हो सकता है जब वह निर्मित माल का निर्यात करे तथा खाद्यान्न का आयात करे।

फ्रांस ने भी 1892 मे जर्मनी का अनुगमन किया तथा नेपोलियन तृतीय की कम प्रशुल्क नीतियों को उलट दिया। औद्योगिक विकास के लिए प्रसिद्ध मेलाइन कानून (Meline Law) बनाया गया। 1890 के बाद फ्रांस की अर्थव्यवस्था तीव्र गति से आगे बढ़ी किन्तु उसकी प्रगति के लिए प्रशुल्क कानून को श्रेय नही दिया जा सकता। यहाँ तक कि इसने लोहे तथा फौलाद के उद्योगो की प्रगति को बाधा

पहुँचाई क्योंकि कोयले पर अधिक कर होने के कारण लोहे से निर्मित वस्तुओं की लागत बढ गई थी।

सन् 1890 के दौरान जब जर्मनी, रूस, इटली तथा अन्य देशो के बीच प्रशुल्क युद्ध छिड़ा तो सरक्षणवाद की नीति पुन प्रभाव मे आई। 1902 मे जर्मनी ने अपनी प्रशुल्क दरो को सचमुच बढा दिया ताकि उसे सौदेबाजी करने का अधिक अवसर प्राप्त हो सके। सयुक्तराज्य अमेरिका के प्रशुल्को मे योरोप की भांति कमी नही आई। 1860 के बाद उनकी दर और भी बढ गई। 1861 मे कांग्रेस ने मोरिल प्रशुल्क अधिनियम (Morril Tariff Act) पास कर दिया तथा लोहा एव फौलाद उद्योग को नए सरक्षण प्रदान किए। 1862 तथा 1864 मे इसने अधिकांश अन्य करो मे वृद्धि को भी स्वीकार किया। कर की इन नई दरो का लक्ष्य अमेरिकी उद्योगो को सरक्षण प्रदान करना इतना नहीं था जितना कि विदेशी उत्पादको को अमेरिकी उत्पादको के विरुद्ध अनुचित लाभ प्राप्त करने से रोकना था।

1900 के बाद रिपब्लिकन दल ने अत्यधिक सरक्षणवाद का विरोध किया। 1908 मे दल की ओर से यह घोषणा की गई कि सबसे अच्छा सरक्षण का सिद्धान्त वह है जिसमे देश तथा विदेश की उत्पादन लागत के अन्तरो को समान कर दिया जाता है तथा उचित लाभ की व्यवस्था की जाती है। इस विचार को पर्याप्त उपयुक्त माना गया तथा 1909 के प्रशुल्क कानून मे यह अभिव्यक्त हुआ। इस अधिनियम द्वारा कुछ प्रशुल्को मे कटौती की गई थी।

3 पतन एव पुनर्रचना (1914–1939) (Collapse and Reconstruction)

प्रथम विश्वयुद्ध के समय सयुक्तराज्य अमेरिका ने प्रशुल्क नीति मे बड़े परिवर्तन किए। विल्सन के प्रशासन काल मे (1913 मे) प्रशुल्को मे भारी कटौती की गई तथा स्वतन्त्र व्यापार की सूची मे लोहा, कोयला, कच्चा अन्न, अखबारी कागज आदि भी शामिल कर लिए गए। विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद प्रशुल्क सरक्षण के लिए जहां-तहां भारी दबाव डाले जाने लगे।

युद्ध एव उसके बाद किए जाने वाले शान्ति समझौते ने अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया। सामान्य अव्यवस्था के परिणामस्वरूप भारी आर्थिक मन्दी आई। यह कहा जाता है कि सन् 1923 मे एक जर्मन गृहिणी बाजार से सामान लाने वाले थैले मे धन रखकर ले जाती थी और बदले में खरीदे गए सामान को अपने बटुए मे रखकर लाती थी। इस नवीन परिस्थिति से प्रभावित होकर विभिन्न देशो की सरकारो ने नए प्रशुल्क लगाए। केन्द्रीय यूरोप के नए देशो मे आयात कोटा (Import Quotas) निर्धारित कर दिए। जर्मनी ने 1825 मे नया कृषि प्रशुल्क लगाया। लेटिन अमेरिका के राज्य भी प्रशुल्को तथा कोटा का प्रयोग अब युद्ध की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रतापूर्वक करने लगे थे। ब्रिटेन ने 1919 मे स्वतन्त्र व्यापार को अन्तिम रूप से छोड़ दिया। 1931 तक वह एक व्यवस्थित सरक्षण की नीति अपनाने लगा था।

युद्ध के बाद यह आवश्यकता हुई कि संयुक्तराज्य अमेरिका अपने प्रशुल्कों को घटाले ताकि विश्व के देश अधिक डॉलर कमा सकें और इसके कर्ज को उतार सकें। इसके विपरीत युद्ध के बाद पहले तो कांग्रेस ने अधिक करों का प्रस्ताव पास किया। 1922 का फोर्डनी मैकम्बर प्रशुल्क (Fordney Mocumber Tariff) किसानों की सहायता के लिए लगाया गया था किन्तु इसका लक्ष्य रासायनिक उद्योग एवं युद्ध के शिशुओं की सहायता करना भी था। कृषि सुरक्षा की प्रवृत्ति एवं मात्रात्मक व्यापार नियन्त्रण इस दशाब्दी के उत्तरार्द्ध तक बने रहे।

सन् 1929 में किसानों की सहायता के लिए ही कांग्रेस ने पुनः प्रशुल्क पर विचार करना प्रारम्भ कर दिया किन्तु तभी गल्ला बाजार विक्षत हो गया तथा अर्थव्यवस्था, आर्थिक मन्दी की ओर बढ़ने लगी। एक के बाद एक उद्योग ने रोजगार की व्यवस्था के लिए संरक्षण की मांग की और इसलिए जब नया प्रशुल्क कानून कांग्रेस के सामने विचारार्थ आया तो अनेक दबाव समूह सक्रिय होकर प्रभाव डालने लगे। विचार-विमर्श के बाद कांग्रेस ने इतने प्रशुल्क स्वीकार किए जिनका उदाहरण इतिहास में प्राप्त नहीं होता। ऐसी स्थिति में दूसरे देशों ने भी बाध्य होकर अमेरिका से होने वाले आयात पर अतिरिक्त प्रतिबन्ध लगाए। राष्ट्र-संघ में प्रशुल्क युद्ध-विराम के लिए प्रयास किया गया।

1930 के प्रारम्भ में व्यापार नियन्त्रणों की नवीन सन्तति को जन्म मिला। आर्थिक मन्दी का प्रसार रोकने के लिए एक के बाद एक देश ने अपने आयात पर प्रतिबन्ध लगाए तथा विदेशी प्रतिस्पर्द्धा के विरुद्ध अपने घरेलू उत्पादन को प्रोत्साहित करने का प्रयास किया। प्रत्येक प्रयास ने अपने पड़ौसी को निराशा दी क्योंकि एक देश के आयात में गिरावट हुई। जब 1931 में ग्रेट-ब्रिटेन ने पौण्ड का और 1934 में अमेरिका ने डॉलर का अवमूल्यन किया तो फ्रांस तथा अन्य यूरोपीय देशों ने अपनी मुद्रा की रक्षा के लिए आयात नियन्त्रणों का प्रयोग किया।

1932 के बाद संयुक्तराज्य अमेरिका का आयात-कर घटने लगा। इसका एक कारण वस्तुओं की मूल्य-वृद्धि था। इसके अतिरिक्त यह घटाव इसलिए भी हुआ क्योंकि नीति में भारी मोड़ आ गया था। रोजगारों की वृद्धि के मार्ग ढूंढते हुए रूजवेल्ट का प्रशासन विश्व-बाजारों की ओर मुड़ा तथा व्यापार के बाधकों को हटाने का आन्दोलन प्रारम्भ किया ताकि अमेरिका का व्यापार अधिक से अधिक हो सके। 1934 में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने कांग्रेस को ऐसे द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते की वार्ता करने की शक्ति देने को कहा जिसके अनुसार दूसरे देशों के प्रशुल्कों में कटौती कराने के लिए वे स्वयं प्रशुल्क में आधी कटौती कर सकें।

राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने वायदा किया कि प्रशुल्कों की कटौतियां अमेरिकी उत्पादकों पर गलत प्रभाव नहीं डालेंगी, अर्थात् वे प्रतिद्वन्द्वी आयातों के लिए अमेरिकी बाजार को नहीं खोलेगी। अमेरिकी कांग्रेस ने राष्ट्रपति को शक्तियां प्रदान की और संयुक्तराज्य अमेरिका ने दूसरी सरकारों के साथ 31 व्यापार समझौते किए। व्यापार समझौतों के कार्यक्रम के अनुसार प्रशुल्क की विश्वव्यापी वृद्धि पर रोक लगाई गई कारण विश्व व्यापार युद्ध रुक-सा गया था। इसके फलस्वरूप अमेरिका को

भी अपने प्रशुल्क घटाने पड़े । 1945 तक औसतन अमेरिकी प्रशुल्क 1919 के स्तर तक नीचा था ।

स्वतन्त्र व्यापार और प्रशुल्क
(Free Trade and Tariff)

स्वतन्त्र व्यापार के समर्थन में अनेक तर्क दिए गए किन्तु अनेक लेखकों ने उसको स्वीकार नहीं किया । प्रशुल्क नीति के बारे में पिछले 500 वर्षों में जो भी लिखा गया है वह एक अच्छे पुस्तकालय की रचना करता है । इन रचनाओं में बहुत कुछ दोहराव हुआ है । प्रशुल्क के सम्बन्ध में जो तर्क किए गए, उनमें प्रमुखता तो आर्थिक तत्वों की रही किन्तु ये भी कम महत्त्व के नहीं थे ।

प्रशुल्क नीति अर्थव्यवस्था के किसी न किसी समूह विशेष को अच्छी लगती है । यदि साइकिलों, नारंगियों या कपड़ों पर से प्रशुल्क हटाने का प्रस्ताव किया जाए तो इनके उत्पादकों एव निर्माताओं द्वारा इस प्रस्ताव का विरोध किया जाएगा । इन धन्धों के मजदूरों एव स्वामियों के अतिरिक्त वे लोग भी इसका विरोध करेंगे जो अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होते हैं । कभी-कभी एक नगर, राज्य अथवा देश का कोई क्षेत्र इस बात में रुचि लेता है कि प्रशुल्क में कमी न की जाए और एक विशेष प्रशुल्क को बनाए रखा जाए । ये समूह के प्रभावों को रोकना चाहते हैं । वे सोचते हैं कि यदि प्रशुल्क में कटौती की गई तो उनके व्यक्तिगत हितों को नुकसान पहुँचेगा ।

व्यावहारिक दृष्टि से यह सत्य है कि प्रशुल्क में होने वाली कटौती एक विशेष समूह के हितों का खण्डन करती है और इसलिए प्रशुल्क में कटौती की प्रक्रिया अत्यन्त धीमी होती है । जो व्यक्ति किन्हीं विशेष प्रशुल्कों से प्रभावित होते हैं वे एक प्रजातन्त्रात्मक देश में अपनी स्थिति की रक्षा के लिए पूरी शक्ति के साथ लड़ते है । ऐसा करते समय वे उन विभिन्न समूहों के साथ मिलकर एक हो जाते हैं जो प्रशुल्क को बनाए रखना चाहते हैं । जब प्रशुल्क का प्रभाव एक छोटे समूह पर होता है तो वह अत्यन्त मजबूत तथा राजनैतिक दृष्टि से प्रभावशील बन जाता है ।

प्रशुल्क सम्बन्धी वाद विवाद का सर्वाधिक कठिन पहलू यह है कि व्यक्तिगत और राष्ट्रीय हित के बीच अन्तर किया जाना चाहिए । प्रशुल्क नीति के समर्थक इसका व्यापक औचित्य बताते हैं । वे उसे सकीर्ण आत्म हित पर निर्भर नहीं रखते । कभी-कभी प्रभावित समूह द्वारा यह तर्क दिया जाता है कि जो हमारे लिए अच्छा है वह देश के लिए भी अच्छा होगा । प्रशुल्क नीति के विपरीत स्वतन्त्र व्यापार का पक्ष लेने वाले लोगों के तर्क स्पष्ट एव प्रभावशील हैं । उनके कथनानुसार व्यापार में किया गया हस्तक्षेप भौगोलिक विशेषीकरण की सम्भावनाओं को कम कर देगा और इस प्रकार स्वतन्त्र व्यापार में साधनों को वांछित कुशलता के साथ नहीं लगाया जा सकेगा । प्रशुल्क के समर्थन में अनेक तर्क दिए जाते हैं ।

प्रशुल्क सिद्धान्त की मान्यताएँ
(Assumptions of Tariff Policy)

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्वतन्त्र व्यापार का सिद्धान्त बहुत समय तक क्रियाशील

रहा। यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित था कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इसलिए होता है क्योंकि उसमें सम्बन्धित दोनों पक्ष लाभान्वित होते हैं। जब तक व्यापार से प्राप्तियों की सम्भावना नही रहती तब तक दो देशो के बीच व्यापारिक सम्बन्ध कायम नही हो पाते। कहा जाता है कि यदि सम्बन्धित दोनों पक्षों को पारस्परिक लाभ होता है तो उनके बीच व्यापार होना अत्यन्त कठिन है। इस दृष्टिकोण के अनुसार एक पक्ष हमेशा दूसरे पक्ष के विरुद्ध स्वयं लाभ प्राप्त करता है। तुलनात्मक लागत सिद्धान्त ने यह स्पष्ट किया कि व्यापार से दोनों पक्षों को लाभ हो सकता है; चाहे उनमे एक पक्ष दूसरे की अपेक्षा उत्पादन की सभी शाखाओं में अधिक कार्यकुशल क्यो न हो। इस प्रकार तुलनात्मक लागत सिद्धान्त ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पारस्परिक लाभ की बात कही।

व्यापार द्वारा उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि होती है। इसलिए कोई व्यापार न होने की अपेक्षा कुछ व्यापार होना ही श्रेष्ठ है। कहा जाता है कि यदि व्यापार को पूर्ण रूप से स्वतन्त्र छोड दिया गया तो कुछ समय बाद व्यापार असम्भव बन जाएगा, क्योंकि प्रत्येक देश के साधन-स्रोत सीमित होते हैं और ऐसी स्थिति मे स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एक देश की स्वतन्त्रता, आत्म-निर्भरता और ऐसी ही विभिन्न बातों को खतरे में डाल सकता है। इसलिए सुझाव दिया जाता है कि व्यापार पर कुछ नियन्त्रण लगाए जाएँ।

प्रशुल्क के द्वारा उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने की चेष्टा की जाती है, किन्तु उन उद्योगों को नही जो तुलनात्मक रूप से अकुशल होते हैं और विदेशी उद्योगों की प्रतियोगिता में ठहरने की क्षमता नही रखते। इसका प्रयोग प्रायः ऐसे उद्योगों की रक्षा के लिए किया जाता है जो प्रतियोगिता की क्षमता रखते हैं किन्तु पर्याप्त मात्रा में नही। देश के उद्योग विदेशी उद्योगों की तुलना मे अधिक सशक्त नही हैं उनको संरक्षण प्रदान करने की नीति लाभदायक नहीं होती। उदाहरण के लिए—यदि अमेरिका केले तथा चीनी के स्वतन्त्र व्यापार के स्थान पर 20 प्रतिशत प्रशुल्क लगा दे, तो भी इन वस्तुओं का व्यापार होता रहेगा; क्योंकि इनका कोई स्थानापन्न (Substitute) नहीं है।

प्रशुल्क नीति से सम्बन्धित सिद्धान्त कुछ मान्यताओं पर आधारित हैं—

(1) इसकी पहली मान्यता प्रतियोगिता से सम्बन्धित है, जिसके अनुसार यह कहा जाता है कि सापेक्षिक कीमतें वास्तविक अवसरगत लागतो को अभिव्यक्त करेंगी। यदि विभिन्न उद्योगों के बीच प्रतियोगिता की मात्रा भिन्न है तो सापेक्षिक कीमतें तुलनात्मक लागतों को अभिव्यक्त नही करेंगी। ऐसी स्थिति मे स्वतन्त्र व्यापार एक देश को ऐसे माल के उत्पादन में विशेषीकरण प्राप्त करने के लिए प्रभावित कर सकता है जिसमे उसे तुलनात्मक हानि हो। इस प्रकार व्यापार विश्व के उत्पादन को घटाएगा।

(2) यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि व्यापार से घरेलू उत्पादन की सम्भावनाएं प्रभावित नही होंगी। यदि 20 प्रतिशत प्रशुल्क हटा दिया

गया तो पडौसी देश के साथ व्यापार होने लगेगा किन्तु मजदूरो के सघ इस नीति का विरोध कर सकने हैं और अपने असन्तोष को हडताल के रूप मे जाहिर कर सक्ते हैं जिसके परिणामस्वरूप प्रत्येक कर्मचारी का प्रति घण्टा उत्पादन कम हो जाएगा। ऐसी परिस्थितियो मे व्यापार द्वारा दो देशो के कुल उत्पादन को कम किया जा सकता है।

(3) प्रशुल्क सिद्धान्त पूर्ण रोजगार की धारणा पर आधारित है। अधिकांश लाग इस बात से सहमत हैं कि यदि स्वतन्त्र व्यापार के कारण व्यापक वेरोजगारी फैलती है तो इस नही अपनाया जाए। स्वतन्त्र व्यापार इन मान्यताओ पर आधारित है कि यदि प्रशुल्को को हटा दिया गया तो प्रति व्यक्ति उत्पादन नही घटगा और वेरोजगारी का स्तर नहीं बढेगा। इन मान्यताओ के सम्बन्ध मे बहुत कम व्यावहारिक प्रमाण हैं।

इस प्रकार स्वतन्त्र व्यापार बनाम प्रशुल्को पर विचार करने के बाद यह कहा जा सकता है कि व्यापार को सम्भव बनाने के निए स्वतन्त्र व्यापार की नीति को त्याग कर प्रशुल्क नीति अपनाना उपयोगी रहेगा। दूसरी ओर यह भी सच है कि व्यापार की मात्रा को बढाने के लिए स्वतन्त्र व्यापार की नीनि उपयोगी है।

प्रशुल्क की ऊँचाई का माप
(Measuring the height of Tariff)

यदि हम विभिन्न देशो की अथवा एक ही देश की विभिन्न कालो मे प्रशुल्क व्यवस्था का अध्ययन करना चाहने हैं तो उसके लिए उसकी ऊँचाइयो का माप करना परमावश्यक है। पर प्रशुल्क की ऊँचाई मापना पर्याप्त जटिल है। ऐसा कोई सूत्र नही है जो स्पष्ट रूप से इसे माप सके। सांख्यिकी कठिनाइयो के अतिरिक्त एक कठिनाई यह है कि प्रशुल्क की ऊँचाई की धारणा अधिक स्पष्ट नही है।

प्रतिशत का आधार—प्रशुल्क दीवार की ऊँचाई मापने के लिए प्रतिशत को आधार बनाने का प्रयास किया जाना है। इसके लिए कर-योग्य आयातो और स्वतन्त्र आयातो की तुलना की जाती है। इस मापक का दोष यह है कि एक कर जितना प्रतिरोधात्मक होता है वह माप की दृष्टि से उतना ही कम महत्वपूर्ण बन जाता है। इसे स्पष्ट करने के लिए हम एक कल्पनात्मक उदाहरण ले सकते हैं—

उदाहरण के लिए यदि एक देश प्रशुल्क व्यवस्था लागू करने से पहले एक सौ वस्तुओ का आयात कर रहा था। अब 99 वस्तुओ के आयात पर इतना उच्च प्रशुल्क लगा दिया कि इन वस्तुओ का आयात पूर्ण रूप से रोकना पडा। 100वी वस्तु का आयात बिना किसी कर के स्वीकार किया गया। इस स्थिति मे प्रशुल्क दीवार की ऊँचाई कुछ भी नही है किन्तु वास्तव मे प्रशुल्क दीवार इतनी ऊँची है कि वह आयातो को प्राय पूरी तरह रोक देती है। इस प्रकार प्रशुल्क की ऊँचाई को मापने के लिए प्रतिशत का सूत्र कई बार गलतफहमी का कारण बन जाता है।

औसतन भार—प्रशुल्क की दीवार की ऊँचाई का एक दूसरा माप आयात करों का औसतन भार है। यह औसतन भार वह प्रतिशत है जो समस्त आयातों के

कुल मूल्य और संग्रह किए गए कुल आयात करों के बीच निकाला जाता है। इस मापक में यह दोष है कि प्रतिरोधात्मक करों की प्रशुल्क की दीवार की ऊँचाई के सूची-पत्र में पूरी तरह नहीं गिना जाता।

मूल्यों का अनुपात—एक तीसरा मापक वह अनुपात है जो करविहीन आयातों और कुल आयातों के मूल्यों के बीच रहता है। इस मापक में भी उपर्युक्त मापक के समान दोष हैं। जो देश कुछ वस्तुओं पर बहुत थोड़ा कर लगा रहा है वह भी ऐसा दिखाई देगा जैसे कि उसने अत्यन्त ऊँची प्रशुल्क दीवार खड़ी कर दी हो। दूसरी ओर जिस देश ने अधिकांश वस्तुओं पर प्रतिरोधात्मक कर लगा दिया है और केवल कुछ वस्तुओं को कर से स्वतन्त्र छोड़ा है, वह ऐसा दिखाई देगा मानो उसकी प्रशुल्क दीवार बहुत नीची है।

करों का औसत—प्रशुल्क की ऊँचाई मापने के लिए एक अन्य मापक आयातों के मूल्य का वह औसतन प्रतिशत है जो चुंगी अधिकारियों द्वारा कर के रूप में संग्रहित किया जाता है। इस मापक में अनेक कठिनाइयाँ तथा उलझनें हैं।

स्पष्ट है कि प्रशुल्क की ऊँचाई को मापने के लिए विभिन्न मापक हैं किन्तु उन सभी की अपनी कमजोरियाँ और समस्याएँ हैं। इनमें से किस विकल्प को चुना जाए यह तय करने के लिए देखना होगा कि हमारा उद्देश्य क्या है?

प्रशुल्क नीति के लाभों पर विचार करते हुए विद्वानों ने यह मत प्रकट किया है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर प्रशुल्क लगाना सामान्यत: एक देश के लिए हितकर होता है। इसके साथ ही यह भी सही है कि विश्व की दृष्टि से स्वतन्त्र व्यापार एक सर्वश्रेष्ठ नीति है। जब प्रत्येक देश का प्रतियोगितापूर्ण व्यवहार अन्य देशों के लाभ को कम करने का प्रयास करता है तो स्वाभाविक है कि राष्ट्रीय कल्याण की वृद्धि के लिए एक देश द्वारा किए गए प्रयास दूसरे सभी देशों के कल्याण को कम करेंगे। यदि स्वतन्त्र व्यापार की व्यवस्था के अन्तर्गत पूर्ण रोजगार की स्थिति रह सके तो विश्व के साधन स्रोतों का सर्वश्रेष्ठ आवंटन हो सकेगा। स्वतन्त्र व्यापार की व्यवस्था द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग की सभी समस्याओं का समाधान नहीं किया जा सकता। इसमें व्यापार अधिक होगा और इसलिए विभिन्न समस्याएं अधिक अनुपात में उठ खड़ी होंगी। इसके लिए सन्तोषजनक अन्तर्राष्ट्रीय मापक तथा रोजगार का स्थायी-स्तर बनाए रखने में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की समस्याएँ रहेंगी और जब तक इनका समाधान नहीं किया जाता तब तक सही अर्थों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सन्तोषजनक रूप से कार्य नहीं कर सकता।

प्रशुल्क नीति को प्रारम्भ करने वाला देश शुरू में लाभ की स्थिति में रहता है किन्तु जब प्रशुल्क दीवारें चारों ओर बँध जाती हैं तो प्रारम्भकर्त्ता देशों को यह अनुभव होता है कि शुरू में जो लाभ उनको मिले थे वे अब समाप्त हो गए हैं। इतने पर भी ये देश प्रशुल्कों को बढ़ाने में अपने लाभ देख सकते हैं। प्रशुल्क की दीवारें ज्यों-ज्यों उठती हैं, त्यों-त्यों अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा में कमी आती है। प्रशुल्क प्रवृत्ति को रोकने के लिए विभिन्न सम्मेलन किए जाते हैं और [illegible]ीय दबावों द्वारा इस प्रवृत्ति को रोकने का प्रयास किया जाता है।

प्रशुल्कों की तीन श्रेणियाँ
(Three Categories of Tariffs)

प्रशुल्क (Tariff) कर को निर्मित वस्तु पर उस समय लगाया जाता है जबकि वह राष्ट्रीय सीमाओं को पार करती है। राष्ट्रीय सीमाओं को पार करने वाले माल की स्थिति एवं जन्म के अनुसार प्रशुल्क (Tariff) को सामान्य रूप से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—आयात कर (Import Duties), निर्यात कर (Export Duties) और पारगमन कर (Transit Duties)। ये तीनों प्रशुल्क एक देश द्वारा इसलिए लगाए जाते हैं ताकि वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में अपनी स्थिति को सन्तुलित बनाए रख सके।

(1) आयात कर
(Import Duties)

आयात कर' प्रशुल्क के तीनों रूपों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा सामान्य है। इसका उद्देश्य राजकोष के लिए धन प्राप्त करना होता है। इसके लिए विदेशी व्यापार को एक साधन बनाया जाता है। यदि प्रशुल्क का उद्देश्य केवल राजस्व एकत्र करना हो तो यह कर इस प्रकार लगाना चाहिए कि विदेशी व्यापार कम न हो। मान लीजिए किसी लोचशील वस्तु पर अधिक आयात कर लगा दिया गया तो निश्चय ही उसकी माँग घट जाएगी और इसलिए उससे प्राप्त होने वाला राजस्व भी कम हो जाएगा। ऐसी स्थिति में प्रशुल्क कम होना चाहिए और उस वस्तु पर लगाना चाहिए जो अपेक्षाकृत लोचहीन है। यदि आयात कर एक ऐसी वस्तु पर लगाया जा रहा है जिसका उत्पादन देश में भी हो रहा है तो स्वदेशी वस्तु पर भी इतना कर लगाना चाहिए ताकि प्रतिस्पर्द्धा की शर्तें बराबर हो सकें और राजस्व भी प्राप्त हो सके। यदि ऐसा न किया गया तो वस्तु का आयात लाभदायक नहीं रहेगा और प्रशुल्क से बहुत कम राजस्व प्राप्त होगा।

आयात कर के रूप में प्रशुल्क घरेलू उद्योगों को विदेशी प्रतिस्पर्द्धा से बचाने की दृष्टि से अत्यन्त प्रभावशाली होता है। इस प्रकार यह देश के विकास के लिए परमावश्यक है। घरेलू उद्योगों को विदेशी प्रतियोगियों के आक्रमणकारी एवं अन्याय-पूर्ण व्यवहार के विरुद्ध सुरक्षा की आवश्यकता होती है। आजकल व्यापारिक सौदेबाजी के लिए प्रशुल्क का अधिक प्रयोग किया जाने लगा है। जब एक देश अन्य देश से अपने निर्यात के लिए सुविधाएँ माँगता है तो वह स्वयं भी उसके निर्यात के लिए सुविधाएँ प्रदान करता है। प्रशुल्क का प्रयोग प्रतिक्रिया के रूप में भी किया जा सकता है। जब एक देश दूसरे देश के निर्यात कर प्रशुल्क लगा देता है तो दूसरा देश भी बदले की भावना से उसके निर्यात पर प्रशुल्क लगा देता है।

आयात कर और मूल्य
(The Import Duties and Prices)

आयातकर एक वस्तु की कीमत एवं उत्पादन पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव रखता है। सामान्यतः यह विश्वास किया जाता है कि किसी आयातित वस्तु पर जितना

आयात कर लगाया जाता है उसकी कीमत उतनी ही बढ़ जाती है। यह मान्यता सही नहीं है क्योंकि सम्भव है वस्तु की कीमत अधिक कम अथवा ज्यों की त्यों रहे। तीनों परिस्थितियाँ सम्भव हैं।

यदि लगाया गया कर विदेशी उत्पादकों द्वारा सहन कर लिया जाता है तो वस्तु की कीमत बढाने की आवश्यकता नहीं रहती। यह प्राय: उस समय सम्भव होता है जब निर्यात करने वाला देश उसका उत्पादन एकाधिकार की परिस्थितियों में कर रहा हो और आयात करने वाला देश उसका सबसे बड़ा खरीददार हो। कुछ समय के लिए विदेशी उत्पादक द्वारा लगाए गए कर का सारा भार स्वयं सहन कर सकता है, ताकि वह अपने माल की खपत कर सके। यदि आवश्यक हुआ तो वह कीमत कम भी कर सकता है किन्तु ज्योंही निर्यात करने वाले देश का माल पूरा होगा त्योंही वह अपने माल की कीमत बढा देगा।

यदि वस्तु का उत्पादन स्थिर लागत के नियम के अनुसार हो रहा है तो आयात करने वाले देश मे वस्तु की कीमत उतनी बढ जाएगी जितना कि आयात कर लगाया गया है। अब आयात कर लगाने से वस्तु की कीमत बढ जाएगी तो उसकी कुल घरेलू माँग घट जाएगी। यदि यह कीमत इतनी बढ़ जाए कि उस वस्तु की घरेलू लागत से भी अधिक हो जाए तो उसका आयात भी बन्द हो जाएगा क्योंकि उसे विदेश से खरीदने पर कोई लाभ नहीं रहेगा। ऐसा होने पर निर्यात-कर्त्ता देश को शुद्ध हानि होती है। जब सम्बन्धित वस्तु की माँग को घरेलू उत्पादन द्वारा पूरा किया जाता है तो उपभोक्ता तो समान कीमत देता है किन्तु राजकोष को कोई राजस्व प्राप्त नहीं होता।

तीसरी स्थिति मे वस्तु की कीमतें आयात कर की मात्रा से कम बढती हैं। यदि लगाया गया आयात कर आयात-कर्त्ता और निर्यात-कर्त्ता देशों के मध्य स्थित वस्तु लागत के अन्तरों से अधिक है और उत्पादन स्थिर लाभ के नियमों के अनुसार हो रहा है तो आयात पूर्ण रूप से रुक जाएगा। ऐसी स्थिति में मूल्य-वृद्धि केवल उतनी ही होगी जितना आयात-कर्त्ता और निर्यात-कर्त्ता देशों के बीच लागत का अन्तर है। यह लागत का अन्तर प्राय: कर की मात्रा से कम होता है। यदि कीमतें इस अन्तर से अधिक बढ जाती हैं तो असाधारण लाभ होने लगेगा। इस लाभ के कारण घरेलू उत्पादक अपनी पूर्ति को बढा देंगे और पूर्ति की यह वृद्धि कीमत को गिरा देगी। वस्तु की कीमत लगाए गए कर से कम उस समय बढ़ती है जब उत्पादन और बाजार की शर्तें ठीक वैसी ही हों जैसे कर का सारा भार विदेशी उत्पादक या निर्यात-कर्त्ता देश पर डालते समय होती हैं। इन परिस्थितियों मे सारा भार विदेशियों पर डालने की अपेक्षा केवल अंश मात्र ही डाला जा सकता है।

यदि उत्पादन वृद्धिशील लागत के अनुसार हो रहा है तो कर के साथ वस्तु की विदेशी कीमत घरेलू कीमत से भिन्न होगी। यदि वस्तु का मूल्य कर की मात्रा से अधिक होगा तो आयात कम कर दिया जाएगा और इस प्रकार घरेलू कीमत इतनी बढ़ जाएगी कि मूल्य का अन्तर कर के बराबर हो जाएगा। इस प्रकार स्थायी

स्थिति वह होगी जहाँ विदेशी एवं घरेलू मूल्यो के अन्तर दो कारणो अर्थात् घरेलू कीमते बढने या विदेशी कीमते घटने से हो।

यदि अन्य बाते समान रहे तो निर्यात-कर्त्ता देश मे वस्तु की माँग जितनी अधिक तथा लोचशील होगी वहाँ वस्तुओ के मूल्य मे उतनी ही कमी होगी और दूसरी ओर आयात कर्त्ता देश मे कीमत उतनी ही बढ जाएगी। यदि आयातित वस्तु की कीमत थोडी भी कम हुई तो उसकी घरेलू माँग बढ जाएगी और इस प्रकार कर द्वारा विदेशी बाजार मे जो हानि हुई है उसकी क्षतिपूर्ति हो जाएगी। इस प्रकार निर्यात-कर्त्ता देश अपनी कीमत म थोडी ही कमी करेगा। आयात-कर्त्ता देश का अपना घरेलू उत्पादन बढाना होगा ताकि उस माँग की पूर्ति की जा सके जिसे पहिले विदेशी निर्यात-कर्त्ता द्वारा पूरा किया जाता था। ऐसी स्थिति मे उत्पादन लागत बढ जाएगी और आयात-कर्त्ता देश मे वस्तु की कीमत भी बढेगी। दूसरी ओर यदि आयात-कर्त्ता देश मे माँग बडी और लोचशील है तो उसम वस्तु के मूल्य की वृद्धि अपेक्षाकृत कम होगी और निर्यात कर्त्ता देशो मे मूल्य की कमी अधिक हो जाएगी। यदि माँग लोचशील है तो वस्तु की कीमत थोडी बढते ही आयात-कर्त्ता देश मे उसकी खपत घट जाएगी। इस स्थिति मे आयात कर्त्ता देश मे उत्पादन तथा मूल्य की वृद्धि बहुत कम होगी। जब आयात कर लग जाने से आयात-कर्त्ता देश मे अन्य देश के निर्यातो की माँग कम हो जाती है तो निर्यात कर्त्ता देश मे उसका उत्पादन घट जाता है। इसके परिणामस्वरूप उत्पादन लागत घटेगी और इसलिए निर्यात कर्त्ता देश मे वस्तु की कीमत घट जाएगी।

यदि अन्य बातें समान रहें तो निर्यात-कर्त्ता देश की पूर्ति जितनी अधिक तथा लोचशील होगी उसमे मूल्य की कमी उतनी ही कम होगी और आयात कर्त्ता देश म मूल्य की वृद्धि उतनी ही हो जाएगी। कीमतो मे कमी होने पर निर्यात-कर्त्ता दश म उनका उत्पादन कम हो जाएगा। आयात मे भारी कमी होने पर घरेलू उत्पादन बढाना होगा और इसलिए वस्तु की उत्पादन लागत बढ जाएगी। साथ ही आयात-कर्त्ता देश मे कीमते भी बढ जाएँगी। इस प्रकार यदि कर लगाने से आयात थोडा कम होता है तो इसके परिणामस्वरूप निर्यात-कर्त्ता देश मे वस्तु की कीमते कम हो जाएँगी और आयात-कर्त्ता देश मे कीमते बढ जाएँगी। दूसरी ओर यदि आयात-कर्त्ता देश मे पूर्ति लोचशील है तो उसमें कीमत की वृद्धि तुलनात्मक रूप से कम होगी और निर्यात कर्त्ता देश मे कीमते घट जाएँगी।

कभी कभी वस्तु की कीमते लगाए गए आयात कर की मात्रा से अधिक बढ जाती हैं। अन्तिम उपभोक्ता के पास पहुँचने से पूर्व वस्तु अनेक बिचौलियो के हाथ से निकलती है। ये सभी लाभ कमाते हैं। ये वस्तु पर अपने लाभ का कुछ प्रतिशत सम्मिलित कर लेते हैं।

आयात-कर के कुछ अप्रत्यक्ष प्रभाव
(Some Indirect Effects of Import Duty)

किसी वस्तु पर लगाए गए आयात-कर के परिणामस्वरूप कीमतो मे जो वृद्धि

होती है वह उसका प्रत्यक्ष प्रभाव है। इसके अतिरिक्त आयात कर के कुछ अप्रत्यक्ष प्रभाव भी होते है। इन सब का वर्णन करना यदि असम्भव नही तो कठिन अवश्य है। इनकी सामान्य प्रकृति का उल्लेख किया जा सकता है। किसी एक आयात कर को लगाने की वांछनीयता का अध्ययन करते समय इन प्रभावो को ध्यान मे रखना जरूरी हो जाता है।

किसी वस्तु के आयात पर कर लगाया जाता है तो सामान्यत. उसके मूल्य मे वृद्धि हो जाती है और माँग घट जाती है। ऐसी वस्तु से अलग होने वाली क्रय-शक्ति (Purchasing Power) को घरेलू सामान अथवा अन्य आयातित वस्तुओ पर खर्च किया जा सकता है। सामान्यत: इस क्रय-शक्ति को अंशतः घरेलू सामान पर और अंशत. आयातित वस्तुओ पर खर्च किया जाता है। जब क्रय-शक्ति का कुछ भाग आयातित वस्तु से घरेलू वस्तुओ की ओर मुड़ जाएगा तो सम्बन्धित वस्तु को निर्यात करने वाले देश की भुगतानो की सन्तुलन स्थिति बदल जाएगी। भुगतानों के असन्तुलन को ठीक करने के लिए निर्यात-कर्त्ता आयातो की मात्रा को घटा देता है। आयातो की यह कमी या तो धन सम्बन्धी यन्त्र द्वारा अपने आप ही कर ली जाती है अथवा इसके लिए राज्य स्वयं नीति निर्धारित करता है। इसका अन्तिम परिणाम यह होगा कि विश्व-व्यापार की मात्रा कम हो जाएगी और दोनो देशो मे क्रय शक्ति आयातित-वस्तु से घरेलू वस्तु की ओर मुड़ जाएगी। इससे घरेलू वस्तुओं का उत्पादन बढ़ेगा और जिन वस्तुओं का व्यापार किया जाता है उनका उत्पादन घट जाएगा। उत्पादन के विभिन्न साधनों के मूल्यो मे तुलनात्मक परिवर्तन विभिन्न वस्तुओ के मूल्यो मे परिवर्तन का कारण बन जाएँगे।

जिस वस्तु पर आयात कर लगाया जाता है उसकी कीमत मे होने वाली वृद्धि अन्य वस्तुओ की कीमत को बढा देगी। यदि वह वस्तु अन्य वस्तुओं के उत्पादन के लिए प्रयुक्त की जाती है तो इससे उत्पादन की लागत और उन वस्तुओ की कीमत प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होगी। आयात कर जिस वस्तु पर लगाया गया है यदि वह उपभोग-वस्तु है तो उसकी कीमतो में वृद्धि होने के कारण मजदूर अधिक वेतन की माँग करेंगे ताकि वे (महँगी वस्तुओ) महँगाई का सामना कर सकें और इस प्रकार वस्तुओं की कीमत बढ जाएगी।

(II) निर्यात कर
(Export Duties)

उन्नीसवी शताब्दी के मध्यकाल से पूर्व निर्यात करों का प्रयोग एक सामान्य बात थी। उस समय यह लोकप्रिय विश्वास था कि निर्यात करों को आयात करने वाले देश के उपभोक्ताओं द्वारा सहन किया जाता है। बाद मे यह समझा जाने लगा कि निर्यात कर सामान्य रूप से राष्ट्रीय हित मे नही होता है क्योकि इससे देश का निर्यात रुकता है।

निर्यात कर लगाने का उद्देश्य भी सामान्यत: राजस्व की प्राप्ति होता है। निर्यात कर प्राय: उन देशो द्वारा लगाया जाता है जो मूलभूत उत्पादनो का निर्यात

करते हैं अर्थात् कच्चा माल भेजते हैं। यह निर्मित वस्तुओं पर बहुत कम लगता है। इसका एक कारण यह है कि कच्चे माल का उत्पादन करने वाले देश पिछड़े हुए होते हैं। उन देशों में घरेलू आय, उत्पादन एवं लाभ पर कर लगाने वाला प्रशासकीय तन्त्र उतना विकसित नहीं होता जितना कि विदेशी व्यापार पर कर लगाने वाला होता है। इन देशों के लोग अधिकतर अशिक्षित होते हैं और इसलिए वे व्यवस्थित लेखे नहीं रख पाते। इन देशों की जनसंख्या प्रायः देहाती क्षेत्रों में बिखरी हुई होती है। ऐसी स्थिति में प्राय कर अथवा उत्पादन कर को एकत्रित करने में भारी खर्चा आता है। दूसरी ओर निर्यात करों का संग्रह करने के लिए प्रशासकीय यन्त्रों का होना केवल बन्दरगाहों पर ही पर्याप्त होता है तथा इसके लिए केवल थोड़े से ही लोगों की आवश्यकता होती है।

निर्यात कर संरक्षण की नीति का एक हथियार है। इसे प्रायः घरेलू उत्पादकों की रक्षा करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। कई बार एक साम्राज्यवादी देश अपने उपनिवेशों को इस बात के लिए मजबूर करता है कि वे निर्यात कर लगाएँ ताकि वह देश अपने घरेलू उद्योगों का उपनिवेशों की प्रतिस्पर्द्धा से बचा सके। कभी-कभी निर्यात करों का प्रयोग इसलिए भी किया जाता है, ताकि प्राकृतिक साधनों का घरेलू उद्योगों के लिए रखा जा सके। एक देश निर्यात को प्रोत्साहन देने की विभिन्न क्रियाओं में धन खर्च करता है तो इसके बदले वह निर्यात कर लगा देता है। निर्यात कर प्रायः उन वस्तुओं पर भी लगा दिया जाता है जिनकी पूर्ति कम होती है और जिनके लिए एक देश दूसरे देशों से अधिक कीमत प्राप्त करना चाहता है।

निर्यात कर एवं कीमतें
(Export duties and Prices)

आज का संसार एक प्रतिस्पर्धापूर्ण स्थिति में है और इसलिए निर्यात करों का भार स्वयं निर्यातकर्त्ता देश के उत्पादकों द्वारा ही वहन किया जाना चाहिए। विश्व बाजार में निर्यात कर लगाने वाले देश के उत्पादक किसी वस्तु की कीमत उसमें अधिक प्राप्त नहीं कर सकते जितनी में अन्य देश उसे आसानी से देने के लिए तैयार हैं। इस प्रकार इन उत्पादकों को अपने निर्यात की कीमत विश्व की कीमत से कम मिलेगी क्योंकि उसमें से लगा हुआ निर्यात कर घट जाएगा। यह मूल्य की कमी लाभ को कम कर देगी और इस प्रकार उत्पादन तथा निर्यात की मात्रा घट जाएगी।

यदि निर्यात कर लगाने वाला देश उस वस्तु का प्रमुख पूर्तिकर्त्ता है तथा उस वस्तु की पूर्ति पर्याप्त लोचशील है तो निर्यात कर का एक भाग आयातकर्त्ता देश के उपभोक्ताओं से वसूल किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में उस वस्तु की कीमत बढ़ जाएगी।

विश्व माँग की लोचशीलता जितनी अधिक होगी, दुनिया की कीमतें उतनी ही कम बढ़ेंगी। इस प्रकार कर लगाने वाले देश के उत्पादकों को उतनी ही कम कीमत प्राप्त होगी। जब विश्व की माँग लोचशील है तो कीमतों में थोड़ी सी वृद्धि

भी माँग की कमी का कारण बन जाती है। माँग में अधिक कमी होने के कारण कीमतें घट जाती हैं, इसके विपरीत यदि विश्व की माँग लोचहीन है तो मूल्य में वृद्धि अधिक नहीं होगी और इस प्रकार मूल्य प्रायः अधिक प्रभावित रहेगा। ऐसी स्थिति में निर्यात कर का भार घरेलू उत्पादकों के कन्धों पर पड़ेगा।

(III) पारगमन कर
(Transit Duty)

19 वी शताब्दी के प्रारम्भ में व्यवसायवाद के काल में इस प्रकार के कर अत्यन्त सामान्य थे। उस समय यातायात अत्यन्त धीमा और महँगा था। इसके लिए छोटे रास्ते का होना जरूरी था। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए अनुकूल भौगोलिक स्थिति से सम्पन्न देशो ने अपने क्षेत्र में से गुजरने वाले व्यापारियो पर कर लगाए। 19वी शताब्दी के दौरान यातायात के क्षेत्र मे होने वाले विभिन्न विकासो ने इस कर की सम्भावनाओं को कम कर दिया। इसके अतिरिक्त विभिन्न राष्ट्रो के बीच जो अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग की भावना पैदा हुई उसके फलस्वरूप भी पारगमन कर समाप्त हो गए। इस प्रकार के करों का भार आयातकर्त्ता देश के उपभोक्ताओं अथवा निर्यातकर्त्ता देश के उत्पादकों पर पड़ेगा, इसका निश्चय दोनों देशों मे माँग और पूर्ति की परिस्थितियों द्वारा होता था। अन्य करों की भाँति ये कर विश्व-व्यापार के आकार को रोकने का कार्य करते थे।

दो दृष्टिकोण
(Two Approaches)

प्रशुल्कों को विभिन्न भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है। उनको वर्गीकृत करने के दो प्रमुख दृष्टिकोण हैं। एक के अनुसार इनके उद्देश्य पर जोर दिया जाता है और दूसरे के अनुसार इनके द्वारा अपनाई गई दर को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इन दोनो का अध्ययन निम्न प्रकार किया जा सकता है—

(1) करों का उद्देश्य—कोई भी प्रशुल्क या तो राजस्व एकत्रित करने के लिए लगाया जाता है अथवा रक्षा की दृष्टि से। जो प्रशुल्क राजस्व की दृष्टि से लगाए जाते हैं उनकी सामान्यत: अपेक्षाकृत कम दर होती है क्योंकि ये आयातो को बाहर रखने के उद्देश्य से नही लगाए जाते। ये मुख्य रूप से घरेलू उपभोग की उन वस्तुओं पर लगाए जाते हैं जिनका उपयोग व्यापक होता है। दूसरी ओर रक्षात्मक प्रशुल्क वे होते हैं जो विदेशी आयात मे कटौती करने के लिए लगाए जाते हैं ताकि घरेलू उत्पादनों को प्रतियोगिता मे बचाया जा सके। पूर्ण रक्षात्मक प्रशुल्क आयात को पूर्ण रूप से रोक देते हैं और इस प्रकार का राजस्व प्राप्त नहीं करते। अधिकांश रक्षात्मक प्रशुल्क ऐसे होते हैं जो समस्त आयातों को पूर्णतया नही रोकते और इसीलिए वे कुछ राजस्व प्रदान करते रहते हैं। इस प्रकार के प्रशुल्कों मे रक्षात्मक और राजस्व दोनों प्रकार के गुण पाए जाते हैं। कई मामलों मे तो यह निश्चित करना कठिन हो जाता है कि प्रशुल्क का उद्देश्य क्या है?

(2) कर की दरें—कर की दरें या तो विशेष हो सकती हैं अथवा प्रतिशत के हिसाब से हो सकती हैं। विशेष दरों के अनुसार प्रति भौतिक इकाई पर कर लगाए जाएँगे, जैसे—एक मन गेहूँ पर 10 पैसे या 10 टन लोहे पर दो रुपए आदि। इसके विपरीत वस्तुओं की कीमत के प्रतिशत के हिसाब से भी कर लगाए जाते हैं। उदाहरण के लिए एक मशीन की कीमत पर 10 प्रतिशत आयात के बदलने से इस प्रकार के कर की मात्रा में कोई परिवर्तन नहीं आता जब कि विशेष कर की मात्रा कीमतों में परिवर्तन के साथ बदलती रहती है।

प्रशुल्क का भुगतान कौन करता है ?
(Who pays the Tariffs ?)

लगाया गया प्रशुल्क किसके द्वारा अदा किया जाता है—यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इस सम्बन्ध में एक अतिशयपूर्ण दृष्टिकोण यह है कि प्रशुल्क विदेशी पूर्तिकर्ता पर लगाया गया एक कर है जबकि दूसरा अतिशय पूर्ण दृष्टिकोण यह है कि प्रशुल्क का भुगतान अन्तिम उपभोक्ता द्वारा किया जाता है। यद्यपि दोनों दृष्टिकोणों के उदाहरण हैं किन्तु सामान्य रूप से वस्तु स्थिति दोनों के बीच में रहती है। इस स्थिति को सामान्यतः चार भागों में विभाजित किया जा सकता है। लगाया गया कर हो सकता है कि घरेलू कीमतों पर किसी प्रकार का प्रभाव न डाले। यह घरेलू कीमतों को बढ़ा सकता है किन्तु यह वृद्धि कर की मात्रा से कम या बराबर अथवा अधिक हो सकती है।

(1) कभी कभी लगाया गया प्रशुल्क घरेलू कीमतों को बिल्कुल प्रभावित नहीं करता। ये वस्तुएँ प्रायः ऐसी होती हैं जिनकी पूर्ति सामान्य घरेलू माँगों को पूरा करने के लिए पर्याप्त होती हैं तथा निर्यात के लिए भी अतिरेक बच जाता है। इस स्थिति का कारण ऐतिहासिक उदाहरणों के सन्दर्भ में समझा जा सकता है। प्रथम विश्व युद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका ने प्रति बुशल (Bushal) गेहूँ पर 42 सैन्ट कर लगा दिया ताकि घरेलू कीमतों को विश्व के स्तर तक बढ़ाया जा सके। इस समय अमेरिका में गेहूँ का निर्यात किए जाने योग्य नियमित अतिरेक था। ऐसी स्थिति में प्रशुल्क सम्बन्धी यह कदम असफल होना स्वाभाविक था। यदि घरेलू कीमतें विश्व स्तर से अधिक बढ़ जाती तो घरेलू उत्पादकों को अपना सारा गेहूँ घर में ही बेचने में लाभ था। गेहूँ की माँग देश में निश्चित थी और इसलिए व्यापक बिक्री होने के कारण कीमतों को पुनः गिरना होता। कहने का अर्थ यह है कि जब कभी निर्यात योग्य अतिरेक रहता है घरेलू उत्पादक अपने उत्पादन के लिए विश्व कीमत से अधिक प्राप्त नहीं कर सकता—इसके लिए वह चाहे प्रशुल्क लगाए अथवा न लगाए।

(2) उसका कर देय वस्तु का उत्पादन यदि लागत वृद्धि के अनुसार किया जाता है तो उसकी घरेलू कीमत कर की अपेक्षा कम बढ़ती है, क्योंकि इसमें पूर्ति की अतिरिक्त इकाइयों का उत्पादन प्रति इकाई अधिक लागत लगा कर ही किया जा सकता है। स्वतन्त्र बाजार की परिस्थितियों में वस्तुओं की कीमतों के

बीच समानता रहती है चाहे उनमे यातायात का व्यय कितना ही अधिक क्यो न किया गया हो ? कर लगने पर वस्तु की घरेलू और विदेशी कीमतो मे कर के बराबर अन्तर आ जाएगा। आयातकर्त्ता देश को जब अधिक कीमत मे माल मिलने लगेगा तो वह आयात की मात्रा घटा देगा और घरेलू उत्पादन को बढाएगा। यह कदम तब ही उठाया जाएगा जबकि प्रति इकाई लागत की मात्रा अधिक होगी। निर्यातकर्त्ता देश मे इसका प्रभाव यह होगा कि उसका निर्यात घट जाएगा। इससे उत्पादन की मात्रा घट जाएगी, लागत भी घटेगी और सम्भवत. उपभोग बढ जाएगा। कुल मिलाकर परिणाम यह होगा कि आयातकर्त्ता देश में वस्तु की कीमत पहले से कुछ अधिक हो जाएगी किन्तु यह अधिक मात्रा लगाए गए कर की मात्रा से थोडी कम होगी।

इस प्रकार के समायोजन को निम्न रेखाचित्र द्वारा समझाया जा सकता है—
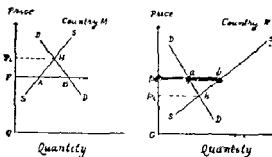
Incidence of a Tariff

उपर्युक्त रेखाचित्र मे उस वस्तु की मांग-पूर्ति और कीमत को लिया गया है जो दो देशो मे लागत-वृद्धि के नियम के आधीन उत्पादित की जाती है। ये देश है—'M' और 'X'। व्यापार न करने वाले विश्व मे प्रत्येक देश विशेष वस्तु का उत्पादन करता है। 'M' देश P₁H की मात्रा को OP₁ की कीमत पर उत्पादित करता है और X देश P₁h की मात्रा को Op₁ कीमत पर उत्पादित करता है और उपभोग करता है। मान लीजिए व्यापार प्रारम्भ होता है और कीमतें कम होने के कारण X निर्यात करता है और कीमत अधिक होने के कारण M आयात करता है। यहाँ यदि हम यातायात लागत को सम्मिलित न करें तो दोनो देशो मे समान कीमतें रहेगी। यह कीमते ऐसी होगी कि X और M की संयुक्त पूर्ति X तथा M की संयुक्त मांग के बराबर हो जाएगी। M की कीमत के स्तर की आड़ी रेखा Pp द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है। उसमे ab निश्चय ही AB के बराबर रहेगा अर्थात् X की अतिरिक्त पूर्ति M की अतिरिक्त मांग के बराबर हो जाएगी। इस प्रकार व्यापार शुरू होने का प्रभाव M पर यह पडेगा कि Op₁ कीमतें Op पर आ जाएगी और उत्पादन P₁H से घट कर PA तक आ जाएगा। दूसरी ओर उपभोग P₁H से बढ़कर PB पर आ जाएगा। आयातों को मात्रा AB हो जाएगी।

दूसरी ओर X पर प्रभाव यह पड़ेगा कि वह कीमतों को Op_1 से Op तक बढ़ा देगा। वह उत्पादन को P_1h से pb तक बढ़ा देगा और उपभोग को P_1h से pa तक घटा देगा, इस प्रकार निर्यात ab(=AB) हो जाएगा।

उपर्युक्त परिस्थितियों मे यदि M द्वारा आयात कर लगा दिया जाता है और यह पूर्ण रूप से रक्षात्मक है तो परिणामस्वरूप दोनों देशों के बाजार पृथक् हो जाएँगे और वह परिस्थिति उत्पन्न हो जाएगी जो व्यापार शुरू होने से पूर्व थी। ऐसी स्थिति मे हम यह कल्पना करते हैं कि लगाया गया कर पूर्णतया रक्षात्मक से कम है। इसमे जो स्थिति उत्पन्न होगी उसे निम्न रेखाचित्र मे प्रदर्शित किया गया है—
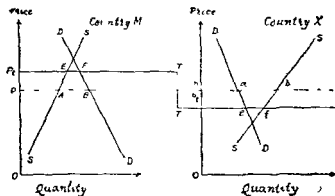
इस रेखाचित्र मे कर TT है। यदि M और X देशो के बीच व्यापार होना है तो यह जरूरी है कि M मे कीमतें X की अपेक्षा TT से अधिक हों। X के द्वारा अपनी मांग से अधिक जिस मात्रा की पूर्ति की जाएगी वह M की घरेलू पूर्ति से अधिक मांग के बराबर होगी। नव स्थापित सन्तुलन टूटी फूटी रेखा PtT Ttp के द्वारा प्रदर्शित किया गया है। यह उस समय तक ऊपर और नीचे होता है जब तक कि EF अन्य ef के बराबर न हो जाए। इस बिन्दु पर X के निर्यात M के आयातों के बराबर हो जाते हैं। यहाँ हम टूटी हुई रेखा Pp को भी जोड़ सकते हैं ताकि स्वतन्त्र बाजार की परिस्थितियों म और प्रशुल्क की परिस्थितियों म बाजार की तुलना की जा सके। यह स्पष्ट है कि M पर प्रशुल्क का प्रभाव कीमतों को OP से OPt पर बढ़ाने का है और उत्पादन को PA से PtE तक बढ़ाने का है, किन्तु इसके आयात AB से EF तक घटा दिए जाते हैं और उपभोग को PB से PtF तक घटा दिया जाता है। X देश पर इसका जो प्रभाव होगा उसके अनुसार कीमतों को Op से Opt तक और उत्पादन को pb से pt तक घटा दिया जाएगा। इसके निर्यात ab से ef तक घटा दिए जाएँगे किन्तु इसका उपभोग pa से Pte तक बढ़ा दिया जाएगा।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि आयातकर्त्ता देश पर प्रशुल्क का प्रभाव यह होगा कि उसकी कीमतें और उत्पादन बढ़ जाएंगे किन्तु आयात और उपभोग घट जाएँगे। निर्यातकर्त्ता देश में कीमत उत्पादन और निर्यात घट जाएँगे तथा उपभोग

बढ जाएगा। यद्यपि दोनों देशों में कीमत का अन्तर कर की पूर्ण मात्रा के बराबर है किन्तु फिर भी आयातकर्ता देश में कीमत कर की मात्रा से कम बढ़ती है। उपर्युक्त स्थिति मे कीमत-प्रभाव मूल रूप से पूर्ति और मांग के आकार तथा लोचशीलता पर निर्भर करता है।

(3) जिस वस्तु पर कर लगाया जा रहा है यदि उसका उत्पादन स्थिर लागत के अनुसार किया जा रहा है तो प्रशुल्क के कारण घरेलू कीमतें लगाए गए कर के बराबर बढ़ जाएँगी। ऐसी स्थिति मे कर लगने के कारण उसकी कीमतें ऊँची होने और आयात की मात्रा घटने पर भी सम्पूर्ण पूर्ति का आयात किया जाएगा।

(4) यह भी सम्भव है कि एक वस्तु की घरेलू कीमत उस मात्रा से अधिक बढ जाए जिसमे कर लगाया गया है। यह इसलिए सम्भव है क्योकि आयातित माल उपभोक्ता के पास सीधा नही पहुंचता वरन् बिचौलियों के हाथो मे होकर निकलता है। प्रत्येक मध्यस्थ व्यक्ति उसकी कीमत को कुछ न कुछ बढा देता है। इस प्रकार जब वस्तुएँ अनेक हाथो मे होकर निकलती हैं तो दिया गया कर वास्तविक उपभोक्ता तक पहुँचते-पहुँचते कई गुना बढ जाता है।

प्रशुल्क के प्रभाव
(Effects of Tariff)

किंडलबर्गर के अनुसार प्रशुल्क लगाने से निम्नलिखित प्रभाव पड़ते हैं—

(1) निर्यातों की मात्रा पर प्रभाव—आयातों पर जो कर लगाया जाता है वह निर्यातो को घटा देता है। यह तथ्य पारस्परिक मांग की मान्यता पर आधारित है। एक देश द्वारा लगाया गया प्रशुल्क उसके आयातो को घटा देगा और इसलिए विदेशी निर्यातकर्त्ताओ को विदेशी विनिमय की आमदनी कम हो सकेगी। ऐसी स्थिति मे प्रशुल्क लगाने वाले देश के माल का निर्यात बाजार घट जाता है। जब प्रशुल्क लगाने से एक देश के किसी विशेष घरेलू उद्योग अथवा उद्योगों को प्राप्तियाँ होती हैं तो बदले मे अन्य घरेलू उद्योगो (निर्यात उद्योगों) को नुकसान भी होता है। इस प्रकार सम्भावित निर्यात घट जाने से उत्पादन के तत्त्व पहले की अपेक्षा कम आमदनी प्राप्त कर पाते हैं।

(2) व्यापार शर्तों पर प्रभाव—प्रशुल्क नीति अपनाने का एक प्रभाव देश की व्यापार शर्तों पर भी पड़ता है। उस देश की व्यापार शर्तें उस समय सुधर जाती हैं जब कि प्रशुल्क लगाने वाले देश की विदेशी वस्तुओं की मांग अपेक्षाकृत अधिक और लोचशील हैं। प्रशुल्क के प्रभाव के कारण देश के आयात घट जाते हैं और इसलिए देश के माल को खरीदने के लिए विदेशो के पास साधन उपलब्ध नहीं हो पाते। ऐसी स्थिति मे विदेशी को अपनी कीमते कम करने के लिए मजबूर होना पड़ेगा, ताकि प्रशुल्क वाले देश को वे पूर्ववत् निर्यात कर सकें और इससे आवश्यक वस्तु खरीदने के साधन प्राप्त कर सकें। यहाँ प्रशुल्क का प्रभाव यह हुआ कि आयात की कीमतें निर्यात की कीमतों से कम हो गई और इस प्रकार प्रशुल्क लगाने वाले देश की व्यापार शर्तें सुधर गईं।

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि व्यापार शर्तों में इस प्रकार होने वाला सुधार आयात की मात्रा में कमी के साथ होता है। इस प्रकार एक देश दूसरे देश के दम पर लाभ प्राप्त करने का प्रयास करता है। यह स्थिति कभी भी चुनौती का विषय बन सकती है। एक देश द्वारा ऐसा कदम उठाए जाने पर दूसरे देश में उसकी प्रतिक्रिया होगी और दूसरा देश भी प्रतिबन्ध लगाने की नीति को अपनाने लगेंगे। इस प्रकार राष्ट्रीय लाभ प्राप्त करने के लिए एक देश द्वारा किए गए प्रयास सभी देशों के लिए हानिप्रद बन जाएँगे क्योंकि नवीन प्रतिबन्धों के कारण उत्पादन के साधनों का पूरा-पूरा प्रयोग नहीं हो पाएगा। प्रतिक्रियास्वरूप कदम न उठाए जाने पर भी प्रशुल्क लगाने वाला देश यह अनुभव कर सकता है कि व्यापार की मात्रा घटने के कारण उसे पर्याप्त हानि रही है। इसका विस्तृत वर्णन व्यापार की शर्तों के निर्धारक घटक शीर्षक में किया गया है।

(3) भुगतान में सन्तुलन पर प्रभाव—प्रशुल्क के अधिक महत्त्वपूर्ण प्रभावों में भुगतान सन्तुलन भी एक है। एक देश जो अन्यथा अपने भुगतान सन्तुलनों में घाटे की स्थिति में रह सकता है वह प्रशुल्क प्रतिबन्धों के माध्यम से समतुल्यता प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार से प्राप्त समतुल्यता की अनेक प्रकार से आलोचना की जाती है—(i) यह कहा जाता है कि समतुल्यता व्यापार को सीमित करके लाई जाती है इसलिए व्यापक विश्व व्यापार से होने वाली प्राप्तियों के प्रकाश में यह खराब दिखता है। (ii) समायोजन का यह तरीका एक औपचारिक और बाहरी तरीका है तथा यह असमतुल्यता के मूल कारण पर विचार किए बिना ही कदम उठाता है। भुगतान सन्तुलन की घाटे की स्थिति को दूर करने के लिए और अच्छे तरीके भी ज्ञात हैं उन्हें अपनाया जाना अपेक्षाकृत अधिक श्रेष्ठ है।

दूसरी ओर नए या उच्च प्रशुल्कों का लगाना असमतुल्यता की स्थिति को चिन्तनीय बना सकता है। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका ने बहुत समय तक निर्यात अतिरेक का अनुभव किया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अमेरिका में माल और सेवा का निर्यात-आयात में अधिक बढ़ गया। ऐसी स्थिति में भुगतान को सन्तुलित करने के लिए नए तथा ऊँचे प्रशुल्क लगाए गए। इस प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका के आयात प्रतिबंधित हो गए और यहाँ से आयात करने वाले दूसरे देश डॉलर कमाने में कठिनाई का अनुभव करने लगे। यह स्थिति उस समय और भी जटिल हो गई जब एक ऋणदाता के रूप में संयुक्त राज्य अमेरिका विदेशियों से ब्याज, लाभांश और पूँजी के पुनर्भुगतान की माँग करने लगा। इन चीजों का हस्तान्तरण केवल तब ही हो सकता था जब ऋणदाता आयात-अतिरेक स्वीकार करने के लिए तैयार हो। माल की गतिशीलता भुगतान का एक साधन हो सकती थी किन्तु प्रशुल्कों की नीति ने उसके मार्ग को अवरुद्ध कर दिया।

(4) संरक्षण पर प्रभाव—प्रशुल्क एक प्रतिरोधात्मक उपाय है जिसके द्वारा आयात की मात्रा को नियन्त्रित किया जाता है ताकि स्वदेशी उद्योगों को संरक्षण प्राप्त हो सके। अन्य शब्दों में, प्रशुल्क देश के अन्दर विदेशी वस्तुओं के आगमन को

विभिन्न अंशों तक रोकने के लिए लगाए जाते हैं ताकि स्वदेशी उद्योग विदेशी प्रतियोगिता से बच सकें। एक प्रशुल्क कर उस समय पूर्णतया संरक्षणात्मक हो जाता है जबकि कर की दर इतनी अधिक रखी जाती है जिसके कारण वस्तुओं का आयात बिल्कुल ही बन्द हो जाता है किन्तु सामान्यतया अधिकांश प्रशुल्क पूर्णतया संरक्षणात्मक नहीं होते अर्थात् प्रशुल्क कर कितना ही ऊँचा क्यों न हो, कुछ न कुछ वस्तुओं का आयात होता ही है। प्रशुल्क का संरक्षणात्मक प्रभाव इसमें भी देखा जा सकता है कि इसके द्वारा देश में वस्तुओं के उत्पादन का विस्तार होता है क्योंकि प्रशुल्क के लग जाने के कारण स्वदेशी बाजार में वस्तुओं का दाम बढ़ जाता है जिसके कारण देशी उत्पादकों के लिए अधिक उत्पादन पर होने वाली बढ़ती हुई सीमान्त लागतों को पूरा करना सम्भव हो जाता है। प्रशुल्क के संरक्षणात्मक प्रभाव को रेखाचित्र निम्नांकित की सहायता से समझाया जा सकता है।
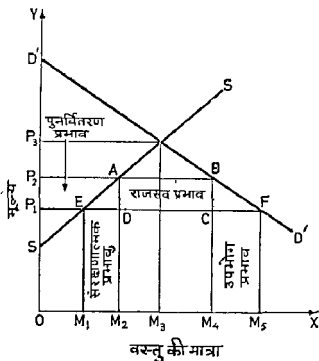
मानाकि प्रशुल्क से पूर्व मूल्य P_1 है और OM_5 वस्तु का उपभोग होता है। इस मात्रा में से OM_1 का उत्पादन स्वदेश में होता है और $M_1 M_5$ का आयात किया जाता है।

अब माना कि उस वस्तु पर $P_1 P_2$ के बराबर प्रशुल्क लगा दिया जाता है जिससे कीमत OP_1 से OP_2 हो जाती है। कीमतों में इस बढ़ोतरी के कारण घरेलू उत्पादन OM_1 से बढ़ कर OM_2 हो जाता है तथा आयात M_1 M_5 से घटकर

M_2M_4 हो जाता है। अन्त घरेलू उत्पादन में M_1M_2 की वृद्धि प्रशुल्क का 'संरक्षणात्मक प्रभाव' है।

यदि सम्बन्धित वस्तु पर अधिक प्रशुल्क अर्थात् P_1P_3 कर दिया जाए तो कीमतें बढ़ कर OP_3 हो जाएँगी। इस स्थिति में घरेलू उत्पादन बढ़कर MO_3 हो जाएगा और उपभोग भी घटकर OM_3 ही जाएगा। इस प्रकार घरेलू उत्पादन घरेलू उपभोग के बराबर हो जाएगा। जिससे आयात शून्य हो जाएगा। P_1P_3 प्रशुल्क निषिद्धकारी का उदाहरण है अर्थात् इतने अधिक प्रशुल्क से वस्तु का आयात बिल्कुल समाप्त हो जाएगा।

(5) **उपभोग पर प्रभाव**—प्रशुल्क सामान्यतया वस्तुओं के कुल उपभोग को घटा देता है क्योंकि प्रशुल्क के कारण कीमतें बढ़ जाती हैं। जब मूल्य OP_1 रहता है तो वस्तु का उपभोग OM_5 रहता है। इसके पश्चात् जब प्रशुल्क लगा देने से कीमत OP_2 हो जाती है तो घरेलू बाजार में वस्तु की कीमत बढ़ जाने से उपभोग OM_5 से घट कर OM_4 हो जाता है। M_4M_5 की मात्रा के तुल्य उपभोग में कमी प्रशुल्क के उपभोग प्रभाव को प्रकट करती है। इस प्रकार प्रशुल्क लगाने से उपभोक्ता की सन्तुष्टि में एक प्रकार की हानि होती है।

(6) **पुनर्वितरण पर प्रभाव**—प्रशुल्क लगाए जाने से घरेलू कीमतों में बढ़ने की प्रवृत्ति रहती है। जिससे उत्पादकों की आय में वृद्धि हो जाती है, जबकि उपभोक्ताओं का अतिरेक उस सीमा तक घट जाता है, अर्थात् कीमतों में वृद्धि के कारण उत्पादकों की आय में तो वृद्धि हो जाती है लेकिन उपभोक्ताओं की वास्तविक आय में कमी हो जाती है। इसे ही पुनर्वितरण प्रभाव कहते हैं। इस प्रकार आय में बढ़ोतरी जो सीमान्त लागतों के ऊपर होती है वह उत्पादकों के लिए आर्थिक लगान है जिन्हें उपभोक्ता की बचत में से घटाकर निकाला जाता है। रेखाचित्र में P_1 E A P_2 क्षेत्र पुनर्वितरण प्रभाव को निरूपित करता है।

अतः यह स्पष्ट है कि प्रशुल्क के कारण वस्तु के घरेलू मूल्य में वृद्धि होने पर आय का पुनर्वितरण उपभोक्ताओं से उत्पादकों के लिए हो जाता है।

(7) **उत्पादन पर प्रभाव**—हम जानते हैं कि एक देश विशिष्टीकरण और वस्तुओं के विनिमय के द्वारा विदेशी व्यापार से लाभान्वित होता है। जब एक देश द्वारा अपने आयातों पर प्रशुल्क लगाया जाता है तब उस देश में आयात-प्रतिस्थापन को प्रोत्साहन मिलता है और निर्यातक देश के निर्यात-क्षेत्र का सकुचन होता है। निर्यात-क्षेत्र के सकुचन से विदेशी व्यापार के विशिष्टीकरण से होने वाला लाभ उत्पादन पर प्रभाव कहलाता है तथा वस्तुओं के विनिमय में होने वाला लाभ उपभोग प्रभाव कहलाता है।

माना कि किसी देश A में कपड़े और गेहूँ का उत्पादन होता है। साथ ही देश A गेहूँ का निर्यात और कपड़े का आयात करता है।

माना कि P_1 P_2 उत्पादन सम्भावना वक्र है। विदेशी व्यापार की अनुपस्थिति में A देश में दोनों वस्तुओं का उत्पादन व उपभोग T_0 बिन्दु पर होता

है। जहाँ उत्पादन सम्भावना वक्र P_1 P_2 और उदासीनता वक्र IC_0 एक दूसरे को स्पर्श करते हैं। ST_4 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शर्त रेखा है जो यह प्रदर्शित कर रही है कि अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे कपडा गेहूँ के सन्दर्भ में सस्ता है। इस व्यापार की शर्त पर यदि A देश T_0 बिन्दु के अनुसार कपड़े और वस्त्र का उत्पादन करता है तो वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय द्वारा A देश को लाभ होगा और वक्र T_1 बिन्दु पर पहुंच जाएगी। T_1 बिन्दु अपेक्षाकृत ऊँचे उदासीनता वक्र IG पर स्थित है जो

गेहूँ (निर्यात योग्य)
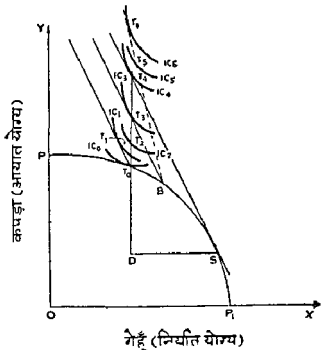
अधिक सन्तोष का परिचायक है क्योंकि विदेशी बाजार में गेहूँ की सापेक्ष कीमत अधिक है इसलिए A देश गेहूँ के उत्पादन को S बिन्दु तक बढाएगा। S बिन्दु पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शर्त रेखा ST_4 उत्पादन सम्भावना वक्र P_1 P_2 की स्पर्श रेखा हो जाती है। ST_4 व्यापार की शर्त पर देश A, DT_4 कपड़े की इकाइयों के लिए DS गेहूँ की इकाइयों का निर्यात करके T_4 बिन्दु पर पहुँच जाता है जो कि अपेक्षाकृत और ऊँचे उदासीनता वक्र IC_4 पर स्थित है।

अब यदि A देश कपड़े के आयात पर प्रशुल्क लगा देता है तो कपडा महंगा हो जाएगा। कपड़े के महगे हो जाने से A देश के उत्पादक गेहूँ का उत्पादन कम करके कपड़े का उत्पादन बढाएंगे। फलतः ससाधनों का अंतरण गेहूँ के उत्पादन से कपड़े के उत्पादन की ओर होगा।

अब हम यह मान लेते हैं कि उत्पादन सम्भावना वक्र P_1 P_2 के B बिन्दु पर उत्पादन हेतु यदि प्रशुल्क नही लगाया जाता और उत्पादन B बिन्दु पर होता

है तो A देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के द्वारा गेहूँ और कपडे के उस सयोग का उपभोग करेगा जिसे उदासीनता वक्र IC_3 पर T_3 बिन्दु प्रकट कर रहा है। BT_3 रेखा ST_4 रेखा के समानान्तर है इसलिए यदि प्रशुल्क लगाया जाता है तो आयात महगा हो जाएगा। फलत A देश उपभोग कम करेगा और वह उदासीनता वक्र IC_3 पर पहुँच जाएगा जो व्यापार शर्त रेखा BT_3 को T_2 पर काटती है। इस प्रकार A देश का T_4 से T_3 बिन्दु पर गतिमान होना प्रशुल्क के उत्पादन प्रभाव के कारण हुआ है और T_3 से T_2 बिन्दु पर जाना उपभोग प्रभाव के कारण घटित हुआ है।

परन्तु यदि देश इतना बडा है कि वह आयात और निर्यात को घटाकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शर्त रेखा को प्रभावित कर सकता है तो प्रशुल्क के कारण उसकी स्थिति खराब नही होगी। यदि गेहूँ के कम निर्यात के कारण विदेशी बाजार मे गेहूँ की कीमत बढ जाती है तो अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार की शर्त रेखा BT_6 हो जाएगी ऐसी स्थिति मे प्रशुल्क लगाने के बाद देश T_5 बिन्दु पर उपभोग करेगा, जो कि स्पष्टत प्रशुल्क लगने के पूर्व के साम्य बिन्दु T_1 की अपेक्षा ऊँचे उदासीनता वक्र पर है।

प्रशुल्क के समर्थन मे दिए गए तर्क
(The Arguments in favour of Tariff)

प्रशुल्क की नीति के सम्बन्ध मे दिए गए तर्क बहुत कुछ वे हैं जो सरक्षण की नीति के समर्थन मे दिए जाते हैं तथा जिनका अध्ययन हम आगे के अध्याय मे करेंगे। ये निम्नलिखित प्रकार से हैं :—

(1) इससे सस्ता विदेशी श्रम प्राप्त किया जा सकता है। विभिन्न देशो मे श्रमिक की मजदूरी अलग-अलग होती है। जैसे कि अमेरिका मे मजदूरी इग्लैण्ड, फ्रांस और जर्मनी की अपेक्षा तीन गुनी, जापान से चार गुनी और भारत से दस गुनी तथा उससे भी अधिक होती है। अमेरिका मे मजदूरी की दर इतनी अधिक होने के कारण यहाँ के उत्पादन उन उत्पादनो से प्रतियोगिता नही कर सकते जिनमे सस्ता श्रम लगाया गया है। ऐसी स्थिति मे यदि प्रशुल्क की दीवारें खडी न की गयी तो अमेरिका के उत्पादक गम्भीर स्थिति मे हो जाएंगे। वहाँ मजदूरी की दर घट जाएगी और रहन-सहन का स्तर कम हो जाएगा। इस प्रकार प्रशुल्क (Tariff) की नीति सस्ते विदेशी श्रम के विरुद्ध अमेरिकी उत्पादको की सहायता करती है।

यद्यपि यह तर्क भ्रमपूर्ण प्रतीत होता है किन्तु राजनैतिक दृष्टि से इसका पर्याप्त समर्थन किया जाता है। विचारको का कहना है कि विदेशी व्यापार मे तुलनात्मक लाभ केवल सापेक्षिक मूल्यो के अन्तर पर निर्भर करता है। यदि एक वस्तु के मूल्यो मे दो देशो के बीच अन्तर है तो विशेषीकरण होगा और द्विपक्षीय व्यवहार किया जाएगा। विदेशी व्यापार मे यह बात कोई महत्त्व नही रखती कि एक वस्तु के उत्पादन मे कितना महँगा या सस्ता श्रम लगा है वरन् महत्त्वपूर्ण बात तो यह होती है कि विदेशी उत्पादक अपनी वस्तुओ को कितनी अनुकूल शर्तों पर

देने को तैयार है। मजदूरी की दर कम होते हुए भी कठोर व्यापारिक शर्तों के कारण एक वस्तु की कीमत आयात करने वाले देश मे ऊँची पड़ेगी।

मजदूरों को अधिक वेतन केवल इसलिए दिया जाता है क्योकि उनकी उत्पादन क्षमता अधिक होती है। यह उत्पादन क्षमता कार्यकर्त्ताओ की कुशलता, शक्ति एव उद्योग पर निर्भर करती है। जब कुशल और उद्योगशील मजदूरों को पर्याप्त पूंजी प्राप्त होती है तो उनकी उत्पादनशीलता बढ जाती है और मजदूरी की दरें अधिक होते हुए भी प्रति इकाई की लागत कम रहती है। जहाँ मजदूरी की दर कम होती है वहाँ उत्पादन की क्षमता भी कम होती है। जिन वस्तुओ के उत्पादन मे अधिक कुशल श्रम की आवश्यकता होती है उनको ये देश पैदा नही कर सकते।

(ii) प्रशुल्क नीति के समर्थन मे एक दूसरा तर्क यह दिया जा सकता है कि इससे शिशु उद्योगों की रक्षा की जाएगी। इन विचारकों का कहना है कि जब एक नया उद्योग शुरू किया जाता है तो उसे कुशलता का विकास करने के लिए, नई तकनीकी सीखने के लिए और योग्यता को बढाने के लिए कुछ समय की आवश्यकता होती है ताकि वह प्रति इकाई लागत कम कर सके। दूसरे शब्दो मे प्रारम्भ होने वाले उद्योगों को बडे, कार्यकुशल और स्थापित विदेशी फर्मों की प्रतियोगिता से बचाना चाहिए। जब तक इस प्रकार का संरक्षण नही दिया जाएगा तब तक एक नया उद्योग आगे नही बढ पाएगा और वह कार्यकुशल बनने से पूर्व ही समाप्त हो जाएगा।

सरक्षण की आवश्यकता केवल अस्थायी होती है। जब शिशु उद्योग परिपक्व हो जाते हैं वे विश्व-बाजार मे प्रतियोगिता कर सकते हैं तब प्रशुल्क को समाप्त किया जा सकता है। यह कहा जाता है कि प्रशुल्क नीति के सम्बन्ध में दिया गया शिशु उद्योग का तर्क विश्लेषण की दृष्टि से पर्याप्त सही है। यह उन देशो पर बहुत लागू होता है जो औद्योगीकरण की प्रारम्भिक अवस्था मे हैं और नवीन उद्योगों को विकसित करना चाहते हैं। ऐसे देशो को यह भय रहता है कि नए उद्योगों को विकसित करने के उनके प्रयास जब औद्योगिक दृष्टि से प्रगतिशील देशो के स्थापित उद्योगो के मूल्यो की प्रतियोगिता मे आएंगे तो समाप्त हो जाएंगे। इस तर्क को विकसित देशो मे प्रयुक्त नहीं किया जा सकता किन्तु विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे इस पर पर्याप्त जोर दिया जाता था। अलेकजेंडर हैमिल्टन (Alexander Hamilton) ने इस तर्क का समर्थन किया। उनका यह मत अर्द्ध विकसित देशों पर पूरी तरह लागू होता है। इस तर्क से सम्बन्धित विभिन्न कठिनाइयो का वर्णन हम यथा-स्थान पीछे कर चुके हैं।

(iii) प्रशुल्क-नीति के सम्बन्ध मे एक अन्य तर्क व्यवसाय की शर्तों को अनुकूल बनाने की दृष्टि से दिया जाता है। यह कहा जाता है कि स्वतन्त्र व्यापार के कारण विश्व का उत्पादन अधिक से अधिक हो जाता है किन्तु इस उत्पादन का

आश्रित देशो के बीच बराबर का बंटवारा निर्यातकर्त्ता एव आयातकर्त्ता देशो के मध्य स्थित विनिमय अनुपात पर निर्भर करता है जिसे सामान्यत व्यवसाय की शर्ते कहा जाता है। एक देश यदि अच्छी व्यापार शर्ते स्थापित करन की क्षमता रखता है तो उसका उत्पादन बढ जाएगा। अनक अर्थ-शास्त्रियो का विचार है कि प्रशुल्क द्वारा एक देश दूसरे देशो की कीमत पर लाभान्वित हो सकता है किन्तु यह लाभ अधिक व्यावहारिक महत्व नही रखता क्योकि पहली बात यह है कि प्रशुल्क लगाने वाला देश केवल तभी लाभ मे रहगा जब विदेशो मे पूर्ति लोचहीन होगी। इसके अतिरिक्त प्रशुल्क लगाने वाले देश का आकार भी महत्व रखता है। यदि वह देश विश्व बाजार मे छोटा है तो उसकी व्यापार की शर्तों को सुधारने के अवसर कम होगे। दूसरे अच्छी व्यापार शर्तों से एक देश का जो लाभ प्राप्त होता है वह उस समय समाप्त हो जाएगा जबकि विदेशो म भी प्रतिक्रिया स्वरूप प्रशुल्क लगा दिया जाएगा। यह स्थिति ऐसे प्रशुल्को के युद्ध छेड सकती है जिसमे विश्व का व्यापार एकदम घट जाता है तथा विशेषीकरण से होने वाली प्राप्तियाँ समाप्त हो जाती हैं। साथ ही विश्व का उत्पादन कम हो जाता है। प्रशुल्क से किसी एक देश का लाभ होना कुछ अव्यावहारिक-सा प्रतीत होता है।

(iv) प्रशुल्क के समर्थन मे एक तर्क यह दिया जाता है कि प्रशुल्क द्वारा विभिन्न अनार्थिक लाभ प्राप्त किए जाने का प्रयास भी किया जाता है। इसके माध्यम से कुछ ऐसे उद्देश्यो की प्राप्ति का प्रयास किया जाता है जो लागत से सम्बन्ध नही रखते वरन् अपने आप मे लक्ष्य होते हैं। उदाहरण के लिए, एक विशेष उद्योग को राष्ट्र की सैनिक शक्ति की दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जा सकता है। इस प्रकार का उद्योग यद्यपि अकार्यकुशल है और इसमे प्रति इकाई लागत पर्याप्त ऊँची है किन्तु फिर भी वह देश इन मौलिक चीजो के उत्पादन को बनाए रखने के लिए कुछ भी मूल्य चुकाने को तैयार होगा। कोई भी अर्थ शास्त्री इन मौलिक उद्योगो के महत्व को अस्वीकार नही कर सकता। प्राय सभी अर्थशास्त्रियो ने इस प्रकार के उद्योगो को स्वतन्त्र व्यापार का अपवाद माना है। स्वय एडम स्मिथ (Adam South) भी सुरक्षा को पर्याप्त महत्व देत थे। इस सम्बन्ध मे एक कठिनाई यह है कि राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से कौनसा उद्योग आवश्यक है, इसे तय करना अत्यन्त कठिन होता है। नीति निर्माताओ को विभिन्न उद्योगो की इस आधार पर की गई सरक्षण की मांगो पर ठण्डे दिमाग से ध्यान देना चाहिए क्योकि प्रत्येक उद्योग का स्वामी इस प्रकार के दावे करता है।

प्रशुल्क नीतियो के समर्थन मे कुछ अन्य तर्क भी दिए जाते हैं। उदाहरण के लिए यह कहा जाता है कि एक विभिन्नतापूर्ण अर्थ व्यवस्था के लिए सुरक्षा प्रदान करने के हेतु प्रशुल्क लगाए जाएँ। इसके लिए यह भी कहा जाता है कि प्रशुल्क के द्वारा घरेलू व्यवहार की स्थिति को सुधारा जाएगा और देश को बेरोजगारी की समस्या मे राहत प्रदान की जाएगी। यह सच है कि जिन उद्योगो को आयात स प्रतिस्पर्द्धा करनी होती है उनमे उच्च प्रशुल्क लगाने से रोजगार की स्थिति बढ़ेगी

किन्तु यह प्राप्ति उस समय समाप्त होगी जब निर्यात भी गिर जाएंगे क्योंकि विदेशियो द्वारा या तो प्रतिक्रिया के रूप मे प्रशुल्क लगाया जा सकता है अथवा क्रय शक्ति के घटने के कारण ऐसा कदम उठाया जा सकता है। परिणामस्वरूप विश्व व्यापार की मात्रा कम हो जाएगी और विशेषीकरण तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन के लाभ मिलने से रुक जाएंगे।

इस सम्बन्ध मे एक अन्य तर्क यह दिया जाता है कि प्रशुल्क लगाकर घर और विदेश मे उत्पादन लागत को समान बनाया जाता है ताकि घरेलू और विदेशी उत्पादक बराबर के आधारो पर प्रतियोगिता कर सके। इस प्रकार के प्रशुल्क देश और विदेशो मे सापेक्षिक मूल्यों को समान करके एक प्रकार से विदेश व्यापार के आधार को ही समाप्त कर देते हैं। प्रशुल्क के सम्बन्ध मे जो विभिन्न तर्क दिए जाते हैं वे मुख्य रूप से राष्ट्रवाद की अभिव्यक्ति हैं। राष्ट्रीय स्तर पर यद्यपि क्षेत्रीय संघर्ष हो जाते हैं फिर भी सामान्य रूप से यह स्वीकार किया जाता है कि राष्ट्र के अन्तर्गत स्वतन्त्र व्यापार होना चाहिए। यह अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इतना महत्त्व नही रखता।

प्रशुल्क के उपयोग एवं दुरुपयोग
(Use and Misuse of Tariffs)

सामान्य रूप से अर्थशास्त्रियो द्वारा यह विश्वास किया जाता था कि स्वतन्त्र व्यापार विश्व के उत्पादन को अधिक से अधिक बढा देता है। इसमे भाग लेने वाला प्रत्येक देश लाभान्वित होता है। आज के अर्थशास्त्रियों का विश्वास है कि स्वतन्त्र व्यापार को इतनी प्रशसा के साथ नहीं देखा जा सकता और इसलिए सरक्षणात्मक नीतियों के सम्बन्ध मे उनके द्वारा विभिन्न तर्क प्रस्तुत किए गए। स्वतन्त्र व्यापार सम्पूर्ण संसार की दृष्टि से श्रेष्ठ हो सकता है किन्तु यह एक देश की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ नही है। प्रशुल्क एवं अन्य व्यापारिक प्रतिरोधो का व्यापार की प्राप्तियो को एक देश के पक्ष में पुन: वितरित करने के लिए प्रयोग किया जाता है। इसके द्वारा घरेलू रोजगार को अच्छा बनाया जाता है तथा आर्थिक विकास की सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं।

प्रशुल्क नीति का प्रयोग करते हुए एक देश अपने आपको विश्व बाजार मे टिकाए रखता है, वह अपने उत्पादन को विदेशी प्रतियोगियो से संरक्षण प्रदान करता है और इस प्रकार अपनी अर्थ-व्यवस्था को सन्तुलित करने का प्रयास करता है। प्रशुल्क (Tariff) नीति का दुरुपयोग करते हुए कई बार विभिन्न देशो के बीच युद्ध की सी स्थिति बना दी जाती है। इसके अतिरिक्त प्रशुल्क की नीति द्वारा दूसरे देश के व्यापार एवं अर्थ-व्यवस्था को अस्त-व्यस्त करने का प्रयास भी किया जाता है। यदि एक देश किसी मूल आवश्यकता की वस्तु का उत्पादन कर रहा है तो वह अपने उत्पादन के निर्यात मे अन्य देश को हर प्रकार से दबा सकता है तथा निर्यात कर लगाकर आयातकर्त्ता देश के उपभोक्ताओं को अधिक मूल्य के भार से दबा सकता है।

राष्ट्रीय स्तर पर भी प्रशुल्क की नीति का दुरुपयोग करते हुए कुछ विशेष उद्योग अपने दूसरे प्रतियोगियो को दबाने का प्रयास कर सकते हैं।

प्रशुल्क नीति का समर्थन करने के लिए दिया गया प्रत्येक तर्क अधिक आयात करो को न्यायोचित सिद्ध करता है। इनमे से कुछ तर्क तो उन लोगों द्वारा भी दिए जाते है जो स्वतन्त्र व्यापार के पक्षपाती हैं।

श्रेष्ठतम कर
(Preferential Duties)

श्रेष्ठतम करो द्वारा प्रशुल्क दीवार म प्रवेश के लिए स्थान बनाया जाता है। इसके फलस्वरूप प्रशुल्क के स्तर मे कमी आती है जिसे अन्य किसी साधन द्वारा नहीं लाया जा सकता था। श्रेष्ठतम करो का औचित्य स्वतन्त्र व्यापार सिद्धान्त के आधार पर ठहराया जाता है। श्रेष्ठतम कर का कम लगाया जाना तथा प्रशुल्क मे सामान्य रूप से कमी कर देना बहुत कुछ एक जैसी ही बातें हैं। दोनो के बीच केवल मात्रा का अन्तर है। श्रेष्ठतम कर को उस समय उचित नही माना जाता जब इसे अन्य देशो के विरुद्ध कर बढाने के बहाने के रूप मे प्रयुक्त किया जाता है। असल मे इसका प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की अडचनो को कम करने क लिए किया जाना चाहिए। इस प्रकार करो को स्वतन्त्र व्यापार का समथन करने वाले तर्कों के आधार पर उचित ठहराया जा सकता है।

इन करो की कई प्रकार से आलोचना की गई—(1) यह कहा गया कि प्रत्येक परिस्थिति मे प्राथमिक कटौती काई भी कटौती न होने की अपेक्षा अच्छी होनी हो, यह बात नही है। जब दो देशो के बीच भेदभाव लाने या हटाने की सम्भावनाएँ बढ जाती है तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार म अनिश्चितता और जोखिम पैदा हो जाती है। (2) यह कहा जाता है कि चाहे कर अधिक लगा दिए जाएँ किन्तु वे समान होने चाहिए। जब इस सम्बन्ध मे भेदपूर्ण नीति अपनाई जाती है तो इससे भ्रम पैदा होता है। यह आलोचना राष्ट्रवादी दृष्टिकोण से नहीं किन्तु अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व रखती है।

एक तर्क प्रो टॉसिग द्वारा प्रस्तुत किया गया है। उनका कहना है कि जब 'क' देश द्वारा 'ख' देश के करो मे प्राथमिक कमियाँ की जाती हैं और यदि 'ख' देश इस स्थिति मे नही होता कि 'क' की समस्त आवश्यकताओ को पूरा कर सके तो ऐसी स्थिति म करो की कटौती 'ख' के उत्पादको के लिए 'क' के खजाने से दी जाने वाली एक सहायता मात्र कही जाएगी क्योकि 'क' के आयातो की कमी 'ख' से पूरी नही हो सकती और इसलिए उसे विश्व बाजार की सहायता लेनी होगी। इस प्रकार 'क' देश मे स्वदेश वस्तुओ के मूल्य परिवर्तित नही होगे और 'ख' देश को प्राथमिक तर्क की सुविधा देने क बाद भी इसके उपभोक्ताओ से भार कम नही होगा।

जिन प्राथमिक करो द्वारा गृह मूल्य को ज्यों का त्यो रहने दिया जाता है वे इन्हे स्वीकार करने वाले देश के व्यापार की मात्रा को नही बढाते हैं और न ही

इनसे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन में वृद्धि होती है। इससे एक देश का आयात नहीं बढ़ता, यही कारण है कि इनको व्यापारिक नीति के रूप में बेकार माना जाता है। प्रशुल्कों (Tariffs) में की जाने वाली कमी के अनुरूप इन्हें नहीं कहा जा सकता। "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में इन्हें केवल इसलिए लोकप्रियता प्राप्त हुई क्योंकि ये व्यापार नीति के उदार विचारों के प्रति भूंठी रियायतें दे सकते है।"

जिस देश के पक्ष में इस प्रकार के कर लगाए जाते हैं उस देश के अधिक निर्यात कर सकने की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं और अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन अधिक तीव्र हो जाता है। ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता है कि यदि दो देश एक दूसरे को प्रशुल्क प्राथमिकताएँ प्रदान करें तो दोनों को अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन का लाभ प्राप्त होगा। ऐसा होने के लिए प्राथमिक करों की द्विपक्षीय स्वीकृति आवश्यक है, इसके अभाव में इसका कोई प्रभाव नहीं होता। इन करों की एक-तरफा स्वीकृति मूल्य में किसी प्रकार की कमी नहीं करती।

नियतांश के प्रभाव

(EFFECTS OF QUOTAS)

नियतांश प्रणाली भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की एक विशेषता है। इसके सम्बन्ध में ए स्नाइडर (Delbert A Snider) लिखते हैं कि "नियतांश उस माल की मात्रा पर सीमाएँ है जिसका एक निश्चित काल में आयात या निर्यात किया जा सकता ।" जब वस्तुओं के आयात के लिए एक निश्चित मात्रा निर्धारित कर दी जाती है तो उसे आयात नियतांश (Quota) कहते हैं। दूसरी ओर जब *निर्यात की मात्रा को निर्धारित कर दिया जाता है तो वह निर्यात नियतांश* कहलाता है। इसके अतिरिक्त कुछ चुंगी नियतांश (Customs Quotas) भी होते हैं। जब वस्तुओं की एक निश्चित मात्रा पर कम प्रशुल्क लगाया जाता है और उस मात्रा से अधिक वस्तु पर सामान्य कर लगाया जाता है तो इसे चुंगी नियतांश व्यवस्था के सरक्षण की प्रणाली का ही एक तत्त्व कहा जा सकता है।

नियतांश द्वारा एक वस्तु के मूल्य और मात्रा पर सीमा लगाई जाती है। इस वस्तु का एक विशेष समय मे निर्यात अथवा आयात किया जाता है।

नियतांश व्यवस्था के उद्देश्य
(Objectives of the Quota System)

नियतांश व्यवस्था को कई उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए अपनाया जाता है। इसका मूल उद्देश्य आयात और निर्यात को तुरन्त और प्रभावशाली रूप से विनिर्मित करना होता है। ऐसा करने की आवश्यकता अनेक कारणों से पैदा होती है—

(1) नियतांश व्यवस्था का प्रयोग आयात को प्रतिबन्धित करने के लिए किया जा सकता है ताकि भुगतान के सन्तुलन मे स्थित असन्तुलन को सुधारा जा सके।

(2) इस व्यवस्था द्वारा विदेशी प्रतिद्वन्दितापूर्ण उत्पादन के आयात को प्रतिबन्धित करके घरेलू उद्योगो की रक्षा का उपाय किया जाता है। नियतांश द्वारा आन्तरिक मूल्य स्तर बनाए रखने का प्रयास किया जाता है। आर्थिक मन्दी के समय जब मूल्यो मे भारी उतार चढाव होता है तब कुछ देश अपने आन्तरिक मूल्यों

को यथावत बनाए रखने के लिए आयातों पर नियतांश की सहायता से प्रतिबन्ध लगाते हैं।

(3) नियतांश का प्रयोग व्यावसायिक सौदेबाजी के लिए भी किया जा सकता है। एक देश दूसरे देश मे निर्यात करने के लिए नियतांश प्राप्त करने के बदले उस देश को आयात के लिए नियतांश सौंप सकता है। इसके अतिरिक्त नियतांश का प्रयोग उन देशो के प्रतिकार के रूप मे भी किया जा सकता है जिन्होंने आयात नियतांश लागू किया है।

(4) नियतांश द्वारा विभिन्न देशों के बीच लेन-देन के व्यवहार तथा अन्तर्राष्ट्रीय निर्यात समझौतो को क्रियान्वित किया जाता है। इन समझौतो के अधीन प्रत्येक देश नियतांश की एक निश्चित मात्रा का ही निर्यात कर सकता है।

(5) जब एक देश मे होने वाले आयात की बहुतायत को रोकना हो तो प्रशुल्क व्यवस्थापन की आवश्यकता होगी किन्तु इसमे समय लगता है। इस संक्रमण काल मे आयात को प्रतिबन्धित करने का कार्य नियतांश द्वारा किया जाता है। इस प्रकार के नियतांश अस्थायी होते हैं और प्रशुल्क व्यवस्थापन के होते ही ये समाप्त कर दिए जाते हैं।

(6) निर्यात नियतांश (Export Quotas) का उद्देश्य यह है कि निर्यात की जाने वाली वस्तुओं को खरीदारो के बीच बराबर की मात्रा मे वितरित किया जाए। 1930 के दौरान व्यावसायिक सन्धियो के दायित्वो का निर्वाह करने की दृष्टि से नियतांश प्रणाली को अपनाया गया था। समझौता करने वाले पक्षो ने यह माना कि प्रशुल्क को एक विशेष स्तर से ऊँचा उठाया जाए। इस शर्त का पालन करने में आर्थिक मन्दी के दौरान देशों को कठिनाइयो का अनुभव होने लगा। इस कठिनाई का समाधान उन्होंने नियतांश प्रणाली को अपनाकर किया क्योंकि किए गए समझौतों में मात्रा सम्बन्धी प्रतिबन्धों का उल्लेख नहीं किया गया था। नियतांश प्राय. सकटकालीन स्थिति का मुकाबला करने के लिए होता है। यह प्रभावशील तभी हो सकता है जब उसे तुरन्त लागू किया जाए। नियतांशों को प्रायः कार्यपालिका द्वारा प्रशासित किया जाता है। कार्यपालिका अपनी शक्तियों का दुरुपयोग न करे इसके लिए कभी-कभी विधायी प्रतिबन्ध भी लगा दिए जाते हैं।

नियतांश का नियतिकरण
(Fixation of Quotas)

नियतांशो को मात्रा या मूल्य अथवा दोनों के योग के बराबर नियत किया जा सकता है। एक नियतांश किस इकाई में नियत किया जाएगा। यह बात सम्बन्धित वस्तु की प्रकृति और नियतांश व्यवस्था के उद्देश्य पर निर्भर करती है। यदि कोटा व्यवस्था का उद्देश्य भुगतानो के सन्तुलनों मे घाटे की स्थिति को दूर करना है तो आयातों पर मूल्य की दृष्टि से सीमा लगाना अधिक उपयुक्त रहेगा। यदि आयातों

को मात्रा की दृष्टि से सीमित किया गया है तो इससे विदेशी विनिमय की आवश्यकता का सही अनुमान लगाया जा सकता है किन्तु इससे घाटे की व्यवस्था को नहीं सुधारा जा सकता, क्योंकि मात्रा पर लगाए गए प्रतिबन्ध का प्रभाव आयातों की आयातीत मूल्य वृद्धि द्वारा महत्त्वहीन बना दिया जाएगा। यह भी हो सकता है कि इस प्रतिबन्ध द्वारा आयात की कीमतों का गिरा कर जो चाहिए उससे भी अधिक कर लिया जाए। यदि नियतांश का उद्देश्य आयातों को देश की आवश्यकताओं के अनुकूल प्रतिबन्धित करना है तो यह उपयुक्त रहेगा कि नियतांश को मात्रा के रूप में नियत किया जाए। मात्रा के रूप में निश्चित नियतांश से घरेलू उत्पादकों को यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाएगा कि विदेशी पूर्ति की मात्रा क्या है? और उसी के अनुसार वे घरेलू उत्पादन को समायोजित कर लेंगे। मात्रा के स्थान पर यदि आयातों पर मूल्य की सीमाएँ लगादी जाएँ तो इससे आयातकर्त्ता देशों को प्रेरणा मिलेगी।

कभी कभी नियतांशों द्वारा केवल उन मात्राओं को सीमित किया जाता है जिसका आयात बिना कर अथवा न्यूनतम कर पर किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में यदि कोई उच्च कर का भुगतान कर सके तो वह असीमित मात्रा में अतिरिक्त आयात कर सकता है। इस प्रकार के प्रबन्धों को प्रशुल्क नियतांश कहा जाता है। ये पूर्ण नियतांशों से भिन्न होते हैं क्योंकि पूर्ण नियतांशों में एक विशेष मात्रा से अधिक की अनुमति किसी शर्त पर नहीं दी जाती। वास्तविक व्यवहार में प्रशुल्क नियतांश के अधीन अतिरिक्त आयात केवल तभी हो सकेगा जबकि प्रशुल्क की उच्च दर उस अन्तर से कम होगी जो निर्यातकर्त्ता और आयातकर्त्ता देशों के बीच उस वस्तु की कीमतों में है। जिस प्रकार अतिरिक्त आयात प्रशुल्क नियतांश के अन्तर्गत आते हैं, उसी प्रकार आयातकर्त्ता देश में वस्तु की माँग की कीमत गिरती है और निर्यातकर्त्ता देश में पूर्ति की कीमतें बढ़ जाती हैं। अन्त में एक स्थिति ऐसी आती है जब आयातकर्त्ता देश में माँग की कीमत और निर्यातकर्त्ता देश में पूर्ति की कीमत सर्वोच्च करके बराबर हो जाती है। ऐसा होने पर आगे का आयात रुक जाएगा। प्रशुल्क नियतांश उन गरीबों को अलग हटा देते हैं जो कि कर की उच्च दर प्रदान कर सके। केवल धनिक लोग ही उस अतिरिक्त आयात का लाभ उठा पाते हैं जिसके लिए कर की ऊँची से ऊँची दर देनी पड़ती है। राज्य द्वारा प्राय उस नियतांश (Quota) की मात्रा कम से कम रखी जाती है जिसे कर की कम दर के साथ खरीदा जा सके। ऐसा करने से उसे अधिक राजस्व प्राप्त होता है। इस व्यवस्था में खतरा यह है कि देश के बहुमूल्य विदेशी विनिमय का उन आरामदायक वस्तुओं पर अपव्यय किया जाएगा जिनका भार केवल धनवान लोग ही उठा सकते हैं। इस प्रकार उस माल या सेवाओं के लिए यह विदेशी विनिमय प्रयुक्त नहीं किया जाएगा जो विकास कार्यों की क्रियान्विति करने हेतु आवश्यक होते हैं। प्रशुल्क नियतांश (Tariff Quota) बाजार की शक्तियों को कुछ सीमा तक स्वतन्त्र रूप से कार्य करने का अवसर देते हैं और इस प्रकार अर्थव्यवस्था को एक सीमित मात्रा में लोचशीलता प्रदान करते हैं। जिस दर पर अतिरिक्त आयातों को अनुमति दी

व्यापार शर्तें उसके विपरीत हो जाती हैं। नियतांश की मात्रा पूरी न होने तक आयातकर्त्ता आयात करने की जल्दी में रहते हैं और इस प्रकार व पूर्ति का सस्ते से सस्ता स्रोत नहीं खोज पाते। इसके अतिरिक्त सामयिक नियतांश उन देशों के साथ भेदभाव करते हैं जो दूर स्थित हैं। आयातकर्त्ता देश के निकटवर्ती देशों का माल अधिक जल्दी पहुँच सकता है। कभी-कभी आयातकर्त्ताओं का पर्याप्त हानि उठाकर भी अपने समझौते रद्द करने होते हैं क्योंकि समझौता करने के बाद ज्ञात होता है कि पूरा नियतांश बढ़ चुका है तथा सीमाएँ अतिरिक्त आयात के लिए बन्द हो चुकी हैं। इस प्रकार का नियतांश कीमतों के उल्लेखनीय उतार चढ़ाव का कारण बनता है। जब नियतांश की घोषणा की जाती है तो आयातों की बाढ़ आ जाती है और कीमतें बहुत गिर जाती हैं, किन्तु ज्यों ही नियतांश पूरा होता है त्यों ही माल रखने वाले, कीमतों को बढ़ा देते हैं। इससे उस वस्तु के घरेलू उत्पादकों पर विपरीत प्रभाव पड़ता है जो सामयिक नियतांश के अनुसार आयातित की जाती है। इन वस्तुओं की कीमतें घटने पर घरेलू उत्पादकों को अपना उत्पादन बन्द करना पड़ता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि नियतांश का यह रूप घरेलू उत्पादनों की सुरक्षा के लिए कोई अच्छा साधन नहीं है क्योंकि कोई भी संरक्षण तभी सफल हो पाता है जबकि वह नियमित हो।

2 नीलामी
(The Auction)

नियतांश आवंटित करने का एक दूसरा तरीका नीलामी (Auction) है। इस दृष्टि से नियतांश निर्धारित करते समय अनुज्ञप्तियाँ (Licences) का खुली नीलामी में उच्चतर बोली लगाने वालों को बेचा जाता है। यह नीलामी सभी के लिए समान शर्तों पर खुली रहती है। इस अवस्था में न कोई घूँसखोरी पक्षपात, भ्रष्टाचार और न ही व्यापार के अनैतिक होने के अवसर रहते हैं। इस प्रकार यह व्यवस्था अकुशलता को दूर करेगी। इस व्यवस्था से जिनको अनुज्ञप्तियाँ प्राप्त होंगी, वे सर्वाधिक कुशल व्यक्ति होंगे क्योंकि उन्होंने अपने कम कुशल प्रतियोगियों को पीछे छोड़ दिया है। इस व्यवस्था के अधीन घरेलू और विदेशी कीमत के बीच जो सीमान्त रहेगा वह कुछ व्यापारियों को धनवान बनाने की अपेक्षा पूरे राज्य को लाभदायक होगा। इस व्यवस्था पर यह दोष भी नहीं लगाया जा सकता कि विभिन्न आयातकर्त्ताओं के साथ कोई भेदभाव किया गया है।

नीलाम प्रणाली के सफल संचालन के लिए व्यापारियों के बीच पर्याप्त प्रतियोगिता का होना आवश्यक है। अधिकांश अर्द्ध-विकसित देशों में आयातकर्त्ताओं की संख्या थोड़ी सी होती है। वे आपस में मिलकर नीलामी को असफल कर सकते हैं। इस प्रकार उपभोक्ताओं और राजस्व की कीमत पर वे स्वयं लाभ कमा सकते हैं। इससे कीमत का स्तर स्थिर नहीं हो सकेगा। जब एक बार अनुज्ञप्ति का नीलाम कर दिया जाएगा तो इसके बाद निर्यातकर्त्ता कुछ भी कीमत वसूल करने के लिए स्वतन्त्र होगा क्योंकि इसके बाद होने वाले परिवर्तनों से या तो व पूरी तरह

लाभ उठाएँगे अथवा उनसे नुकसान उठाएँगे। इस प्रकार से नीलामी आयातकर्त्ताओं के दुर्भाग्य और सौभाग्य पर अधिक आश्रित होगी। अपेक्षाकृत किसी नियम अथवा व्यवस्था के यह एक प्रकार से आयातकर्त्ताओं के सामने जोखिम का द्वार खोलता है। इस प्रकार का जोखिम उस व्यवस्था मे नहीं रहता जहाँ घरेलू मूल्य नियन्त्रण और राशनिंग आदि की व्यवस्था होती है। यहाँ बिक्री की कीमत आयात की कीमत के साथ आयातकर्त्ता के लिए कुछ बुद्धिपूर्ण सीमान्त जोडकर तय कर दी जाती है। यह नीलाम का तरीका उन वस्तुओं के आयात पर लागू नही हो सकता जिनकी कीमतें कम रखना उपभोक्ताओ या उत्पादकों की दृष्टि से वांछनीय है। उदाहरण के लिए—खाद्य सामग्री, दवाइयाँ, मशीनें या आवश्यक कच्चा माल आदि। इस तरीके को मुख्य रूप से आरामदायक चीजो के आयात पर ही लागू किया जा सकता है। इसे एक विकासशील व्यवस्था सहन नही कर सकती क्योंकि वहाँ विकास कार्यक्रमो को चलाने के लिए आवश्यक वस्तु खरीदने के हेतु भी विदेशी विनिमय की कमी रहती है।

निर्यातकर्त्ता देशो के बीच भी नियतांश का आवंटन किया जाता है। सांसारिक नियतांश मे अनेक हानियाँ रहती हैं। इसलिए नियतांश सम्बन्धी विनिमयो को लागू करने वाला देश आयात की जाने वाली सम्पूर्ण मात्रा को विभिन्न निर्यातकर्त्ता देशो के बीच निर्धारित कर देता है। यह कहा जाता है कि ऐसा करते समय यदि भेदभाव करने से बचना है तो सम्पूर्ण नियतांश को सभी निर्यात करने वाले देशों के बीच बराबर-बराबर बाँट दिया जाए। यह प्रणाली दिखने मे तो समानतापूर्ण प्रतीत होती है किन्तु इससे बडे देशों के विरुद्ध छोटे निर्यातकर्त्ता देशों के बीच भेदभाव रहेगा। यह भी हो सकता है कि छोटे निर्यातकर्त्ता देश अपने लिए सौंपे गए पूरे नियतांश का निर्यात न कर पाएं और इस प्रकार नियतांश का कुछ भाग बेकार ही रह जाए। ऐसा होने पर आयात की मात्रा निश्चय ही उस मात्रा से कम होगी जो कि आयातकर्त्ता देश द्वारा वांछित समझी गई है।

3. अनुज्ञप्तियाँ (Licences)

नियतांशो को निर्धारित करने मे भेदभाव को हटाने के लिए एक अन्य तरीका यह अपनाया जाता है कि आयातकर्त्ताओ को अनुज्ञप्तियाँ दे दी जाएं और जहाँ से उनको फायदा हो, वहीं से आयात करने के लिए स्वतन्त्र छोड दिए जाएँ। इस व्यवस्था मे भी एक खतरा है कि सरकार आयातकर्त्ताओं पर किन्हीं विशेष देशों से आयात करने के लिए छिपे रूप से दबाव डाल सकती है। आयातकर्त्ताओ को अनुज्ञप्तियाँ प्रदान करते समय यह विचार ध्यान मे रखा जा सकता है कि वे विशेष देशो से आयात करेंगे। यदि यह आशा पूरी नहीं होती है तो भविष्य में आयातकर्त्ताओं को अनुज्ञप्तियाँ प्रदान करने से मना किया जा सकता है।

भेदभाव को दूर करने का एक अन्य तरीका भी है कि नियतांश निर्धारित करते समय देखा जाए कि पहले किसी विशेष समय मे देश के सम्पूर्ण आयात का

कितना भाग किस देश से प्राप्त होता था ? इस विशेष समय का सूत्र नियतांश के निर्धारण में जानबूझ कर किए जाने वाले भेदभाव पर रोक लगा देगा किन्तु किसी विशेष समय का चयन करते समय भेदभाव किया जा सकता है। इस समय को निर्धारित करने का कोई वस्तुगत अथवा निश्चित मापदण्ड नही हो सकता। किसी देश से कम से कम आयात का निश्चय करने के लिए उसका इतिहास देखना होगा। यह एक उलझा हुआ तरीका है जिसमे सांख्यिकी तरीको से पर्याप्त सहायता लेना आवश्यक है। यह सांख्यिकी सही है अथवा गलत, इसके सम्बन्ध मे अन्तर्राष्ट्रीय विवाद भी छिड़ सकता है। इस प्रकार इस प्रक्रिया मे जानबूझ कर भेदभाव करने के अवसर भी रहते है।

एक विशेष समय के सूत्र के आधार पर नियतांश का निर्धारण करना कुछ देशो के लिए अन्यायपूर्ण रहेगा। इसके अतिरिक्त निर्यातकर्त्ता देशो मे यदि उत्पादन मे अचानक ही परिवर्तन हो जाएँ तो इससे नियतांश व्यवस्था का सरल कार्य संचालन कठिन बन जाएगा। यह विशेष रूप से कृषि सम्बन्धी वस्तुओ के बारे मे अधिक सही है जिनका उत्पादन प्रकृति की दया पर निर्भर करता है। जिस देश को अधिक नियतांश सौंपा गया है उसमे यदि फसल बिगड़ जाती है तो वह पूरी निर्धारित मात्रा की पूर्ति नही कर सकता। दूसरी ओर जिसको कम नियतांश सौंपा गया है उस देश की फसल अच्छी हो जाती है तो वह अपने लिए निर्धारित नियतांश से अधिक मात्रा की पूर्ति कर सकेगा। इसके अतिरिक्त आयातकर्त्ता देश के उपभोक्ताओ की रुचियो और फैशनो मे परिवर्तन होने के कारण माँग की गई वस्तुओ की किस्मो तथा गुणो मे भी परिवर्तन हो सकता है। हो सकता है कि एक समय जिन वस्तुओ की बहुत मांग थी, थोड़े समय पश्चात् उन वस्तुओ की कोई माँग न रहे और जिनकी पहले कोई मांग ही नही थी उनकी अधिक बढ जाए। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि इस आधार पर जिस देश को नियतांश सौंपा गया है उसमे सम्बन्धित वस्तु की कीमते इतनी बढ जाएं कि आयातकर्त्ता देश के लिए लाभदायक न रहे। फलत आयातकर्त्ता देश इस स्रोत से आयात नही करेगा और इस प्रकार नियतांश का वह भाग अछूता रखा रहेगा।

जब एक देश के निर्यातकर्त्ताओ को यह ज्ञात हो जाएगा कि वे निर्धारित नियतांश से ज्यादा निर्यात नही कर सकते तो वे आपस मे मिलकर स्वीकृत सीमित निर्यात की अधिक से अधिक कीमत वसूल करने का प्रयास कर सकते हैं। इस प्रकार आयातकर्त्ता देश का शोषण होगा और व्यापार शर्तें उसके विरुद्ध चली जाएँगी। यह शोषण उस समय नही हो सकता जब आयातकर्त्ताओ को किसी भी स्रोत से आयात करने की स्वतन्त्रता दे दी जाती है अर्थात् निर्यातकर्त्ता देशो के बीच नियतांश निर्धारित नही किया जाता। नियतांश सम्बन्धी विनिमयो को सामान्य रूप से अनुज्ञप्ति व्यवस्था द्वारा प्रशासित किया जाता है। नियतांश द्वारा निश्चित की गई सीमाओ मे माल का आयात करने से पूर्व आयातकर्त्ताओ को एक अनुज्ञप्ति प्राप्त करनी होती है। कुछ देशो मे स्वीकृति नियतांश और विभिन्न आयातकर्त्ताओ के बीच किए गए इसके निर्धारण को पहले से ही प्रकाशित कर दिया जाता है।

कुछ देश आयात किए जाने वाले माल की मात्रा को घोषित नहीं करते और अनुज्ञप्तियों को किसी लोचशील योजना के अनुसार आयातकर्त्ताओं को देते हैं। इन्हें देते समय जो मापदण्ड अपनाया जाता है उसकी सार्वजनिक रूप से घोषणा नहीं की जाती। अनुज्ञप्ति के लिए प्रत्येक प्रार्थना-पत्र को उसके स्वयं के लाभ के आधार पर मापा जाता है। सम्बन्धित अधिकारियों को स्वेच्छा की व्यापक शक्तियाँ प्रदान की जाती हैं। नियतांशों के प्रशासन को अनुज्ञप्तियों के माध्यम से चलाने पर अधिकारियों का कार्य सरल बन जाता है और इससे नियतांशों में कुशलता बढ़ती है। व्यक्तिगत आयातकर्त्ता के प्रपत्रों को प्रमाणित करना किसी वस्तु के सभी स्रोतों से होने वाले कुछ आयातों की कुल दर को नियन्त्रित करने से अधिक सरल है। अनुज्ञप्ति व्यवस्था आयात को नियतांश के पूरे काल तक बनाए रखती है और इस प्रकार सांसारिक नियतांशों की भाँति इसमें कीमतों का उतार-चढ़ाव नहीं होता।

अनुज्ञप्तियों को सामान्य रूप से मान्य आयातकर्त्ताओं के बीच इस आधार पर वितरित किया जाता है कि एक विशेष समय में उनके आयात का भाग कितना था। समय गुजरने के साथ-साथ विभिन्न फर्मों का भाग्य बदलता रहता है। कुछ फर्में अपने व्यापार को बढ़ा लेती हैं जबकि दूसरी फर्में उसे घटा लेती हैं। कुछ नई फर्में जन्म लेती हैं। जब एक समय विशेष को आधार बनाकर अनुज्ञप्तियों को वितरित किया जाता है तो इससे प्रसार करने वाली और स्थापित फर्मों के विरुद्ध भेदभाव होता है तो इसके द्वारा आयात व्यापार में नया खून, जो इसकी कुशलता को बढ़ाने के लिए आवश्यक है, नहीं आ पाता; इसमें कुछ निहित स्वार्थ पैदा हो जाते हैं। प्रतिस्पर्द्धा को समाप्त करके यह एकाधिकार को महत्त्व देता है जिसमें अपनी अनेक बुराइयाँ होती हैं।

अनुज्ञप्तियों को अधिक न्यायपूर्ण रूप से निर्धारित करने के लिए विशेष समय के सूत्र के साथ-साथ होने वाले परिवर्तनों को भी ध्यान में रखा जाता है। विकसित फर्मों को कुछ अधिक और पतनोन्मुख फर्मों को कुछ कम नियतांश सौंपा जाता है। नियतांश का एक भाग नवागन्तुकों के लिए सुरक्षित रख लिया जाता है।

कभी-कभी आयातकर्त्ता देश अनुज्ञप्तियों के वितरण का काम निर्यातकर्त्ता देशों की सरकारों, उत्पादकों या निर्यातकर्त्ताओं को सौंप देता है। यह प्रक्रिया कई दृष्टियों से उपयुक्त समझी जाती है। आयातकर्त्ताओं के बीच नियतांश का निर्धारण करना एक अच्छा खासा सर दर्द होता है। इस कार्य में भेदभाव, पक्षपात और भाई-भतीजेवाद आदि के दोष लगने की सम्भावनाएँ रहती हैं। ये दोष न केवल देश के अन्तर्गत ही लगते हैं वरन् विदेशों के द्वारा भी लगाए जाते हैं। जब नियतांश का प्रशासन निर्यातकर्त्ता देश को दे दिया जाता है तो देश को कई आर्थिक व प्रशासनिक लाभ प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए, यदि आयात-व्यापार की अपेक्षा निर्यात-व्यापार अधिक केन्द्रीयकृत है तो निर्यातकर्ता देश द्वारा नियतांश विनिमयों का प्रशासन अधिक कुशल और मितव्ययतापूर्ण रहेगा। नियतांश विनिमयों के प्रशासन में निर्यातकर्त्ता देशों का योगदान इन देशों के लाभ में रहता है। वे अपने दृष्टिकोण

को व्यक्त करने का अवसर पाते हैं और अधिक अनुकूल शर्तों के लिए वार्ता कर सकते हैं। इन विभिन्न कारणों से निर्यातकर्त्ता देश आयातकर्त्ता देशों में नियतांशों के प्रशासन का साथ देने के प्रस्ताव का स्वागत करते हैं। यह व्यवस्था आयातकर्त्ता देश के हित म कम होती है। अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा के लिए आयातकर्त्ता देश कुछ परिस्थितियों म निर्यातकर्त्ता देश का अनुज्ञप्तियों का अधिकार सौंप देता है। इसमें पहली बात तो यह है कि कुल आयात मान्य नियतांश से अधिक नहीं होना चाहिए। दूसरे, निर्यात को आयातकर्त्ता देश की आवश्यकताओं के अनुसार पूरे नियतांश काल म बिखरा हुआ होना चाहिए। तीसरे, निर्यातकर्त्ता देश वस्तुओं की कीमतों को नहीं बढ़ा सके।

आयात-नियतांशों के रूप
(The Types of Import Quotas)

आयात-नियतांशों को पांच विभिन्न रूपों म विभाजित किया जा सकता है। य हैं—प्रशुल्क नियतांश, एक पक्षीय नियतांश, द्विपक्षीय नियतांश, सयुक्त नियतांश और आयात अनुज्ञप्तियां। इनम स प्रथम चार रूप आयातों क भौतिक आकार का सीमित रखने का उद्देश्य रखते हैं जबकि आयात अनुज्ञप्तियाँ प्राय विनिमय नियन्त्रण के प्रशासन के साथ प्रयुक्त की जाती हैं। आयात नियतांशों के इन सभी रूपों का अध्ययन करना उपयुक्त रहेगा।

1 प्रशुल्क नियतांश (The Tariff Quota)—प्रशुल्क नियतांश के अधीन एक निश्चित मात्रा तक किसी वस्तु का आयात कम दर के कर के साथ स्वीकार किया जाता है किन्तु यदि इस निश्चित मात्रा से अधिक आयात किया गया तो इसके लिए अधिक दर से कर प्रदान करना होगा। इस प्रकार प्रशुल्क नियतांश मे प्रशुल्क की विशेषताएँ भी शामिल होती हैं।

प्रशुल्क नियतांशों का लाभ यह है कि वे प्राय लोचशील होते हैं। किसी वस्तु की एक निश्चित मात्रा को विशेषत अनुकूल शर्तों पर आयात करने की आज्ञा होती हैं किन्तु अतिरिक्त आयात को अस्वीकार नही किया जाता, वरन् उसको कम अनुकूल शर्तों पर स्वीकार किया जाता है। इस प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण दोष यह बताया जाता है कि प्रारम्भ मे जो दरें निर्धारित की गई हैं उनके अनुसार अधिक से अधिक लोग शीघ्र आयात करने का प्रयास करेंगे और ऐसी स्थिति मे मूल्यों की लोचशीलता अधिक बढ़ जाएगी।

2 एकपक्षीय नियतांश (The Unilateral Quota)—एकपक्षीय नियतांश के अन्तर्गत एक देश एक निर्धारित समय मे आयात-योग्य वस्तु की मात्रा की पूर्ण सीमा निश्चित कर देता है। इस प्रकार का नियतांश या तो सांसारिक (Global) रूप मे निर्धारित किया जा सकता है या आवटित रूप से। सांसारिक नियतांश के अधीन किसी भी देश या देशों से उतने आयातों की अनुमति दी जाती है जो नियतांशों द्वारा निर्धारित की गई है। इस प्रक्रिया की अनेक आलोचनाएँ की जाती हैं। सम्भवतः इसकी सबसे महत्त्वपूर्ण आलोचना यह है कि इस व्यवस्था में छोटे या कम

सगठित पूर्तिकर्त्ता देश नुकसान में रहेंगे । जब तक आयात-कर्त्ताओं को छोटे पूर्तिकर्त्ता देशों से आयात करने से कोई स्पष्ट लाभ नहीं है तब तक वे उनसे आयात नहीं करेंगे ।

आवटित नियतांश के अधीन कुल नियतांश को विभिन्न पूर्तिकर्त्ता देश में आवटित कर दिया जाता है । ऐसा करते समय पूर्व अनुभव का लाभ उठाया जाता है । इस प्रक्रिया की आलोचना करते हुए कहा जाता है कि इसमे दुर्भाग्य से न्यायप्रिय और विशेष पूर्तिकर्त्ता देशो के प्रति अन्याय होगा । अतीतकाल मे यदि फसल के खराब होने के कारण अथवा अन्य किसी भी कारण से देश सन्तोषजनक मात्रा मे निर्यात नहीं कर पाया तो इसके आधार पर उसके वर्तमान महत्त्व को भी असमर्थ समझा जाएगा । ऐसी स्थिति मे नियतांश आवटित करते समय जो आधारभूत समय छाँटा जाए वह प्रतिनिधित्व करने वाला और अभेदभाव पूर्ण होना चाहिए ।

3. द्विपक्षीय नियतांश (The Bilateral Quota)—द्विपक्षीय नियतांश, आयातकर्त्ता और एक विशेष पूर्तिकर्त्ता देश द्वारा निश्चित किया जाता है । एक बार जब इस प्रकार का समझौता सम्बन्धित सरकारो द्वारा कर लिया जाता है तो आयातकर्त्ता देश अन्य देशों को नियतांश निर्धारित करते समय उनके सापेक्षित महत्त्व को आधार बनाता है । द्विपक्षीय नियतांश के पक्ष मे सबसे बडा तर्क यह दिया जाता है कि यह एक पक्षीय रूप से निर्धारित नहीं किया जाता और इसलिए यह इतना स्वेच्छाचारी नहीं होता । इसके विपक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि जब निर्यातकर्त्ता समूह समझौते का एक भाग होता है तो वह निर्णय लेते समय अपने विशेष हितो से प्रभावित होगा ।

4. मिला-जुला नियतांश (The Mixing Quota)—अनेक देशों मे ऐसे विनिमय होते हैं जिनके अनुसार माल को बढाने के लिए घरेलू कच्चे माल का प्रयोग करने के हेतु प्रक्रियाओ की आवश्यकता होती है । इस सम्बन्ध में जो विनिमय बनाए जाते हैं उनके अनुसार आयातों को घरेलू उत्पादन के अनुपात के अनुसार सीमित किया जाता है । इस प्रकार इन विनिमयों का प्रभाव नियतांशों जैसा ही होता है । उदाहरण के लिए, युद्ध से पूर्व जर्मनी ने यह नियम बनाया था कि देश में जितना आटा पीसा जाता है, उसमें घरेलू गेहूँ का निश्चित अनुपात होना चाहिए । इसी प्रकार ग्रेट-ब्रिटेन मे भी यह नियम बनाया गया कि घरेलू गेहूँ के साथ आयातित गेहूँ को एक निश्चित अनुपात मे मिलाया जाए । संयोग से सम्बन्धित विनियोग सामान्य रूप से दो उद्देश्य रखते हैं—

(i) वे घरेलू उत्पादकों की सहायता के लिए स्वीकार किए जा सकते हैं । इस प्रकार के नियमों द्वारा घरेलू उत्पादकों के लिए बाजार का आश्वासन दिया जाता है; चाहे उनका उत्पादन आयातित माल की तुलना मे अधिक महँगा और घटिया स्तर का हो तो भी उसका एक निश्चित अनुपात अवश्य बिक जाएगा ।

(ii) इस प्रकार के नियम आयातों को कम करते हैं और इसलिए विदेशी मुद्रा की कमी को राहत प्रदान करते हैं । इन नियमों का उद्देश्य चाहे कुछ भी हो, आलोचना से परे नहीं होते । परिणामस्वरूप विश्व के साधन स्रोतों और शक्तियों का

के रूप मे । प्रो. काज के कथनानुसार, "आयात अनुज्ञप्तियाँ आयातों की मात्रा को नियन्त्रित करने का एक शक्तिशाली प्रयास हैं । यह आयात चाहे किसी विशेष वस्तु का हो अथवा कुछ वस्तुओ को मिला-जुला कर । इस व्यवस्था की कुछ अपनी कमजोरियाँ हैं । इनमे प्रथम उल्लेखनीय कमी यह है कि अनुज्ञप्तियो को स्वतन्त्रतापूर्वक प्राप्त नही किया जा सकता । इसलिए कुछ व्यक्तियो द्वारा इसे प्राप्त करना और अन्य समान रूप से योग्य व्यक्तियो को इससे वंचित रखना, स्पष्टतः अनुचित है । आयातो पर प्रतिबन्ध कुछ व्यापारियो को एकाधिकार प्रदान करता है और वे इसका प्रयोग करते हुए मन चाहा लाभ कमाने का प्रयास कर सकते हैं ।"

नियतांश के प्रभाव
(Effects of Quotas)

नियतांश के कारण निम्नलिखित प्रभाव पड़ते हैं—

(1) कीमत पर प्रभाव—जिन वस्तुओ के सम्बन्ध मे आयात नियतांश लगाए जाते हैं, उन वस्तुओ पर मात्रात्मक प्रतिबन्ध लग जाने के कारण उनकी कीमतो मे वृद्धि हो जाती है । परन्तु जब आयात पर मात्रात्मक प्रतिबन्ध लगाए जाते हैं तो 'कीमत-यन्त्र' के स्वतन्त्र संचालन मे होने वाला हस्तक्षेप प्रशुल्को की अपेक्षा अधिक गम्भीर होता है । अधिकतर प्रशुल्क द्वारा आयातित वस्तुओ मे होने वाली कीमत-वृद्धि आरोपित कर (Duty) की राशि से सीमित रहती है, अर्थात् कीमतों मे अधिकतम वृद्धि आयात कर की राशि के बराबर हो सकती है । इसके विपरीत मात्रात्मक प्रतिबन्धो, अर्थात् आयात नियतांशो के अन्तर्गत चूँकि आयात की जाने वाली वस्तु की अधिकतम मात्रा को निश्चित रूप से उल्लेखित कर दिया जाता है, इसलिए ऐसी स्थिति मे कीमतो में वृद्धि की कोई सीमा नही होती, अर्थात् नियतांश कीमतो मे कितनी भी वृद्धि कर सकता है । अतः नियतांश का कीमत प्रभाव दो तत्त्वों से सम्बन्धित है—

(अ) आयातित वस्तु की पूर्ति (या मात्रा), और (ब) आयातित वस्तु की माँग । आयात नियतांश के अन्तर्गत आयात की जाने वाली वस्तु की मात्रा निश्चित रहने के कारण उस वस्तु की देश मे जितनी अधिक माँग होगी, उसकी कीमतो मे उतनी ही अधिक वृद्धि होगी । इस प्रकार नियतांशो के कारण कीमत में होने वाले परिवर्तन अनिश्चित हैं ।

रेखाचित्र P के द्वारा आयात नियतांशो के कीमत पर पड़ने वाले प्रभाव को प्रकट किया गया है–

माना कि DD_1 घरेलू माँग वक्र है । स्वतन्त्र व्यापार की स्थिति में साम्य बिन्दु P है जहाँ माँग व पूर्ति वक्र एक-दूसरे को काटते हैं । इस साम्य बिन्दु पर कीमत PQ होती है और वस्तु की OQ मात्रा का व्यापार किया जाता है । अब माना कि आयातक देश आयात की जाने वाली वस्तु का नियतांश OQ_1 निर्धारित कर देता है तो ऐसी स्थिति मे आयातपूर्ति वक्र INS_1 हो जाता है जो यह प्रकट करता है कि OQ_1 मात्रा के बाद पूर्ति-वक्र पूर्णतया बेलोचदार हो जाता है । ऐसी

स्थिति मे माँग वक्र DD_1 व पूर्ति वक्र INS_1 एक-दूसरे का P_1 बिन्दु पर काटते हैं, अत कीमत PQ से बढकर P_1Q_1 हो जाती है। पूर्ति स्थिर होने के कारण जैसे-जैसे माँग मे वृद्धि होती जाएगी कीमते भी बढती जाएँगी।
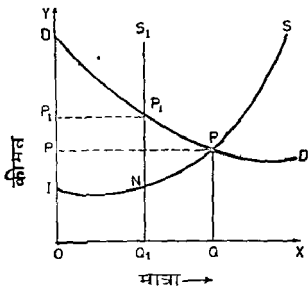
(2) व्यापार शर्तों पर प्रभाव–आयात नियतांश निर्धारित करने के परिणाम-स्वरूप एक देश के व्यापार की शर्तों मे परिवर्तन हो जाता है। नवीन व्यापार शर्तें नियतांश लगाने वाले देश के अनुकूल भी हो सकती हैं और प्रतिकूल भी। यदि वस्तु के निर्यात करने वाले देश पर्याप्त सगठित है और उनका प्रस्ताव-वक्र कम लोचदार
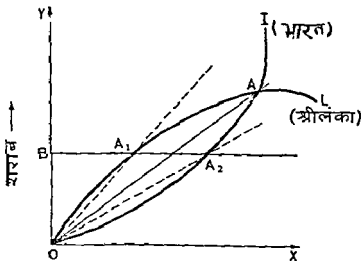
है तो व्यापार की शर्तें आयात नियतांश लगाने वाले देश के प्रतिकूल जा सकती हैं। इसके विपरीत यदि विदेशी प्रस्ताव-वक्र अधिक लोचदार है तो व्यापार की शर्तें आयात-नियतांश वाले देश के अनुकूल जा सकती हैं। इसी तथ्य को रेखाचित्र के द्वारा समझाया गया है।

माना कि भारत जो कि कपड़े का निर्यात कर रहा है उसका प्रस्ताव वक्र OI है। श्रीलंका का प्रस्ताव वक्र OL है जो शराब का निर्यात करता है। स्वतन्त्र व्यापार की स्थिति OA रेखा व्यापार की शर्त को निरूपित करेगी। अब यदि हम यह मान लें कि भारत श्रीलंका से आने वाली शराब की मात्रा OB तक सीमित कर देता है तो ऐसी स्थिति में व्यापार की शर्तों में परिवर्तन हो जाएगा। अब भारतीय कपड़ा व श्रीलंका की शराब के मध्य नवीन व्यापार की शर्त OA_1 अथवा OA_2 अथवा इन दोनों कीमतों के बीच श्रीलंका के शराब के प्रस्ताव वक्र की माँग की लोच के अनुसार कोई भी कीमत, अर्थात् व्यापार की शर्त हो सकती है। स्पष्टतः भारत के लिए OA_1 व्यापार की शर्त अनुकूल है और OA_2 प्रतिकूल है।

(3) भुगतान-सन्तुलन पर प्रभाव—आयात नियतांश के द्वारा एक देश आयात पर परिमाणात्मक प्रतिबन्धों के माध्यम से अपने भुगतान-सन्तुलन में स्थित असाम्यता को दूर कर सकता है क्योंकि आयात-नियतांश के द्वारा आयात को नियन्त्रित कर दिया जाता है। इसलिए इसका प्रभाव भुगतान-सन्तुलन पर अनुकूल पड़ता है। परन्तु निम्नलिखित परिस्थितियों में नियतांश का भुगतान-सन्तुलन पर प्रभाव अच्छा नहीं पड़ेगा—

(क) यदि नियतांश लगाने पर निर्यातक देश इसी प्रकार के प्रतिबन्ध लगा देते हैं तो नियतांश लगाने वाले देश को लाभ नहीं होगा।

(ख) यदि नियतांश लगाने से देश के महँगे कच्चे माल का उपयोग होने से वस्तु की लागत बढ़ जाती है तो निर्यात हतोत्साहित होंगे।

(ग) यदि नियतांश लगा देने से निर्यातक देशों की आयात-क्षमता कम हो जाती है तो फिर निर्यात कम हो जाएँगे।

(4) संरक्षणात्मक प्रभाव—आयात नियतांश पूर्णतया संरक्षणात्मक होते हैं क्योंकि ये आयातों को एक निश्चित मात्रा तक नियन्त्रित कर देते हैं। आयात नियतांश इस प्रकार स्वदेशी उत्पादन को प्रोत्साहित करते हैं।

(5) उपभोग प्रभाव—आयात नियतांश सामान्यतया वस्तुओं के कुल उपभोग को घटा देते हैं क्योंकि आयात नियतांशों के कारण घरेलू कीमतें बढ़ जाती हैं। यह उपभोग प्रभाव है। आयात नियतांश आयातित वस्तुओं के उपभोग और ऐसी घरेलू वस्तुओं के उपभोग जिनमें विदेशी कच्ची सामग्री प्रयुक्त है, निरुत्साहित करते हैं क्योंकि आयात-प्रतिबन्ध इन वस्तुओं का कृत्रिम अभाव उत्पन्न करके इनकी कीमतें बढ़ा देते हैं।

(6) पुनर्वितरण प्रभाव—आयात नियतांश के कारण जब कीमतों में वृद्धि होती है तो उत्पादकों की आय में तो वृद्धि होती है लेकिन उपभोक्ताओं की वास्तविक

आय में कमी हो जाती है। जब कीमतें बढती हैं तो घरेलू उत्पादकों की आयो में वृद्धि होती है परन्तु उपभोक्ताओं की इन वस्तुओं पर उपभोक्ता बचत कम हो जाती है यही आयात नियतांश का पुनर्वितरण प्रभाव है।

नियतांश एवं प्रशुल्क
(Quotas and Tariffs)

जब सम्बन्धित देशों में उत्पादन की तुलनात्मक लागत और माँग तथा पूर्ति की परिस्थितियाँ माँग करती हैं तो ऐसा कर लगाया जा सकता है जो आयातों को उस स्तर तक प्रतिबन्धित करदे जहाँ उन्हें विशेष नियतांश द्वारा प्रतिबन्धित किया जा सके। इसका अर्थ यह कदापि नहीं होता कि नियतांश और प्रतिबन्धित कर का प्रभाव बराबर हो। समान रूप से प्रतिबन्ध लगाने वाले नियतांशों और प्रशुल्कों के प्रभाव अलग अलग हो सकते हैं। नियतांशों और प्रशुल्कों से सापेक्षिक लाभ और हानियाँ होती हैं।

जब आयात पर मात्रात्मक प्रतिबन्ध लगाए जाते हैं तो कीमत यन्त्र के स्वतन्त्र संचालन में होने वाला हस्तक्षेप प्रशुल्कों की अपेक्षा अधिक गम्भीर होता है। मात्रात्मक प्रतिबन्धों के अन्तर्गत आयात की जाने वाली अधिक से अधिक मात्रा को निश्चित रूप से उल्लेखित कर दिया जाता है। प्रशुल्क की व्यवस्था में प्रारम्भ में तो इतने ही प्रतिबन्ध होते है किन्तु बाद में वे अन्य बातों में परिवर्तन होने के साथ साथ स्वयं बदलते रहते हैं। विदेशों में कीमत गिरने देश में कीमत उठने घरेलू माँग के बढने तथा ऐसे ही अन्य कारणों से प्रशुल्क के अधीन आयातों पर प्रभाव पडता है।

मात्रात्मक प्रतिबन्धों द्वारा भुगतानों के सन्तुलन यन्त्र की लोचशीलता को नुकसान पहुँचाया जाता है। यदि अतिरिक्त माल वाला देश मात्रात्मक प्रतिबन्ध लगा कर सभी महत्वपूर्ण वस्तुओं के आयातों का नियन्त्रण करे तो घाटे वाले देश को अतिरिक्त उत्पादन वाले देश के लिए अपना निर्यात बढाने में बहुत कठिनाई होगी। आर्थिक मन्दी के समय कर्जदार देशों को भुगतानों के परिवर्तन में अत्यन्त कठिनाई का सामना करना पडा क्योंकि लेनदार देशों में कठोर मात्रात्मक प्रतिबन्ध लगे हुए थे। इन्होंने आयातों को कठोर बना दिया क्योंकि आयातों की घरेलू और विदेशी कीमत के बीच पर्याप्त अन्तर रहता था। प्रशुल्क के अन्तर्गत आयातों और निर्यातों की मात्रा लोचशील होती है। भुगतानों के सन्तुलन की स्थिति में होने वाले परिवर्तन आयातों और निर्यातों की मात्रा पर भी प्रभाव डालते हैं। इस प्रकार प्रशुल्कों के अन्तर्गत भुगतानों के सन्तुलन यन्त्र की लोचशीलता बनाए रखी जाती है।

लगाए गए मात्रात्मक प्रतिबन्ध प्राय एकाधिकार का कारण बनते हैं। ऐसी स्थिति में घरेलू आयातकर्ता या उत्पादक विदेशी प्रतिस्पर्द्धा से स्वतन्त्र रहते हैं तथा उपभोक्ताओं का शोषण करते हैं। प्रशुल्क व्यवस्था में एकाधिकार रखने वाले लोग कीमतों को प्रशुल्क सहित आयात कीमत से ऊँची नहीं उठा सकते। प्रशुल्कों तथा मात्रात्मक प्रतिबन्धों के प्रभावों को केवल तभी समान कहा जा सकता है जब प्रशुल्क इतने ऊँचे हों कि उन्हें मिलाकर आयात कीमतें एकाधिकार के कुल राजस्व से भी अधिक ऊँची हो जाएँ।

निर्यातांशों द्वारा एकाधिकार की प्रकृति को न केवल आयातकर्ता देशों में बढाया जाता है वरन् निर्यातकर्त्ता देशों मे भी बढाया जाता है। यदि कोई तीसरा देश प्रतिस्पर्द्धा की धमकी न दे अथवा प्रत्येक देश से किए जाने वाले आयात की मात्रा को निश्चित कर दिया जाए तो निर्यातकर्त्ता देश आपस में मिल कर अधिक से अधिक लाभ प्राप्त कर सकते हैं। मात्रात्मक प्रतिबन्ध बहुत कुछ स्वेच्छापूर्ण होते हैं और इसलिए वे पूर्ति के विभिन्न स्रोतों के बीच भेदभाव करते हैं। इनके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों मे मनमुटाव होने लगता है। यह कहना गलत होगा कि निर्यतांश हमेशा ही भेदभाव-पूर्ण होते हैं और प्रशुल्क हमेशा भेदभाव-हीन होते हैं। यदि उचित रूप से निर्धारित किया जाए तो नियतांश पूर्ण रूप से गैर-भेदभाव पूर्ण हो सकता है। फिर भी यह सच है कि यदि भेदभाव करना है तो इसके लिए नियतांश व्यवस्था प्रशुल्क व्यवस्था की अपेक्षा सुविधाजनक रहेगी। इसके विपरीत अतीत का इतिहास यह बताता है कि प्रशुल्कों की अपेक्षा नियतांश अधिक भेदभाव पूर्ण रहे हैं।

इस प्रकार देखा जाए तो कोई भी ऐसा निर्धारण का तरीका नहीं है जिसको निष्पक्ष कहा जा सके तथा जिसमे किसी को भी प्राथमिकता प्रदान करने का अवसर न हो। इसके अतिरिक्त नियतांश के निर्धारण के आधार को प्राय गुप्त रखा जाता है और इसलिए यह तय करना सम्भव नहीं होता है कि एक नियतांश व्यवस्था भेदभाव विहीन है अथवा नहीं। जो प्रशुल्क बाजार के अवैयक्तिक यन्त्र के माध्यम से कार्य करता है वह अन्तर्राष्ट्रीय भेदभाव के लिए बहुत कम अवसर रहने देता है। यदि कभी बिना किसी उद्देश्य के ही कही भेदभाव होने लगे तो उसका इतना विरोध नही किया जाता जितना मात्रात्मक प्रतिरोधों के आधार पर किए गए अन्तर्राष्ट्रीय भेदभाव का होता है।

आयात पर लगाए गए प्रतिबन्धों के फलस्वरूप घरेलू माँग की कीमत तथा विदेशी पूर्ति की कीमत के बीच कुछ सीमान्त पैदा होता है। यदि आयातो पर प्रशुल्कों के कारण प्रतिरोध लगाए जाएँ तो इस सीमान्त का विनियोग सरकार द्वारा किया जाता है और इस प्रकार एकत्रित किए गए धन को समाज की भलाई के लिए खर्च किया जाता है। जहाँ आयात को मात्रात्मक प्रतिरोधों द्वारा सीमित किया जाता है वहाँ सीमान्त का लाभ आयात-कर्त्ताओं, सरकार, घरेलू उपभोक्ताओं, विदेशी निर्यात-कर्त्ताओं या नियतांश प्रशासन के अधिकारियों के लिए प्राप्त होगा। इनमें से कौन इससे लाभान्वित होगा, यह बात उस तरीके पर निर्भर करती है जिससे कि घरेलू बाजार को सगठित तथा नियतांश को प्रशासित किया जाएगा। यदि सरकार सीमित मात्रा मे आयात करने की अनुमति देने समय अनुज्ञप्ति प्रसारित करने की कोई कीमत वसूल न करे और वस्तु का आयात करने के बाद आयातकर्त्ता उस वस्तु को किसी भी कीमत पर बाजार मे बेचने के लिए स्वतन्त्र हो तो सीमान्त की प्राप्ति आयातकर्त्ताओं को होगी। दूसरी ओर यदि देश मे कीमतों का नियन्त्रण और राशन है तो सीमान्त की प्राप्ति उपभोक्ताओं को होगी। कई बार ऐसा भी होता है कि आयातकर्त्ता अपने राशन ऊँचे दामों पर दूसरो को बेच देते हैं और इस प्रकार सीमान्त उस वस्तु के वास्तविक उपभोक्ताओं को नहीं मिल पाता।

मात्रात्मक प्रतिबन्धो के अन्तर्गत एक बड़ी नौकरशाही द्वारा व्यक्तिगत उद्योगों के कार्यों मे हस्तक्षेप किया जाता है। जब व्यक्तिगत व्यापारियों को आयात और निर्यात का नियतांश निर्धारित किया जाता है तो व्यक्तिगत व्यापार का नियन्त्रण और नियमन अधिक से अधिक करना आवश्यक बन जाता है। मात्रात्मक प्रतिबन्धों के द्वारा सरकारी अधिकारियों को व्यापार के निर्देशित करने तथा नियमित करने की अधिक स्वेच्छा प्राप्त हो जाती है। उन्हें राजनीति से अलग नही रखा जा सकता।

यह सच है कि प्रशुल्को एवं मात्रागत प्रतिबन्धों द्वारा आयातों या निर्यातों को किसी भी सीमा तक रोका जा सकता है, फिर भी ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर यह कहना होगा कि नियतांश, प्रशुल्कों की अपेक्षा अधिक नियन्त्रकारी रहे हैं। जब माँग की कमी हो जाती है तो नियतांश पूर्ण रूप से प्रभावहीन बन जाता है, किन्तु प्रशुल्क भी ऐसी स्थितियों मे अधिक प्रतिबन्ध रखने लगता है।

नियतांश व्यवस्था का समर्थन
(The Case for Quota System)

सामान्यतः यह माना जाता है कि सारे ससार को ध्यान मे रखते हुए प्रशुल्क व्यवस्था मात्रागत प्रतिबन्धो से अधिक उच्च है किन्तु राष्ट्रीय दृष्टिकोण से मात्रागत प्रतिबन्ध कई प्रकार से प्रशुल्को की अपेक्षा श्रेष्ठ होते हैं। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से मात्रागत प्रतिबन्ध अस्वीकृत हैं किन्तु राष्ट्रीय दृष्टि से उनको पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त होती है। जब तक विश्व की आय को विनियमित करने के लिए कोई अभिकरण नही है उस समय तक विभिन्न देश विश्व के व्यापक हित के लिए अपने राष्ट्रीय हितों को नही छोड सकते। नियतांश व्यवस्था के समर्थन मे जो तर्क दिए जाते हैं उनमे से प्रमुख निम्न प्रकार हैं—

1. अर्द्ध-विकसित देशों के लिए उपयुक्त—अर्द्धविकसित देशों मे प्रशुल्क प्रभावशील नही होते। इन देशों की समस्याएँ विकसित देशों की अपेक्षा भिन्न होती हैं। विकसित देशो में आयात को हतोत्साहित करने के लिए घरेलू वस्तु की कीमत मे थोड़ी-सी भी वृद्धि काफी होती है। दूसरी ओर अर्द्धविकसित देशो मे उपभोक्ता घरेलू माल से पर्याप्त ऊँची कीमत होने पर भी विदेशी वस्तु को लेना पसन्द करता है। यह केवल इसलिए नहीं होता कि उन वस्तुओं के गुणों मे कोई मौलिक अन्तर है। ऐसी वस्तुओं के उदाहरण भी हैं जो कि अपने देश मे लोकप्रियता नही रखती लेकिन अर्द्ध-विकसित देशों मे वहाँ की बनी वस्तुओं के साथ प्रतियोगिता करती हैं। अर्द्धविकसित देशो मे घरेलू चीज मूल रूप से अच्छी होने पर भी विदेशी उत्पादन से घटिया मानी जाती है। ऐसी स्थिति मे आयात पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए उच्च प्रशुल्कों का लगाना आवश्यक है जो न केवल आयातकर्त्ता देश की अर्थव्यवस्था को नुकसान पहुँचाएंगे वरन् निर्यातकर्त्ता देश की अर्थव्यवस्था पर भी बुरा असर डालेंगे।

2 तत्काल प्रभावशील—प्रशुल्को का प्रयोग जब कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किया जाता है तो सभी वस्तुओं के आयातों और निर्यातों की माँग तथा पूर्ति की लोचशीलता का ज्ञान जरूरी है। इसके अभाव मे जो प्रशुल्क निर्धारित किया जाएगा वह वांछनीयता से कम या अधिक स्तर का हो सकता है। प्रशुल्को द्वारा

9 चुँगी संघ

(CUSTOM UNIONS)

चुँगी संघ प्रणाली प्राथमिक करो की व्यवस्था पर आधारित रहती है। जब दो या दो से अधिक सम्प्रभु राज्य एक-दूसरे के माल को बिना करों के घटी हुई कर मात्रा के साथ एक-दूसरे के क्षेत्र मे आने-जाने की अनुमति से सम्बन्धित सम्मिलित निर्णय करते हैं तो यह कहा जाता है कि उन्होने एक चुँगी क्षेत्र (Custom Area) अथवा चुँगी संघ (Custom Union) का निर्माण कर लिया है। इस प्रकार चुँगी संघ दो प्रकार के हुए— (1) वे जिनमे करो को पूरी तरह हटा लिया है, और (2) वे जिनमे सम्बन्धित देशो का सामान घटी दर से कर देकर निकल सकता है। स्वतन्त्र व्यापार के समर्थकों ने इन दोनो को उचित माना है।

चुँगी संघ के परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन एव तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के अनुसार आर्थिक लाभ प्रदान किए जाते है। ये लाभ सम्बन्धित देशो के सांस्कृतिक, राजनैतिक या जाति सम्बन्धी अन्य किसी प्रकार के सम्बन्धो पर निर्भर नही रहते। क्लीमेंट (Clement) तथा अन्य ने चुँगी संघों को क्षेत्रीय व्यापार-खण्ड का एक रूप माना है। उनके मतानुसार इसके अन्य रूप स्वतन्त्र व्यापार क्षेत्र (Free Trade Area) और साझा बाजार (Common Market) हो सकते हैं। इन खण्डों को अपनाने पर प्रशुल्क के सम्बन्ध मे भेदपूर्ण नीति अपनाई जाने लगती है। क्षेत्रीय व्यापार खण्डो के सदस्य प्रशुल्को को एक-दूसरे के माल पर कम करने या समाप्त करने के लिए राजी हो जाते हैं किन्तु यह कमी गैर-सदस्य देशो से आयातित माल पर नही की जाती। इसका परिणाम यह होगा कि सदस्य देशों मे आयातित माल को प्राथमिक (Preferential) प्रशुल्क दिया जाएगा जो गैर-सदस्य देशो के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार माना जाएगा। प्रशुल्को में ये भेदभावपूर्ण [illegible] स्थित आर्थिक सम्बन्धों को अस्त-व्यस्त कर सकते हैं। उनके परिणामस्वरूप उत्पादन और उपभोग के तरीको मे, व्यापार की शर्तों मे, भुगतान के सन्तुलन मे और सम्भवत: उन्नति की दर मे भी परिवर्तन किए जा सकते हैं। चुँगी संघो का सिद्धान्त उन विभिन्न परिवर्तनो से सम्बन्ध रखता है जो प्रशुल्को की भेदपूर्ण नीति से पैदा होते हैं।

चुंगी संघों का सिद्धान्त
(The Theory of Custom Unions)

चुंगी सघो का सिद्धान्त जैकब वाइनर (Jacob Viner) की पुस्तक 'The Custom Union Issue' म स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है। यह पुस्तक 1950 मे प्रकाशित हुई थी। इसमें चुंगी सघो के कुछ प्रभावो का पहली बार महत्वपूर्ण अध्ययन किया गया था। इस विचार विमर्श का प्रारम्भिक प्रभाव बहुत कुछ मौलिक हुआ और इससे यह निष्कर्ष निकाला जाने लगा कि चुंगी सघ स्वतन्त्र व्यापार की दिशा मे एक कदम है इसलिए वह विश्व कल्याण की अभिवृद्धि करेगा। वाइनर ने यह प्रतिपादित किया कि चुंगी सघो की रचना का प्रभाव लाभदायक और नुकसानदायक दोनो प्रकार का हो सकता है। इस प्रकार शुद्ध प्रभाव इस बात पर आधारित है कि दोनो विरोधी प्रभावो मे से कौनसा प्रभाव बडा है। बाद मे इस विषय से सम्बन्धित रचनाओ मे वाइनर के योगदान का अधिक स्पष्टीकरण किया गया। उन्होने प्रभावो पर विचार करके सिद्धान्त को व्यापक रूप दिया जिन पर वाइनर ने विचार नही किया था और इस प्रकार उन्होंने आर्थिक एकीकरण की एक सामान्य तथा सशोधित विचारधारा निर्मित की।

व्यावहारिक प्रभाव—चुंगी सघो मे केवल विचारको को ही रुचि नहीं रही वरन् इसका पर्याप्त व्यावहारिक प्रभाव भी हुआ। यूरोपीय आर्थिक समाज (European Economic Community) की उल्लेखनीय सफलताओ ने चुंगी सघो के सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक दोनो पहलुओ को आकर्षण का केन्द्र बनाया। आज इस सिद्धान्त की मूल मान्यताओ से अधिकांश विश्व के राजनैतिक नेता और सरकारी अधिकारी परिचित हैं। इसके आधार पर किसी भी भेदभावपूर्ण व्यापारिक व्यवस्था का विश्लेषण किया जा सकता है। अर्थशास्त्रियो न इस सिद्धान्त को स्थित सघो या साझा बाजारो के आर्थिक प्रभावो का विश्लेषण करन म उपयोगी पाया है जो अतीतकालीन आर्थिक या राजनैतिक एकीकरण का परिणाम है।

दो दृष्टिकोण—चुंगी सघो का सिद्धान्त एकीकरण के आर्थिक प्रभावों के स्पष्टीकरण से सम्बन्ध रखता है। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक विचारधारा के क्षेत्र मे इस सिद्धान्त की स्थिति पर दो दृष्टियो से विचार किया जा सकता है। एक ओर चुंगी सघो का सिद्धान्त एक विशेष प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त है जो परम्परागत व्यापार सिद्धान्त से अधिक व्यापक एव सामान्य है। अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मॉडल केवल दो देशो के व्यापार पर विचार करते हैं जबकि चुंगी सघो के मॉडल मे सम्भवत तीन या अधिक देश होने चाहिए क्योंकि दो या इसमे अधिक देश तो इसकी रचना करते है और गैर-सदस्य देश शेष ससार का प्रतिनिधित्व करता है। दूसरे, चुंगी सघो का सिद्धान्त शुल्क सिद्धान्त की एक विशेष शाखा है जो व्यापारिक प्रतिबन्धो मे भौगोलिक अनेकरूपता के परिवर्तनो के प्रभाव पर विचार करती है। इसके विपरीत प्रशुल्को पर जो सामान्य विचार किया जाता है उसका सम्बन्ध भेदभाव-विहीन प्रशुल्को से रहता है अर्थात् ऐसे प्रशुल्क से जो सभी आयातो पर लगाए जाएँ चाहे वे किसी भी देश से किए जा रहे हो।

उपयोगिता—चुंगी सघो का सैद्धान्तिक विश्लेषण दूसरे श्रेष्ठ सिद्धान्त के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण योगदान करता है। चुंगी सघ द्वारा स्वतन्त्र व्यापार के क्षेत्र को बढ़ा दिया जाता है इसलिए हम इसे सामान्य स्वतन्त्र व्यापार की दिशा में एक कदम कह सकते हैं क्योंकि इसके द्वारा सर्वश्रेष्ठ सुझाव के नजदीक संसार को लाकर कुल कल्याण को आवश्यक रूप से बढावा नहीं दिया जाता। यह विचार चुंगी सघ सिद्धान्त के लिए वाइनर का मुख्य योगदान था। उन्होंने द्वितीय श्रेष्ठ (Second best) के सिद्धान्त मे इस विरोध का उल्लेख किया। उनका विचार था कि जब तक श्रेष्ठ समाधान के लिए सभी शर्तें पूरी नहीं होती, तब तक जो शर्त पूरी होती है वह आवश्यक रूप से कल्याण को प्रोत्साहन नही देती।

चुंगी संघों का अध्ययन अन्तर्राष्ट्रीय एवं अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार के बीच स्थित कुछ अन्तरो का उल्लेख करता है। यद्यपि एक चुंगी सघ के विभिन्न सदस्यो के बीच किसी प्रकार का प्रशुल्क नही होता फिर भी उत्पादित माल और उत्पादन के साधन उनके बीच उतनी स्वतन्त्रता से गति नही करते जितना कि अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार मे करते हैं। चुंगी संघ के सदस्यो के बीच भाषा, रीति-रिवाजों और परम्पराओं, रुचि, सस्था, कर व्यवस्था आदि के आधार पर जितने अन्तर होते हैं उतने एक राष्ट्र के विभिन्न क्षेत्रो के बीच नहीं होते। इन्ही अन्तरो के कारण माल और साधनों की गति मे बाधा पहुँचती है। इसके अतिरिक्त एक देश के विभिन्न क्षेत्र केन्द्रीय सत्ता द्वारा लागू की गई सामान्य नीतियों के विषयो के अनुरूप होते हैं जबकि चुंगी सघ के विभिन्न सदस्य अलग-अलग प्रकार के स्वतन्त्र और कभी-कभी सघर्षपूर्ण कानूनों के विषय होते हैं।

सिद्धान्त का इतिहास—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद इस सम्बन्ध में पर्याप्त विचार-विमर्श हुआ कि पश्चिमी यूरोप के लिए किस प्रकार का सामान्य आर्थिक एकीकरण किया जाए? इस एकीकरण की दिशा मे पहला कदम बेनेलक्स चुंगी सघ (Benelux Customs Union) का संगठन था। उसके बाद यूरोपीय कोयला और फौलाद समाज (European Coal and Steel Community) की रचना की गई। 1957 मे रोम मे एक सन्धि पर हस्ताक्षर हुए और यूरोपीय आर्थिक समाज (European Economic Community) या यूरोपीय साझा बाजार (European Common Market) की रूप रचना प्रस्तुत की गई। यद्यपि अतीत मे भी अनेक वास्तविक एवं प्रस्तावित चुंगी सघ रहे हैं किन्तु अर्थशास्त्रियो का ध्यान इनके अध्ययन की ओर युद्ध के बाद ही गया है। जब यूरोपीय आर्थिक समाज के सदस्य देशो एवं अन्य सघो के सफल कार्य सचालन को देखा गया तो इन सघों की ओर विशेष रुचि आकर्षित होने लगी।

यदि तुलनात्मक रूप से देखा जाए तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त की अपेक्षा चुंगी सघो के सिद्धान्त का इतिहास अधिक पुराना नही है। जेकब वाइनर से पहले इनके सैद्धान्तिक अध्ययन की ओर किसी ने गम्भीर रूप से प्रयास नहीं किया। किसी ने न तो एकीकरण के प्रभावों का विवेचन किया और न इस मत

की सत्यता को माना जिसके अनुसार चुंगी सघ को स्वतन्त्र व्यापार की दिशा मे एक ऐसा आन्दोलन माना गया था जिसके परिणामस्वरूप विश्व कल्याण की अभिवृद्धि होती है। मि० वाइनर की प्रमुख देन यह थी कि उन्होने प्रभावी दृष्टिकोण की असत्यता का दिग्दर्शन कराया और बताया कि कुछ परिस्थितियो मे चुंगी सघ विश्व के कल्याण को कम करते हैं। इसीलिए उन्होने दूसरे श्रेष्ठ (Second best) सिद्धान्त की खोज की।

चुंगी सघो के अधिकांश सैद्धान्तिक अध्ययनो ने उत्पादन और उपभोग के परिवर्तनो से कल्याण पर पडने वाले प्रभाव पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया है। भुगतान व्यवहार, भुगतान सन्तुलन तथा रोजगार के स्तर आदि की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है। यूरोप मे एकीकरण के प्रभावो का मात्रात्मक अनुमान लगाने के लिए भी कुछ प्रयास किए गए। कम विकसित देशों मे भी चुंगी सघो के प्रयोग की पर्याप्त रुचि देखी गई है।

चुंगी सघ का अर्थ—चुंगी सघ शब्द के अर्थ की अनेक व्याख्याएँ अथवा अर्थ प्रस्तुत किए गए हैं। एक सघ अनेक रूप धारण कर सकता है। इसका सर्वाधिक सीमित रूप वह होता है जिसके अनुसार कुछ देश केवल एक ही वस्तु पर सुरक्षात्मक प्रयासो का प्रयोग करते हैं। इसके विपरीत सर्वाधिक पूर्ण सघ वह होता है जिसमे माल एव उत्पादन के साधनों की गति पर से प्रत्येक प्रतिबन्ध को हटा लिया जाता है तथा सामान्य धन सम्बन्धी एव प्रशुल्क सम्बन्धी नीतियां अपनाई जाती हैं। सदस्य देश सामान्य मुद्रा का प्रयोग भी कर सकते हैं। पूर्ण सघ के लिए राजनैतिक एव आर्थिक दोनो प्रकार के एकीकरणो का होना आवश्यक है। चुंगी सघो की एक सामान्य विशेषता यह है कि इसके सभी सदस्य देश अपने मध्य स्थित व्यापार को पारस्परिक रूप से उदार बना लेते हैं जबकि गैर-सदस्यो से होने वाले आयात पर प्रतिबन्ध लगाते हैं।

चुंगी सघो से सम्बन्ध रखने वाले साहित्य मे आर्थिक एकीकरण की विभिन्न मात्राओं के लिए अलग-अलग शब्दो का प्रयोग किया गया है यद्यपि कहीं-कहीं दो शब्दो के बीच विरोध भी हुआ है। एक स्वतन्त्र व्यापार क्षेत्र (A Free Trade Area) मे सदस्यो के बीच सभी व्यापारिक प्रतिबन्धो एव प्रशुल्को को समाप्त कर दिया जाता है किन्तु गैर-सदस्य देशो के साथ प्रत्येक देश अपने प्रशुल्क स्वय लगाता है। दूसरे शब्दो मे सघ के बाहर से होने वाले आयात पर ये देश सामान्य प्रशुल्क नहीं लगाते। चुंगी सघ (Custom Union) एक कदम और आगे बढ जाता है। इसके सभी सदस्य गैर-सदस्यो के साथ व्यापार पर सामान्य प्रशुल्क लगाते हैं। एक साझा बाजार (Common-Market) मे सदस्य-गण अपने व्यापार एव साधनो की गति पर से सभी प्रतिबन्धो को हटा देते हैं। इसके अतिरिक्त गैर-सदस्यो पर सामान्य व्यापार प्रतिबन्ध लगाते हैं। एक आर्थिक सघ (Economic Union) साझा बाजार ही होता है। अन्तर केवल यह है कि इसमे राष्ट्रीय आर्थिक नीतियों का कुछ समन्वय भी किया जाता है। पूर्ण आर्थिक एकीकरण (Total Economic

Integration) मे एक उच्चतर राष्ट्रीय अभिकरण की स्थापना की जाती है। यह अपनी सत्ता के आधार पर सदस्य देशो के लिए सामान्य आर्थिक, प्रशुल्क सम्बन्धी तथा सामाजिक नीतियों को निर्धारित करती हैं।

इस प्रकार चुंगी सघों की दो सामान्य विशेषताएं मानी जा सकती हैं—(1) एकीकरण के परिणामस्वरूप सदस्यो के बीच सभी प्रशुल्कों एवं व्यापारिक प्रतिबन्धों को समाप्त कर दिया जाता है, तथा (2) बाहर से होने वाले आयात पर सामान्य प्रशुल्क लगाए जाते हैं। एकीकरण (Integration) एव चुंगी सघ शब्दों को कई बार समानार्थक के रूप मे भी प्रयुक्त किया जाता है।

कल्याणकारी प्रभावों के मूल्यांकन की समस्याएँ (The Problems of Assessing Welfare Effects)

चुंगी संघ की वांछनीयता का आधार उसका वह प्रभाव है जो इसके द्वारा जनकल्याण पर डाला जाता है। मुल्य रुचि का विषय एक देश, सभी सदस्य देशों, सभी गैर सदस्य देशों अथवा सम्पूर्ण संसार का कल्याण हो सकता है। सामान्यतः अर्थशास्त्री कल्याण के अनार्थिक तत्त्वों को बाहर रखते हैं। इतने पर भी आर्थिक कल्याण के प्रभाव को निर्धारित करना अत्यन्त कठिन है इस पर पड़ने वाला कुल प्रभाव ज्ञात नही हो पाता। प्रत्येक परिवर्तन कुछ व्यक्तियो के लिए शुभ तथा अन्य के लिए अशुभ होता है। एक या अधिक व्यक्तियो के कल्याण की अभिव्यक्ति से उस समय कुल कल्याण की वृद्धि मानी जाएगी जबकि अन्य लोगों का कल्याण कम न हो अथवा प्रभावित लोगो को मुआवजा दिया जा सके। आधुनिक कल्याणकारी सिद्धान्त का कठोर पालन उन सब निष्कर्षों को बाहर रखता है जो राष्ट्रों और व्यक्तियों के बीच आय वितरण मे होने वाले परिवर्तनो के कल्याणकारी प्रभावों से सम्बन्धित हैं।

चुंगी संघ की रचना अन्य बातों के साथ-साथ उत्पादन, खपत और व्यापार की मात्रा एवं प्रकृति मे भी अन्तर ला देगी। इसके द्वारा राष्ट्रो के बीच तथा प्रत्येक राष्ट्र के अन्तर्गत व्यक्तियो के बीच आय के वितरण को बदल दिया जाएगा। यदि संघ के कारण साधनो का अधिक कुशलतापूर्वक प्रयोग किया जा सके तथा उत्पादन मे वृद्धि की जा सके तो मानना होगा कि कल्याण मे अभिवृद्धि हुई है। सामान्यतः संघ की रचना के कारण उत्पादन के कुछ क्षेत्रो मे कुशलता बढेगी और कुछ मे घटेगी। इस वृद्धि और कमी की तुलना के बाद ही इसके शुद्ध प्रभाव को जाना जा सकेगा। जब प्रशुल्को मे भेदभाव की पूर्ण कमी की जाती है तो इससे खपत पर व पडता है क्योंकि सदस्य देशो से आयातित माल घरेलू उत्पादन तथा सघ के २९ के देशो से आयातित माल से भी सस्ता होता है। खपत मे होने वाले कुछ परिवर्तन विनिमय की कुशलता को बढाकर कल्याण की अभिवृद्धि करेंगे जबकि दूसरों द्वारा इसे घटाया जाएगा। कही पर भी शुद्ध प्रभाव की जानकारी कमी और वृद्धि आदि की तुलना करने के बाद ही प्राप्त हो सकती है।

चुंगी संघों के प्रभाव दो प्रकार के होते हैं—स्थायी प्रभाव और गतिशील

(Dynamic) प्रभाव उत्पादन तथा विनिमय की कुशलता मे होने वाला परिवर्तन स्थायी प्रभाव है जबकि प्रगति की दर मे होने वाला परिवर्तन गतिशील प्रभाव है। स्थाई प्रभावो मे हम उत्पादन, खपत तथा व्यापार की शर्तों के परिवर्तन आदि को ले सकते हैं। यह जरूरी नही कि स्थाई और गतिशील प्रभाव कल्याण को एक ही दिशा म परिवर्तित करें। सघ की रचना स्थायी कल्याणो को कम करते हुए भी गतिशील कल्याण को बढा सकती हैं। इसका विपरीत प्रभाव भी सम्भव है। कई विचारकों ने यह मत प्रकट किया है कि जब एकीकरण के परिणामस्वरूप उत्पादन और विनिमय की कुशलता मे सुधार होता है तो कल्याण म अभिवृद्धि होती है। यहाँ कल्याण से अर्थ विश्व के कल्याण से है। चुंगी सघो की रचना के विभिन्न प्रभाव निम्नलिखित है

(1) उत्पादन पर प्रभाव (Production Effects)—चुंगी सघो की रचना कई प्रकार से उत्पादन की कुशलता को प्रभावित कर सकती है। इसके द्वारा उत्पादन की अच्छी परिस्थितियां प्रदान करके कुशलता को बढाया जा सकता है तथा श्रम विभाजन अच्छे रूप मे किया जा सकता है। यह बिक्री मे आन्तरिक तथा बाह्य मितव्ययिता द्वारा प्रतियोगिता बढाकर और अनिश्चितता को घटाकर कार्य कुशलता को बढा सकती है। चुंगी सघो का उत्पादन पर पर्याप्त स्थायी प्रभाव पडता है। मि० वाइनर ने चुंगी सघो के कल्याणकारी पहलुओ का व्यापार रचना और व्यापार-विभाजन की दृष्टि से विश्लेषण किया है। सघ द्वारा कुछ वस्तुओ के उत्पादन के राष्ट्रीय चक्र को बदल दिया जाता है। यदि इसके द्वारा उत्पादन को उच्च लागत स्रोत से कम लागत स्रोत मे बदल दिया जाता है तो यह व्यापार को जन्म देकर स्वतन्त्र व्यापार की स्थिति की ओर आगे बढती है। दूसरी ओर यदि यह कम लागत स्रोत से अधिक लागत स्रोत की ओर अग्रसर होती है तो यह व्यापार को रोकती है और स्वतन्त्र व्यापार की स्थिति से उसे दूर रखती है। उत्पादन मे इस प्रकार के परिवर्तन, साधनो के प्रयोग की स्थायी कार्यकुशलता को प्रभावित करते हैं।

चुंगी सघ की रचना व्यापार और व्यापार रचना को रोकने का कारण बनती है। इसके विभिन्न प्रभावो को नापना सम्भव है। जब चुंगी सघ की रचना के विधायी प्रभाव उसके निषेधात्मक प्रभावो से अधिक होते हैं तो साधनो के प्रयोग की कुशलता बढ जाती है। कुशलता बढने का अर्थ सरल रूप मे यह होता है कि समान साधनो द्वारा अधिक उत्पादन किया जा सकता है अथवा कम साधनो द्वारा समान उत्पादन किया जा सकता है किन्तु इसका अर्थ यह नही कि इससे कल्याण म अभिवृद्धि होती है क्योंकि उत्पादन की स्थिति का परिवर्तन कुछ व्यक्तियो या कुछ देशो को लाभ पहुँचाता है वह अन्य को हानि भी पहुँचाता है। कार्यकुशलता मे वृद्धि को कल्याण की वृद्धि मानने वाले यह भूल जाते हैं कि वितरण की समस्या का अपना महत्त्व होता है। वितरण के प्रश्न पर विचार किए बिना ही यह मान लेना गलत होगा कि कुशलता की अभिवृद्धि वांछनीय स्थिति को ला देगी।

व्यापार की कमी या वृद्धि के कारण होने वाले लाभ तथा हानि की तुलना

करना अधिक सरल नही है। लाभ का अनुमान लगाने के लिए पहले की प्रति इकाई लागत और आज की प्रति इकाई लागत के बीच तुलना करके देखा जाता है। इसी प्रकार हानि का भी पता लगाया जाता है। इन दोनो मापकों की तुलना करके यह देखा जा सकेगा कि शुद्ध प्रभाव उत्पादन मे कार्य-कुशलता को घटाने का हुआ या बढाने का। यह तरीका केवल तभी उपयुक्त रहेगा जब विचारणीय माल की लागत स्थायी हो और उसकी खपत निश्चित हो। लाभ और हानियो की तुलना करना इसलिए अत्यन्त कठिन है क्योंकि एक देश की उत्पादन वृद्धि एवं कमी स्वतः के प्रयास की अपेक्षा अन्य देशो के उत्पादन पर निर्भर करती है।

यद्यपि लाभ और हानि की मात्रा को निर्धारित करने का कोई सन्तोषजनक तरीका नही है फिर भी लागत वृद्धि के उदाहरण से दो गुणात्मक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—(1) यदि व्यापार रचना के अनुकूल प्रभाव अधिक होंगे तो 'क' देश मे लोचशीलता अधिक होगी। इसका अर्थ यह हुआ कि व्यापार रचना इसलिए अधिक होगी क्योकि अधिक लागत वाली घरेलू प्रक्रियाएँ समाप्त हो जाएँगी। (2) 'क' देश में यदि घरेलू पूर्ति की लोचशीलता अधिक है तो उत्पादन की कार्य कुशलता पर विपरीत प्रभाव पड़ेंगे। स्थिर मूल्य की स्थिति मे व्यापार-रचना की प्राप्तियाँ केवल संघ के सदस्यो को ही होंगी। इस सरल मॉडल के अन्तर्गत संघ के सदस्यो के साथ किए जाने वाले आयात और निर्यात मे कोई परिवर्तन नही होगा। व्यापार की कमी के कारण संघ के अन्तर्गत और सम्भवत उसके बाहर वाले देशो मे भी उत्पादन की कार्यकुशलता घट जाएगी। संघ के अन्तर्गत इसके परिणामस्वरूप साधन स्रोत उन उद्योगो मे चले जाएंगे जो शेष ससार के उद्योगों की तुलना मे हानिप्रद है। संघ के बाहर के देशो के निर्यात मे जो कमी हुई है उसके परिणामस्वरूप इन देशों के साधन-स्रोत उन वस्तुओ के उत्पादन साधनो की ओर मुड जाएंगे जिनमें अपेक्षाकृत कम लाभ होता है।

यदि वृद्धिशील-लागत का प्रभाव रहता है तो भी व्यापार रचना सदस्य देशो को लाभान्वित करेगी। व्यापार की रचना के कारण गैर-सदस्य देशों का व्यापार या कल्याण प्रभावित नही होता किन्तु व्यापार की कमी निर्धारित रूप से सदस्यो तथा गैर-सदस्यो के उत्पादन को प्रभावित करती है। संघ के सदस्यों के बीच व्यापार-रचना प्रभावित उद्योगों की लागत को कम करके अधिक प्राप्तियों का कारण बनेगी।

(2) **उपभोग पर पड़ने वाले प्रभाव (Effects on Consumption)**—वाइनर ने अपने प्रारम्भिक विश्लेषण मे केवल उत्पादन के प्रभावो पर ही विचार किया तथा खपत मे होने वाले परिवर्तनों की अवहेलना की थी किन्तु बाद के विश्लेषणों से यह स्पष्ट हो गया कि चुंगी संघ के साथ-साथ होने वाले भेदभाव पूर्ण प्रशुल्क सापेक्षिक कीमतो को बदल देंगे और इस प्रकार खपत के रूप में परिवर्तन हो जाएगा। इस सम्बन्ध मे लिप्से (Lipsey) का कहना है कि "कुछ आवश्यक वस्तुओं की निश्चित अनुपात मे ही खपत होती है चाहे उनकी सापेक्षिक कीमत

कुछ भी हो।" इस मान्यता का अर्थ यह हुआ कि किसी भी उत्पादन के लिए माँग की लोच शून्य होगी किन्तु क्योंकि माँग पूर्ण रूप से लोचहीन नहीं होती इसलिए सघ की रचना खपत म परिवर्तन लाएगी और इस प्रकार कल्याण को प्रभावित करेगी। खपत म कुशलता कल्याण क लिए इतनी ही आवश्यक सगत है जितनी कि उत्पादन की कार्य कुशलता होती है। खपत पर सघ की रचना का उत्पादन की भाँति विधयात्मक एव निषेधात्मक प्रभाव पडता है। मीडे (Meade) ने एक माडल मे खपत पर पडने वाले प्रभावो का विश्लेषण किया है। य वाइनर की मान्यताओं को उलट देते हैं। मीडे क कथनानुसार उत्पादन का एक निश्चित तरीका होता है किन्तु खपत का तरीका सघ की रचना के साथ बदलता रहता है। उत्पादन का तरीका इसलिए निश्चित होता है क्योंकि क ख' और 'ग' तीनो देश एक वस्तु को केवल निश्चित मात्रा का ही उत्पादन कर सकते हैं और इस प्रकार पूर्ति की लोचशीलता शून्य बन जाती है। इस प्रकार चुंगी सघ की रचना सापेक्षिक कीमता प्रत्येक देश म खपत के तरीको और देशो के बीच व्यापार को परिवर्तित कर देती है। मीडे ने घरेलू कीमत अनुपात (Domestic Price Ratio) के आधार पर प्रत्येक देश के अन्तर्गत उत्पादन की सीमान्त प्रतियोगिता के अनुपातो की तुलना की है और इस प्रकार प्रत्येक देश के आयातो और निर्यातो के परिवर्तनो का मूल्यांकन करने का प्रयास किया है।

मीडे ने यह निष्कर्ष निकाला है कि कल्याण अथवा रहन-सहन के स्तरो पर पडने वाला शुद्ध प्रभाव प्रशुल्को की प्रारम्भिक रूप रचना एव माँग की लोचशीलताओ पर निर्भर है। इस दृष्टि से बाहर के देशो के प्रशुल्को की तुलना मे सघ के सदस्यो का मौलिक प्रशुल्क जितना अधिक होगा, निर्मित व्यापार की मात्रा उतनी ही अधिक होगी और बढे हुए व्यापार मे खपत की प्रति इकाई की प्राप्ति भी उतनी ही अधिक होगी। इतने पर भी सघ के सदस्यो के बीच जब पहले पहल प्रशुल्को को कम किया जाएगा तब उनको अधिक प्राप्तियाँ होगी। ये प्राप्तियाँ बाद मे कम हो जाएँगी।

(3) कुल प्रभाव (The Total Effects)—उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि चुंगी सघो द्वारा उत्पादन और खपत के माध्यम से कल्याण को प्रभावित किया जाता है। यद्यपि उत्पादन और खपत दोनो पर विचार विमर्श अलग अलग किया गया है फिर भी इनको स्वतन्त्र नहीं माना जाता क्योंकि उत्पादन मे होने वाला परिवर्तन खपत के रूप को बदलता है और खपत म होने वाला परिवर्तन भी उसी प्रकार उत्पादन को बदलता है। दोनो को मिलाकर एक नए मॉडल के अनुसार अध्ययन का विषय बनाया जाए तो भी हमारे निष्कर्ष यही आएँगे कि चुंगी सघो का प्रभाव खपत और उत्पादन दोनो पर समान रूप से पडता है।

प्रभावो के निर्धारणकर्त्ता
(Determinants of the Effects)

चुंगी सघो का उत्पादन और उपभोग पर जो प्रभाव पडता है उसका निर्धारण करने वाले कई तरीके है। सघ की रचना से पूर्व सदस्य देशो मे जिन

वस्तुओं का व्यापार हो रहा है उनकी माँग और पूर्ति की लोचशीलता जितनी अधिक है उतना ही उनके बीच व्यापार होगा। इसी प्रकार प्रशुल्क को समाप्त कर देने पर जिन वस्तुओं का व्यापार किया जाएगा वे भी अपेक्षाकृत अधिक होगी। सघ के सदस्यो मे आयात की जाने वाली वस्तुओ की माँग और पूर्ति की लोचशीलता जितनी कम होती है, व्यापार की भिन्नता भी उतनी ही कम होती है। संघ की रचना के बाद व्यापार की मात्रा बढने पर कल्याण मे अभिवृद्धि की आशा की जाती है। इस सम्बन्ध मे एक सामान्यीकरण यह किया जाता है कि सघ का आर्थिक आकार जितना बडा होता है उत्पादन की पुनर्व्यवस्था के आधार से प्राप्तियाँ भी उतनी ही अधिक होती है। सघ का आकार जितना बड़ा होता है उसमे आन्तरिक श्रम-विभाजन की सम्भावनाएँ उतनी ही अधिक बढ जाती हैं क्योकि अनेक साधन स्रोत एवं बड़े बाजार उपलब्ध होते है। इसके अतिरिक्त संघ जितना बड़ा होगा व्यापार मे घटाव के उतने ही कम अवसर होते हैं। यदि सघ मे संसार के सभी देश सम्मिलित हो जाएँ तो इससे व्यापार कम नही होगा वरन् बढेगा ही।

चुंगी सघों के बनने से वे प्राप्तियाँ भी प्रभावित होंगी जो प्रशुल्कों के परिवर्तन पर आधारित हैं। प्रशुल्को के हट जाने से देशों के व्यापार पर अनुकूल असर पड़ेगा। संघ के बनने से पहले प्रशुल्को की मात्रा जितनी अधिक थी, सघ बनने के बाद उसके सदस्यो के बीच का व्यापार उतना ही अधिक बढ जाएगा। सघ के सदस्य जिस माल का निर्यात करते हैं उस पर गैर-सदस्यों द्वारा प्रशुल्क लगाया जाएगा। इस प्रशुल्क की मात्रा जितनी कम होगी उतना ही अधिक संघ के सदस्यों के व्यापार को प्रोत्साहन मिलेगा। उनके पारस्परिक व्यापार मे भी कमी नही आएगी। दूसरी दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि सघ के सदस्य सघ के बाहर के सदस्यों को जो निर्यात करते हैं उससे जितना अधिक प्रशुल्क लिया जाता है व्यापार के कम होने के अवसर उतने ही कम हो जाते हैं। असल मे इस समस्या के सम्बन्ध मे सामान्य रूप से कुछ नही कहा जा सकता और विशेष परिस्थितियों का अध्ययन करने के बाद ही निश्चित रूप से कुछ कहा जा सकेगा क्योकि यह प्रश्न माँग और पूर्ति की लोचशीलता पर भी उतना ही निर्भर है जितना कि प्रशुल्क पर।

जो परिस्थितियाँ एक विशेष चुंगी सघ की रचना करने वाले देशों मे रहती हैं, वे निश्चय ही कुछ लाभदायक एव कुछ निर्धारणकर्त्ता रूप मे उत्पादन तथा उपभोग मे परिवर्तन लाती हैं। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि चुंगी सघ की रचना मे किन देशो को शुद्ध लाभपूर्ण प्रभावो की अनुभूति होती है और किस प्रकार के देश हानिकारक प्रभावो की अनुभूति करते हैं ? इस सम्बन्ध मे पर्याप्त मतभेद हैं। जो भी विचार-विमर्श किया जाता है उसका मुख्य केन्द्र व्यापार की रचना अथवा कमी होता है। उसमे उपभोग के प्रभावो की ओर इशारा नही किया जाता। कुछ विश्लेषणकर्त्ताओं का विश्वास है कि खपत (Consumption) के प्रभाव उत्पादन के प्रभावो से कम महत्त्वपूर्ण होते हैं। 1950 मे मि० वाइनर की पुस्तक प्रकाशित होने से पूर्व सामान्य दृष्टिकोण यह था कि 'चुंगी संघ' विरोधी अर्थ-व्यवस्थाओं की अपेक्षा

पूरक अर्थ व्यवस्थाओं मे अधिक लाभकारी रहेंगे। पूरक अर्थ व्यवस्थाओं को साधारणतया ऐसी अर्थ-व्यवस्था बताया गया जिसमे उत्पादन के विभिन्न रूप होते है ताकि उनमे से प्रत्येक विभिन्न उत्पादनो मे विशेषीकरण प्राप्त कर लेता है। इसके विपरीत विरोधी अर्थ व्यवस्थाओं मे उत्पादन का रूप एक जैसा होता है। उत्पादित माल के प्रकारो मे पर्याप्त अतिराव रहता है। तर्क यह दिया जाता था कि विरोधी अर्थ व्यवस्थाओं की अपेक्षा पूरक अर्थ-व्यवस्थाओ मे विशेष वस्तुओ के उत्पादन के मूल्य का अन्तर अधिक होता है। इस प्रकार एक पूरक देशो का सघ मूल्य की अधिक बचत कर सकता है। वाइनर ने इस दृष्टिकोण का विरोध किया और यह तर्क दिया कि विरोधी अर्थ-व्यवस्थाओ मे चुंगी सघ अधिक लाभदायक हो सकते हैं क्योंकि उनके द्वारा अधिक व्यापार की रचना की जाएगी। उदाहरण के लिए दो उत्पादन समूह है जिन पर चुंगी सघ मे सम्मिलित होने वाले सभी देशो द्वारा प्रशुल्क लगाया जाता है। प्रथम समूहो मे वे वस्तुएँ हैं जो सघ मे सम्मिलित प्रत्येक देश द्वारा उत्पादित की जाती हैं और दूसरे मे वे हैं जिन्हे सघ के केवल एक ही देश के द्वारा पैदा किया जाता है। जब अन्तर्सघ व्यापार पर से प्रशुल्क हटा दिया जाएगा तो प्रथम समूह मे प्रत्येक वस्तु को सबसे अधिक कुशलता के साथ पैदा करने वाला देश सघ के बाजार मे अधिकांश भाग पर अधिकार कर लेगा। उत्पादन मे यह परिवर्तन व्यापार की रचना है और इसके द्वारा साधनो के प्रयोग की कुशलता को सुधारा जाता है।

इसी प्रकार दूसरे समूह मे जो एक देश प्रत्येक वस्तु का उत्पादन कर रहा है वह निश्चय ही सघ बाजार के अधिकांश भाग को अधिकार में कर लेगा किन्तु ऐसा करते समय वह सघ के अन्य सदस्यो के उस आयात को समाप्त कर देगा जो सघ के बाहर के देशो से किया जाता था। ऐसी स्थिति मे व्यापार कम होगा और इसके द्वारा स्रोतो के प्रयोग की कुशलता घट जाएगी। विरोधी अर्थ-व्यवस्थाओ मे प्रथम समूह के अन्तर्गत अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन होगा और इसलिए उनके बीच निर्मित सघ अधिक व्यापार रचना का कारण बनेगा।

वाइनर के विश्लेषण पर किए गए विचार-विमर्श मे विरोधी और पूरक की परिभाषाओं के अर्थों की अस्पष्टता पर प्रभाव डाला गया। ये पूरक अब सामान्यत तुलनात्मक लागतो मे अन्तर को इगित करते हैं। आज विरोधी अर्थ व्यवस्थाएँ उनको कहा जाता है जो कि उत्पादनो के युगलो के बीच समान लागत अनुपात रखती हैं और पूरक अर्थ व्यवस्थाएँ वे होती हैं जिनमे लागत अनुपात समान नहीं होते। मि० मेकोवर (Mr Makower) एव मोर्टन (Morton) ने विरोधी और पूरक अर्थ व्यवस्थाओ को परिभाषित करने की तकनीकी कठिनाइयों का विरोध किया हैं। उनके मतानुसार लागत की बहुदिशा पूर्ण प्रकृति के कारण लागत अनुपातो मे समानता या असमानता की मात्रा का कोई एक मापक नहीं होता। दोनो विचारको ने यह निष्कर्ष निकाला कि यदि एक सघ व्यापार की रचना करता है तो प्राप्तियाँ इस व्यापार-रचना मे निहित माल के लागत अनुपात की असमानता की भाँति बड़ी होंगी।

असल मे इन दोनो विचारकों के निष्कर्ष वाइनर के निष्कर्षों से विरोध नही रखते। यदि उत्पदित वस्तुओं के प्रकारो मे बहुत कम अतिराव है और इस प्रकार दो अर्थ-व्यवस्थाएँ एक दूसरे की पूरक हैं तो उनका सघ व्यापार रचना की अपेक्षा व्यापार मे कमी करेगा। इसके विपरीत यदि दो अर्थ-व्यवस्थाएँ प्रतियोगितापूर्ण है तो उनके बीच बनाए गए सघ मे अधिक कुशल देश सघ के बाजार के अधिक भाग को अधिकार मे कर लेगा। इस प्रकार वह व्यापार की रचना करेगा और कार्य-कुशलता को बढाएगा। दूसरी ओर वाइनर का निष्कर्ष था कि यदि अर्थ-व्यवस्थाएँ प्रतियोगी हैं तो व्यापार रचना अधिक हो सकेगी।

यूरोपीय साझा बाजार (European Common Market) के देश अपने लाभ के प्रभावो द्वारा हानि के प्रभावो को दबाने के लिए कुछ आवश्यक शर्तो को पूरा करते हैं। सघ बनने से पहले इनके बीच पर्याप्त व्यापार होता था। इनके विदेश व्यापार और औद्योगिक उत्पादनो मे पर्याप्त अतिराव और विरोध था। अत: यूरोपीय आर्थिक समाज की रचना की गई। रोम मे सन्धि पर हस्ताक्षर के बाद इस समाज के व्यापार का तीव्र गति से विकास हुआ है। कुछ विचारक लिखते हैं कि सदस्य देशो के बीच उत्पादन-लागत के अन्तर कम हैं इसलिए व्यापार रचना के लाभ अधिक नही होगे। दूसरे विचारक तर्क करते हैं कि अन्तर पर्याप्त महत्वपूर्ण है और व्यापार रचना की कुशलता को बढाने मे अत्यन्त लाभदायक रहेंगे। निर्मित माल के व्यापार की कुछ कमी भी हो सकती है क्योकि सघेत्तर उत्पादक देश इस प्रकार की बहुत सी चीजो को योरोपीय आर्थिक समाज के बाजार मे सदस्य देशों के उत्पादनो से प्रतियोगिता करते हुए बेचेंगे। कच्चे माल मे व्यापार की कमी थोड़ी होगी क्योकि इस समाज के देश जितने कच्चे माल का उपभोग करेंगे उसमे से थोडा ही वे पैदा कर पाएंगे।

यूरोपीय आर्थिक समाज के देशो और पूर्व समुद्र पार के उपनिवेशों के बीच कृषि मे पूरक सम्बन्ध हैं। ऐसी स्थिति मे यदि साझा बाजार (Common Market) बनाया गया तो इसके परिणामस्वरूप कृषि उत्पादनो मे व्यापार की कमी हो जाएगी। विशेष रूप से जो सदस्य पहले लेटिन अमेरिका से उत्पादनो का आयात करते थे वे अब इनमे से अधिकांश उत्पादनो को अफ्रीका के फ्रांसीसी उपनिवेशो से मगाना उचित समझेगे क्योकि सह-सदस्य होने के कारण उनको प्रशुल्क के व्यवहार मे प्राथमिकता प्राप्त होगी। सयुक्त राज्य अमेरिका भी इनमे से कुछ उत्पादनों को कम कीमत पर प्रदान कर सकता है। अत: उसके व्यापार मे भी कटौती हो जाएगी। उत्पादन के समान रूपो वाले औद्योगिक देशो के बीच जब सघ बनाया-जाएगा तो स्रोतो के प्रयोग की कुशलता मे वृद्धि होगी। यद्यपि यह कुल व्यापार की कमी का कारण बन सकता है।

यूरोपीय आर्थिक समाज के सदस्यो की तुलना मे यूरोपीय स्वतन्त्र व्यापार सस्था (European Free Trade Association) के साथ देशों मे अधिक पूरक तथा कम प्रतियोगिता पूर्ण सम्बन्ध हैं। इस समूह के देशो मे ग्रेट-ब्रिटेन सबसे बड़ा

निर्माता है। आस्ट्रिया एव स्विट्जरलैंड भी कुछ निर्मित वस्तुओं का निर्यात करते हैं किन्तु दूसरे देश खाद्यान्न तथा कच्चे माल के महत्त्वपूर्ण निर्यात कर्त्ता हैं। एफ्टा (EFTA) के सदस्यो के बीच जो कुल व्यापार होता है उसका अनुपात यूरोपीय आर्थिक समाज के लोगो की तुलना मे कम है।

जिन अर्द्धविकसित देशों के बीच चुंगी सघ, बनाने के लिए प्रस्ताव किए जाते हैं वे परस्पर अधिक व्यापार नही करते। यद्यपि उनका विदेश व्यापार उनकी राष्ट्रीय आय से बहुत सम्बन्ध रखता है फिर भी उनके व्यापार का बडा अनुपात विकसित देशो के साथ है। इस स्थिति से हानिकारक उत्पादन एव खपत के प्रभावो का प्रमाण प्राप्त होता है। ये देश क्योंकि मुख्य रूप से भोजन और कच्चे माल का निर्यात करते है इसलिए सामान्यत अनुपूरक नही हैं यद्यपि वे निर्यातो की वस्तुओ की दृष्टि से भिन्नता रखते हैं। इन देशो द्वारा जो प्रारम्भिक उत्पादन किए जाते हैं उनमे व्यापार रचनाओ की सम्भावनाए कम होती है। सघ का एक प्रमुख प्रभाव यह है कि वह सरक्षित घरेलू रचना के स्थान पर बाहर से आयात करने लगता है फलत व्यापार मे कमी आ जाती है। इस प्रकार अर्द्धविकसित देशो मे यदि चुंगी सघ बनाए गए तो वे साधनो के प्रयोग की स्थायी कुशलता को बढाने की बजाए घटाएँगे।

इस सम्बन्ध मे एक प्रश्न यह उठता है कि विकास के विभिन्न स्तरों पर स्थित देशो के बीच यदि चुंगी सघ बनाया गया तो उसका सम्भावित प्रभाव क्या होगा ? उदाहरण के लिए यदि यूनान, जो कि अपेक्षाकृत अर्द्ध विकसित देश है, यूरोपीय आर्थिक समाज का पूर्ण सदस्य बन जाता है तो इससे उसके यूरोपीय आर्थिक समाज के, और दुनिया के कल्याण पर क्या प्रभाव होगा ? इस प्रश्न का सन्तोषजनक और पूरा उत्तर पाने के लिए लम्बे विचारविमर्श की आवश्यकता है जो यहाँ अभीष्ट नहीं है।

चुंगी सघ की रचना द्वारा इसके सदस्यो का पारस्परिक एव बाहर वाले देशों के साथ भुगतान सन्तुलन प्रभावित किया जाता है। जिन सदस्यो के कर एकीकरण से पहले सर्वोच्च थे वे अपने भुगतानो के सन्तुलन मे उन देशों के साथ विपरीत परिवर्तन का अनुभव करेंगे जिनके कर सबसे कम हैं।

चुंगी सघ की रचना से यद्यपि आर्थिक सम्बन्धो को बढावा मिलता है फिर भी इस व्यवस्था की अपनी कुछ समस्याएँ तथा कठिनाइयाँ हैं। दो देश पारस्परिक प्रशुल्क को घटा देते हैं तो उनके बीच प्रत्यक्ष प्रतियोगिता प्रारम्भ हो जाती है, इसके अलावा यह प्रणाली दूसरी कठिन राजनैतिक एव प्रशासनिक समस्या को जन्म देने का भी कारण बनती है। प्रो. हैबरलर ने इन समस्याओ का उल्लेख किया है। उनके अनुसार दो देश, दो ससदें, निहित स्वार्थ वाले व्यक्तियो के दो समूह तथा सगठन एक प्रशुल्क के सूचीपत्र पर सहमत होने चाहिए, यह कार्य सरल नही है। व्यावहारिक दृष्टि से एक ही राज्य मे विभिन्न समन्वित क्षेत्रो के स्वार्थों के विरोध तथा इच्छाओ के सघर्ष के परिणामस्वरूप प्रशुल्क निश्चित करना बहुत कठिन होता है। पुराने आस्ट्रिया-हगरी का उदाहरण हमारे सामने है। इस राज्य के दो भागो का

एक ही राज्य था, एक ही सेना थी किन्तु फिर भी दोनों के बीच व्यापार की समस्या गम्भीर रहती थी। इस प्रकार उत्पन्न समस्याओं का हल करना लगभग असम्भव सा लगता है। इसके अतिरिक्त चुंगी से प्राप्त होने वाले राजस्व के बँटवारे तथा उसके प्रशासन की समस्या भी महत्त्वपूर्ण बन जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चुंगी संघ बनाने के मार्ग मे अनेक कठिनाइयां आती हैं और इन कठिनाइयो पर विजय प्राप्त करना सरल नही होता। यही कारण है कि लाभदायक होने के बाद भी चुंगी सघो की सख्या बहुत कम है। प्रो. हैबरलर ने इन संघो का एक दोष यह भी बताया है कि इनका उद्देश्य जिसे वे आदर्श मानकर चलते हैं, अत्यन्त सीमित होता है। चुंगी सघो का व्यावहारिक अध्ययन करने की दृष्टि से यदि यूरोपीय साझा बाजार का उल्लेख किया जाए तो उपयोगी रहेगा।

10 तटकरो एवं व्यापार पर सामान्य समझौता

[GENERAL AGREEMENT ON TARIFF AND TRADE (GATT)]

GENERAL AGREEMENT ON TARIFF AND TRADE (GATT)

तटकर तथा व्यापार पर सामान्य समझौता अथवा गैट (GATT) एक बहुपक्षीय सन्धि है जिसमे पारस्परिक अधिकारो और दायित्वो को महत्त्व दिया जाता है। इसकी स्थापना जनवरी, 1948 म हुई। गैट (GATT) के अन्तर्गत जो विस्तृत उद्यम लिए गए हैं तथा समझौता करने वाले दलो ने जो सम्बन्धित नियम बनाए हैं वे सदस्य देशो के व्यापारिक सम्बन्धो को प्राय सम्पूर्ण क्षेत्र मे समन्वित करते हैं। इस समझौते की 1954 55 मे पुनरीक्षा की गई और इसमें कुछ सशोधन किए गए, ताकि कम विकसित देशो के व्यापार तथा आर्थिक विकास से सम्बन्धित समस्याओ का समाधान खोजा जा सके। गैट द्वारा आयोजित हेबरलर-प्रतिवेदन मे इन समस्याओ के महत्त्व को वर्णित किया गया। इसे 1957 मे व्यापार मन्त्रियो की बैठक मे स्वीकार किया गया। इस कार्यक्रम को क्रियान्वित करने के लिए तीन समितियाँ स्थापित की गई। इनमे एक समिति का सम्बन्ध कम विकसित देशो के निर्यात से होने वाली आय को बढाने से था। समिति ने व्यापार प्रतिरोधी तथा व्यापार प्रभाव पर सूचना एकत्रित की तथा कम विकसित देशो मे निर्यात की क्षमता रखने वाले क्षेत्रो को पहचाना। समिति ने अपनी क्रियाओ के क्षेत्र को व्यापक बनाया और व्यापार प्रोत्साहन तथा विकास योजनाओ को भी अपने अध्ययन मे शामिल किया। इसने 1961 के अन्त मे अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जिस पर इसी वर्ष मन्त्रियो की बैठक मे विचार किया गया। 1961 की बैठक का महत्त्वपूर्ण परिणाम यह निकला कि इसमे कम विकसित देशो के व्यापार को प्रोत्साहन देने के सम्बन्ध मे घोषणा की गई। समझौता करने वाले पक्ष इस बात पर सहमत थे कि उनकी सरकारें घोषणा म दिए गए सिद्धान्तो का पालन करेंगी ताकि कम विकसित देशो के निर्यातो के मार्ग की बाधाओ को दूर किया जा सके।

व्यापार की बाधाओ को समाप्त करने के लिए 1963 मे मन्त्रियो की बैठक मे आठ-सूत्रीय कार्यक्रम बनाया गया। इस कार्यक्रम द्वारा अर्द्ध-विकसित देशो की अर्थ-व्यवस्था को अनेक रूपी बनाने, उनकी निर्यात क्षमता को मजबूत करने और

समुद्र पार की बिक्री से उसकी आमदनी को बढ़ाने का प्रयास भी किया गया। इस कार्यक्रम को क्रियान्वित करने में सहायता करने के लिए तीन उप-समितियाँ बनाई गईं। हवाना मे जिन सिद्धान्तो व नियमो को प्रतिपादित किया गया था और गैट (GATT) मे जिनको सयुक्त किया गया था उनका मुख्य उद्देश्य पूर्ण रोजगार तथा वास्तविक आय और प्रभावशील माँग की मात्रा को व्यापक करना था न कि विकास पर ध्यान देना।

अर्द्ध-विकसित देशो के भुगतान सन्तुलन की स्थिति विरोधी होने के कारण वे विकासशील देशो द्वारा दी गई प्रशुल्क सम्बन्धी छूट का पूरा-पूरा लाभ नही उठा सके। गैट के कार्यों का मूल्यांकन करने के बाद यह कहा जा सकता है कि इसने विकासशील देशों की इतनी सेवा नही की जितनी विकसित देशों की की है। यद्यपि विश्व व्यापार बढ़ा है किन्तु उसमें विकासशील देशों का भाग घटा है। विकासशील देशो द्वारा किया गया निर्यात जो 1950 मे विश्व का एक तिहाई भाग था, 1962 मे 1/5 से कुछ अधिक रहा। निर्यात की इस कमी के कारण कुछ विकसित देशो में भेदभावपूर्ण तथा सरक्षणात्मक नीतियाँ थी। इसके अतिरिक्त विकासशील देशों में व्यापार की वस्तुएँ भी उपयुक्त नही थी।

निर्यातों की कमी एक ऐसे समय मे हुई जबकि विकासशील देशो को अपने विकास के लिए अधिक आयातो की जरूरत थी। यही कारण है कि 1950 में उनके निर्यातों की अपेक्षा आयात अधिक थे किन्तु 1962 मे 2 3 बिलियन डॉलर का घाटा रहा। उनकी आयात की आवश्यकताओं और निर्यात की आय के बीच दूरी निरन्तर बढ़ती जा रही है। सयुक्त राष्ट्रसंघ के सचिवालय के एक अनुमान के अनुसार यह दूरी सन् 1970 तक 20 बिलियन डॉलर प्रतिवर्ष तक हो सकती है।

तटकरों एवं व्यापार पर सामान्य समझौता
(General Agreement on Tariff and Trade)

लिप्से तथा स्टाइनर (Lipsey and Stiner) के कथनानुसार, युद्धोत्तर विश्व की सर्वाधिक उल्लेखनीय प्राप्तियो मे तटकरों एवं व्यापार पर सामान्य समझौता (GATT) महत्वपूर्ण हैं इसके अन्तर्गत सभी देश समय समयपर मिलते हैं और प्रशुल्को मे कटौती के प्रश्न पर द्विपक्षीय रूप से समझौता वार्ता करते हैं ताकि सभी को लाभ हो सके। गैट (GATT) के इतिहास की जानकारी के लिए हम संयुक्तराज्य अमेरिका द्वारा विश्व व्यापार एव रोजगार के लिए रखे गए प्रस्तावों का उल्लेख कर सकते हैं।

विश्व व्यापार के प्रसार के लिए अमेरिकी प्रस्ताव—जब द्वितीय विश्व-युद्ध अपनी प्रगति के चरम-स्तर पर था तो अमेरिकी सरकार ने उन आर्थिक एवं वित्तीय परिस्थितियो की ओर पर्याप्त ध्यान दिया जो विश्व-युद्ध के बाद भी कायम रहनी थी। अमेरिका ने उन नीतियो एव प्रक्रियाओं का भी उल्लेख किया जो सभी देशो के हितो में प्रयुक्त की जानी चाहिए।

1945 के अन्तिम दिनो मे ब्रिटिश तथा अमेरिकी अधिकारियो के बीच अनेक महत्त्वपूर्ण आर्थिक एव वित्तीय विषयो पर विचार-विमर्श हुआ । इसके बाद राष्ट्रपति ट्रूमैन (Truman) और प्रधानमन्त्री एटली (Attlee) ने एक सयुक्त-विज्ञप्ति प्रसारित की जिसमे अमेरिका के प्रस्तावों का उल्लेख किया गया । बाद मे अमेरिका ने अन्य सरकारो के साथ भी इन समस्याओ के सम्बन्ध मे विचार-विमर्श किया । प्रस्तावित सुझावों के अनुसार सयुक्त राष्ट्र सघ के तत्वावधान मे व्यापार और रोजगार पर शीघ्र ही एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया जाने वाला था । फरवरी, 1946 मे सयुक्त राष्ट्र सघ की आर्थिक और सामाजिक परिषद् ने अपनी प्रथम बैठक मे इस प्रकार का सम्मेलन बुलाया । इस सम्मेलन की समिति ने प्रस्तावित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सगठन के चार्टर का प्रारूप तैयार किया । यह चार्टर सशोधित होते हुए मार्च, 1948 मे अन्तिम रूप प्राप्त कर पाया । इसे हवाना चार्टर (Havana Charter) का नाम दिया जाता है ।

अमेरिकी सरकार ने इस हवाना चार्टर को स्वीकार नहीं किया क्योंकि इसमे व्यापार को भारी प्रतिबन्धो, असमानताओ आदि से मुक्त करने के लिए सन्तोषजनक कदम नही उठाए गए थे। सयुक्त राज्य अमेरिका का यह मत था कि यदि ससार मे स्वस्थ तथा प्रसार-पूर्ण व्यापार एव उच्च जीवन स्तरो की स्थापना करनी है तो प्रतिबन्धो एव नियन्त्रणो की कम से कम मात्रा तो अवश्य रहनी चाहिए किन्तु ये प्रतिबन्ध एव नियन्त्रण केवल वे ही होने चाहिए जो वृद्धि के अनुकूल हैं दूसरी ओर अन्य दूसरे देशो का मत अमेरिका से भिन्न था । परिणाम-स्वरूप समझौतापूर्ण दृष्टिकोण अपनाया गया । इसके अनुसार चार्टर को स्वतन्त्र उद्योगों की वांछनीयता वृद्धिपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा और बहुपक्षीय व्यापार पर आधारित रखते हुए अनेक उन्मुक्तियों एव अपवादों की रचना की गई । सयुक्त राज्य अमेरिका मे इन अपवादो के प्रति अनुकूल दृष्टिकोण नही रहा और इसलिए इस चार्टर को अमेरिका की स्वीकृति प्राप्त न हो सकी ।

गैट की स्थापना
(Establishment of GATT)

1947 मे जेनेवा मे 23 देशो ने एक बहुपक्षीय समझौते पर विचार-विमर्श किया और तटकर एव व्यापार पर सामान्य समझौता किया । यह 1948 के प्रारम्भ से लागू किया गया । यह विचार-विमर्श उस समिति के साथ-साथ हुआ जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सगठन के चार्टर का प्रारम्भिक प्रारूप तैयार करने मे सलग्न थी । समिति के सदस्य-देशो ने ही इस समझौते की वार्ताएँ की ।

सामान्य समझौता होने के परिणामस्वरूप यह तय किया गया कि भाग लेने वाले देश तटकर एव अन्य व्यापारिक बाधाओ मे उल्लेखनीय रूप से कटौती कर लेंगे । इस समझौते मे व्यापारिक नीतियो एव प्रक्रियाओं के सम्बन्ध मे भी सामान्य उपबन्ध रखे गए और व्यापारिक सम्बन्धो मे न्यायपूर्ण व्यवहार से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से स्वीकृत एक आचारसहिता स्थापित की गई । इससे नियतांशों,

प्राथमिकताओ, आन्तरिक नियन्त्रणो, चुंगी, विनिमयों, राज्य व्यापार एवं सहायता आदि पर विचार किया गया। इसके प्रावधान मुख्य रूप से वे है जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सगठन (ITA) चार्टर के चतुर्थ अध्याय मे दिए गए है।

तटकरो एव व्यापार पर सामान्य समझौता (GATT) एक विधि न होकर ढीला-ढाला एक सगठन है जो कि सदस्यों की स्वेच्छापूर्ण सामूहिक स्वीकृति पर आधारित है। इसकी सदस्य सख्या प्रारम्भ मे 23 थी जो बढ कर अब 83 हो गई है। यह उल्लेखनीय है कि नए देश को सदस्य केवल उसी स्थिति में बनाया जा सकता है जब दो तिहाई वर्तमान सदस्य इसके लिए अपनी सहमति दे देते है। सभी सदस्यो से यह अपेक्षा की जाती है कि वे समझौते मे दी गई आचार-सहिता का पालन करेंगे। इस समझौते के सदस्यो मे विश्व के प्रमुख देश शामिल हैं, परन्तु सोवियत रूस, लालचीन एवं अधिकांश साम्यवादी देशों ने इसकी सदस्यता स्वीकार नही की है।

व्यापार एव प्रशुल्क विषयक सामान्य समझौता एक ऐसी सधि है जिसके प्रति सभी सदस्य देशो का दायित्व रहता है। समय-समय पर सदस्य देशों के प्रतिनिधि मिलकर आपस मे विचार-विमर्श करते हैं। यह एक ऐसी सन्धि है जो निम्नलिखित चार महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तो पर आधारित है—

(i) बिना किसी भेद-भाव के विभिन्न देशों के बीच विदेशी-व्यापार किया जाए,

(ii) विदेशी-व्यापार को प्रभावित करने हेतु केवल तटकरों का ही सहारा लिया जाए,

(iii) एक देश दूसरे देश के लिए क्षतिप्रद नीति अपनाने से पूर्व उस (दूसरे) देश से विचार-विमर्श करे तथा

(iv) ऐसे कदम उठाए जाएँ जिनसे तटकरो (Tariffs) मे परस्पर विचार-विमर्श के माध्यम से कमी की जा सके।

इस 'समझौते' को चार भागो मे विभक्त किया गया है—पहले भाग मे सदस्य देशो के प्रमुख कर्त्तव्यो का विवरण है, दूसरे भाग मे न्यायपूर्ण व्यापार के लिए आचार-सहिता दी गई हैं, तीसरे भाग मे सदस्य बनने एव सदस्यता के परित्याग से सम्बन्धित नियमावली दी हुई है और अन्तिम भाग मे विकासशील देशो को दी जाने वाली विशेष रियायतों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। परन्तु यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि बदले मे विकासशील देशो के लिए तटकरो मे कमी करना आवश्यक नही है। इसके अतिरिक्त इन देशों को यह भी सुविधा दी गई है कि वे भुगतान सन्तुलन सम्बन्धी कारणों से आयात कोटा निश्चित कर सकते हैं।

तटकरों एवं व्यापार के सामान्य समझौते के उद्देश्य
(Objectives of GATT)

इस समझौते का मुख्य लक्ष्य तटकरो मे पर्याप्त कमी करना एवं व्यापार के विस्तार मे आने वाली बाधाओं को कम करके परस्पर लाभ पहुँचाने वाले निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति करना है—

(1) सदस्य देशों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाना,

(2) पूर्ण रोजगार की स्थापना हेतु अर्थव्यवस्था को अग्रसर करना,
(3) वास्तविक आय और प्रभावशीलता के परिमाण मे वृद्धि करना,
(4) उत्पादन और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रसारण करना,
(5) विश्व के स्रोतो का पूरा-पूरा उपयोग करना।

उपरोक्त उद्देश्यो की प्रकृति अत्यन्त सामान्य है। इस समझौते द्वारा इन उद्देश्यो की पूर्ति हेतु प्रत्यक्ष रूप से कोई कार्यवाही नहीं की जाती है। जैसे कि गैट के किसी भी अनुच्छेद मे उपरोक्त उद्देश्यो की पूर्ति हेतु कोई प्रावधान नही है। ऐसी मान्यता की गई है कि विश्व के विभिन्न देशो के बीच व्यापार को बहुमुखी पद्धति पर आधारित करके इस प्रकार समायोजित किया जाए कि तटकरो मे कटौती करके इन्हे न्यूनतम स्तर पर ले आया जाए ताकि इन देशो के आर्थिक विकास की प्रक्रिया को बल मिलता रहे तथा आय एव रोजगार के स्तर मे पर्याप्त सुधार हो।

गैट के उपरोक्त उद्देश्यो की पूर्ति हेतु निम्नलिखित तीन सिद्धान्त स्वीकार किए गए हैं—

1 विभेदात्मक नीति की समाप्ति या सबसे अधिक प्रिय देश का सिद्धान्त

विदेशी-व्यापार म विभिन्न देशो के मध्य विभेदात्मक नीति न अपनाई जाए इस हेतु समझौते मे भाग लेने वाले राष्ट्रो ने सबसे प्रिय राष्ट्र का सिद्धान्त सभी आयातो और निर्यातो पर लागू करना स्वीकार किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक सदस्य राष्ट्र के साथ उसी प्रकार का व्यवहार किया जाएगा जैसा कि सबसे प्रिय राष्ट्र के साथ किया जाता है और किसी एक सदस्य देश को दी गई रियायत स्वत ही अन्य सदस्य देशो के लिए भी उपलब्ध हो जाती है। इस प्रकार प्रशुल्क सम्मेलनो मे यद्यपि दो देशो के बीच मन्त्रणा होती है तथापि इसके अन्तर्गत प्रशुल्क दरो मे दी जाने वाली छूट समझौते के सभी सदस्य देशो को प्राप्त हो जाती हैं।

फिर भी विशिष्ट मामलो मे कठिनाइयाँ कम करने के उद्देश्य से कुछ परिस्थितियो मे विभेदात्मक नीति अपनाने की छूट दी गई है। परन्तु ऐसी व्यवस्था की गई है कि किसी भी नई प्राथमिकता का निर्माण नही किया जाएगा और न ही व्यापार म प्रचलित प्राथमिकताओं मे ही वृद्धि की जाएगी। यद्यपि नई प्राथमिकताओ के अपनाने पर नियन्त्रण लगाया गया है, परन्तु पूर्ण प्राथमिकता वाली प्रणाली अपनाने वाली व्यवस्थाएँ—जैसे चुंगी सघ, स्वतन्त्र व्यापार क्षेत्र आदि के निर्माण की अनुमति दी गई है, बशर्ते कि इनका उद्देश्य सदस्य देशों के मध्य व्यापार को प्रोत्साहित करने का हो न कि अन्य देशो के विरुद्ध व्यापार प्रतिबन्धो मे वृद्धि करने का।

2. आयात पर मात्रा सम्बन्धी प्रतिबन्ध

सिद्धान्त के रूप मे सामान्य समझौता आयात कोटा के उपभोग पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाता है, परन्तु तीन अपवाद स्वरूप स्थितियो मे इनकी छूट दी जाती है—

(अ) प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन वाले राष्ट्र आयात कोटा का आश्रय ले सकते हैं। परन्तु इनका उपयोग भुगतान सन्तुलन मे गम्भीर प्रतिकूलता या ऐसी

प्रतिकूलता को आने से रोकने के लिए ही किया जाना चाहिए, परन्तु आयात कोटों का इस रूप मे उपयोग केवल अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की अनुमति लेकर ही किया जा सकता है।

(ब) सामान्य समझौते की स्वीकृत प्रक्रिया के अनुसार विकासशील राष्ट्र आर्थिक विकास के उद्देश्य से मात्रा सम्बन्धी प्रतिबन्ध लगा सकते हैं।

(स) कृषि एवं मत्स्य वस्तुओं के लिए आयात कोटों का निर्धारण केवल उस स्थिति में किया जाए जब इनका देश मे उत्पादन उतने ही प्रतिबन्धों के अन्तर्गत किया जा रहा हो।

3. तटकरों में कटौती या तटकर मन्त्रणाएँ

इस समझौते (GATT) के अन्तर्गत तटकरों में भी कमी करने का प्रावधान है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु यह आवश्यक है कि अनुबन्ध से सम्मिलित देश इस सिद्धान्त मे विश्वास रखते हो कि तटकरो का व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है। विभिन्न देशों के बीच आयात और निर्यात सम्बन्धी मन्त्रणाओं द्वारा तटकरों एवं अन्य करो मे कमी की जा सकती है। तटकर मन्त्रणाएँ सामान्यत. निम्नलिखित सिद्धान्तों पर आधारित होती हैं—

(i) आदान-प्रदान एवं परस्परता—ये मन्त्रणाएँ आदान-प्रदान के सिद्धान्त पर प्रत्येक वस्तु के लिए की जाती है। आदान-प्रदान से तात्पर्य उस भावना से जिसके अनुसार एक देश द्वारा यदि मन्त्रणा के दौरान कोई रियायत दी जाए तो उसे भी छूट प्राप्त करने का नैतिक अधिकार मिल जाता है।

(ii) तटकरों को सीमित करना—इन मन्त्रणाओं का प्रयोजन ऊँची प्रशुल्क दरो को कम करना और नीची प्रशुल्क-दरों के स्तर को बनाए रखना होना चाहिए। यह प्रावधान उन देशो के हितों की रक्षा हेतु रखा गया है जिनकी प्रशुल्क-दरें पहले मे कम हैं और जो मन्त्रणाओं के दौरान कोई भी छूट देने मे असमर्थ हैं।

(iii) प्राथमिकता दरें और प्राथमिकता मार्जिन—प्राथमिकता का मार्जिन नापने के लिए सबसे अधिक प्रिय देश के लिए निर्धारित प्रशुल्क-दर और उसी वस्तु के लिए प्राथमिकता दर के बीच विद्यमान वास्तविक अन्तर को देखना चाहिए न कि इन दोनों दरो का आनुपातिक सम्बन्ध। इस प्रकार यदि सबसे अधिक प्रिय देश की दर कम कर दी जाए तो प्राथमिकता का मार्जिन स्वतः ही कम हो जाएगा। इसके विपरीत यदि सबसे अधिक प्रिय देश की प्रशुल्क-दर बढाई जाए तो प्राथमिकता का मार्जिन बढ जाएगा।

(iv) बंधी एवं खुली दरें—एक बार प्रशुल्क की जो दर अनुसूची में सम्मिलित कर ली जाती है तो उसमें किसी प्रकार की वृद्धि की गुंजाइश नहीं रह जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि GATT के परिशिष्ट में जिन प्रशुल्क रियायतों का वर्णन है—जिन्हें सामान्यतः बँधी हुई दरें कहा जाता है—वे 1948 से दिसम्बर 1950 तक प्रचलित रहीं। तीन वर्ष की इस अवधि के समाप्त होने पर यह निर्णय

अनुबन्ध से सम्बद्ध देश पर छोड दिया गया कि यह दूसरे पक्ष के साथ मन्त्रणा एव समझौते के माध्यम से उस रियायत को वापस ले ले अथवा उसमे सशोधन कर दे। अब तक यही देखा गया था कि अनुसूची की अवधि बढाने के लिए सभी सम्बन्धित पक्ष सहमत होते रहे हैं। परन्तु नई अवधि प्रारम्भ होने से पूर्व सम्बन्धित पक्षो को यह अवसर दिया जाता है कि वे प्रशुल्क दरो मे छूट या सशोधन के लिए मन्त्रणा कर सकें।

गैट द्वारा जो तटकर सम्बन्धी कटौती की गई है वह जिन उत्पादनो पर लागू होती है वे समझौता करने वाले देशो के लगभग 2/3 आयात एव सम्पूर्ण विश्व-आयातो के लगभग आधे भाग की पूर्ति करते हैं। इस समझौते द्वारा कुछ करो को पूरी तरह मिटा दिया गया है, कुछ को कम कर दिया गया है और जैसे के तैस छोड दिए गए हैं। तटकर सम्बन्धी प्राथमिकताओ को या तो घटा दिया गया है अथवा पूरी तरह समाप्त कर दिया गया है। समझौता करने वाला प्रत्यक पक्ष अन्य पक्षो को सभी प्रकार की रियायतें प्रदान करता है। सभी पक्षों के लिए समस्त तटकर कटौतियो का एक रूप मे व्यवहार अत्यन्त लाभदायक है।

सामान्य समझौते म तटकर सम्बन्धी रियायतें पहले ता द्विपक्षीय रूप से वाता का विषय बनी थी। प्रत्येक देश ने एक वस्तु को लिया और उसक प्रमुख पूर्तिकर्त्ता देश क साथ विचार-विमर्श किया। इस प्रकार जिन रियायतो पर विचार किया गया उन्हें समझौते की अनुसूची म स्थान दे दिया गया और उसे सभी देशो पर लागू किया गया। सयुक्तराज्य अमेरिका ने इससे पहले भी उन विभिन्न देशो के साथ पारस्परिक व्यापारिक समझौन कर रख थे जा अब सामान्य समझौते के पक्ष म हैं। ऐसी स्थिति म इसके सारे पूर्व समझौते अब स्थानान्तरित हो चुक हैं। सामान्य समझौते के गैर सदस्यो के साथ अमेरिका ने जो समझौते किए थ वे अब भी कायम हैं।

सामान्य समझौता प्रावधिक रूप से 1 जनवरी, 1948 से व्यवहार मे आया। यह सयुक्तराज्य अमेरिका और 8 अन्य देशो के बीच लागू हुआ और तुरन्त बाद ही कुछ अन्य देश भी इसम सम्मिलित हो गए। 1951 में इसके सदस्यो की सख्या 31 थी तथा अब 83 हो गई है।

सामान्य समझौता किसी ऐसे स्थायी सगठन या सचिवालय की स्थापना नहीं करता जो एक प्रतिरोध का कार्य कर सके। इसके विपरीत समझौता करने वाले पक्ष बैठकें करते रहते हैं और आवश्यकता के अनुसार समझौते को सशोधित करत रहते हैं। इस प्रकार की बैठको मे अतिरिक्त तटकर सम्बन्धी कटौती पर विचार-विमर्श किया गया। 1949 मे ऐनेसी (Annecy, France) और 1950–51 मे टोरके (Torquey, England) मे विचार-विमर्श किए गए। इनमे नए देशो ने भी भाग लिया।

सामान्य समझौते मे एक ऐसा प्रावधान (Most Favoured Nation Clause) है जो इसका आधारभूत तत्त्व माना जा सकता है। इस प्रावधान का उद्देश्य

किसी भी राज्य के विरुद्ध भेद-भाव अथवा उसके साथ पक्षपात करने के लिए प्राथमिकताओं की स्थापना को रोका जाता है। यह प्रावधान प्रत्येक राज्य के लिए अत्यन्त महत्त्व रखता है क्योंकि दूसरे राज्य के लिए दी गई रियायत अथवा गारण्टी इस प्रकार की होती है कि विश्व बाजारों में उसे तुलनात्मक रूप से हानि न रहे।

तटकरों में कटौती

तटकरों में कटौती सामान्य समझौते का एक महत्त्वपूर्ण भाग है जो व्यापक लक्ष्यों की प्राप्ति का एक प्रमुख साधन है। तटकरों में कटौती करने की दृष्टि से जो समझौते किए गए उनमें 1947 (जेनेवा में), 1949 (एनेसी में), 1951 (टोरके में), 1956 (जेनेवा में), और 1960–61 (जेनेवा में) में किए गए समझौते मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं। इन समझौतों के अतिरिक्त कुछ अन्य छोटे स्तर की समझौता-वार्ताएँ भी हुई हैं। इन वार्ताओं के परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की हजारों वस्तुओं पर से तटकरों को काट दिया गया। इसके अतिरिक्त अनेक समझौते करने वाले पक्षों ने व्यापार के व्यापक क्षेत्र पर प्रशुल्क दरों को एक जैसा रखने के बारे में सहमति प्रदान की ताकि तटकर की दरों में अचानक वृद्धि के भय को दूर किया जा सके।

वर्तमान काल में विनिमय नियन्त्रण एवं अनुज्ञप्तियाँ तथा नियतांश आदि के कारण विश्व व्यापार की बाधाओं के रूप में तटकरों का महत्त्व बहुत कुछ घट गया है। समझौता करने वाले पक्षों ने जो रियायतें प्रदान की हैं उनका अधिकांश प्रभाव मात्रागत प्रतिबन्धों के व्यापक प्रयोग के कारण बेकार सिद्ध हुआ। इस दृष्टि से देखने पर यह लगता है कि तटकरों को कम करने में गैट की प्राप्तियाँ जितनी दिखती हैं वास्तव में उतनी नहीं हैं। इतने पर भी प्रशुल्कों के सामान्य स्तर को नीचा करने से जो लाभ प्राप्त हो सकते हैं उनको नहीं भुलाया जा सकता। जो देश मात्रागत प्रतिबन्धों का प्रयोग नहीं करते उनके लिए यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। इसके अतिरिक्त इसने जिस वातावरण की रचना की वह मात्रागत नियन्त्रणों और विश्व व्यापार की अन्य बाधाओं में कटौती के लिए अत्यन्त सहायक रहा है।

तटकर सम्बन्धी वार्ताओं के महत्त्वपूर्ण नियम
(Important Rules of Tariff Negotiations)

तटकरों की कटौती सम्बन्धी वार्ताओं में कुछ नियमों का पालन किया जाना जरूरी समझा गया है ताकि वह अधिक से अधिक फलदायक सिद्ध हो सके। इस प्रकार के कुछ महत्त्वपूर्ण नियम निम्न प्रकार हैं—

1. जब कभी तटकरों में कटौतियों से सम्बन्धित वार्ताएँ की जाएँ तो वे पारस्परिक लाभों के आधार पर होनी चाहिए। इस सामान्य समझौते में किसी पक्ष से यह नहीं कहा जाता कि वह तटकरों में एकपक्षीय कटौतियाँ करें।

2. जिस समय समझौता-वार्ता की जाती है वे या तो कुछ विशेष उत्पादनों को छाँटकर उन पर की जाती हैं अथवा उन तकनीकों पर की जाती हैं जिन्हें सम्बन्धित समझौते के पक्ष स्वीकार करते हैं। अभी तक जो वार्ताएँ की गई हैं वे

प्राय• चुने हुए उत्पादनो के आधार पर की गई हैं। इस प्रक्रिया मे समझौता करने वाले पक्ष विशेष उद्योगो को ध्यान मे रख सकते हैं। अन्तिम निर्णय तक पहुँचने मे प्रत्यक समझौता करने वाला पक्ष प्रस्तावित रियायतो से होने वाले लाभ और हानियो की तुलना करके देखना है। यदि समस्त उत्पादनो की दृष्टि से उसे लाभ होता है तो वह प्रस्तावित कमौतियो को स्वीकार कर लेता है।

3 तटकरो की कटौतियो से सम्बन्धित वार्ताएँ तटकरो को घटाने के लिए अथवा निम्न तटकर रखने के लिए अथवा तटकर की सीमा निर्धारित करने के लिए की जाती है। जिस प्रकार उच्च करो को घटाना महत्त्वपूर्ण समझा जाता है उसी प्रकार निम्नतर करो को बनाए रखना भी महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। यह प्रावधान उन निम्न तटकर वाले देशो के हितो की रक्षा करता है जिनके पास समझौता-वार्ता म देने के लिए कुछ भी नही होता। निम्न तटकरो की बाध्यता का एक लाभ यह है कि इससे व्यापारियो को यह आश्वासन रहता है कि निम्न तटकर जारी रहगे और वे अपने उत्पादन को बढाने की याजनाओ को प्रशुल्को की अचानक वृद्धि के जोखिम के बिना क्रियान्वित कर सकेंगे।

4 प्राथमिकता के सीमान्त म वृद्धि को निषिद्ध बना दिया गया है। यदि प्राथमिक दर को घटाया जाता है तो उसके साथ साथ सर्वाधिक पक्षपात पूर्ण राष्ट्र की दर मे भी कमौनी करना जरूरी बन जाता है। किसी भी एक पक्ष मे कटौती नही की जा सकती।

5 जब एक समझौते का पक्ष तटकरो के नए स्तर पर राजी हो जाता है तो वह उसे अपनी अनुसूची मे सम्मिलित कर लेता है। उसके बाद वह उसमे वृद्धि नही कर सकता। जो मदें अनुसूची के बाहर हैं उन पर कोई प्रतिबन्ध नही रहेगा और परिस्थितिया के अनुसार इन तटकरो को बढाया जा सकता है। जहाँ तक समझौता करने वाले पक्षो का प्रश्न है उनके साथ किसी प्रकार का असमानता का व्यवहार नही किया जा सकता।

6 सामान्य समझौते के आधार पर यह विश्वास किया जाता है कि समझौता करने वाला प्रत्येक पक्ष सद्-विश्वास के साथ कार्य करेगा और अपनी सौदेबाजी की शक्ति को बढाने के लिए प्रशुल्क समझौतो क विरुद्ध सघर्षपूर्ण कार्यवाही नही करेगा।

तटकर सम्बन्धी समझौतो के बारे मे उपर्युक्त नियमो का अध्ययन करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि तटकरो एव व्यापार के सामान्य समझौतो (GATT) के अन्तर्गत विभिन्न देश अपने तटकरो मे कटौतियाँ करते समय किन किन नियमो का पालन करेंगे? इन नियमो के अतिरिक्त कुछ अन्य बातें भी है जो कि इस सामान्य समझौते द्वारा उपयुक्त समझी जाती ह। यह आशा की जाती है कि समझौता करने वाले पक्ष अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर से मात्रागत प्रतिबन्धो को समाप्त करेंगे। यदि वे भुगतानो के सन्तुलन की कठिनाइयो से पीडित हैं तो बात दूसरी है। वास्तविक व्यवहार को देखने से प्रतीत होता है कि इस क्षेत्र मे उल्लेखनीय सफलता प्राप्त नही हो सकी है। इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि भुगतान सन्तुलन की कठिनाइयाँ इतनी गम्भीर हैं जितनी गैट (GATT) के सस्थापको ने सोचा भी न था।

गैट ने मात्रागत प्रतिबन्धों की समस्या पर यथार्थवादी तरीके से विचार किया है। ये अव्यावहारिक कठोर योजनाओं की अपेक्षा दबावों और निरन्तर विचार-विमर्श के बाद मात्रागत प्रतिबन्धों को कम करने में प्रयत्नशील हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कुछ अनुचित व्यवहार होने पर भी आयात और निर्यात प्रतिबन्धित हो जाता है। यदि आयातित माल पर कर बढा दिया जाए तो उसका प्रभाव भी वही होगा जो तटकर की दरों को बढाने का होना है; इस प्रकार के अनुचित व्यापार के व्यवहारो को रोकने की दृष्टि से सामान्य समझौते मे उचित व्यवहारो की एक व्यापक व्यापारिक आचार-संहिता को सम्मिलित किया गया है। इस संहिता ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र मे द्वितीय विश्व-युद्ध द्वारा निर्मित अराजकता एवं अव्यवस्थता को मिटा कर व्यवस्था की स्थापना की है।

तटकरों एव व्यापार पर सामान्य समझौते ने समझौता करने वाले पक्षों के बीच झगडा निपटाने मे भी पर्याप्त योगदान किया है। समझौते के अनुच्छेद 23 के प्रावधानो के अनुसार समझौते का कोई पक्ष अन्य पक्षों के सामने यह शिकायत कर सकता है कि प्रमुख पक्ष ने समझौते की शर्तों के प्रतिकूल व्यवहार किया। यदि समझौते के पक्षो को यह विश्वास हो जाए कि सम्बन्धित समझौते के पक्ष प्रत्यक्ष विचार-विमर्श के बाद किसी निर्णय पर नही पहुँच पाए हैं और उन्हे सफलता नहीं मिल पाई है तो तुरन्त ही वे विषय की छान-बीन और उचित सिफारिशें करेंगे अथवा विषय के सम्बन्ध मे अपना मत प्रस्तुत करेंगे।

समझौते के पक्ष प्रत्यक्ष रूप से शिकायतो पर विचार करने की अपेक्षा यह काम एक पैनल को सौंप देते हैं। वह पैनल कोई स्थायी संस्था नहीं होती और न इसका कोई पूर्व-निर्धारित संविधान होता है। यह प्रत्येक मामले के लिए सामयिक रूप से स्थापित की जाती है। समझौते मे भाग लेने वाले देश चार या पाँच ऐसे व्यक्तियों को पैनल का सदस्य घोषित कर देते हैं जिनकी सेवाएँ गैट मे काफी मान्यता प्राप्त कर चुकी हैं। ये सदस्य प्रायः छोटे देशों के प्रतिनिधि होते हैं क्योंकि वे ही अधिक वस्तुगत और निष्पक्ष हो सकते हैं। बड़ी शक्तियों के राष्ट्रीय हित इतने व्यापक होते हैं कि वे विश्व के किसी भाग में घटने वाली किसी भी घटना से प्रभावित होते हैं। ऐसी स्थिति में उनके निष्पक्ष होने का प्रश्न नहीं उठता। पैनल में झगडा करने वाले देशों को सम्मिलित नही किया जाता। यह दोनों पक्षों तथा किसी भी इच्छुक की बातों को सुनती है। प्रायः पैनल की कार्यवाही के दौरान झगडों को सुलझा दिया जाता है। यदि ऐसा नहीं हो पाता तो सम्बन्धित पक्षों को सुनने के बाद पैनल की कार्यवाहियां गुप्त रूप से होती हैं और वह एक प्रारूप प्रतिवेदन के रूप मे निर्णय पर पहुँचती है। सम्बन्धित पक्षों को इस प्रारूप प्रतिवेदन पर विचार प्रकट करने के लिए आमन्त्रित किया जाता है और इन विचारों के प्रकाश मे पैनल अपने प्रतिवेदन को बदल सकता है।

यह प्रक्रिया लगती तो ऐसी है जैसे न्यायिक हो, किन्तु यह उससे कई बातों में भिन्नता रखती है क्योंकि यहाँ झगड़ा करने वाले पक्षों को प्रतिवेदन तैयार होने पर

(i) इसके द्वारा समझौता करने वाले पक्षों को यह शक्ति प्रदान कर दी जाती है कि वे चुंगीकर संघो के नाम पर प्राथमिकता पूर्ण समझौते के विकास को रोक सकें।

(ii) वे सम्बन्धित पक्षो को संघ की स्थापना एवं कार्य-प्रणाली में निर्देशित कर सकते हैं।

सामान्य समझौते मे वर्णित मापदण्ड के अनुसार परीक्षा करने के बाद समझौते के पक्षो ने कुछ चुंगीकर संघों की रचना की सम्मति प्रदान की। इस दृष्टि से यूरोपीय आर्थिक समाज (European Economic Community), यूरोपीय स्वतन्त्र व्यापार संस्था (European Free Trade Association), लेटिन अमेरिकी स्वतन्त्र व्यापार संस्था (Latin American Free Trade Association) आदि का नाम लिया जा सकता है।

स्पष्ट है कि गैट ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं तटकरों के सम्बन्ध मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। उसने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की विभिन्न समस्याओ का समाधान प्रस्तुत करके अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा को बढाने मे उल्लेखनीय कार्य किया है।

विकासशील देशों पर प्रभाव

गत 16 वर्षों में सामान्य समझौते के तहत विकासशील देशों की विशेष व्यापार समस्याओ पर विशेष ध्यान दिया गया है। इस सम्बन्ध मे एक तो अर्द्ध-विकसित अर्थात् विकासशील देशो के लिए समझौतो के उत्तरदायित्वों को पूरा करने मे अधिक लोचदार दृष्टिकोण अपनाया गया है तथा दूसरे व्यापार विकास कार्यक्रम की भी विशेष व्यवस्था की है। लोगो की यह आलोचना, कि अर्द्धविकसित देशो को लाभान्वित करने की दिशा मे गैट का कार्य सीमित रहा है और गैट केवल विकसित तथा धनी देशों का ही संघ रहा है जो अपनी इच्छानुसार इसके समझौते के रूप को मोड़ देते रहे हैं, निरर्थक है। 8 फरवरी, 1965 को गैट की एक विशेष बैठक हुई जिसमे व्यापार एवं विकास के एक नए अध्याय को स्वीकार किया गया। इस अध्याय के अनुसार विकसित और विकासशील दोनो देशो को एक स्तर पर रखा गया है और यह निश्चित किया गया कि गैट एवं अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओ के बीच समन्वय व सहयोग स्थापित किया जाए जिससे विकास मे सहायता प्राप्त की जा सके। संक्षेप मे विगत कुछ वर्षों मे गैट के सदस्यो ने अपना अधिकांश समय व्यापार और आर्थिक विकास के मध्य सम्बन्धो का अध्ययन करने में व्यतीत किया है।

गैट द्वारा प्रकाशित आंकडो के अनुसार मार्च 1968 से लेकर जून 1968 तक विकासशील देशों के निर्यातो मे सन्तोषजनक वृद्धि हुई थी। गैट के सचिवालय के अनुमानों के अनुसार इन देशो के निर्यातो मे *1968 के प्रथम 6 मास में लगभग 8%* की वृद्धि हुई थी जबकि 1967 की अवधि मे यह वृद्धि 2% से भी कम थी। दूसरी ओर विकासशील देशों के आयातो मे केवल 5% की ही वृद्धि हुई थी। यह प्रवृत्ति विकासशील देशो के लिए हितकर सिद्ध होगी तथा विकासशील देशों का आर्थिक विकास तीव्र गति से हो सकेगा।

परन्तु विकासशील देशों के सम्बन्ध में गैट के अन्तर्गत बहुत ही धीमी गति से प्रगति होती है। आज भी गैट में वर्णित व्यापार पाबन्दियाँ विद्यमान हैं। विकसित देश न तो तटकरों में कटौती हेतु कोई स्पष्ट लक्ष्य निर्धारित करने को तैयार है और न ही विकासशील देशों में सम्बन्धित आर्थिक समस्याओं के सम्बन्ध में कोई स्थायी समाधान करना चाहते हैं।

वैसे गैट की व्यापार एवं विकास समिति ने विकासशील देशों की समस्याओं को अनुभव करते हुए और अधिक प्रभावपूर्ण प्रयास करने की दृष्टि से कई कार्यों का शुभारम्भ किया है जैसे विभिन्न देशों की विकास योजनाओं की विस्तृत समीक्षा करना। इन समीक्षाओं से योजनाओं में आवश्यक संशोधन करने, विदेशी सहायता एवं निर्यात नीति में समन्वय स्थापित करने तथा विकासशील राष्ट्रों को एक दूसरे की आयात सम्बन्धी जरूरतों और निर्यात के लक्ष्यों से अवगत कराने आदि में सहायता मिलती है।

गैट एवं भारत—प्रारम्भ से ही भारत गैट का एक सक्रिय सदस्य रहा है। भारतीय प्रतिनिधियों ने न केवल गैट के अन्तर्गत आयोजित तटकर मन्त्रणाओं में भाग लिया है वरन् विकासशील देशों की समस्याओं को भी समितियों की बैठक में स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया है। परन्तु भारत जैसे विकासशील देश अपनी प्रतियोगितात्मक शक्ति बढ़ाकर ही गैट से पूर्णत लाभान्वित हो सकते हैं, चाहे यह शक्ति आन्तरिक आर्थिक अनुशासन से प्राप्त की जाए अथवा विदेशों में हमारी विक्रय-कला के श्रेष्ठतम प्रदर्शन द्वारा प्राप्त की जाए। यह भी आवश्यक है कि देश में बढ़ती हुई उत्पादन लागत और कीमतों को नियन्त्रित किया जाए।

सामान्य समझौते के दोष
(Defects of GATT)

तटकरों एवं व्यापार पर सामान्य समझौते (GATT) के उद्देश्य काफी अच्छे होने पर भी इसमें ऐसे अनेक दोष हैं जिनके कारण निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त करना कठिन हो जाता है। ये दोष निम्न प्रकार हैं—

(1) सामान्य नियम का बनाना असम्भव—गैट की सदस्यता बहुत विस्तृत होने के कारण सामान्य नियम बनाना सम्भव नहीं है। आर्थिक उद्देश्यों की राजनीतिक उद्देश्यों के साथ टक्कर होने के कारण उचित नियमों का विरोध भी सदस्यों द्वारा किया जाता रहा है।

(2) मात्र अच्छे आचरण की संहिता—यद्यपि यह सत्य है कि गैट सदस्यों के आपसी झगड़ों का निपटारा व बातचीत करने का अवसर प्रदान करता है परन्तु उसको किसी प्रकार का कोई सार्वभौम प्रभुत्व प्राप्त नहीं है। जिससे सदस्यों द्वारा छूट धाराओं का अपने निजी स्वार्थों को सुरक्षित रखने के हेतु दुरुपयोग किया गया है। सदस्यों के बीच झगड़े निपटाने में असफलता का सबसे उत्तम उदाहरण अमेरिका का है जिसने गैट के लगातार कहने पर भी दूध व मक्खन से बनी हुई वस्तुओं के आयातों पर लगे प्रतिबन्धों को समाप्त नहीं किया। इन असफलताओं के कारण ही यह कहा जाता है कि गैट अच्छे आचरण की संहिता मात्र बनकर रह गया है।

(3) **परिमाणात्मक प्रतिबन्धों के सम्बन्ध में असफलता**—उन परिमाणात्मक प्रतिबन्धों के सम्बन्ध मे, जिन्हे कोई देश अपने सीमित विदेशी विनिमय कोषों को सरक्षण प्रदान करने के उद्देश्य से लगाता है, गैट को अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई है। प्रायः ऐसा देखने मे आया है कि देश की भुगतान स्थिति में सुधार हो जाने के पश्चात् भी आयातो पर परिमाणात्मक प्रतिबन्ध पहले के समान विद्यमान रहते हैं। गैट की इस असफलता का मुख्य कारण यह है कि इसके पास समझाने के अतिरिक्त दूसरा कोई प्रभावशाली हथियार नही है जिसका उपयोग करके यह सदस्य देश को उसकी भुगतान-सन्तुलन स्थिति मे सुधार हो जाने पर प्रतिबन्धों को समाप्त करने पर विवश कर सके।

(4) **भेद-भाव उत्पन्न करना**—सदस्यो के बीच बातचीत वस्तु से वस्तु पर आधारित होने के कारण परस्पर व्यापार के पक्ष में और तीसरे पक्ष के विपक्ष मे भेदभाव स्वाभाविक परिणाम के रूप मे पैदा हो जाता है।

(5) **प्रतिनिधि संस्था नहीं**—चूंकि साम्यवादी गुट के अधिकांश देश तथा अधिकांश नए स्वाधीनता-प्राप्त विकासशील देश इस संस्था के सदस्य नही होने के कारण गैट विश्व की प्रतिनिधि संस्था नही बन पाई है।

(6) **विकासशील देशो के हितो की उपेक्षा**—विकासशील देशो का विचार है कि गैट केवल विकसित और धनी देशो का ही ऐसा संघ रहा है जिसमे अमेरिका और यूरोप के विकसित देशो के आर्थिक हितो को ध्यान में रखा जाता रहा है। विकासशील देशो को लाभान्वित करने की दिशा मे गैट का कार्य सीमित रहा है।

गैट के नियम विकासशील देशो के लिए विशेष महत्त्व की वस्तुओं के सम्बन्ध मे लागू नही होते हैं। उदाहरण के लिए सूती कपडे के निर्यातों का नियमन 1962 मे बनाए गए विशेष नियमो के अन्तर्गत किया जाता है। इन नियमो के अनुसार विकासशील देशो को अपने निर्यातो पर आयातकर्त्ता देश के कहने पर ऐच्छिक प्रतिबन्ध लगाने के लिए बाध्य किया जा सकता है।

गैट का भविष्य

यद्यपि गैट की उपलब्धियाँ कम रही हैं फिर भी इसका भविष्य अच्छा है। परन्तु इस सम्बन्ध मे ज्यादा आशावादी नहीं हुआ जा सकता है। कारण यह है कि भविष्य मे जिन समस्याओं का गैट को समाधान करना होगा वे सरल नही हैं। गैट के समान संगठन द्वारा, जिसके सदस्य विकसित व अविकसित देश, कृषि-प्रधान तथा औद्योगिक देश, अनुकूल व प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन वाले देश हैं तथा जिनके आर्थिक हित ज्यादातर परस्पर विरोधी हैं, अपनी नीतियो द्वारा भिन्न सदस्यो के भिन्न हितो के मध्य समन्वय करना कठिन कार्य है। फिर भी गत 31 वर्षों के गैट के कार्य-निष्पादन को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि गैट सदस्यो की

आवश्यकताओ और उनके हितो के प्रति जागरूक है तथा कुशल अधिकारियो द्वारा अपनी नीति को कार्यान्वित करके सन्तुलित विश्व व्यापार और आर्थिक विकास के कार्य मे बहुमूल्य अशदान दे सकेगा।

भारत सरकार की 1977–78 की रिपोर्ट के अनुसार गैट-कार्यकलाप

भारत सरकार के वाणिज्य मन्त्रालय की वार्षिक रिपोर्ट 1977–78 के अनुसार समीक्षाधीन वर्ष मे गैट (GATT) के कार्यकलाप निम्नानुसार रहे—

गैट का वार्षिक सत्र

गैट के सविदाकारी पक्षकारो का 33 वाँ सत्र 29 और 30 नवम्बर 1977 तक जेनेवा मे हुआ था। इस सत्र से सविदाकारी पक्षकारो को यह अवसर मिला कि वे नवम्बर 1976 मे हुए 32 वें सत्र के बाद अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे हुई मुख्य गतिविधियो की समीक्षा कर सकें तथा उन प्रतिवेदनो पर विचार कर सकें जिन्हें गैट परिषद्, व्यापार तथा विकास सम्बन्धी समिति और वस्त्र समिति ने, जो कि गैट के मुख्य कार्यपालक अग है, सविदाकारी पक्षों को प्रस्तुत किया था। भारत ने सत्र की चर्चाओ मे सक्रिय रूप से भाग लिया।

"18" का गाट परामर्शी समूह

जुलाई 1975 मे स्थापित "18" का गैट परामर्शी समूह बार-बार बैठकें करता रहा है। जब से विशेषज्ञ समूह गठित हुआ है, तभी से भारत इसका सदस्य रहा है। यह समूह सामान्य करार के उद्देश्यो तथा सिद्धान्तो के अनुकूल व्यापार नीतियो का पालन करने तथा उन्हे बनाए रखने के उद्देश्य से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक स्थिति मे हुई घटनाओ की समीक्षा करता है। इस समूह द्वारा जिन मुख्य विषयो पर विचार-विमर्श किया गया, उनमे से एक मुख्य विषय विश्व व्यापार को चलाने की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को सुधारने के उद्देश्य से कुछ गैट नियमों तथा प्रक्रियाओ मे परिवर्तन ही की सम्भावनाओ से सम्बन्धित है। इन विचार-विमर्शों के फलस्वरूप बहु-पक्षीय व्यापार वार्ताओ के अन्तर्गत एक व्यवस्था समूह की स्थापना हुई।

वस्त्रो (बहुरेशा प्रबन्ध) मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित गैट प्रबन्ध

वस्त्रो मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रबन्ध का नवीनीकरण और आगे के चार वर्षो के लिए किया गया है। यह बहुरेशा प्रबन्ध के नाम से प्रसिद्ध है तथा 31 दिसम्बर 1977 को समाप्त हो गया था। यह नवीकरण 1977 मे आयातक एव निर्यातक देशो के बीच अनेक बैठको के परिणामस्वरूप हुआ और भारत इन वार्ताओ मे सक्रिय रूप से भाग लेता रहा है क्योकि उसे वस्त्र तथा वस्त्र उत्पादो के निर्यात मे अत्यधिक दिलचस्पी है। वार्ताएँ इस पृष्ठभूमि पर आयोजित की गई थी कि कुछ आयातक देशो ने तीव्र मन्दी के कारण, जिससे वस्त्र उद्योग मे बहुत बेरोजगारी

फैल गई थी, वस्त्रों के बारे में संरक्षणात्मक दृष्टिकोण अपनाया गया था। नवीनीकृत एम. एफ. ए. को स्वीकार करके विकासशील देशों ने प्रबन्ध मे निर्धारित सिद्धान्तों को प्रभावहीन होने से रोकने में सफलता प्राप्त की है और साथ ही आयातक देशों के वस्त्र उद्योग में चल रही मन्दी की स्थिति के प्रभाव का मानकर आयातक देशों को सुविधाएँ देने की व्यवस्था की है। तदनुसार विकासशील देश इस बात के लिए सहमत हो गए हैं कि कुछ मामलों में जो मुख्यतः वृद्धि दर से सम्बन्धित हों, सिद्धान्तों से अस्थायी रूप से हट जाना इस समझौते के आधार पर स्वीकार्य होगा कि यह केवल छोटी अवधि के लिए होगा तथा मूलतः अस्थायी समस्याओं से निपटने के लिए होगा।

सं० रा० अमेरिका तथा यूरोपीय आर्थिक समुदाय दोनों के साथ अपनी द्विपक्षीय वार्ताओं मे, जिन्हें स्वयं एम. एफ. ए पर विचार-विमर्श करने के लिए साथ-साथ प्रारम्भ किया गया था, इन आधार स्तरों से सम्बद्ध सिद्धान्तों और हाथ-करघा उत्पादों को दिए गए व्यवहार को सफलतापूर्वक ज्यों का त्यों रख सकें। संयुक्त राज्य अमेरिका के मामले में हम एम.एफ. ए. में निश्चित वृद्धि दर से ऊँची दर प्राप्त करने में समर्थ रहे हैं जबकि यूरोपीय आर्थिक समुदाय के मामले में कुछ नाजुक वर्गों के विषय में वृद्धि दर कम है। इस बात को मान भी लिया जाए कि कोटे में सभी देशों से निर्मित माल शामिल होगा, तब भी ब्लाउज, कमीजें, टी-शर्ट, स्कर्ट, पोशाक, टेरि-टावेलिंग, बिस्तर तथा मेजपोश आदि जैसी प्रमुख निर्यातमदों के लिए इन देशों से जो कोटे हमने प्राप्त किए हैं वे इन मदों के हमारे पिछले निर्यातों की अपेक्षा काफी अधिक हैं। उदाहरण के लिए, यूरोपीय आर्थिक समुदाय के मामले में कमीजों तथा ब्लाउजों के सम्बन्ध में 1978 के लिए कोटा लगभग 525 लाख अदद का होगा जबकि पिछले वर्ष के अन्तर्गत 400 लाख अदद का कोटा उपलब्ध होना था। संयुक्तराज्य अमेरिका के मामले में भी परिधान तथा बने बनाए वस्त्रों के लिए 1978 में कोटा 1862 लाख वर्ग गज होगा जबकि 1976-77 में हमारे निर्यात 1187 वर्ग गज थे।

इसी प्रकार आस्ट्रिया, फिनलैण्ड, नार्वे तथा स्वीडन आदि देशों के साथ वस्त्रों के बारे में द्विपक्षीय करार करने के लिए वार्ताएँ चल रही हैं।

विकासशील देशों के बीच अधिमान्य व्यापारिक प्रबन्ध

विकासशील देशों के बीच अधिमान्य व्यापारिक प्रबन्धों के बारे में जोनाल सलेव 1973 में लागू हुआ था, भारत उसका सदस्य है। 16 विकासशील देश इस समय विनिर्दिष्ट मदों पर टैरिफ रियायतों का आदान-प्रदानकरके अधिमान्य प्रबन्ध में भाग ले रहे हैं। हमने 27 मदों पर रियायतों का आदान-प्रदान किया है। अन्य भाग लेने वालेदेशों ने भारत को जो रियायतें देनी स्वीकार की हैं, सामान्यतः गैर परम्परागत क्षेत्र के विषय में हैं जैसे स्टीम टर्बाइन, जनरेटर ट्रान्सफार्मर, सार्वजनिक टेलीफोन सट, हाइड्रोलिक सीमेन्ट, विटामिन, कुछ रसायन, एल्युमिनियम छड़े तथा शीट, हाथ के औजार, स्टीम बायलर आदि रियायतों की दर एम. एफ. एन. दरों के 10 से 50

प्रतिशत के बीच हैं। भारत की निर्यात संवर्धन परिषदो और अन्य निर्यात संवर्धन सगठनो ने विनिर्दिष्ट मदो के विषय मे सम्बन्धित बाजार को हमारे निर्यात बढाने के लिए सलेख के अन्तर्गत उपलब्ध रियायतो का व्यापक प्रचार करने का कार्य सम्भाला है।

तब से अनेक अन्य विकासशील देशो ने इस बीच विकासशील देशो के मध्य गैट व्यापार वार्ताओ मे सम्मिलित होने की अपनी दिलचस्पी प्रकट की है और उनम से कुछ देशो ने पहले ही अपने निर्यात हित की अनुरोध सूची मदें परिचालित कर दी हैं। ऐसा एक देश रूमानिया है जिसने सलेख म प्रवेश के लिए सक्रिय वार्ताएँ आरम्भ कर दी हैं। भारत ने रूमानिया के साथ दिसम्बर 1977 मे बातचीत पूरी की जिसम रूमानिया हमारी दिलचस्पी की 26 मदो पर टैरिफ रियायत देने क लिए सहमत हो गया, जबकि हमने ऐसे मदो के सिवाय जोकि पहले ही सलेख के अन्तर्गत हमारी रियायत सूची मे विद्यमान हैं, किसी भी अन्य मद पर रियायत नही दी है। भारत ऐस अन्य विकासशील देशो के साथ जो बाद मे वार्ताओ मे शामिल हो जाए, उन रियायतो का आदान-प्रदान करना चाहता है पर यह इस बात पर निर्भर है कि हमे उससे कितना व्यापारिक लाभ होगा।

ऐसे प्रयास किए जा रहे हैं कि विकासशील देशो के बीच व्यापार बढाने के लिए तथा उनके बीच वर्तमान आर्थिक सहयोग सुदृढ करने के लिए अधिमान्य करार का उपयोग किया जाए। सलेख के अन्तर्गत आने वाले उत्पादो की सख्या बढाने के लिए और टैरिफ कटौतियो को बढाने के लिए वार्ताओ का एक और दौर करने का प्रस्ताव है।

बहु-पक्षीय व्यापार वार्ताएँ

सितम्बर, 1973 मे टोकियो मे आयोजित गैट सदस्य देशो की मन्त्रिस्तरीय बैठक के फलस्वरूप बहुपक्षीय व्यापार वार्ताएँ आरम्भ हुई। 14 सितम्बर, 1973 को इस बैठक मे एक घोषणा स्वीकार की गई जो टोकियो घोषणा के नाम से जानी जाती है। इन वार्ताओ का उद्देश्य विश्व व्यापार का विस्तार करना तथा उसे और अधिक उदार करना और विकासशील देशों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए अतिरिक्त लाभ प्राप्त कराना ह ताकि अन्य बातो के साथ साथ उनकी विदेशी मुद्रा आय मे काफी वृद्धि हो सके तथा उनके जीवन स्तर मे सुधार लाया जा सके।

यद्यपि 1975 क अन्त तक वार्ताएं पूरी करने का इरादा था, तथापि विकसित देशो मे मन्दी की जो प्रवृत्ति 1974 मे दिखाई दी उसके कारण आज तक अधिकांश क्षेत्रो मे प्रगति बहुत थोडी हुई तथापि जुलाई 1977 मे सयुक्त राज्य अमेरिका तथा यूरोपीय आर्थिक समुदाय ने बहुपक्षीय व्यापार वार्ताएँ चालू करने के लिए सयुक्त रूप से प्रारम्भिक कार्यवाही शुरू की तथा 1978 के मध्य तक वार्ताएँ पूरी करने के उद्देश्य से समय-सारणी तैयार की। परिणामस्वरूप वार्ताओ मे कुछ गति आई है।

सम्मत समय-अनुसूची के अनुसार विकसित देशों ने जनवरी, 1978 में टैरिफ समूह तथा कृषि समूह दोनों में अपने ऑफर प्रस्तुत किए हैं। टैरिफ समूह में तो वार्ताएँ चतुर्दिक कटौती के आधार पर होंगी, पर कृषि समूह में मदवार कार्यविधि अपनाई जाएगी जो आफर दिया गया है उनके आधार पर कटौती करने के लिए टैरिफ फार्मूला औपचारिक रूप से स्वीकार नहीं किया गया है, तथापि यह दिखाई देता है कि सामान्यतः 40 प्रतिशत की कमी की जाएगी। विकासशील देशों की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि विकसित देश फार्मूला कटौतियों से अधिक कटौती लागू करके विकासशील देशों के पक्ष में विशेष तथा भिन्न व्यवहार प्रदान करने के लिए सहमत हैं।

अन्य क्षेत्रों में, विशेषकर संरक्षण तथा सरकारी खरीद में जहाँ संहिताएँ तैयार करने पर विचार किया जा रहा है, वार्ताओं की गति तेज करने के लिए भी प्रयास किए जा रहे हैं।

बहु-पक्षीय व्यापार वार्ताएँ अब निश्चय की स्थिति में पहुँच गई है। भारत के लिए अधिकतम लाभ प्राप्त करने के निमित्त सभी प्रयत्न किए जा रहे हैं।

उद्देश्य से कुछ राष्ट्र परस्पर व्यापार करना आरम्भ कर दें तो उनके मुक्त अथवा स्वतन्त्र व्यापारिक आदान-प्रदान में किसी प्रकार का हस्तक्षेप उन्हें इस लाभ से वंचित कर देगा।" वास्तव मे मुक्त व्यापार के सिद्धान्त को हम अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे श्रम-विभाजन के सिद्धान्त का विस्तार मात्र कह सकते हैं। एडम स्मिथ ने कहा था कि "व्यक्ति विशेष अपने उद्योगो का इस तरह उपयोग करते हैं ताकि उन्हें अपने पड़ोसियो से कुछ अधिक सुविधाएँ प्राप्त हो सकें। जो बात किसी घर के लिए बुद्धिमत्तापूर्ण हो सकती है वह किसी बड़े राष्ट्र के लिए बेवकूफी नही बन सकती।" कहने का सार यह हुआ कि मुक्त व्यापार की नीति के समर्थकों के अनुसार प्रत्येक देश, इस नीति के अन्तर्गत, अपने उन उद्योगों को उन्नत कर सकता है जो तुलनात्मक रूप से उसके लिए अधिक अनुकूल हों।

उल्लेखनीय है कि मुक्त व्यापार के क्षेत्र में नेतृत्व इंग्लैण्ड का रहा था। नेपोलियन-युद्धों के बाद 19वी शताब्दी में इंग्लैण्ड में मुक्त व्यापार बनाम संरक्षण का संघर्ष छिडा जिसमे मुक्त व्यापार का पक्ष विजयी हुआ। 19वी शताब्दी मे इंग्लैण्ड मे मुक्त व्यापार का बोल-बाला रहा। उसने मुक्त व्यापार की नीति को भारत और अपने अन्य उपनिवेशों पर भी लागू किया। लेकिन जहाँ औद्योगिक क्रान्ति के क्षेत्र मे अगुआ होने के कारण, इंग्लैण्ड को मुक्त व्यापार नीति से भारी लाभ हुआ वहाँ यह नीति अन्य देशो के पक्ष मे उपयोगी सिद्ध नही हुई। मुक्त व्यापार का अनुसरण करके अन्य देशों के लिए अपना औद्योगिक विकास करना सम्भव नही था। अतः संयुक्त राज्य अमेरिका, जर्मनी, फ्राँस आदि ने संरक्षण की नीति का पक्ष-पोषण किया और भारत ने भी 1923-24 मे विवेचनात्मक संरक्षण (Discriminating Protection) अपनाया। चारो ओर की इन परिस्थितियो ने मुक्त व्यापार के पक्ष मे इंगलैण्ड का पासा पलट दिया और भयानक महान् मन्दी के समय इंग्लैण्ड को बाध्य होकर इस नीति को तिलांजलि दे देनी पड़ी।

इस पृष्ठभूमि के उपरान्त हमे उन तर्कों को देखना चाहिए जो सस्थापक अर्थ-शास्त्रियो ने मुक्त व्यापार के समर्थन मे दिए हैं। उनके मुख्य तर्क ये हैं—

(1) उत्पादन के साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग—मुक्त व्यापार के अन्तर्गत उत्पादन के साधनो का श्रेष्ठतम उपयोग सम्भव है। प्रत्येक देश वह वस्तु पैदा करता है जिसमे उसे प्राकृतिक लाभ हो। मुक्त व्यापार में वस्तुओ की माँग और पूर्ति मे प्रतियोगिता होने से प्रत्येक देश का यह प्रयत्न रहता है कि वह विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन मे विशिष्टीकरण प्राप्त करे। इस तरह वह देश के अधिकतम लाभ देने वाली और श्रेष्ठतम वस्तुओ का ही उत्पादन करता है और इस प्रयत्न मे अपने प्राकृतिक साधनों का समुचित उपयोग कर पाता है। वह प्रत्येक वस्तु का सर्वाधिक आवश्यक कार्य मे ही प्रयोग करने की ओर प्रवृत्त होता है। इस प्रकार देश मे उत्पादन के साधनों का श्रेष्ठतम प्रयोग होने लगता है।

(2) श्रेष्ठतम उत्पादन इकाइयाँ—मुक्त व्यापार मे स्वतन्त्र प्रतियोगिता होती है, अतः उत्पादन की घटिया, अलाभदायक व अनार्थिक इकाइयाँ क्रमशः स्वतः समाप्त

हो जाती है। केवल व उत्पादन इकाइयाँ ही सक्रिय रहती हैं जो कम स कम लागत पर अच्छे स अच्छा माल बनाने म सक्षम हों। इस स्थिति का यह स्वाभाविक परिणाम होता है कि उत्पादन स्तर उच्च हो जाता है और पूजी तथा अन्य साधनों का दुरुपयोग नहीं हो पाता।

(3) भौगोलिक श्रम विभाजन— मुक्त व्यापार म प्रत्येक देश की प्रवृत्ति उन वस्तुओं का उत्पादन करने की रहती है जिनके विक्रय स उसे अधिकतम लाभ मिले। फलस्वरूप भौगोलिक श्रम विभाजन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। इस तरह ससार के विभिन्न देशों को श्रम-विभाजन के विभिन्न लाभ प्राप्त होते हैं।

(4) एकाधिकार पर रोक—मुक्त व्यापार एकाधिकारी सघों के निर्माण अथवा उदय को रोकता है क्योंकि यह स्वतन्त्र प्रतियोगिता पर आधारित होता है। देशी उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता का खुला सामना करना पडता है अत वे एकाधिकारी सघो की स्थापना नहीं कर पाते।

(5) पारस्परिक सहयोग व सद्भावना—मुक्त व्यापार ससार के देशों को एक दूसरे पर निर्भर बनाकर उनके बीच पारस्परिक सद्भावना और सहानुभूति पैदा करता है। परस्पर घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित होने से उनमें मैत्रीपूर्ण वातावरण पनपता है।

(6) बाजार के क्षेत्र का विस्तार—मुक्त व्यापार के अन्तगत विदेशी व्यापार की वस्तुओं का क्रय विक्रय दूर-दूर के विभिन्न देशों म होने लगता है। इस तरह एक ओर तो बाजार का क्षेत्र विस्तृत होता है और दूसरी ओर वस्तुओं के मूल्य भी बढ जाते हैं। बाजारों के विस्तृत होने से उत्पादक विशाल पैमाने पर उत्पादन करने लगते हैं जिससे वस्तुओं की उत्पादन लागत कम हो जाती है और उपभोक्ताओं को अपेक्षाकृत सस्ते दामों पर वस्तुएँ मिलने लगती हैं।

(7) उपभोक्ताओं को लाभ—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है मुक्त-व्यापार की अवस्था म उपभोक्ताओं को वस्तुएँ सस्ते दामों पर मिलने लगती हैं। ऐसा मुख्यत तीन कारणों से होता है—(अ) विदेशी प्रतियोगिता का सामना करने के लिए देशी उद्योगपति वस्तुओं की उत्पादन लागत कम करने लगते हैं (ब) बाजारों के विस्तृत होने से वस्तुओं के उत्पादन का पैमाना बढ़ता है जिससे उत्पादन लागत घटती है एव (स) आयात की जाने वाली वस्तुओं पर कर न लगने से वस्तुओं के मूल्य नहीं बढते।

(8) उत्पादन विधि में सुधार—मुक्त व्यापार के अन्तर्गत आपसी प्रतियोगिता बढ़ती है। फलस्वरूप प्रत्येक देश अपनी अपनी उत्पादन विधियों में सुधार करते रहने के प्रति जागरूक रहता है। इन सुधारों द्वारा उद्योगपति अपनी उत्पादन लागतों को कम करने का प्रयत्न करते हैं। कभी कभी विदेशी प्रतियोगिता का मुकाबला करने के लिए देशी उद्योगपतियों द्वारा उद्योग धन्धों का युक्तिकरण (Rationalisation) कर दिया जाता है जिससे उपभोक्ताओं को काफी लाभ होता है।

(9) **आविष्कारों को प्रोत्साहन**—मुक्त व्यापार में प्रतियोगितापूर्ण स्थिति होने से उत्पादक अपना माल बेचने की फिराक में माल के नए-नए नमूने और डिजाइन तैयार करते हैं तथा नयी-नयी वस्तुएँ पैदा करते हैं। इस तरह आविष्कार प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है।

उपर्युक्त सभी लाभों के कारण संस्थापक अर्थ-शास्त्रियों ने मुक्त व्यापार की नीति का समर्थन किया था। लेकिन आज का युग आर्थिक राष्ट्रवाद (Economic Nationalism) और नियोजित अर्थ-व्यवस्था (Planned Economy) का है। आज की परिस्थितियों में मुक्त व्यापार के अनेक लाभ केवल काल्पनिक रह गए हैं। फलस्वरूप मुक्त व्यापार की नीति का व्यावहारिक महत्त्व समाप्त हो चुका है। आज अत्यन्त विकसित देशों ने भी इस नीति का परित्याग कर दिया है। वर्तमान में इसके स्थान पर सभी देशों ने संरक्षण की नीति को अपनाया।

संरक्षण का सिद्धान्त
(Theory of Protection)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में संरक्षण की नीति का अपना महत्त्व है। इसका अर्थ उस सरकारी नीति से है जिसके आधीन एक सरकार विदेशी प्रतिस्पर्द्धा से गृह-उद्योगों की रक्षा करने के लिए प्रशुल्क (Tariff) द्वारा विदेशी व्यापार पर रोक लगाती है। इस नीति की सर्वप्रथम व्याख्या करने का श्रेय अमेरिकी राजनीतिज्ञ एवं अर्थशास्त्री अलेक्जेंडर हैमिल्टन को दिया जाता है। इन्होंने संरक्षण की नीति को देश के उद्योग धन्धों का विकास करने के लिए, देश की सुरक्षा के लिए और अधिक से अधिक लोगों को रोजगार प्रदान करने के लिए स्वीकार किया। बाद में इस सिद्धान्त की व्याख्या मि० हैनरी सी० कैरे तथा जर्मनी के मि० फ्रेड्रिक लिस्ट द्वारा की गई। उन्होंने इस विचार के समर्थन में अनेक तर्क प्रस्तुत किए। इस प्रकार संयुक्त-राज्य अमेरिका और जर्मनी इस विचार के सूजक माने जा सकते हैं। यहीं से यह विचार अन्य देशों को गया। 17वीं शताब्दी में स्वतन्त्र व्यापार का अधिक प्रचलन था और उस पर ये सीमाएँ नहीं लगाई जाती थी, किन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद स्वतन्त्र व्यापार को प्रतिबन्धित किया जाना प्रारम्भ हो गया, यहाँ तक कि संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे स्वतन्त्र व्यापार के समर्थक देश ने भी इन प्रतिबन्धों को महत्त्व देना प्रारम्भ किया।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए अनेक देशों ने प्रशुल्क नीति को अपनाकर विदेश-व्यापार को विनियमित किया। यद्यपि इस काल में भी यूरोप के अनेक देश स्वतन्त्र व्यापार का पक्ष ले रहे थे किन्तु 20वीं शताब्दी की दूसरी दशाब्दी में स्वतन्त्र व्यापार प्रायः पूरी तरह नष्ट हो गया। विश्व के अनेक प्रमुख देशों ने पर्याप्त ऊँचे प्रशुल्क लगाए। ग्रेट-ब्रिटेन ने भी अपनी स्वतन्त्र व्यापार नीति को त्याग दिया और अपने देश के उद्योगों का विकास करने के लिए शुल्क की सौदेबाजी में सुविधा प्राप्त करने के लिए तथा साम्राज्य में प्राथमिक

व्यवस्था लागू करने के लिए सरक्षण की नीति को अपना लिया। इस नीति के अनुसार व्यापार पर अनेक प्रकार के नियन्त्रण लगाए गए।

सरक्षण की नीति के अन्तर्गत उपभोक्ताओ अथवा उत्पादकों के एक वर्ग को विदेशी प्रतियोगिता से बचाने के लिए व्यापारिक प्रतिबन्ध लगाए जाते हैं। इस नीति के अन्तर्गत प्रतिबन्धो का इतना महत्त्व नही होता जितना उन के उद्देश्यो का होता है। आर्थिक क्षेत्र मे प्राय प्रत्येक सरकारी हस्तक्षेप किसी न किसी के लिए लाभदायक रहता है और उसे प्रतियोगिता मे राहत प्रदान करता है। इसी प्रकार व्यापार प्रतिबन्ध भी, चाहे वह किसी भी उद्देश्य से क्यो न लगाया गया हो, किसी न किसी आर्थिक हित को कुछ मात्रा मे सरक्षण प्रदान करता है। सरक्षण की नीति या सरक्षणवाद का अर्थ ये आकस्मिक घटनाएँ तथा इनसे प्राप्त होने वाला लाभ नही है वरन् इसमे व्यापार प्रतिबन्ध की तकनीको का विस्तार के साथ अध्ययन किया जाता है। सरक्षणवाद का मुख्य रूप प्रशुल्क है और सयुक्त राज्य अमेरिका आदि देशो मे तो प्रशुल्क तथा सरक्षण को एक रूप ही माना गया है। इतने पर भी इन देशो मे सरक्षणवाद को केवल प्रशुल्क तक ही सीमित नही किया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र मे सरक्षणवाद का एक लम्बा इतिहास है। कुछ समय पूर्व तक विश्व के विभिन्न देशो मे सरक्षण से सम्बन्धित विवाद अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक नीति का एक महत्त्वपूर्ण विषय था। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त मे सरक्षणवाद के समर्थन और विरोध मे विभिन्न तर्क प्रदान किए जाते हैं। वर्तमान काल मे कुछ अन्य नीतियो का भी विकास हुआ है जो कि सरक्षणवाद के साथ प्रतिद्वन्दिता रखती हैं, उदाहरण के लिए, विनिमय की दरें और अन्तर्राष्ट्रीय सगठन, विदेशी सहायता कार्यक्रम, आर्थिक कल्याण, व्यापार शर्तों का समायोजन आदि।

सरक्षण की नीति के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के स्वाभाविक प्रवाह को रोक दिया जाता है और अनेक कृत्रिम प्रतिबन्ध लगाए जाते हैं। ये प्रतिबन्ध आंशिक अथवा पूर्ण हो सकते हैं और ये विशुद्ध रूप से आर्थिक या राजनीतिक उद्देश्यो के लिए लगाए जा सकते हैं। जो नीति विदेशी व्यापार की स्वाभाविक गति म बाधा डालती है, वह मूल रूप से सरक्षण की नीति का भाग है। उसका रूप आर्थिक भी हो सकता है और अनार्थिक भी।

संरक्षण के तरीके
(The Methods of Protection)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की स्वाभाविक गति मे अनेक तरीको से प्रतिबन्ध लगाए जा सकते हैं। इन तरीको मे से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

(1) वैधानिक विषय (The Legal Prohibition)—इस रीति के अनुसार कानून बनाकर सरकार द्वारा किसी वस्तु के आयात और निर्यात पर रोक लगा दी जाती है। इसे प्राय तब काम मे लिया जाता है जब व्यापार सन्तुलन एक देश के पक्ष मे न हो अथवा व्यापारिक दृष्टि से दुखदायी समय हो। ये प्रतिबन्ध प्रायः थोडे समय के लिए ही लगाए जाते हैं। जिस समय अर्जेन्टाइना के पशुओं मे बीमारी फैली

थी, उस समय संयुक्त राज्य अमेरिका ने वहाँ से मांस मँगाने पर कानूनी प्रतिबन्ध लगा दिया।

(2) प्रशुल्क अथवा आयात-निर्यात कर (The Tariffs)—संरक्षण की यह पर्याप्त पुरानी और प्रचलित प्रणाली है। जब देश के आयात पर संरक्षण की दृष्टि से कर लगाए जाते हैं तो इनको संरक्षण कर कहा जाता है। आजकल निर्यात करों की अपेक्षा आयात करों का महत्त्व अधिक है। प्रशुल्क कर के अनेक रूप हो सकते हैं—(i) समान कर प्रणाली जिसके अनुसार एक देश अन्य सभी देशों की एक जैसी वस्तुओं के प्रति समानतापूर्ण व्यवहार करता है। (ii) परम्परागत प्रशुल्क प्रणाली जिसके आधीन एक देश सामान्य कर लगाते समय उन देशों को अलग रखता है जिनके साथ विशेष प्रकार की सन्धियाँ की हैं अथवा जिसके साथ विशेष परम्परागत सम्बन्ध हैं। (iii) प्रशुल्क प्रणाली की दरें अधिकतम या न्यूनतम हो सकती हैं। जिन देशों के साथ विशेष सन्धि की जाती है उनको आयात करों में न्यूनतम तथा बाकी के देशों के लिए अधिकतम दरों में प्रशुल्क लगाने की व्यवस्था की जाती है। (iv) विशेषाधिकार युक्त प्रशुल्क प्रणाली होती है जिसके अन्तर्गत उन देशों को व्यापार सम्बन्धी रियायतें दी जाती हैं जो राजनैतिक, जातिगत या क्षेत्रीय आधार पर परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं।

करारोपण गणना के आधार पर भी विभिन्न प्रकार के होते हैं। जो कर वस्तु की भौतिक इकाई पर लगाए जाते हैं उनको विशेष प्रशुल्क कहा जाता है। यदि इन्हें वस्तु के मूल्य के आधार पर लगाया जाए तो ये मूल्यानुसार प्रशुल्क कहे जाएँगे। जब देशी उत्पादकों को हानि से बचाने के लिए कोई कर लगाया जाता है तो उसे क्षतिपूर्ति प्रशुल्क कहा जाता है।

प्रशुल्क कर लगाने से कई उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। इनके परिणामस्वरूप विदेशी वस्तुओं को महँगा बनाकर उनका आयात घटाने का प्रयास किया जाता है ताकि स्वदेशी उद्योगों का तीव्र गति से विकास होने लगे, देश के रोजगार में वृद्धि हो, मजदूरी की दर बढ़ जाए और देश आत्म-निर्भरता की दिशा में अग्रसर हो। प्रशुल्क का एक खतरा यह होता है कि इससे अन्य देश प्रतिकार के रूप में आयात कर लगाने के लिए प्रेरित हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में इनका उद्देश्य पूरा नहीं हो पाता। राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध बिगड़ जाते हैं और उनके बीच अनबन हो जाती है। इन सबके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अवांछनीय दिशाओं की ओर मुड़ जाता है। ये प्रशुल्क राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखकर ही लगाए जाते हैं और इसलिए प्रायः इनका अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ही विरोध किया जाता है।

(3) आर्थिक सहायता (The Financial Aid)—इस नीति के अनुसार एक देश की सरकार आयातों एवं निर्यातों पर कोई कर न लगाकर अपने उद्योगों को प्रोत्साहित करने के लिए उनको विशेष सहायता देती है। यह सहायता विशेष छूट, ऋण, अनुदान, उपदान (Subsidies) अथवा अधिदान (Bounties) के रूप

है। (3) कोटा प्रणाली का एक अन्य रूप द्वि-पक्षीय कोटा प्रणाली (Bilateral Quota System) कहा जाता है। इसके अनुसार सरकार द्वारा एक देश से निश्चित भाग मे ही आयात करने की अनुमति दी जाती है। जब कोई आयातकर्त्ता उस मात्रा से अधिक आयात करता है तो दण्ड-स्वरूप उसे अधिक आयात कर का भुगतान करना होगा।

लाभ—कोटा प्रणाली द्वितीय विश्व युद्ध के समय मे अत्यन्त लोकप्रिय थी। इसके अपने कुछ लाभ होते हैं—(1) इस प्रणाली के अन्तर्गत अन्य देशो के साथ लाभप्रद रूप मे सौदे किए जा सकते हैं। (2) यह प्रणाली अत्यन्त लोचशील होती है और आवश्यकता के अनुसार उसमे परिवर्तन किया जा सकता है। (3) इसमे पक्षपात की गुंजाइश कम रहती है और जिस प्रकार आयात कर का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विरोध किया जाता है, उस प्रकार इसका विरोध नहीं किया जाता। (4) जब वस्तुओं के आयात की मात्रा निश्चित हो जाती है तो स्वदेशी व्यापारी आसानी से अपने उत्पादन को व्यवस्थित रूप से नियोजित कर सकते हैं।

दोष—कोटा प्रणाली के अपने कुछ दोष भी हैं—(1) इससे सरकार की आय कम हो जाती है। यह कमी आयात करो के आधार पर आई कमी से कहीं अधिक होती है। (2) इस प्रणाली से वस्तुओ के मूल्यो मे अस्थिरता रहती है क्योंकि जब आयात बन्द रहता है तो मूल्य बढ़ जाते हैं और जब आयात खुल जाता है तो वस्तुओं के मूल्य कम हो जाते हैं। इस कमी और वृद्धि के फलस्वरूप व्यापारियों को पर्याप्त लाभ होता है किन्तु सरकार और उपभोक्ता इससे कष्ट उठाते हैं। (3) कोटा प्रणाली सम्बन्धित अधिकारियो के हाथ में शक्ति सौंपकर भ्रष्टाचार के अधिक अवसर प्रदान करती है। (4) इस प्रणाली के अन्तर्गत विदेशों मे वस्तुओं की कीमत गिर जाने पर भी उपभोक्ता लाभान्वित नही होता।

(5) विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control)—कोटा प्रणाली को प्राय: विनिमय नियन्त्रण की नीति के अनुपूरक के रूप मे प्रयुक्त किया जाता है और ऐसी स्थिति मे यह अत्यन्त प्रभावशाली बन जाती है। विनिमय नियन्त्रण के अन्तर्गत सरकार आयात और निर्यात के लिए विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय को नियमित करती है। जब विदेशी विनिमय की मात्रा निश्चित हो जाएगी तो केवल सीमित आयात किए जा सकेंगे। इस नीति को अपनाते हुए सरकार विनिमय की दर भी निर्धारित कर देती है।

विनिमय-नियन्त्रण की प्रणाली का विकास मुख्यत: आर्थिक मन्दी के समय हुआ। 1930 मे जब आर्थिक मन्दी आई तो अनेक देशों ने यह अनुभव किया कि विदेशी विनिमय कोष का होना परम आवश्यक है और इसलिए उन्होने विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय पर नियन्त्रण लगाने की नीति अपनाई। विनिमय-नियन्त्रण की प्रणालियों द्वारा आयातो को प्रतिबन्धित किया जा सकता है। इसके द्वारा एक ओर तो विदेशी मुद्रा कोष सुरक्षित रखने में सहायता मिलती है और दूसरी ओर इसके

परिणामस्वरूप विदेशी वस्तुओ को देश के बाहर रखने मे भी सफलता प्राप्त होती है। इन प्रणालियो के महत्त्वपूर्ण राजनैतिक प्रभाव होते है।

(6) भेदपूर्ण व्यवहार (Preferential Treatment)—विभिन्न देशो से आयात की जाने वाली वस्तुओ पर जब कर लगाया जाता है तो कई बार सरकार भेदपूर्ण व्यवहार भी करती है। ऐसा करते हुए कुछ देशो के सम्बन्ध मे कर की दरें कम और अन्य के सम्बन्ध मे अधिक कर दी जाती है। व्यापार को विनियमित करने का प्रयास किया जाता है।

(7) आयात-निर्यात का एकाधिकार (Import Export Monopoly)—कभी-कभी सरकार आयात और निर्यात के काम को स्वय अपने हाथ मे ले लेती है। ऐसी स्थिति में स्वय सरकार द्वारा यह निर्णय लिया जाता है कि किन वस्तुओ का किस मात्रा मे आयात या निर्यात किया जाएगा ? इस प्रक्रिया द्वारा सरकार स्वदेशी उद्योगो को सरक्षण देने का प्रयास करती है और विदेशी व्यापार को नियन्त्रित करती है।

विदेशी व्यापार को विनियमित करने तथा स्वदेशी उद्योग-धन्धो को सरक्षण प्रदान करने के उपर्युक्त तरीको मे से किसको प्रमुख माना जाए ? यह एक विवादपूर्ण प्रश्न है। कोई एसा निश्चित मापदण्ड नही है जिसके आधार पर इस प्रश्न को तय किया जा सके। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद जो आर्थिक राष्ट्रीयता की भावना पैदा हुई उसके फलस्वरूप विभिन्न देशो ने अपने उद्योगो को सरक्षण प्रदान करने के लिए उपर्युक्त मे से विभिन्न नीतियो का प्रयोग किया।

सरक्षण की नीति की आवश्यकता एव महत्त्व
(The Necessity and Importance of the Protection)

विदेशी व्यापार म सरक्षण की नीति को अपनाया जाना क्यो आवश्यक है तथा यदि इसे न अपनाया जाए तो क्या कठिनाई उत्पन्न हो सकती है ? इसे जानने के लिए हमे उन तर्को का अध्ययन करना होगा जो प्राय स्वतन्त्र व्यापार की नीति के विरुद्ध दिए जाते हैं। सरक्षण की नीति के पक्ष मे प्रस्तुत विभिन्न तर्कों को सैद्धान्तिक दृष्टि से स्वीकार करना सरल होता है किन्तु उनको व्यावहारिक रूप देना कठिन है।

स्वतन्त्र व्यापार के सम्बन्ध मे प्राय यह कहा जाता है कि इसमे आन्तरिक और बाह्य व्यापार मे कोई भेद नही होना, अत यह नीति उचित है, सरक्षण की नीति के सम्बन्ध मे कोई ऐसी सामान्य बात नही की जाती। सरक्षण की नीति के पक्ष मे जो अनेक तर्क दिए गए हैं, उनमे से कुछ वैज्ञानिक हैं, अन्य को आसानी से गलत सिद्ध किया जा सकता है। उनके बीच कई बार असगतियां दिखाई देती है। इसके अतिरिक्त जब इन तर्कों को स्वीकार करके क्रियान्वित करने का प्रयास किया जाता है तो अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडता है। सरक्षण की नीति के समर्थन मे दिए गए तर्क अग्रलिखित शीर्षकों मे वर्णित किए जा सकते हैं।

1. अनार्थिक तर्क (Non-Economic Arguments)

ये तर्क देश के आर्थिक जीवन से बहुत कम सम्बन्ध रखते हैं। इनमे उल्लेखनीय ये हैं—

(i) राष्ट्रीय सुरक्षा एवं आत्म-निर्भरता (National Defence and Self Sufficiency)—कहा जाता है कि राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक उद्योगों के उत्पादन को बढाने के लिए राज्य द्वारा सरक्षण प्रदान किया जाना चाहिए ताकि वे उद्योग स्वतन्त्र बाजार मे प्रतियोगिता का सामना कर सकें। अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे सदैव युद्ध की सम्भावनाएँ बनी रहती हैं और इसलिए प्रत्येक शासन को राष्ट्रीय सुरक्षा का पर्याप्त ध्यान रखना चाहिए। जब तक युद्ध के लिए आवश्यक सामग्री का उत्पादन देश मे नही किया जाता उस समय तक देश आत्म-निर्भरता का अनुभव नही कर सकेगा। संकटकाल मे कई वस्तुओ का आयात कठिन बन जाता है और इसलिए ऐसी वस्तुओं के उत्पादन का राज्य का सरक्षण प्रदान करना परम आवश्यक होता है। यदि आत्म-निर्भरता की प्राप्ति के लिए देश को कुछ आर्थिक नुकसान उठाना पड़े तो बुरा नही है।

इस तर्क को व्यावहारिक रूप देते समय यह प्रश्न उठता है कि सुरक्षा की दृष्टि से कौन से उद्योग अधिक महत्वपूर्ण हैं जिन्हें संरक्षण दिए जाने चाहिए? आवश्यक उद्योगों मे सामान्य रूप से ऐसे उद्योगों को लिया जाता है जिन पर युद्ध सम्बन्धी कार्य पूर्ण रूप से निर्भर रहते हैं। उदाहरण के लिए सैनिक उत्पादन, सैनिक वायुयान, विस्फोटक पदार्थ, राडार जैसी वस्तुओ का उत्पादन करने वाले उद्योग आदि। इस प्रकार के उद्योगों को सरक्षण प्रदान करना परम आवश्यक है। कभी-कभी सुझाव दिया जाता है कि सरकार इन आवश्यक उद्योगो को सरक्षण प्रदान करने की अपेक्षा स्वय ही चलाए और ऐसा करने मे जो खर्च आता है उसे करो द्वारा प्राप्त किया जाए ताकि सारी जनता उसके भार को समान रूप से सह सके। इस प्रक्रिया मे यह लाभ है कि इससे जनता जागृत होती है।

(ii) राष्ट्रीय आचार की सुरक्षा (Preservation of National Ethic)—सरक्षण की नीति द्वारा एक देश अपने विशेष आचार-विचार को सुरक्षित रख सकता है। यदि इस प्रकार का सरक्षण प्रदान न किया जाए तो ये नष्ट हो जाएँगे क्योंकि विभिन्न देशों के लोग एक-दूसरे के निकट सम्पर्क मे आएँगे। यदि राष्ट्र के विशेष गुणो को सुरक्षित रखना है तो इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर अत्यधिक निर्भरता को रोका जाना चाहिए।

(iii) कुछ व्यवसायों को सुरक्षित रखने के लिए (To Preserve certain Occupations)—कई बार सरक्षण की नीति का प्रयोग जनसख्या के कुछ वर्गों या व्यवसाय विशेषो को सुरक्षित रखने के लिए भी किया जाता है। स्वतन्त्र व्यापार की नीति के अन्तर्गत इन व्यवसायो के समाप्त होने का भय था। राजनैतिक एवं सामाजिक दृष्टि से इन व्यवसायो एवं वर्गों को संरक्षण दिया जाना आवश्यक प्रतीत

होता है उदाहरण के लिए, कृषक वर्ग को लिया जा सकता है। इस वर्ग के लोग मुख्यत रूढ़िवादी किन्तु समाज के प्रति निष्ठावान होते हैं। यदि इनको सुरक्षा प्रदान न करके स्वतन्त्र व्यापार की प्रतियोगिता म छोड दिया गया तो इनके समाप्त होने का डर रहता है। कीमतो पर कुछ नियन्त्रण किया जाना कभी-कभी आवश्यक होता है क्योंकि इसके बिना कृषि का विकास रुक जाएगा। शारीरिक व मानसिक दृष्टि से उसके उत्पादन मे बाधाएँ उत्पन्न होगी।

2. आर्थिक तर्क (Economic Arguments)

संरक्षण की नीति क समर्थन म अनेक आर्थिक तर्क प्रस्तुत किए गए किन्तु इन तर्कों को सही रूप म परिभाषित करना अत्यन्त कठिन था। अनेक ऐस उद्योग होते हैं जिनका आर्थिक दृष्टि से कोई उपयोग नही होता अर्थात् वे दश की आय म किसी प्रकार की वृद्धि नही करत वरन् अनार्थिक कार्यो से सम्बद्ध रहत हैं उदाहरण के लिए सैनिक महत्त्व क उद्योगो को यदि संरक्षण प्रदान किया जाता है तो वह आर्थिक दृष्टि स इतना उपयोगी एव प्रभावशील नही माना जाएगा। जो उद्योग राष्ट्रीय आय, राष्ट्रीय सम्पत्ति अथवा सामाजिक उत्पादन की वृद्धि मे सहायक बनते हैं, उनको संरक्षण प्रदान करना आर्थिक दृष्टि से उल्लेखनीय होता है। संरक्षण पक्ष म दिए जाने वाले विभिन्न तर्कों को इसी आधार पर आर्थिक कहा जाता है। इन तर्कों का अर्थ यह है कि कुछ परिस्थितिया म संरक्षण द्वारा सामाजिक उत्पादन को बढ़ाया जा सकता है। विभिन्न आर्थिक तर्क निम्नलिखित हैं—

(i) **अल्पकालीन और दीर्घकालीन तर्क (Short run and Long run Arguments)**—संरक्षण की नीति द्वारा अल्पकालीन संक्रमण की स्थिति का सामना किया जा सकता है। *इस नीति क समर्थन मे दिए गए जिन तर्कों का विवेचन किया* जा सकता है व प्राय अल्पकालीन होत हैं। दीर्घकालीन तर्क व हैं जिनके फलस्वरूप आगे चलकर देश के उत्पादन मे वृद्धि हो जाएगी।

(ii) **सन्तुलन तथा असन्तुलन पर आधारित तर्क (Arguments based on Balance and Imbalance)**—संरक्षण नीति के समर्थक दीर्घकालीन तर्क सन्तुलन सिद्धान्त पर आधारित रहते हैं। जब एक देश विश्व व्यापार मे भाग लेता है तो उसकी अर्थव्यवस्था बाहरी तत्त्वो से पर्याप्त प्रभावित होती है, उसके सामने अनेक कठिनाइयाँ आ सकती हैं। इनके प्रभाव को कम करने के लिए संरक्षण की नीति आवश्यक बन जाती है।

(iii) ***एकाधिकार के विरुद्ध संरक्षण (The Protections against Monopoly)***—स्वतन्त्र व्यापार की स्थिति मे एक देश की अर्थ-व्यवस्था पर कई विदेशी उत्पादको का एकाधिकार हो जाता है। यह ऊँची कीमतो एव शोषण को जन्म देता है। अत संरक्षण की नीति अपनाना आवश्यक होगा ताकि एकाधिकार उस देश की अर्थ-व्यवस्था को अस्त व्यस्त न कर सकें।

(iv) आर्थिक विकास के लिए संरक्षण (Protections for Economic Development)—स्वतन्त्र व्यापार की स्थिति में एक देश की गति अनियन्त्रित रूप से आगे बढ़ती है। संरक्षण द्वारा उत्पादन तथा विनिमय की क्रियाओं को जब बदल दिया जाता है तब उत्पादन बढ़ने की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं।

(v) प्रतिकार के रूप में संरक्षण (The Protection in Retaliation)—कहा जाता है कि जब एक देश संरक्षण की नीति अपनाए हुए हो तो उसे स्वतन्त्र नीति का समर्थन नहीं करना चाहिए वरना वह लाभदायक सौदेबाजी की स्थिति में नहीं रहेगा क्योंकि उसके द्वारा पड़ोसी देशों को सुविधा नहीं दी जा सकेगी; परिणामस्वरूप वह सुविधा भी प्राप्त नहीं कर पाएगा। इसके अतिरिक्त एक तरफा स्वतन्त्र व्यापार हानिकारक रहेगा क्योंकि विदेशी प्रतियोगियों द्वारा ऐसे देश के बाजारों का शोषण किया जाएगा।

3. निरर्थक तर्क
(Non-sense Arguments)

संरक्षण की नीति के पक्ष में अनेक ऐसे तर्क दिए जाते हैं जो अर्थ की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होते फिर भी इस नीति का समर्थन करने के लिए उपयोगी माने जाते हैं। ये निम्न प्रकार हैं—

(i) रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाना (Maintenance of the Standard of Living)—संरक्षण की नीति के समर्थन में एक महत्त्वपूर्ण तर्क यह दिया जाता है कि इसके माध्यम से एक देश अपने जीवन-स्तर को बनाए रख सकेगा। संसार में विभिन्न देशों की मजदूरी का स्तर अलग-अलग होता है। विकासशील देशों में मजदूरों को बहुत कम मजदूरी प्रदान की जाती है। कहा जाता है कि एशिया में, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के कुछ देशों में श्रमिकों की दैनिक मजदूरी अमेरिका के मजदूरों को प्रति घण्टे मजदूरी से भी कम होती है। स्वय विकसित देशों के बीच मजदूरी की दृष्टि से भारी अन्तर पाया जाता है। इन अन्तरों को देखते हुए यह जरूरी हो जाता है कि जिन देशों में श्रम की कीमत कम है वहाँ के आयातित माल पर नियन्त्रण रखा जाए क्योंकि यदि ऐसा नहीं किया गया तो स्वदेशी उत्पादन सकट में पड़ जाएगा। स्वदेश में श्रमिकों की दर अधिक होने के कारण यह उत्पादन महँगा पड़ता है। विदेशी प्रतियोगिता में स्वदेशी माल पीछे न पड़ जाए इसलिए संरक्षण की नीति को अपनाना परम आवश्यक है।

आलोचना—कहा जाता है कि यह तर्क गम्भीर नहीं है क्योंकि वास्तविक व्यवहार में विश्व-बाजार में अधिक मजदूरी वाले देशों द्वारा उत्पादित वस्तुएँ प्रतियोगिता में पूर्णतः टिकती हैं। कई वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनमें मजदूरी की दर अधिक होने से उत्पादन लागत अधिक नहीं आती। जिन देशों में ऊँची मजदूरी होती है वहाँ श्रमिक की उत्पादन क्षमता भी अधिक होती है। अतः उत्पादन व्यय अधिक नहीं होता। इसके अतिरिक्त संरक्षण का यह तर्क अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त के साथ भी अनुकूलता नहीं रखता। ऊँची दर वाला श्रम निम्न दर वाले श्रम से

ही बना हुआ माल खरीदते हैं तो हमको माल तो मिलता ही है और धन भी मिलता है।'

आलोचना—यह तर्क भी कुछ अधिक महत्त्व नहीं रखता। इस मान्यता का आधार यह विश्वास है कि आयातों के कारण मुद्रा की हानि होती है। यह दोषपूर्ण है। वास्तविकता यह है कि आयातों के लिए विदेशों को भेजा गया धन शीघ्र ही स्वदेश मे लौट आता है। लौटते समय वह विदेशी धन को भी अपने साथ लाता है।

(iv) उत्पादन-लागत में समानता लाने के लिए (To equalize the Cost of Production)—संरक्षण की नीति का समर्थन करने वाले विचारकों का कहना है कि एक वैज्ञानिक आयात-कर उसे कहा जाता है जो उत्पादन-लागत को देश और विदेश मे समान कर लेता है। संयुक्त राज्य अमेरिका मे इस तर्क को पर्याप्त समर्थन प्राप्त हुआ। इसे पक्षपात-हीन तथा आपत्तिहीन माना गया।

आलोचना—यह तर्क भी अधिक गम्भीरता नहीं रखता क्योंकि हम राष्ट्रीय स्तर पर ही प्राय: उत्पादन लागत को समान नहीं कर सकते तो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कैसे कर सकेंगे। इसके अतिरिक्त यदि सभी वस्तुओं में देश-विदेश की वस्तुओं की लागत समान हो गई तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी क्योंकि व्यापार का कारण तुलनात्मक लागतों मे अन्तर होता है।

(v) क्रय शक्ति का तर्क (The Argument of Purchasing Power)—यह कहा जाता है कि जब संरक्षण की नीति को अपनाया जाता है तो इससे प्रायः सभी देश लाभान्वित होते हैं क्योंकि उपभोक्ताओं की क्रय शक्ति बढ़ जाती है और इसलिए विभिन्न उद्योगों का अधिक माल खप सकता है। औद्योगिक संरक्षण के परिणामस्वरूप कृषि-उपज के उपभोक्ताओं की क्रय शक्ति बढ़ जाएगी और कृषि-उपज के संरक्षण के परिणामस्वरूप औद्योगिक वस्तुओं की क्रय-शक्ति बढ़ जाएगी, फलतः दोनों ही लाभान्वित होंगे।

आलोचना—फ्रेड्रिक बेस्टियट (Frederic Bastiat) ने इस प्रकार के तर्कों का मजाक किया है। उन्होंने संसद् मे यह प्रार्थना की कि मोमबत्ती बनाने वालों के लिए सूर्य की विनाशकारी प्रतियोगिता के विरुद्ध संरक्षण प्रदान किया जाए। उनके इस कथन का अर्थ केवल यही था कि एक व्यवसाय को अन्य व्यवसाय के विरुद्ध संरक्षण दिया जाना न तो सम्भव है और न उपयोगी।

(vi) व्यापार सन्तुलन का सुधार (Improvement of the Balance of the Trade)—संरक्षण की नीति के समर्थन मे एक तर्क यह दिया जाता है कि इसे अपनाने पर व्यापार सन्तुलन में सुधार हो जाएगा। मुद्रा स्फीति एवं ऐसे अन्य संकटों के समय संरक्षण को पर्याप्त महत्त्वपूर्ण माना गया। सन् 1930 की आर्थिक मन्दी के परिणामस्वरूप पूर्व और मध्य यूरोप के अनेक देशों ने व्यापार सन्तुलन को सुधारने के उद्देश्यों से ही प्रशुल्कों की संख्या मे वृद्धि की।

आलोचना—आलोचकों के मतानुसार यह तर्क मुद्रा सम्बन्धी एवं विदेशी विनिमय यन्त्र को न समझने के कारण दिया जाता है। यह स्वयमेव भुगतान

सन्तुलन मे साम्य ला देता है । ऐसी स्थिति मे प्रशुल्क लगाने से कोई लाभ नही । आर्थिक मन्दी की स्थिति मे प्रशुल्क लगाने से जो आयात कम होगा वह आयात-आधिक्य को समाप्त नही कर सकता ।

(vii) बहुमुखी सरक्षण का तर्क (The Argument of all Round Protection)--जब एक वस्तु पर प्रशुल्क लगाने से अन्य की क्रय-शक्ति बढती है और इस प्रकार उत्पादन की प्रत्येक शाखा को लाभ पहुँचता है तो यह उपयोगी होगा कि प्रत्येक शाखा को सरक्षण प्रदान किया जाए । इस तर्क के अनुसार 1879 मे जर्मनी ने सरक्षण को अपनाते हुए यह नारा बुलन्द किया कि प्रत्येक गाँव और देश म राष्ट्रीय उद्योगो को सरक्षण दिया जाए ।

आलोचना--यह तर्क वैज्ञानिक नहीं है । जब उत्पादन की सभी शाखाओं को सरक्षण प्राप्त हो जाता है तो आवश्यक नही कि कर प्रणाली अच्छी हो जाएगी । इसके अतिरिक्त प्रशुल्क प्रणाली जितनी अधिक व्यापक होती है, उससे उस उद्योग को उतना ही कम लाभ मिलेगा जिसके हित म मूल रूप से प्रशुल्क लगाया गया है । प्रशुल्क की दीवार जितनी अधिक व्यापक होती है, सम्बन्धित देश विश्व अर्थ व्यवस्था मे उतना ही अधिक कट जाता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन के लाभो से वचित हो जाता है । परिणामस्वरूप सामाजिक उत्पादन घट जाएगा ।

(viii) प्रतिकारात्मक सरक्षण (Retaliatory Protection)—दूसरे देश द्वारा लगाए गए प्रशुल्को के हानिप्रद प्रभावो से बचने के लिए जो प्रशुल्क लगाए जाते है उनको प्रतिकारात्मक प्रशुल्क कहा जाता है । इस नीति के समर्थन मे यह कहा जाता है कि जब एक देश चारो ओर से सरक्षण नीति स घिरा हुआ है तो वह स्वतन्त्र व्यापार नीति का पालन नही कर सकता । ऐसा देश सौदेबाजी करने की दृष्टि से भी कमजोर रहता है क्योकि इस देश क पास सरक्षित देशो को बदले मे देने के लिए कुछ भी नही होता । जब एक देश द्वारा दूसरे देश के निर्यात पर रोक लगाई जाती है तो उसकी अर्थ व्यवस्था बिगड जाती है और बदले मे दूसरा देश भी पहले देश पर नियन्त्रण लगा देता है । एक पक्षीय स्वतन्त्र व्यापार हमेशा हानिप्रद रहता है । इस नीति को मानने वाला अकेला देश विदेशी प्रतियोगिताओं के बीच बुरी तरह स फँस जाता है । यदि वह अन्य देशो पर लगाए गए प्रशुल्को का जवाब नही देता तो पर्याप्त हानि उठानी पडती है ।

आलोचना—इस तर्क के समर्थन मे बहुत कुछ कहा गया फिर भी इसके प्रयोग तथा महत्त्व के सम्बन्ध मे अधिक कहना गलत है । आलोचको का कहना है कि प्रतिकार के रूप मे जब एक देश दूसरे देश के निर्यात पर रोक लगाता है तो इससे दोनो देशो को अधिक हानि होगी और प्रतिकार का उद्देश्य पूरा नही होगा । हैबरलर आदि के मतानुसार 'यह विचार बहुत पुराना पड चुका है कि विरोधी प्रशुल्क दीवारो से घिरा एक देश अपने भुगतान सन्तुलन को कायम नही रख सकता और इसलिए इसे छोड देना ही अच्छा रहेगा ।"[1]

1 *Mr Habarler* The Theory of International Trade, p. 250

4. कुछ गम्भीर तर्क
(Some Serious Arguments)

इस सम्बन्ध मे विचारकों ने कुछ गम्भीर तर्क भी प्रस्तुत किए हैं । ये निम्न प्रकार हैं—

(i) शिशु उद्योगों को संरक्षण (Infant Industry Protection)–सरक्षण की नीति का समर्थन करते हुए कुछ विचारको ने यह तर्क भी दिया है कि इससे बाल उद्योगो को लाभ प्राप्त होता है । यह तर्क सर्वप्रथम अलेक्जेण्डर हैमिल्टन द्वारा प्रस्तुत किया गया । सयुक्त राज्य अमेरिका मे इस विचार का प्रभाव उल्लेखनीय रहा और बाद मे फ्रेडरिक लिस्ट द्वारा इसे अपना लिया गया । इन्होने अपनी पुस्तक (The National System of Political Economy, 1840) मे उस तर्क का व्यापक रूप से स्पष्टीकरण किया है । मि. लिस्ट का विचार था कि प्रत्येक देश अपनी आर्थिक प्रगति के लिए विभिन्न दिशाओ मे होकर गुजरता है । कुछ देश दूसरों की अपेक्षा अधिक विकास कर लेते हैं किन्तु इसका कारण यह नहीं होता कि वे प्राकृतिक साधनों से सम्पन्न थे वरन् यह कि अनेक ऐतिहासिक परिस्थितियाँ उनके अनुकूल थी जिन्होने विकास की गति को बढाया । दूसरे देशो मे परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं थी और इसलिए उनका विकास रुक गया ।

अनुकूल ऐतिहासिक परिस्थितियो के कारण जो देश शीघ्र ही अपना विकास कर लेते हैं वे विश्व-बाजार मे नेता बन जाते हैं जबकि अन्य देश पिछड़ जाते हैं । इन नेता राष्ट्रो द्वारा अन्य देशों के औद्योगिक विकास मे रुकावटें डाली जाती हैं जिनके परिणामस्वरूप उनका अस्तित्व खतरे मे पड जाता है । छोटे देशो को जीवित रखने के लिए यह जरूरी है कि इन्हे देशी बाजार में संरक्षण दिया जाए । यदि ऐसा न किया गया तो विदेशी प्रतियोगिता उनको समाप्त कर देगी । इस सम्बन्ध में फ्रेड्रिक लिस्ट ने स्पष्ट रूप से कहा है कि अधिक प्रगतिशील देशों के साथ पूर्ण स्वतन्त्र प्रतियोगिता करते समय कम प्रगतिशील देश स्वयं के निजी उद्योगों को कायम नही रख सकेंगे चाहे निर्माण की समस्त सुविधाएँ उन्हे प्राप्त हैं । यह ठीक उसी प्रकार है जैसे एक बालक किसी पहलवान के साथ कुश्ती मे नही जीत सकता और न ही उसका सबल विरोध कर सकता है ।

एक नए और अर्द्ध-विकसित देश के उद्योगो की तुलना मे विकसित देश के पुराने उद्योगो को अनेक लाभ प्राप्त होने हैं; उदाहरण के लिए उसे कम मजदूरी पर अनुभवी एवं कुशल श्रमिक आसानी से प्राप्त हो सकते हैं—(i) उसके पास सभी आवश्यक मशीनें सस्ते दामों मे उपलब्ध रहती हैं, (ii) उसके क्रय-विक्रय मे सर्वाधिक मितव्ययिता होती है, (iii) उसके पास यातायात के सस्ते साधन होने हैं, (iv) वह क्रय-विक्रय मे सबसे अधिक मितव्ययिता बरतता है, (v) उसके पास अच्छे औजार और पर्याप्त मात्रा मे कच्चा माल उपलब्ध हो सकता है एवं (vi) उसे कम से कम ब्याज पर अधिक से अधिक पूंजी मिल जाती है आदि-आदि । इन्ही सब कारणों के परिणामस्वरूप प्राचीन फर्मों को नई फर्मों की अपेक्षा प्रायः अधिक लाभ प्राप्त होता

हानियाँ—शिशु उद्योगों की रक्षा का तर्क चाहे सैद्धान्तिक रूप से कितना ही स्पष्ट एवं मान्य प्रतीत होता हो किन्तु यह व्यावहारिक दृष्टि से अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न करता है। हम यह आसानी से निर्धारित नहीं कर सकते कि कौनसा उद्योग संरक्षण के उपयुक्त है और कौनसा नहीं। सैद्धान्तिक रूप से यह कहा जा सकता है कि संरक्षण केवल उसी देश को दिया जाए जो सम्भवतः प्रारम्भ में कुछ हानि उठाएगा और संरक्षण बिना जिसे स्थापित ही नहीं किया जा सकता। यह बात सैद्धान्तिक रूप से सही है किन्तु व्यावहारिक रूप में इस प्रकार के उद्योगों का ज्ञात करना अत्यन्त कठिन है।

इस सम्बन्ध में एक अन्य जटिल प्रश्न यह भी उठता है कि किस उद्योग को कितना संरक्षण प्रदान किया जाए। किसी भी उद्योग के भविष्य को नापने की समस्या जटिल है जिसे आसानी से नहीं सुलझाया जा सकता। यह ज्ञात करना बहुत कठिन है कि कौनसा उद्योग भविष्य में असफल होने की गुंजाइश रखता है और किन उद्योग के सफल होने के अवसर हैं। चयन की समस्या उस समय जटिल बन जाती है जब हम देखते हैं कि प्रत्येक नया उद्योग शिशु उद्योग का तर्क देकर संरक्षण प्राप्ति के लिए प्रार्थना करता है। उसकी इस प्रार्थना को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता क्योंकि वह उद्यम आर्थिक दृष्टि से कितना लाभदायक है इसका निर्धारण तो केवल भविष्य ही कर पाएगा। जब नवीन उद्योग के विकास की सभी आशाएँ समाप्त हो जाती हैं तो किसी अन्य तर्क के आधार पर उसके संरक्षण को जारी रखने की सिफारिश की जाती है। फलतः संरक्षण को एक बार प्रदान करने के बाद उसे रोकना असम्भव बन जाता है। इस सम्बन्ध में टावले का यह कहना पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है कि "एक बार यदि संरक्षण के दैत्य को जीवन प्रदान कर दिया गया तो यह कीड़े की तरह आर्थिक शरीर का शोषण करने लगता है और शीघ्र ही अपने निश्चित कार्य को छोड़ कर अमरत्व प्राप्त कर लेता है।"[1]

संरक्षण की नीति के विरुद्ध एक बात यह भी कही जाती है कि इसके फलस्वरूप अनुचित स्वार्थ की भावना को जन्म मिलता है और इससे प्रभावित होकर संरक्षण को हटाने का विरोध किया जाता है। कुछ लेखकों के अनुसार शिशु उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने की नीति और कुछ नहीं लेकिन अपनी अयोग्यता को ढकने का एक इरादा मात्र है। जब एक उद्योग संरक्षण हटा लेने के बाद भी कायम रहता है तो स्पष्ट है कि संरक्षण उसका मूल आधार नहीं था। संरक्षण के सहारे अनेक असमर्थ फर्मों को जिन्दा रखने का प्रयास किया जाता है जो उसके हटते ही लड़खड़ाकर गिर पड़ती है।

(ii) बेरोजगारी कम करने के लिए संरक्षण (Protection to reduce ...'oyment)—संरक्षण की नीति को अपनाने का एक कारण यह भी हो ... है कि इसके सहारे देश के विभिन्न उद्योगों में फैली हुई बेकारी को दूर किया

1 *L. W. Towel* : International Trade and Commercial Policy, p. 327.

जाए। जब तक उद्योग द्वारा उत्पादित वस्तु को विदेशों से आयात की गई वस्तुओं के साथ प्रतियोगिता करनी पड़ती है और इन वस्तुओं की माँग पूर्ण लोचदार नहीं होती तो उद्योग को बार बेरोजगारी का सामना करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में आयात की वस्तुओं पर प्रशुल्क लगाकर उस बेरोजगारी को कम करने का प्रयास किया जाता है। यह आशा की जाती है कि प्रशुल्क के परिणामस्वरूप उद्योग के उत्पादन का विकास होगा और उसके रोजगार में वृद्धि होगी। स्वतन्त्र व्यापार का समर्थन करने वाले लोगों ने भी इस तर्क को स्वीकार किया है। यहाँ सम्भावना यह भी है कि आयात उद्योगों में जितनी बेकारी घटेगी उतनी ही वह निर्यात उद्योगों में बढ़ जाएगी। ऐसी स्थिति में संरक्षण की नीति लाभदायक होने की अपेक्षा हानिकारक बन जाती है।

बेरोजगारी की स्थिति में अल्पकालीन संरक्षण दीर्घकालीन संरक्षण की अपेक्षा अधिक प्रभावशील होता है। संरक्षण नीति को अपनाते ही एक देश की बेरोजगारी की स्थिति में निश्चय ही सुधार हो जाएगा और आयात की मात्रा कम होने से देशी उत्पादन बढ़ेगा, बेकार लोगों के एक बहुत बड़े भाग को रोजगार प्राप्त होगा। हेवरलर के मतानुसार यह प्रशुल्क का केवल प्रारम्भिक प्रभाव होता है। स्वतन्त्र व्यापार के समर्थकों ने इस तर्क का विरोध करते हुए बताया है कि ऐसा संरक्षण कुल बेकारी में कमी नहीं करेगा। उनके मतानुसार आयातों पर प्रतिबन्ध लगने से निर्यातों में कमी हो जाएगी और इसलिए निर्यात उद्योगों में बेरोजगारी बढ़ेगी। संरक्षण के परिणामस्वरूप कुल बेकारी में कमी नहीं लाई जा सकती। यदि अस्थायी रूप से ही प्रबन्ध करने की समस्या हो तो संरक्षण की नीति अपनाकर बेरोजगारी को दूर करने का प्रयास किया जा सकता है किन्तु इससे अधिक आशाएँ करना गलत होगा।

आलोचकों ने स्वतन्त्र व्यापार के समर्थकों के तर्कों का भी खण्डन किया है। उनके अनुसार यह मानना गलत होगा कि आयातों पर प्रतिबन्ध के परिणामस्वरूप निर्यातों में भी एकदम उतनी ही मात्रा में कमी आएगी। मान लीजिए कमी आती है तो भी इसका अर्थ यह नहीं होता है कि इससे बेरोजगारी बढ़ेगी क्योंकि पहले देश के माल की खपत विदेशों में होती थी किन्तु अब निर्यात के घटने से वह स्वदेश में ही होने लगेगी। इस प्रकार विदेशी माँग का स्थान स्वदेशी माँग द्वारा ले लिया जाएगा। विरोधी तर्कों के होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि प्रशुल्क लगाने से अनेक ऐसे लोगों को रोजगार मिलता है जो अभी तक बेरोजगार थे।

सर्वमान्य मत यह है कि संरक्षण का रोजगार की दृष्टि से अच्छा परिणाम अल्पकालीन होता है। इसका दीर्घकालीन परिणाम जिस रूप में होता है उसे हम तीन भागों में विभाजित करते हैं क्योंकि बेरोजगारी भी तीन प्रकार की होती है। प्रथम प्रकार की बेरोजगारी संघर्ष से पैदा होती है। दूसरे प्रकार की बेरोजगारी व्यापार-चक्र से उत्पन्न होती है और तीसरे प्रकार की बेरोजगारी स्थायी बेरोजगारी होती है। इन तीनों पर प्रशुल्क लगाने का अलग-अलग प्रभाव पड़ेगा।

Technological

(म) संघर्ष से उत्पन्न बेरोजगारी (Unemployment due to Friction)—ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब प्रबन्धकों की अकुशलता के कारण या मांग के घट जाने के कारण या फर्म के दुर्भाग्य के कारण एक फर्म को अपना कारोबार बन्द करना पड़ता है। परिणामस्वरूप श्रमिक बेरोजगार हो जाते हैं। इसी प्रकार तकनीकी विकास और नई संस्थाओं तथा नए उद्योगों के विकास के कारण पुराने उद्योगों की प्रतिस्पर्द्धा करने की शक्ति कमजोर हो जाती है और उनके श्रमिक बेरोजगार होने लगते हैं। इस प्रकार की बेरोजगारी को तकनीकी बेरोजगारी भी कहते हैं। एक काम को छोड़ने के बाद दूसरा काम प्राप्त करने में समय लगता है, वह तत्काल नहीं मिल जाता। कभी-कभी काम की तलाश में दूर प्रदेशों में जाना होता है और इसमें पर्याप्त समय लगता है। परिणामस्वरूप इतने दिनों तक श्रमिक बेरोजगार रहता है। इस प्रकार की बेरोजगारी यद्यपि अस्थायी होती है किन्तु यह प्रायः प्रत्येक अर्थ-व्यवस्था में हर समय पर्याप्त मात्रा में रहती है।

विचारकों का कहना है कि इस बेरोजगारी को दूर करने में प्रशुल्क नीति पर्याप्त महत्वपूर्ण है। विदेशों से वस्तुओं की पूर्ति को रोकने के लिए और देशी उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने के लिए जब आयात कर लगा दिया जाता है तो इसके परिणामस्वरूप उद्योग में फैली बेरोजगारी कम होती है। इस साधन का प्रयोग केवल कभी-कभी ही किया जा सकता है। यदि प्रत्येक बार प्रशुल्क का सहारा लेकर ही बेरोजगारी को दूर करने का प्रयास किया गया तो इससे देश को स्थायी रूप से नुकसान होगा। अस्थायी बेरोजगारी को दूर करने के लिए जब प्रशुल्क लगाया जाता है तो उन लाभों का मिलना रुक जाता है जो अन्तर्राष्ट्रीय विभाजन के माध्यम से मिल सकते थे। यदि सभी देश इस नीति को अपनाने लगें तो परिणामस्वरूप किसी को भी लाभ नहीं होगा। यह तरीका केवल अस्थायी समायोजन करता है।

(ब) व्यापार चक्र से उत्पन्न होने वाली बेरोजगारी (Cyclical Unemployment)—प्रत्येक पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में व्यापार-चक्र चलता रहता है और इसके परिणामस्वरूप देश में बेकारी फैल जाती है। इस प्रकार की बेरोजगारी (बेकारी) प्रायः सभी देशों के सभी उद्योगों में पाई जाती है। हम प्रशुल्क नीति अपनाकर यद्यपि बेरोजगारी को थोड़ा कम कर सकते हैं फिर भी इसमें स्थाई हानि होने की सम्भावना रहती है। संरक्षण की नीति व्यापार चक्रों द्वारा होने वाली बेरोजगारी को पूरी तरह समाप्त नहीं कर पाती है।

(स) स्थायी बेरोजगारी (Permanent Un-employment)—स्थायी बेरोजगारी की समस्या को संरक्षण की नीति द्वारा कुछ मात्रा तक हल किया जा सकता है। स्थायी बेरोजगारी प्रायः मजदूरी की अत्यधिक ऊंची दर के कारण होती है और इसलिए बहुत ऊंचे प्रशुल्क लगाकर ऐसी बेरोजगारी को कम किया जा सकता है। स्थायी बेरोजगारी को दूर करने के लिए अनेक उद्योगों को संरक्षण देना जरूरी हो जाता है किन्तु इससे खतरा यह है कि अन्य देश प्रतिकारात्मक उपाय अपना सकते हैं जिसके परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाले लाभ कम हो जाएंगे। संरक्षण की

नीति प्राय उस समय प्रभावशील होती है जब बेरोजगारी निर्यात उद्योगो मे हो। जब निर्यात उद्योगो मे बेरोजगारी फैलती है तो उसे समाप्त करने के लिए आयात नीति अधिक प्रभावशील नही रहती क्योकि इसके परिणामस्वरूप निर्यातो मे कमी होकर बेकारी अधिक बढ जाती है।

सरक्षण की नीति और बेरोजगारी के बीच स्थित सम्बन्ध पर विचार करने के बाद निष्कर्ष यह आता है कि यदि बेरोजगारी सामान्य और स्थायी है तो उसे दूर करने के लिए या तो मजदूरी का स्तर गिराया जाए अथवा तकनीकी प्रगति होने तक के लिए प्रतीक्षा की जाए। दूसरे, यदि बेरोजगारी व्यापार चक्र से पैदा हुई है तो कुछ समय बाद वह स्वत ही समाप्त हो जाएगी। तीसरे, यदि बेरोजगारी किसी एक उद्योग म है तो उसे दूर करने के लिए अर्थ व्यवस्था के दूसरे भागो की सहायता ली जा सकती है।

(iii) व्यापार कीमतों मे सुधार के लिए सरक्षण (Protection to Improve the Terms of Trade)—सरक्षण नीति का समर्थन इसलिए भी किया जाता है ताकि जिन देशो के माल का आयात किया जाता है उनम कीमतो को गिराया जा सके। ऐसा हो जाने पर वह देश अधिक अच्छी शर्तों पर आयात करने मे समर्थ हो सकेगा। आयात के मूल्य की कमी उसकी पूर्ति की दशाओ पर निर्भर करती है। जब निर्यातकर्ता देश मे वस्तुओ की पूर्ति अधिक लोचदार होती है तो आयात पर लगाए गए कर के परिणामस्वरूप उनकी कीमतो मे बहुत कम कमी होती है अथवा होती ही नही है। पूर्ति के बेलोचदार होने पर भी आयात कम होने से कीमतें कम हो सकती हैं।

सरक्षण की नीति अनुकूल व्यापार शर्तों को प्राप्त करने मे सहायक होगी, यह निश्चित नही है। आयात कर मे वृद्धि के परिणामस्वरूप यह भी हो सकता है कि उत्पादन के साधन अनार्थिक उत्पादन की ओर बढ जाएँ अथवा उपभोक्ताओ की सन्तुष्टि कम हो जाए। ऐसी स्थिति मे आयात-कर लगाने का लाभ बहुत कम हो जाएगा। यहाँ एक बात ध्यान मे रखने की और भी है—यदि हमने अन्य देशो से होने वाले आयात पर ज्यादा प्रशुल्क लगाया तो इसकी प्रतिक्रिया के रूप मे दूसरे देश भी अपने आयातो पर प्रशुल्क लगा सकते हैं।

(iv) सौदेबाजी के लिए सरक्षण (The Protection for Bargaining)—सरक्षण की नीति के पक्ष मे एक तर्क यह दिया जाता है कि इसके माध्यम से एक देश अन्य देश से रियायतें प्राप्त करने म सफल हो जाता है। यदि एक देश ने सरक्षणात्मक कर लगा रखे है तो वह इनका प्रयोग करते हुए दूसरे देश को कुछ रियायतें दे सकता है और इस प्रकार उसे अपने अनुकूल प्रभावित कर सकता है, किन्तु जिस देश के पास इन रियायतो के बदले देने के लिए कुछ नही रहना उसके लिए विदेशी बाजार बन्द हो जाता है। सरक्षण की नीति के रहने पर ही लेन-देन के समय एक देश द्वारा दूसरे देश के आयात करो मे कमी की माँग की जा सकती है।

आलोचकों का कहना है कि इससे प्राप्त होने वाला लाभ या तो केवल स्वतन्त्र व्यापार वाले देशों को होता है अथवा उन देशों को जिनमें आयात कर कम हैं। सौदेबाजी के लिए लगाए जाने वाले इस प्रकार के करो के फलस्वरूप कुछ निहित स्वार्थ पैदा हो जाते हैं जो इन करो का विरोध करते हैं। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के सरक्षणो का प्रयोग विदेशो से रियायत प्राप्त करने की अपेक्षा स्वदेशी सरकार से अधिक सरक्षण प्राप्त करने के लिए भी किया जा सकता है।

(v) संकटकाल एवं बाजार की सुरक्षा के लिए संरक्षण (Protection in Emergency and to Ensure the Market)—विचारको का कहना है कि सरक्षण की नीति उद्योग की किसी विशेष शाखा मे आने वाले अस्थायी संकट को कम या समाप्त करने के लिए अपनाई जा सकती है। अनेक बार विभिन्न कारणों से देश मे आर्थिक सकट पैदा हो जाता है। उदाहरण के लिए यदि विश्व में कृषि-उत्पादन अच्छा हुआ है और देश मे कम तो इससे संकट की स्थिति उत्पन्न होगी। इसका निपटारा करने के लिए करों की मात्रा बढ़ाई जा सकती है। किसी कारण से जब एक उद्योग के हाथ से विदेशी व्यापार छूट जाता है अथवा आयात की मात्रा बढ जाती है तो सकट काल प्रारम्भ हो जाता है। इसे आयात-कर लगाकर कम किया जा सकता है।

आलोचको का कहना है कि सकटकाल का सामना करने के लिए अस्थायी रूप से जिस सरक्षण की रचना की जाती है उसको बाद मे समाप्त करना बहुत कठिन हो जाता है। अतः सरक्षण की स्थापना करते समय पर्याप्त सजगता तथा बुद्धिमता से काम लिया जाए। कई बार यह कहा जाता है कि सकटकालीन संरक्षण लाभ की अपेक्षा हानि का कारण अधिक है और इसलिए इसका प्रयोग पर्याप्त सावधानी से करना चाहिए।

(vi) राशिपातन को रोकने के लिए संरक्षण (Protection to Prevent Dumping)—कई बार विदेशी व्यापारी स्वदेशी उत्पादन को नीचा दिखाने के लिए राशिपातन की नीति अपनाते हैं। इसके अनुसार वे विदेश मे किसी वस्तु को ऐसे मूल्य मे बेचते हैं जो स्वदेशी की अपेक्षा कम होता है। इस प्रकार स्वदेशी उद्योग प्रतिस्पर्धा मे टिक नहीं पाते। इस प्रकार का तर्क वे व्यापारी देते हैं जो प्रतिस्पर्धा नहीं चाहते।

इस तर्क के सम्बन्ध मे भी कुछ कठिनाइयाँ हैं—(1) राशिपातन का अर्थ स्पष्ट नहीं है। (2) यदि राशिपातन स्थायी है तो यह नुकसानप्रद होने की अपेक्षा उपभोक्ताओं के लिए लाभदायक हो सकता है। ऐसी स्थिति मे यह जरूरी है कि राशिपातन की प्रकृति पर विचार करने के बाद ही प्रशुल्क लगाना चाहिए। राशिपातन जब कभी यत्रतान्त्रिक (Sporadic) होता है तो वह देश की अर्थ-व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर सकता है। दूसरी ओर यह स्थानीय फर्मों के लिए घातक है। राशिपातन के परिणामस्वरूप उपभोक्ताओ को प्राप्त होने वाला लाभ अस्थायी और थोड़े समय के लिए होता है किन्तु व्यवसायो पर इसका प्रभाव दीर्घकालीन होता है।

(vii) असन्तुलित अर्थ व्यवस्था के लिए संरक्षण (Protection for an Unbalanced Economy)—असन्तुलित अर्थ व्यवस्था वह होती है जिसमें निर्मित वस्तुओं के उत्पादन एवं कृषि उत्पादन में पर्याप्त अन्तर रहता है तथा देश के आयात निर्यात के बीच गहरी खाई रहती है। इस असन्तुलन को दूर करने के लिए संरक्षण की नीति को अपनाया जाता है। जब कृषि-प्रधान देशों का औद्योगीकरण किया जाता है तो इनके व्यापार संगठन में परिवर्तन आ जाते हैं। यह औद्योगीकरण कई स्तरों में प्राप्त किया जाता है। प्रारम्भ में प्राप्त घटिया स्तर की चीजें बनती हैं जिनमें कुशल श्रम की कोई आवश्यकता नहीं होती। ऐसा देश अपरिष्कृत कच्चे माल को मँगाता है और बदले में अर्द्ध-निर्मित वस्तुएँ भेजता है। इस प्रक्रिया में यातायात-व्यय बहुत कम लगता है। नए देश के आर्थिक विकास के साथ साथ पुराने औद्योगिक देशों में भी तकनीकी विकास चलता रहता है और ऐसी स्थिति में विकासशील देश को उत्तम किस्म की चीजें यन्त्र आदि का आयात करना होता है। यह कहा जाता है कि पूंजी तथा उत्पादन के साधनों का निर्यात किसी देश की औद्योगिक कमी का प्रयोग नहीं है वरन् यह एक लाभदायक विनिमय है।

कुछ विचारकों का कहना है कि निर्मित वस्तुएँ तथा कच्चे माल का आदान-प्रदान एक दिन समाप्त हो जाएगा। यदि कृषि-प्रधान देशों ने संरक्षण की नीति अपनाई तो स्वाभाविक विकास की यह गति और भी बढ़ जाएगी। इस प्रकार पुराने औद्योगिक केन्द्र कम निर्यात करने लगेंगे।

(viii) उत्पत्ति के साधनों के आयात के लिए संरक्षण (Protection for import of means of Production)—संरक्षण द्वारा देश में पूंजी को आकर्षित किया जा सकता है। इसके समर्थन में अनेक प्रमाण प्रस्तुत किए जाते हैं। इस संरक्षण के परिणामस्वरूप ही संयुक्तराज्य अमरिका में ब्रिटिश फर्मों ने अपनी शाखाएँ खोली। इस प्रकार यह सही है कि संरक्षण को लागू करने पर या उसकी मात्रा बढ़ा देने पर देश में पूंजी का आयात होता है। मि० शूलर ने यह विचार प्रकट किया है कि स्वतन्त्र व्यापार सिद्धान्त की यह कल्पना पूर्णत गलत थी कि संरक्षण द्वारा उत्पादन का सदैव ही अविवेकपूर्ण स्थानान्तरण किया जाता है तथा इसके द्वारा सामाजिक उत्पादन में वृद्धि नहीं की जाती।

शूलर का मत था कि संरक्षण द्वारा उत्पादन के उपलब्ध साधनों को बढ़ाया जा सकता है। संरक्षण की नीति उन साधनों के उपयोग का अवसर प्रदान करती है जो अभी तक बेकार पड़े थे। इसके अतिरिक्त संरक्षण द्वारा उत्पादन के विभिन्न साधनों को विदेशों से आकर्षित भी किया जाता है। शूलर लिखते हैं कि किसी भी देश में श्रम शक्ति का आकार निश्चित नहीं होता क्योंकि श्रमिकों की संख्या उत्पादन की सुविधा के अनुसार अधिक और कम होती रहती है। देश के उत्पादन का आकार केवल देश की पूंजी तक ही सीमित नहीं रहता वरन् विदेशों की पूंजी भी आवश्यकता के अनुसार आ सकती है किन्तु तभी जबकि देश में उसके अनुकूल वातावरण हो। यद्यपि पूंजी के आवागमन के साथ अनेक कठिनाइयाँ जुड़ी हुई हैं फिर भी वास्तविक व्यवहार में इसका आयात सम्भावित मात्रा में होता है।

कुछ सम्भावित हानियाँ
(Some Probable Demerits)

संरक्षण की नीति के पक्ष मे दिए जाने वाले तर्कों का अध्ययन करने के बाद स्पष्ट हो जाता है कि यह नीति एक अर्थ-व्यवस्था की रक्षा एवं विकास के लिए जरूरी है। इतने पर भी आलोचकों ने इसकी जिन विभिन्न कमियों का उल्लेख किया है उनको ध्यान मे रखते हुए यह कहा जा सकता है कि सरक्षण की नीति कोई आदर्श नीति नही है वरन् यह विशेष परिस्थितियो मे अपनाई जाने वाली एक मजबूरी का प्रतीक है। इस नीति के विभिन्न लाभो एव उपयोगों के अतिरिक्त अनेक हानियो का भी वर्णन किया जा सकता है—

(1) इसके द्वारा अधिकतम सामाजिक उत्पादन असम्भव बन जाता है क्योंकि यह देश के उद्योगो को केवल नकारात्मक सहयोग प्रदान करती है। आयात की वस्तुओ पर प्रतिबन्ध लगाकर यह स्वदेशी वस्तुओ की प्रतिस्पर्द्धा को कम करती है। इसके कारण स्वदेशी उद्योग अपनी कुछ समस्याओ से मुक्ति अवश्य पा सकते हैं किन्तु वे अपने उत्पादन को विधायी रूप से नही बढा सकते।

(2) सरक्षण की नीति दुर्बल उद्योगो की स्थापना को प्रोत्साहित करती है। यह असमर्थ एव प्रतिस्पर्द्धा मे टिकने की शक्ति न रखने वाले उद्योगो को सहारा प्रदान करके उन्हे जैसे-तैसे बने रहने के लिए प्रोत्साहित करती है। यदि इन दुर्बल उद्योगो से सरक्षण हटा लिया जाए तो ये समाप्त हो जाएँगे। असमर्थ उद्योगो को बनाए रखना निश्चय ही समर्थ उद्योगों के हित के विपरीत है।

(3) संरक्षण की नीति के फलस्वरूप आयात की वस्तुओ के मूल्य मे वृद्धि हो जाती है और इस प्रकार देश के उपभोक्ताओ की हानि होती है।

(4) यह नीति देश मे विभिन्न प्रकार से भ्रष्टाचार को पनपने का अवसर देती है।

(5) इसके फलस्वरूप एकाधिकारो की स्थापना को प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि प्रतिस्पर्धा मे विदेशी व्यापार को पीछे हटा दिया जाता है और देशी उत्पादन चाहे किसी भी स्तर का और किसी भी कीमत का हो, सामने लाया जाता है। एकाधिकार की प्रवृत्ति अनेक प्रकार से हानिकारक सिद्ध होती है। इससे स्वदेशी व्यापारियो को मनमानी करने के लिए प्रोत्साहन मिलता है।

(6) जब निश्चित लाभ की मात्रा सुरक्षित हो जाती है तो उद्योगो मे शिथिलता आने लगती है अर्थात् सरक्षण की नीति को अपनाकर जब विशेष उद्योगों को प्रतिस्पर्धा के तीखे प्रहारो से बचाने का प्रयास किया जाता है तो ये उद्योग स्वयं को आगे बढ़ाने मे शिथिलता का अनुभव करने लगते हैं। उनके सामने कोई चुनौती या प्रतियोगिता नहीं रहती जिसके कारण वे अपने उत्पादन के स्तर को ऊँचा उठाने की सोचें। जब उन्हे यह ज्ञात है कि लाभ की एक निर्धारित मात्रा सरकारी सरक्षण की छाया मे उनको मिलकर रहेगी तो वे अपने विकास की चिन्ता करने की तकलीफ नही उठाते।

(7) यह नीति अदृश्य करो की मात्रा को बढ़ाकर निर्धन व्यक्तियों के कर भार को कई गुना कर देती है और इस प्रकार समाज में धन वितरण की असमानता बढ़ जाती है।

(8) इस नीति के कारण राष्ट्रों के बीच के सम्बन्ध कटु बन जाते हैं। उनकी प्रतिद्वन्दिता मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों में जहर घोल देती है। इन सबके अतिरिक्त संरक्षण की नीति का एक गलत प्रभाव यह भी होता है कि इसके द्वारा विदेशी व्यापार की मात्रा कम हो जाती है क्योंकि जब एक देश अपने आयात पर प्रतिबन्ध लगाता है तो दूसरे देश में प्रतिक्रिया स्वरूप उनके निर्यात पर प्रतिबन्ध लग जाते हैं। इन सबका परिणाम यह निकलता है कि विदेश व्यापार की मात्रा घट जाती है।

स्पष्ट है कि संरक्षण की नीति केवल उपयोगी नहीं है वरन् इसका विपरीत पक्ष भी है। यदि इसका अनुचित रूप से प्रयोग किया गया तो यह नीति आर्थिक विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया को अस्त व्यस्त कर सकती है। निकल्सन के मतानुसार, स्वतन्त्र व्यापार ईमानदारी की भाँति अभी भी सर्वश्रेष्ठ नीति है।" एगवर्थ ने लिखा है कि संरक्षण की नीति कुछ मामलों में उपयोगी हो सकती है यदि वहाँ की सरकार उनको अलग करने की बुद्धि तथा तदनुसार व्यवहार करने का साहस रखती हो। यह शर्त प्रायः पूरी नहीं हो पाती।'

उपभोक्ता वस्तुओं पर यदि अत्यधिक प्रतिबन्ध लगा दिए जाएँ तो मुद्रा प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और इस प्रकार सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था का स्थायित्व खतरे में पड़ जाता है। आयात की वस्तुओं पर होने वाला व्यय घरेलू अथवा निर्यात योग्य वस्तुओं की ओर मुड़ जाता है। प्रथम से मुद्रा-प्रसार और द्वितीय से विदेशी मुद्रा की आय में कमी हो जाती है। विश्व-व्यापार से होने वाली प्राप्तियाँ कम हो जाती हैं और विश्व के आर्थिक कल्याण की क्षति होती है। यदि घरेलू तथा निर्यात योग्य वस्तुओं की पूर्ति पर्याप्त लोचशील है तो मुद्रा प्रसार अथवा निर्यात में गिरावट नहीं होगी।

आयात-प्रतिबन्धों में यदि समय-समय पर परिवर्तन आते रहते हैं तो इसके फलस्वरूप आयात-कर्त्ता पहले से ही बहुत बड़ी खरीददारियाँ कर लेते हैं। इससे न केवल भुगतान सन्तुलन की समस्या उत्पन्न होती है वरन् निवेश भी उत्पादक उद्यमों से हट जाता है। संरक्षण अपने आप में पर्याप्त नहीं है। यह विकास के लिए अवसर प्रदान करता है। उद्योगों की स्थापना एवं कुशल संचालन द्वारा इन अवसरों का प्रयोग करके ही वास्तव में विकास किया जा सकता है। नए उद्योगों के संचालन के लिए बड़ी पूँजी चाहिए, अधिकांश अर्द्ध विकसित देशों में यह नहीं होती। फलतः संरक्षण की नीति हानिप्रद सिद्ध होती है। रोजगार वृद्धि की दृष्टि से भी ये प्रतिबन्ध अधिक सहायक नहीं होते। इनसे विकसित देशों के भुगतान सन्तुलन का आधिक्य कम होता है और अर्द्ध विकसित देशों में निवेश नहीं कर पाते।

अर्द्ध विकसित अर्थ-व्यवस्था में संरक्षण के कारण
(The Cause for Protection in Less Developed Economies)

विकसित अर्थ-व्यवस्था अर्द्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्था की आर्थिक समस्याएं अलग अलग होती हैं और विकसित तथा अर्द्ध-विकसित देशों के सन्दर्भ में अपनाई

जाने वाली आर्थिक नीति मौलिक रूप से परस्पर भिन्न होती है। अतः विकासशील देशों में अपनाई जाने वाली व्यापारिक-नीति अर्द्ध-विकसित देशों में प्रत्यारोपित नहीं की जा सकती। इन देशों की प्रमुख समस्या आर्थिक विकास की है। इसलिए इन देशों के सन्दर्भ में वही व्यापारिक-नीति अधिक उपयुक्त होगी जो कि आर्थिक विकास की गति को तीव्र कर सके।

अर्द्ध-विकसित देशों की समस्याओं को ध्यान मे रखते हुए आर्थिक-विकास के सन्दर्भ मे व्यापारिक-नीति की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—"व्यापारिक-नीति आर्थिक-नीति का वह अंग है जिसका सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय-आर्थिक-सम्बन्धों के इस प्रकार नियमन से है जिससे (अ) अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार से अधिकाधिक लाभ मिल सके, (ब) देश मे औद्योगीकरण को प्रोत्साहन मिले, (स) पूंजी-निर्माण की दर मे वृद्धि हो, तथा (द) भुगतान के सन्तुलन मे अत्यधिक निर्यात के स्तर पर साम्य की स्थिति प्राप्त हो सके।'

नीति का स्वरूप

अब प्रश्न यह उठता है कि अर्द्ध-विकसित देशों मे स्वतन्त्र-व्यापार नीति का अनुकरण किया जाए या संरक्षण-नीति का। स्वतन्त्र व्यापार नीति का प्रतिपादन प्रतिष्ठित अर्थ-शास्त्रियों ने किया था। उनका मत था कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न हो तो सम्पूर्ण विश्व के उत्पादन मे वृद्धि होगी। प्रतिष्ठित अर्थ-शास्त्रियों का यह मत मुख्यतया तुलनात्मक लागत सिद्धान्त पर आधारित है। तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त कुछ मान्यताओं पर आधारित है। इस सिद्धान्त की ये मान्यताएं उचित नहीं है कि विकास के प्रसंग मे संसाधनों की पूर्ति निश्चित है। रुचियां स्थिर हैं, तकनीकी ज्ञान पहले से ही विद्यमान है, पूंजी का अन्तर्राष्ट्रीय आवागमन शून्य है, पूर्ण रोजगार व पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति विद्यमान है तथा इसके साथ-साथ आयात और निर्यात परस्पर बराबर हैं। इस सिद्धान्त की मान्यताएँ ही इसको स्थैतिक रूप प्रदान करती हैं और यह स्पष्ट करती हैं कि यह सिद्धान्त व्यवहार से बहुत दूर है। स्पष्टत: चूंकि तुलनात्मक-लागत का सिद्धान्त आर्थिक-विकास की पृष्ठभूमि पर आधारित नहीं है, इसलिए इसे विकासशील देशों मे स्वीकार नहीं किया जा सकता। सत्य तो यह है कि इस सिद्धान्त की मान्यताएँ ही अर्द्ध-विकसित राष्ट्र की समस्याएँ हैं। इन देशों मे बेरोजगारी की समस्या बडी विकराल है, इसलिए समस्या पूर्ण रोजगार की प्राप्ति की है, अतः पूर्ण रोजगार की मान्यता सर्वथा गलत है। इन देशों की समस्या एक निश्चित उत्पादन-फलन पर चलने की नहीं है बल्कि उसी में परिवर्तन की है। इन देशों में उत्पादन के साधनों का उचित विदोहन नहीं हो पाता, इसलिए प्रयास सदैव यही रहता है कि नई तकनीकी के द्वारा उत्पादन के साधनों का विकास हो।

संक्षेप मे, चूंकि स्वतन्त्र-व्यापारिक-नीति जिन मान्यताओं पर आधारित है वे आर्थिक-विकास के सन्दर्भ मे नहीं बल्कि एक अर्थ में आर्थिक-विकास के पश्चात् की अवस्था की प्राप्ति के ऊपर आधारित हैं, इसीलिए स्वतन्त्र-व्यापारिक-नीति का अर्द्ध-विकसित देशों के विकास के संदर्भ में कोई महत्त्व नहीं है।

है। अमेरिकन उद्योगों के शिशु अवस्था में होने के कारण वहां की आर्थिक स्थिति अन्य देशों की अपेक्षा उतनी अच्छी नहीं थी। इसीलिए उसने अमेरिका के लिए सीमित संरक्षण की नीति का समर्थन किया था। वस्तुतः देश में निर्माण उद्योगों के विकास के लिए संरक्षण के पक्ष में गम्भीर व तार्किक तर्क फ्रेडरिक लिस्ट ने ही प्रस्तुत किया था। अमेरिकन संरक्षण-नीति के आधार पर लिस्ट ने जर्मनी में निर्माण उद्योगों के विकास के लिए संरक्षण-नीति का समर्थन किया। औद्योगीकरण के लिए आवश्यक साधन पर्याप्त मात्रा में होते हुए भी जर्मन उद्योगों के अविकसित अवस्था में बने रहने का एकमात्र कारण यह था कि इन उद्योगों को इंग्लैण्ड के विकसित उद्योगों से प्रतियोगिता करनी पड़ती थी। लिस्ट इस सत्य से भली-भांति परिचित थे कि जो स्वतन्त्र व्यापार की नीति इंग्लैण्ड के लिए समृद्धि का स्रोत थी वही नीति जर्मनी के आर्थिक तथा औद्योगिक विकास के लिए अभिशाप हो रही थी। लिस्ट के विचारानुसार संरक्षण एक अर्द्ध-विकसित राष्ट्र के औद्योगिक तथा आर्थिक विकास की कुञ्जी है। लिस्ट के अनुसार, "राष्ट्र के उत्पादक-साधनों में निर्माण उद्योग सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इन्हीं से राष्ट्र की नैतिक-शक्तियों का अन्ततः विकास होता है। उसके अनुसार उसके समय की सबसे बड़ी आवश्यकता यह थी कि निर्माण उद्योगों को प्रोत्साहित किया जाए।" लिस्ट के लिए उद्योग एक महान् सामाजिक शक्ति है जो पूंजी और श्रम को जन्म देती है। यदि इनकी स्थापना के लिए राष्ट्र को वर्तमान में त्याग भी करना पड़े तो यह मूल्य अधिक नहीं है। उसने बार-बार कहा है कि केवल निर्माण उद्योगों की समृद्धि पर ही जहाजरानी आन्तरिक एवं विदेशी-व्यापार तथा कृषि की समृद्धि निर्भर करती है। लिस्ट का विश्वास था कि यदि कोई देश उचित समय पर निर्माण उद्योगों का सचार कर देता है तो कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन-शक्ति एक-दूसरे को बढ़ावा देने में सहायता करेगी। लिस्ट ने कृषि पर निर्भर रहने वाले राष्ट्रों की तुलना केवल एक हाथ रखने वाले व्यक्ति से की है। निर्माण उद्योग विज्ञान तथा ललितकलाओं के शिशु भी हैं और साथ ही उसका पालन-पोषण भी करते हैं।

प्रश्न यह उठता है कि निर्माण उद्योगों का विकास किस प्रकार होगा? एडम स्मिथ एवं प्रतिष्ठित लेखकों का मत था कि श्रम तथा बचत से उद्योग उत्पन्न होते हैं और वे कुछ समय बाद स्वयं विकसित हो जाएंगे। किन्तु लिस्ट ने संरक्षण साधनों की सहायता से एक नियोजित आधार पर निर्माण उद्योगों का विकास करने को कहा।

इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा है, "यह सत्य है कि अनुभव यह सिखाता है कि हवा एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में बीजों को उड़ाकर ले जाती है और इस प्रकार बंजर स्थान घने जंगलों में परिवर्तित हो गए, किन्तु क्या जंगल के अफसर के लिए यह उचित होगा कि वह उस समय तक प्रतीक्षा करता रहे जब तक कि हवा के चलने से पर्याप्त समय में यह परिवर्तन सम्भव हो सके?"

लिस्ट का मत है कि संरक्षण नीति साधारण प्रकार की आर्थिक-नीति नहीं है जिसकी सुविधा सभी देशों को अथवा किसी देश को सब समय प्राप्त हो सकती

है। विकसित देशों का इस संरक्षण से कोई सम्बन्ध नहीं है। केवल अर्द्ध विकसित देश ही इस संरक्षण की सुविधा को प्राप्त करके इसके द्वारा अपना औद्योगिक विकास कर सकते हैं। इतना ही नहीं बल्कि अर्द्ध विकसित देशों को भी यह अधिकार सदा के लिए प्राप्त नहीं है। यह सुविधा एक शर्त युक्त सुविधा है, जिसका प्रयोग केवल उसी समय तक किया जा सकता है जब तक राष्ट्र के उद्योग सुदृढ़ नहीं हो जाते हैं। इस प्रकार लिस्ट के अनुसार विकास को निम्न अवस्था से निकाल कर, उच्च अवस्था तक पहुँचाने के लिए संरक्षण एक महत्त्वपूर्ण साधन है। लिस्ट ने स्वयं अपने इस संरक्षण की विशेषताओं की निम्नलिखित प्रकार की व्याख्या की है—

(अ) संरक्षण-प्रणाली उसी समय न्यायसंगत हो सकती है जबकि उसका उद्देश्य राष्ट्र को औद्योगिक शिक्षा प्रदान करना हो। ऐसी दशा में यह स्पष्ट है कि इंग्लैण्ड जैसा विकसित राष्ट्र, जहाँ औद्योगिक शिक्षा का पूर्ण प्रसार हो चुका है, के लिए यह नीति उपयुक्त नहीं है।

(ब) संरक्षण-नीति केवल उन्हीं राष्ट्रों को अपनानी चाहिए, जो शक्तिशाली औद्योगिक राष्ट्रों से बड़ी प्रतियोगिता का सामना कर रहे हों।

(स) किसी भी राष्ट्र की आर्थिक-नीति में संरक्षण को एक स्थायी स्थान नहीं प्रदान किया जाना चाहिए अर्थात् संरक्षण केवल उतने ही समय तक प्रदान किया जाना चाहिए जब तक वह उद्योग सुदृढ़ नहीं बन जाता है।

(द) कृषि को कभी भी संरक्षण नहीं देना चाहिए क्योंकि एक ओर तो कृषि सम्पन्नता स्वयं औद्योगिक सम्पन्नता पर निर्भर करती है और दूसरी ओर यदि कृषि को संरक्षण प्रदान किया जाएगा तो खाद्य सामग्री तथा अन्य औद्योगिक कच्ची सामग्री की कीमतों में वृद्धि होगी, जो स्वयं राष्ट्र के उद्योगों के विकास के लिए घातक सिद्ध होगी।

(2) शिशु उद्योग—विकासशील देश में शिशु उद्योगों का संरक्षण एक अनिवार्यता है, क्योंकि संरक्षण के बिना वे उद्योग कभी भी विकसित होने में समय नहीं हो सकते है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने स्वतन्त्र व्यापार का समर्थन करते हुए भी शिशु उद्योगों के लिए संरक्षण आवश्यक माना है। पीगू के मतानुसार 'ऐसी कृषि प्रधान अर्थ-व्यवस्था में, जिसमें उद्योगों के लिए प्राकृतिक सुविधाएँ उपलब्ध हों, उत्पादन-शक्ति के निर्माण के दृष्टिकोण से संरक्षण के पक्ष में दी गई दलील मजबूत और ठोस है। ऐसे देश में विदेशी वस्तुओं के साथ देशी वस्तुओं के विनिमय पर रोक लगाने से होने वाली हानि की अपेक्षा वह लाभ अधिक होगा जो देश की औद्योगिक शक्ति के अधिक तीव्र विकास से उत्पन्न होगा।" अब यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाकर देश के उद्योगों के लिए विदेशी-प्रतियोगिता न्यूनतम की जा सके और पिछड़े हुए कृषि प्रधान देश अपना औद्योगिक विकास कर सकें तो अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाना युक्तिपूर्ण और तर्कसंगत होगा। वास्तव में संरक्षण ने आधुनिक औद्योगीकरण के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। अधिकांशत प्रत्येक औद्योगिक राष्ट्र को अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाने के लिए एक अल्पकालीन अवधि तक अपने उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से

संरक्षण द्वारा ही बचाया जाता है। अतः यह आसानी से कहा जा सकता है कि संरक्षण के द्वारा प्राकृतिक साधनों, मानवीय योग्यता व दूरदर्शिता को भली प्रकार उपयोगी बनाता है।

एनके व सलेरा के मतानुसार शिशु-उद्योगों के संरक्षण प्रदान करने के लिए तीन शर्तें आवश्यक होती हैं—

(i) वे उद्योग संरक्षण के लिए योग्य हैं, जो कि दीर्घकाल में आत्म-निर्भर हो जाएँगे,

(ii) ऐसे उद्योगों जिन्होंने प्रारम्भिक काल में काफी नुकसान उठाया हो, तथा

(iii) ऐसे उद्योग जिनका संरक्षण के अभाव में स्थापित करना ही असम्भव हो। परन्तु विकासशील देशों में प्रत्येक उद्योग के लिए पृथक् से संरक्षण की माँग का अध्ययन करना उचित नहीं माना जाता है क्योंकि संरक्षण के लिए यदि प्रत्येक उद्योग का व्यक्तिगत तौर पर अध्ययन किया जाएगा तो दीर्घकाल में भी उनके अपने पैरों पर खड़े होने की सम्भावना बहुत ही कम हो जाएगी। विकासशील राष्ट्रों में उद्योग अपने पैरों पर तभी खड़े हो सकते हैं जबकि बहुत से उद्योगों का एक साथ विकास किया जाए तथा देश की आर्थिक संरचना व सामाजिक वातावरण में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए जाएँ क्योंकि प्रत्येक उद्योग कुछ न कुछ ऐसी बाहरी मितव्ययिताएँ उत्पन्न करता है, जो किसी दूसरे उद्योगों के विकास व सफलता के लिए अवसर प्रदान करती है। जैसे कि लोहा, इस्पात, रेल तथा उर्वरक आदि उद्योगों के विकास से अन्य उद्योगों को सस्ती दरों पर कच्चे माल आदि अन्य साधन कम मूल्य पर आसानी से उपलब्ध होने लगेंगे जिससे इनका विकास तीव्र गति से होने लगेगा। जिससे ये जल्दी ही अपने पैरों पर खड़े हो जाएंगे। इसीलिए प्रो. लकड़ावाला ने विकासशील राष्ट्रों में किसी उद्योग विशेष की अपने पैरों पर खड़े होने की सम्भावना के आधार पर पृथक् से संरक्षण की माँग का अध्ययन का विरोध करते हुए उन्होंने कहा कि संरक्षण का अध्ययन उस औद्योगिक वातावरण में करना चाहिए जिसमें कि उद्योगों के लिए बाहरी मितव्ययिताएँ उपलब्ध होती हैं। परन्तु निकोलस कालडोर का मत है कि "जब तक उत्पादन-लागतें एवं बाह्य-मितव्ययिताओं की मात्राएँ भविष्य में बदलती रहेंगी तब तक उपयुक्त शिशु-उद्योगों का सही चुनाव करना अनिश्चित ही रहेगा। अतः कुछ विशेष उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए काफी मात्रा में चयनात्मक टैरिफ लगाने से अधिक कार्य साधक बात यह होगी कि सारे औद्योगिक-उत्पादनों पर समान रूप से यथा-मूल्य-शुल्क (Ad valorem duties) लगा दिया जाए और उसके बाद शिशु-उद्योगों के चुनाव का बाजार के बलों पर छोड़ दिया जाए।"

(3) व्यापार शर्तों में सुधार—आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में संरक्षण के फलस्वरूप व्यापार की शर्तों में सुधार होता है। एक विकासशील देश के पक्ष में व्यापार शर्तों में सुधार राष्ट्रीय आय की वृद्धि के समान है। यदि कोई देश तटकर लगा देता है तो इसके फलस्वरूप आयात का मूल्य कम हो जाएगा

अर्थात् निर्यात का कुल मूल्य बढ जाएगा तो ऐसी अवस्था मे देश की व्यापार शर्तों मे सुधार हो जाएगा और आर्थिक विकास के लिए अतिरिक्त वित्तीय साधनो की प्राप्ति होगी। इस प्रकार सरक्षण की नीति से पूँजी निर्माण मे मदद मिलती है।

(4) आर्थिक नियोजन—अर्द्ध विकसित राष्ट्रो के आर्थिक विकास के लिए आर्थिक-नियोजन एक आवश्यक अग माना गया है। आर्थिक-नियोजन के अन्दर देश की सरकारें उत्पादन, उपभोग, वितरण व विनियोग आदि क्रियाओ पर नियन्त्रण और नियमन करती है। अत यह स्वाभाविक है कि अपने आर्थिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए अपने अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार पर भी नियन्त्रण करने के लिए सरक्षण-नीति को अपनाएँ।

(5) विनियोजन मे वृद्धि—व्यापार-नियन्त्रण द्वारा अनावश्यक वस्तुओ के आयात पर नियन्त्रण लगाने से बचत मे वृद्धि होती है और लाभदायक विनियोग के अवसरो मे भी वृद्धि होती है। देश मे जितनी अधिक बचत होगी। पूंजी निर्माण की मात्रा उतनी ही अधिक बढेगी, जिसे आर्थिक विकास के लिए उपयोग म लाया जा सकता है।

(6) राशिपातन से सुरक्षा—राशिपातन की सहायता से विकसित देश विकासशील देशो मे अपने माल की बिक्री के लिए एक स्थायी बाजार बनाने का प्रयत्न करत है अत राशिपातन से बचाव के लिए व्यापार का सरक्षण करना आवश्यक होता है।

(7) मजदूरी प्रमाप को सुरक्षित करना—समाजवाद की भावना का बनाए रखन एव साम्यवाद से बचाव हेतु अनेक विकासशील देशो ने कल्याणकारी राज्य की स्थापना का उद्देश्य रखा हुआ है। विश्व मूल्यों के आधार पर विकसित रा ट्रो के समान विकासशील राष्ट्रो के श्रमिको ने भी अपनी सीमान्त-उत्पादकता स अधिक मजदूरी की माँग की है। अत आयात पर नियन्त्रण आवश्यक है, जिससे सीमान्त उत्पादकता से अधिक मजदूरी भुगतान करने से उद्योगो को सुरक्षित रखा जा सके।

(8) तकनीकी परिवर्तनों से उद्योग की सुरक्षा—विकासशील राष्ट्रो मे आयात-नियन्त्रण विदेशो मे होने वाले तकनीकी परिवतनो से उद्योगो को बचाने के लिए आवश्यक समझे जाते हैं क्योंकि इमसे उपभोक्ता को लाभ कम होते हैं जबकि उत्पादको का अधिक हानि सहन करनी पडती है। ऐसे प्रतिबन्ध कम पूँजी वाले विकासशील राष्ट्रों के लिए ज्यादा महत्त्वपूर्ण है विशेषकर जहाँ (अ) प्लान्ट का जीवन लम्बा हो, (ब) विशेष प्रकार का प्लान्ट हो जिसमे कि गतिशीलता का अभाव हो, तथा (स) स्वदेशी माल और आयातित माल के बीच मूल्यो मे बहुत कम अन्तर हो।

(9) परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल—विकासशील राष्ट्रो के लिए सरक्षण नीति को वर्तमान शताब्दी की परिवर्तित-परिस्थितियो के आधार पर उचित ठहरायी जाती है। क्योंकि आजकल विश्व-अर्थ व्यवस्था की भावना समाप्त

हो गयी है और सम्पूर्ण विश्व पारस्परिक मन मुटाव और संघर्षों से परिपूर्ण हो गया है। ऐसी अवस्था मे किसी देश को अनिवार्य वस्तुओं के लिए किसी अन्य देश पर निर्भर रहना खतरे से खाली नही है। अतः वर्तमान युग में सरक्षण नीति की व्यवस्था करना एक अनिवार्यता हो गई है जिससे देश शीघ्र ही आत्मनिर्भरता तथा पूर्ण-रोजगार की अवस्था प्राप्त कर सके।

(10) **सरकारी आय का स्रोत**—तटकर सरकारी आय का एक प्रमुख स्रोत है। तटकर से सरकार को आय प्राप्त होती है और साथ मे उद्योगों को सरक्षण भी प्राप्त हो जाते हैं। ऐसे कर प्रायः विदेशियों द्वारा भुगतान किए जाते है। यदि तटकर की दर कम होती है तो सरकार की आय मे तो वृद्धि हो सकती है परन्तु धरेलू उद्योगो को इससे ज्यादा सरक्षण प्राप्त नहीं हो पाता है।

अर्द्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में निर्यात की व्यापारिक रुकावटें (Trade Barriers to Export of Less-Developed Economies)

अर्द्ध-विकसित विश्व विभिन्न प्रकार के देशों का समूह है। इन देशों की अर्थ-व्यवस्था मे विभिन्न प्रकार के अन्तर पाए जाते हैं किन्तु इतना सत्र होने हुए भी इन अर्द्ध-विकसित देशो मे एक आधारभूत समानता पाई जाती है। यद्यपि किसी एक देश को प्रतिनिधि अर्द्ध-विकसित देश की सज्ञा देना कठिन है किन्तु फिर भी कुछ ऐसे सामान्य कारणों को अवश्य ही बनाया जा सकता है जो कि आमतौर पर इनके द्वारा किए जाने वाले निर्यातो मे रुकावटें उत्पन्न करते हैं वे निम्नानुसार हैं—

1. औद्योगीकरण का अभाव—अर्द्ध-विकसित देशो मे आधुनिक ढंग के बडे पैमाने के उद्योगो का अभाव रहता है। यद्यपि इन देशों मे उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योग तो यत्र-तत्र स्थापित होने लगते हैं, परन्तु आधारभूत उद्योगो जैसे मशीन, यन्त्र, इस्पात आदि उद्योगों का लगभग अभाव रहता है और शेष उद्योगो के लिए भी ये मशीनें आदि के लिए आयात पर निर्भर रहते हैं। परिणामस्वरूप इन देशो से कच्चा माल भारी मात्रा मे निर्यात किया जाता है और यह निर्यात भी मुख्य रूप से एक दो पदार्थों पर ज्यादा निर्भर करता है जिससे इनकी अर्थ-व्यवस्था एकांगी हो जाती है। यदि इन वस्तुओं की विदेशी माँग कम हो जाती है तो इन देशो के निर्यात की अवस्था और भी खराब हो जाती है अत. जब तक आधारभूत निर्यात-उद्योगों का निर्माण नही होता है तब तक इनके निर्यात मे वृद्धि नहीं हो पाती है।

2. आय प्रभाव और कीमत प्रभाव—विकास कार्यक्रमो मे किए जाने वाले भारी विनियोग के जो परोक्ष रूप से आय-प्रभाव और कीमत प्रभाव उत्पन्न होते हैं वे भी निर्यात को कम कर देते हैं। कारण यह है कि आर्थिक-विकास की योजनाओं पर सरकार भारी मात्रा मे विनियोग करती है, जिससे समाज में क्रय-शक्ति का प्रसार होता है और लोगो की आय बढती है। अर्द्ध-विकसित देशो मे सीमान्त-उपभोग-प्रवृत्ति अधिक होने के कारण वस्तुओं की माँग मे वृद्धि होती है परिणामस्वरूप निर्यात घट जाते हैं क्योंकि कुछ वस्तुएं जिनका पहले निर्यात किया जाता था अब आय बढ़ने के कारण देश मे ही वे वस्तुएँ उपभोग की जाने लगती है।

भारी विनियोजन का कीमतों पर भी प्रभाव पड़ता है, जिनके कारण निर्यात की मात्रा प्रभावित होती है। अर्द्ध विकसित देशों में सामान्यतया विनियोजन ऐसी दीर्घकालीन प्रयोजनाओं पर किया जाता है जिनमें एक लम्बी अवधि के पश्चात् प्रतिफल प्राप्त होते हैं। फलतः सरकार के व्यय में तो वृद्धि वर्तमान समय में होती है लेकिन उस व्यय के परिणामस्वरूप उत्पादन में वृद्धि काफी समय के पश्चात् होती है। इसका तात्कालिक प्रभाव यह होता है कि कीमतें बढ़ जाती हैं। कीमतों में वृद्धि के कारण आयात प्रोत्साहित होते हैं, और निर्यात निरुत्साहित। साथ ही अर्थ-व्यवस्था में कीमत स्तर ऊँचा होने के कारण उत्पादकों को वस्तुएँ निर्यात करने के लिए प्रोत्साहन नहीं रहता है क्योंकि उन्हें आन्तरिक बाजार में ही वस्तुओं की अच्छी कीमत मिल जाती है। फलतः निर्यात की मात्रा आयात की अपेक्षा और कम हो जाती है।

3. विशिष्टीकरण—अर्द्ध-विकसित देशों ने मुख्य रूप से कृषि और खनिज पदार्थों के निर्यातों में विशिष्टीकरण प्राप्त किया है, जिनकी माँग की आय लोच बहुत कम होती है। इसके विपरीत, सम्पन्न देशों ने मुख्य रूप से पूँजीगत व औद्योगिक वस्तुओं के निर्यात में विशिष्टीकरण प्राप्त किया है। इन वस्तुओं के लिए माँग की आय लोच अपेक्षाकृत ऊँची होती है। ज्यों ही एक देश की राष्ट्रीय-आय बढ़ती है त्यों ही निर्मित वस्तुओं पर होने वाले खर्च का अनुपात बढ़ जाता है, परन्तु खाद्यान्न आदि पर व्यय का अनुपात घट जाता है। इस प्रकार विश्व की आय में वृद्धि के साथ-साथ औद्योगिक देशों के निर्यातों की माँग बढ़ जाती है और प्राथमिक वस्तुओं का उत्पादन करने वाले देशों की निर्यात की माँग कम हो जाती है।

4 जनसंख्या—विकासशील देशों की जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ रही है। बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इन देशों में आयातों की आवश्यकताएँ भी बढ़ गई हैं। दूसरी ओर विकसित देशों में जनसंख्या में अधिक वृद्धि न होने के कारण वहाँ अर्द्ध-विकसित देशों में होने वाले निर्यात की माँग का प्रसार रुक गया है। साथ ही अतीत काल में अधिकांश विदेशी गैर सरकारी विनियोग अर्द्ध-विकसित देशों में निर्यात उद्योगों में लिए जाते थे। यह प्रवृत्ति अभी भी बनी हुई है। प्राथमिक वस्तुओं का उत्पादन करने वाले देशों में अर्थात् अर्द्ध-विकसित देशों में निर्यात उद्योगों का प्रसार होने के कारण उनके निर्यात की कीमतें घट गई हैं।

5 आयात नियन्त्रण—औद्योगिक-देशों में प्रायः घरेलू कृषि-उद्योगों की रक्षा के लिए कृषि सम्बन्धी वस्तुओं के आयात पर प्रतिबन्ध लगाए जाते हैं फलतः इन देशों में कृषक देशों के निर्यात की माँग घटती है। अमेरिका आदि कुछ विकसित देशों में स्वयं के कृषि उद्योग में व्याप्त बेरोजगारी को दूर करने के लिए न केवल कृषि सम्बन्धी आयातों पर प्रतिबन्ध लगाए जाते हैं, वरन् कृषि सम्बन्धी वस्तुओं के निर्यात की सहायता करके अनुचित रूप से कम विकसित देशों के साथ प्रतियोगिता भी की जाती है। इसके परिणामस्वरूप अर्द्ध विकसित देशों के निर्यात विपरीत रूप से प्रभावित होते हैं।

6. नीची निर्यात साख--विकासशील देशो के निर्यात की साख बहुत नीची होती है, जबकि विकसित देशो के माल की साख विश्व-बाजारो मे पहले से ही जम चुकी होती है । अत अर्द्ध-विकसित देशों के वस्तुओ की माँग कम होती है ।

7. कमजोर विक्रय शर्तें—विकासशील देशो का माल अच्छी किस्म का होने पर भी कमजोर विक्रय-शर्तो के कारण विकसित दशो की प्रतिस्पर्धा मे नही बिक पाता है क्योंकि विकसित देश बड़ी मात्रा मे साख सुविधाएँ, माल की सुपुर्दगी और विक्रय के बाद की अन्य सुविधाएँ दे सकते हैं, जो सामान्यतया विकासशील देशो द्वारा सम्भव नही होती हैं ।

8. विकसित देशों मे उत्पादन वृद्धि--अनेक विकसित देशो में घरेलू तौर पर खाद्यान्नो और अन्य कच्चे मालो का उत्पादन बहुत अधिक बढ़ गया है, जिससे विकासशील देशो के निर्यात कम हो गए हैं ।

9. विदेशों में बिक्री करने वाली सस्थाएँ--विकासशील राष्ट्रो के निर्यातो को बढाने के लिए विदेशो मे जो सस्थागत रूप रचना इस समय स्थित है वह अनुपयुक्त है । अधिक वस्तुओ की माँग होने पर यह दोष और भी अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाता है । निर्यात-व्यापार को अच्छी तरह से चलाने के लिए विदेशी बाजारो मे इन देशो के उपयुक्त सगठनो का होना अति आवश्यक होता है ।

विकासशील दशो के इन सगठनो मे निर्यातक फर्मों का प्रतिनिधित्व भी बहुत जरूरी होता है । जब तक विदेशी बाजारो मे प्रतिनिधित्व नहीं रखा जाएगा, तब तक निर्यातक फर्में विदेशी खरीददारो की बदली हुई मांगो को पूरा नही कर पाएँगी । इनके अभाव मे विकासशील राष्ट्रो के निर्यातको को विदेशी आवश्यक्ताओ के परिवर्तनों की तुरन्त जानकारी प्राप्त नही हो पाती है जिससे वे विकसित राष्ट्रो की अपेक्षा पिछड जाते हैं ।

10. अनुचित व्यवहार--विकासशील राष्ट्रो के निर्यातकर्त्ताओ के अनुचित व्यवहार के विरुद्ध अनेक शिकायतें की जाती हैं। जैसे कि माल भेजने मे देरी, माँगे गए माल के गुण और भेजे गए माल के गुण मे अन्तर, खराब पैकिंग तथा मार्किंग आदि । अतः निर्यातकर्त्ताओ के गलत व्यवहार से भी निर्यात की मात्रा प्रभावित होती है ।

11 पैकिंग--विकासशील राष्ट्रो के द्वारा जो वस्तुएँ निर्यात की जाती हैं उनकी पैकिंग की तरफ इन राष्ट्रो द्वारा विशेष ध्यान नही दिया जाता है। इन राष्ट्रों के निर्यातकर्त्ता इसे फालतू का खर्चा समझते हैं । इसी कारण से इन राष्ट्रों का जब ल आयातकर्त्ता देश के पास पहुँचता है तब वह बडा ही अव्यवस्थित हो जाता है । के विपरीत विकसित राष्ट्रो से जो माल निर्यात किए जाते हैं उनके पैकिंग बड़े ही अच्छे तथा आकर्षक होते है । इस कारण से भी विकासशील राष्ट्रों के निर्यात की मात्रा के बढने मे रुकावट आती है ।

12 प्राथमिक उत्पादक मूल्यों का स्थिरीकरण एवं विकासशील अर्थव्यवस्था के मध्य क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग की भूमिका

(STABILISATION OF PRIMARY PRODUCT PRICES AND ROLE OF REGIONAL ECONOMIC COOPERATION BETWEEN LESS DEVELOPE) ECONOMIES)

सन् 1929 से 1933 की मन्दी के बाद मौद्रिक नीति का मुख्य उद्देश्य मूल्य-स्तर मे स्थिरता और व्यापारिक चक्रो की स्थिरता बन गया है। आजकल अधिकांश अर्थ-शास्त्रियो, मुख्यत कैमिल और कीन्स का मत है कि मौद्रिक नीति का उद्देश्य देश के आन्तरिक मूल्य को स्थिर बनाए रखना होना चाहिए। यहाँ पर प्राथमिक उत्पादक मूल्यो के स्थिर रखने का आशय यह नही है कि सभी अलग-अलग और सामूहिक कीमतें स्थायी रहे वरन् इसका मतलब केवल मात्र यह है कि थोक कीमत निर्देशांक द्वारा सूचित औसत मूल्य स्तर को मामूली सीमाओ मे अधिक घटने-बढ़ने नही देना चाहिए।

मौद्रिक नीति के अन्तर्गत मूल्य स्थिरता का उद्देश्य अमरिका की न्यू डील योजना मे सरकार द्वारा 6 जनवरी, 1937 को अपनाया गया जबकि तत्कालीन राष्ट्रपति श्री रूजवेल्ट ने अमेरिकी ससद् को अपने वार्षिक व्याख्यान म बताया कि "यह राष्ट्र के हित मे है कि वह सरकार से प्राइवेट साहस की सहायता करने का कहे जिससे सामान्य स्तर को पुन प्राप्त किया जाए तथा प्राप्त होने वाले स्तर को व्यापक खतरे तथा उतार-चढाव से बचाया जा सके।"

स्थिरीकरण के पक्ष मे तर्क

प्राथमिक उत्पादक मूल्यो मे अस्थिरता के कारण बहुत-सी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं जैसे कि—

1. गिरते हुए मूल्यों की अवधियो म व्यापार चौपट हो जाता है और रोजगार व उत्पादन मे भारी कमी हो जाती है।

2 बढ़ती हुई कीमतें आय के वितरण म असमानता को बढ़ावा देती है।

3. आन्तरिक मूल्यों मे अस्थिरता स्वभाव में संचयी होती है अर्थात् एक बार प्रारम्भ होने के पश्चात् यह दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है और उससे सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के टूटने का भय उत्पन्न हो जाता है और अनेक राजनीतिक क्रान्तियाँ जन्म लेती है जैसा कि लिण्डन जॉनसन ने कहा था कि "मुद्रा प्रसार का प्रश्न राष्ट्रीय सुरक्षा के पश्चात् दूसरे नम्बर के महत्त्व का है।"

स्थिरीकरण के विपक्ष में तर्क

प्राथमिक उत्पादक मूल्यों में स्थिरीकरण की नीति का महत्त्व बहुत थोड़े समय तक ही रहा और शीघ्र ही इसका स्थान पूर्ण रोजगार के उद्देश्य ने ले लिया। मूल्य स्थिरीकरण के विरोध मे निम्न बातें कही जाती हैं—

1. किन मूल्यों में स्थिरता लाई जाए--मूल्य स्थिरता की नीति के विरुद्ध यह आपत्ति की जाती है कि यह नीति स्पष्ट रूप से यह बताती है कि कौन-सा मूल्य स्थिर रखा जाए--थोक मूल्यों को स्थिर रखा जोए या फुटकर मूल्यो को स्थिर रखा जाए? इसके अतिरिक्त एक अन्य कठिनाई यह भी है कि जब तक मूल्यो मे सापेक्षिक स्थिरता न हो तब तक सामान्य मूल्य-स्तर मे स्थिरता स्थापित करना अर्थहीन होता है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या मूल्यो मे सापेक्षिक स्थिरता स्थापित की जाए? इन कठिनाइयों को ध्यान मे रखते हुए आलोचकों के अनुसार मौद्रिक नीति का उद्देश्य मूल्य स्थिरता नहीं होना चाहिए।

2 मूल्यों मे परिवर्तन आर्थिक जीवन के परिवर्तनों का परिणाम होते हैं—आलोचको का कहना है कि आर्थिक जीवन की अस्त-व्यस्तता के कारण ही मूल्यो मे परिवर्तन होते हैं अर्थात् आर्थिक जीवन की अस्त व्यस्तता ही मूल्यो में परिवर्तन का कारण होती है। अन मूल्य स्थिर रहते हुए भी आर्थिक सम्बन्धों एवं उत्पादन में अस्त-व्यस्तता होना सम्भव है, इसलिए मूल्यो मे स्थिरता स्थापित करने की मौद्रिक नीति से कोई लाभ नहीं हो सकता है।

3. मूल्य-स्तर मे स्थिरता स्थापना करना कठिन है—मूल्य-स्तर मे स्थिरता स्थापित करने के लिए एक ओर तो धन की पूर्ति को यथास्थिर रखना चाहिए और दूसरी ओर वस्तुओ तथा सेवाओ की मात्रा मे परिवर्तन नहीं होना चाहिए। परन्तु ये दोनो बातें ही अत्यन्त कठिन हैं।

4. मूल्य-स्तर में स्थिरता सदैव वांछनीय नहीं होती है—कीन्स के मतानुसार पूर्ण रोजगार की दशा को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि देश मे थोड़ी-थोड़ी मूल्य वृद्धि होती रहे, इससे उत्पादन के साधनो को पूर्ण रोजगार प्राप्त करने में सहायता मिलती है। अतः पूर्ण रोजगार की वृद्धि से पूर्व मूल्य-स्तर मे स्थिरता देश की अर्थव्यवस्था के लिए वांछनीय नहीं होती। प्रो. हेयक ने सन् 1932 मे अपनी पुस्तक मे लिखा है कि "मूल्य स्थिरता की मौद्रिक नीति को अपनाकर भी तेजी तथा मन्दी की घटनाएँ पहले के समान अब भी समाज के लिए आर्थिक कठिनाइयो के उत्पन्न होने के कारण बनी हुई है। गत छः से आठ वर्षों मे ससार के विभिन्न देशों मे विशेषकर अमेरिका मे केन्द्रीय बैंको ने मूल्य-स्थिरता की नीति के समर्थकों के

प्रधान मन्त्री ने कहा था कि "बैंक एशियायी राष्ट्रों की दीर्घकालीन महत्त्वाकांक्षाओं का पूर्ति-बिन्दु है और एशियायी राष्ट्रों की स्व-सहायता भावना और समवाय का सकेतक है।"

विकासशील अर्थव्यवस्थाओं के मध्य-क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग के लाभ (Merits of Regional Economic Co-operation between Less Developed Economies)

विकासशील राष्ट्रों के मध्य वर्तमान में जो आर्थिक सहयोग हो रहा है उसकी इन राष्ट्रों के विकास मे एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इन राष्ट्रों में आर्थिक सहयोग से निम्न लाभ प्राप्त हुए हैं—

1. पूंजी नियोजन—आर्थिक सहयोग के कारण विकासशील राष्ट्रों को अपने विकास कार्यों के लिए आवश्यक पूंजी आसान किश्तों तथा कम ब्याज पर शीघ्र ही उपलब्ध हो जाती है।

2. उपलब्ध-साधनों का सदुपयोग—आर्थिक सहयोग के द्वारा विकासशील राष्ट्र अपने उपलब्ध साधनों का इस प्रकार से प्रयोग करते हैं जिससे कि सम्पूर्ण सहयोग वाले देशों का सामञ्जस्यपूर्ण तथा सुव्यवस्थित आर्थिक विकास हो सके तथा छोटे एवं कम विकसित देशो को विशेष सहायता मिल सके।

3. विकास का मार्ग प्रशस्त करना—आर्थिक सहयोग द्वारा विकासशील राष्ट्र सामूहिक तथा पृथक् आर्थिक विकास की प्रक्रिया को गति प्रदान करते हैं।

4. विकास नीतियों में सहयोग—आर्थिक सहयोग द्वारा इन देशो को अपनी आयोजनाओं तथा नीतियों मे समन्वय स्थापित करने के लिए सहायता प्राप्त होती है ताकि इनकी अर्थव्यवस्था अधिक सन्तुलित बन सके और विदेशी व्यापार का सम्यक् विस्तार हो सके।

5. तकनीकी सहायता—आर्थिक सहयोग द्वारा सदस्य देशों के विकास के लिए प्रायोजनाएँ तैयार करने, उनके लिए धन जुटाने तथा उनको कार्यान्वित करने के लिए तकनीकी सहयोग भी प्राप्त होता है।

6. अन्य संगठनों से सहयोग—क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग द्वारा विकासशील राष्ट्र संयुक्तराष्ट्र के तत्वावधान मे स्थापित तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से अपने विकास कार्यों के लिए सरलतापूर्वक सहयोग प्राप्त करने मे सफल हो जाते हैं, तथा अपनी बात को ज्यादा आसानी से समझा सकते हैं।

7. अन्य कार्य—आर्थिक सहयोग से विकासशील राष्ट्र वे सभी कार्य सरलतापूर्वक कर सकते हैं जिनसे कि इन राष्ट्रों के आर्थिक विकास में आर्थिक व तकनीकी सहायता प्राप्त होती हो या प्राप्त की जा सकती है।

एक देश की अर्थव्यवस्था को यह अनुभव हो सकता है कि उसकी विदेशी मुद्रा की वह आय जो उसे अपने माल और सेवा बेचने पर प्राप्त होती है, सोने या विदेशी मुद्रा के भण्डार के रूप मे होती है और दूसरे देशो के साथ उसकी साख कुल मिलाकर इतनी नही होती कि वह उन वस्तुओं को खरीद सके जिन्हे वह चाहता है। इसके लिए देश अपने आयातो पर प्रत्यक्ष या कृत्रिम नियन्त्रण रखता है अथवा वह अपनी राष्ट्रीय आय मे इतनी कमी कर सकता है कि आयातो की माँग स्वाभाविक रूप से घट जाए। यदि मान लीजिए किसी देश के आयात विदेशी मुद्रा की कमी के कारण आवश्यकता से अधिक गिर जाए तो उसका भुगतान सन्तुलन यद्यपि सन्तुलित रहेगा किन्तु सन्तोषजनक नही कहा जा सकेगा। असन्तोषजनक स्थिति ही असमतुल्यता (Disequilibrium) कहलाती है।

एक देश पर्याप्त स्तर तक अपने माल और सेवाओं को उसी समय ला सकता है जबकि वह अपने सुरक्षित कोष का उपयोग करे। इसके लिए उसे अपना सोना बाहर भेजना होगा और विदेशी मुद्रा के सग्रह को कम करना होगा। जब उस देश के भुगतान खाते मे यह स्थिति आ जाए तो भुगतान सन्तुलन समतुल्यता से बाहर माना जाएगा। जब यह माना जाए कि देश की सुरक्षित कोष की स्थिति शीघ्र ठीक हो जाएगी और की गई कमी केवल अस्थायी है तो इसे कोई विशेष महत्त्व नही दिया जाता। इसी प्रकार यदि की गई कमी सुरक्षित कोष के आकार की तुलना मे बहुत थोड़ी है तो असमतुल्यता अधिक महत्त्वपूर्ण नही होगी। हम इसे असमतुल्यता केवल तभी कहेगे जबकि एक अर्थव्यवस्था लम्बे समय तक अपना सुरक्षित कोष दूसरो को प्रदान करती रहे।

असमतुल्य अर्थ-व्यवस्था की एक निशानी यह है कि सम्बन्धित देश अपने उपयोग का प्रबन्ध प्राय: बडी मात्रा मे कर्जा लेकर कर पाता है। वैसे यह मापदण्ड अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है क्योकि यदि एक देश का भविष्य उसके लिए अत्यन्त अनुकूल है तो भारी ऋण भी उचित हो सकता है किन्तु यदि भविष्य उसके प्रतिकूल है तो किसी भी प्रकार का कर्जा अबुद्धिपूर्ण रहेगा। इस सम्बन्ध मे प्राय कोई निर्णय नहीं लिया जा सकता। जब कभी यह मालूम हो कि कर्जा एक बुद्धिपूर्ण मात्रा से अधिक बढ रहा है और कर्ज लेने वालो की परिस्थितियो को देखते हुए कर्जा गलत रूप से भारी है तो इसे एक असन्तोषजनक स्थिति कहा जाएगा और उसके भुगतानो का सन्तुलन समतुल्यता के बाहर माना जाएगा।

अर्थ-व्यवस्था की उस स्थिति को भी असन्तोषजनक कहा जाता है जिसमे वह दूसरे देशो की सौगातो और दान पर बहुत कुछ निर्भर रहती हैं तथा उन्ही के माध्यम से अपने भारी खर्चों को चलाने का प्रयास करती है। इस सम्बन्ध मे भी परिस्थितियो पर बहुत कुछ अवलम्बित है। यदि यह मालूम पड़ जाए कि सौगात और दान को प्राप्त करने वाला देश अधिक समय तक उन पर आश्रित नही रहेगा तो इसे हम उस देश की कमजोरी का प्रतीक नहीं कह सकते किन्तु यदि यह आश्रयता अस्थायी नही दिखती है तो निश्चय ही इस स्थिति को असन्तोषजनक कहा जाएगा।

जब एक देश कर्ज या दान प्राप्त करता है और ऐसा लगता है कि इन स्रोतों पर उसकी आश्रयता समाप्त नहीं होगी तो यह असन्तोषजनक स्थिति मानी जाएगी। ऐसा इसलिए है क्योंकि यह विश्वास नहीं होता कि दान देने वाला और कर्ज देने वाला भविष्य में हमेशा ही देता रहेगा। जब कभी उनके देने की इच्छा समाप्त होगी तभी वह देश पंगु बन जाएगा। ऐसी स्थिति में जब हम यह जानना चाहें कि कर्ज लेना या ऋण लेना असमतुल्यता माना जाए अथवा नहीं तो हमको प्रश्न यह पूछना चाहिए कि कर्ज या दान देने वाला जब तक अनिच्छुक बनेगा उस समय तक क्या वह देश आत्मनिर्भरता की ओर बढ़ सकता है? यदि इस प्रश्न का उत्तर निषेधात्मक आता है तो मानना होगा कि स्थिति भुगतान सन्तुलन की असमतुल्यता का परिणाम है। यदि उत्तर "हाँ" में आता है तो यह माना जाएगा कि अब व्यवस्था को कोई चुनौती नहीं है।

असमतुल्यभारिता के स्रोत
(The Sources of Disequilibrium)

भुगतानों के सन्तुलनों में असमतुल्यता अनेक कारणों से पैदा होती है। जब कभी चालू लेन के विनिमयों की अनुसूची में माँग और पूर्ति के अन्तर्गत परिवर्तन होते हैं तो इन परिवर्तनों के पीछे काम करने वाली शक्ति ही असमतुल्यता का स्रोत होती है। यह पूर्णतः स्पष्ट है कि एक देश की समतुल्यता को अनेक तत्त्वों में प्रभावित किया जाता है। जब कभी भुगतानों के सन्तुलनों में असमतुल्यता पैदा होती है तो यह अनेक परस्पर सम्बन्धित तत्त्वों का परिणाम होती है जिनको एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। भुगतानों के सन्तुलन में आने वाली असमतुल्यता को उसके स्रोतों के अनुसार मि० स्नाइडर (Delbert A Snider) ने दो भागों में बाँटा है—रचना सम्बन्धी (Structural) और चक्रवत तथा मौद्रिक (Cyclical and Monetary)। इन दोनों प्रकार के असन्तुलनों के बारे में कुछ संक्षेप में जानकारी प्राप्त करना उपयुक्त रहेगा—

(1) रचना सम्बन्धी असमतुल्यता
(Structural Disequilibrium)

तकनीकी विकास और उपभोक्ताओं की प्राथमिकता के इस युग में प्रत्येक देश को आयात और निर्यात का सहारा लेना होता है। यह आयात और निर्यात जब माँग और पूर्ति की शर्तों के मूल रूप में होता है तो इसे समतुल्यता की अवस्था कहा जाता है किन्तु यदि उत्पादन के साधनों या माल अथवा सेवाओं की सापेक्षिक अन्तर्राष्ट्रीय माँग और पूर्ति में बदलाव आता है तो इससे पूर्व स्थित सन्तुलित सम्बन्ध बिगड़ जाते हैं और इसमें रचना सम्बन्धी असमतुल्यता जन्म लेती है। रचना सम्बन्धी असन्तुलन वर्षों या दशाब्दियों तक बना रह सकता है और इस प्रकार भुगतान सन्तुलन में लगातार असमतुल्यता का स्रोत बना रहेगा। रचना सम्बन्धी असमतुल्यता के अनेक स्रोत होते हैं, इनमें से कुछ ये हैं—

(क) पूँजीगत हानियाँ (Capital Losses)—पूँजीगत भारी हानियों के

परिणामस्वरूप रचना सम्बन्धी असमतुल्यता की स्थिति पैदा हो सकती है और इसके फलस्वरूप उत्पादिता एवं वास्तविक प्रति व्यक्ति आय में भी कमी आ जाएगी। जब युद्ध या अन्य किसी कारण से थोड़े ही समय में पूंजीगत हानियां हो जाती हैं तो उनका परिणाम अत्यन्त भयानक होता है। युद्ध के समय पर्याप्त भौतिक संहार और नुकसान होते हैं।

पूंजीगत हानियों के परिणामस्वरूप आयात की माँग असाधारण रूप से बढ़ जाती है क्योंकि देश में पैदा होने वाली उपभोग की वस्तुएं तथा कच्चे माल भी कम हो जाते हैं और पूंजीगत पुनर्रचना की आवश्यकता होती है। दूसरी ओर इस स्थिति में सम्बन्धित देश निर्यात करने वाले माल, सेवाओं को उत्पादित नहीं कर पाता।

(ख) उत्पादन का तरीका (The Pattern of Production)—अन्तर्राष्ट्रीय विशेषीकरण के आधारों और उत्पादन के साधनों में होने वाला परिवर्तन धीरे-धीरे होता है और यह रचना सम्बन्धी असमतुल्यता का कारण बनता है। विभिन्न देशों के मध्य जिन सापेक्षिक तत्त्वों का बंटवारा होता है वह स्थायी नहीं होता और उसमें परिवर्तन आते रहते हैं। उनमें आने वाले गम्भीर परिवर्तन निश्चय ही पूर्व स्थित असमतुल्यता को बदल देते हैं।

औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप भी रचना सम्बन्धी गलत समायोजन हो सकता है क्योंकि इससे उत्पादित माल के निर्यात में प्रतिस्पर्धा बढ़ती है और औद्योगीकृत देशों में बने हुए माल के आयात की माँग घट जाती है।

(ग) माँग का रूप (Pattern of Demand)—समतुल्यता की स्थिति के लिए यह जरूरी है कि उत्पादन के साधनों का निर्धारण इस प्रकार किया जाए कि यह माल और सेवाओं की माँग के रूप के साथ मेल खाता रहे। पूर्ति की दिशाओं में होने वाले परिवर्तन भी असमतुल्यता के कारण बनते हैं। जब प्रति व्यक्ति की वास्तविक आय में तीव्र गति से वृद्धि होती है या आय के वितरण में परिवर्तन होते हैं तो माँग के रूप में उल्लेखनीय परिवर्तन होने का अवसर मिलता है। यदि उत्पादन के साधन पूर्ण रूप से गतिशील हैं तो वे माँग के बदले हुए रूप के अनुसार शीघ्र ही पुनः निर्धारण कर लेंगे। बहुत समय से अधिकांश देशों में यह एक सामान्य प्रवृत्ति रही है कि श्रम प्राथमिक उत्पादनों (Primary Productions) से निर्मित उद्योगों की ओर बदल रहा है। जब एक देश का जीवन स्तर वहाँ के उद्योगों की स्थिति से ऊपर उठ जाता है तो विभिन्न वस्तुओं की माँगें साधारण रूप से बढ़ने लगती हैं। इन माँगों की पूर्ति के लिए विदेशों का आश्रय लेना पड़ता है।

(घ) व्यापार शर्तें (Terms of Trade)—व्यापार शर्तों का अर्थ आयातों की उस मात्रा से है जो निर्यातों की एक इकाई के लिए प्राप्त की जाती है। जब एक देश के निर्यात की कीमतें अपेक्षाकृत धीरे-धीरे बढ़ती हैं और आयातों के लिए किए जाने वाले भुगतान की मात्रा बढ़ जाती है तो यह माना जाता है कि व्यापार शर्तें अनुकूल नहीं हैं। एक देश की व्यापार शर्तें वहाँ के आयातों और निर्यातों की माँग तथा पूर्ति में होने वाले सापेक्षिक अन्तरों के कारण परिवर्तित होती रहती हैं। इस

(ii) चक्रवत और मौद्रिक असमतुल्यता (Cyclical and Monetary Disequilibrium)

भुगतान सन्तुलन मे असमतुल्यता व्यापार चक्र के कारण भी पैदा हो जाती है। इतिहास साक्षी है कि आय और उत्पादन मे होने वाली प्रगति वृद्धिशील प्रवृत्तियों का साथ नही दे पाती। फलतः अल्पकालीन मुद्रा प्रसार या मन्दी की स्थिति पैदा हो जाती है। व्यापार चक्र स्वमेव असमतुल्यता का कारण नही बनता वरन् इसके लिए कुछ शर्तें आवश्यक है। जैसे—(1) विभिन्न देशो मे मुद्रा-प्रसार अथवा मन्दी की व्यापकता भिन्न हो, (2) विभिन्न देशो मे चक्र के विभिन्न पहलुओ का समय भिन्न हो, (3) विभिन्न देशो मे आयात के लिए माँग की आय लोचशीलता मे भिन्न हो, इत्यादि। चक्रवत असमतुल्यता की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि सम्पूर्ण चक्र के दौरान भुगतान सन्तुलन समतुल्य बने रहते हैं।

उक्त परिस्थितियो मे असमतुल्यता का उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है—

(1) अन्य बाते यथावत् हों और व्यापार चक्र 'क' देश में 'ख' देश की अपेक्षा अधिक गहन हो तो 'क' मे प्रसार (Boom) के समय अभाव की और मन्दी के समय आधिक्य की स्थिति रहेगी। 'ख' देश मे इसके विपरीत होगा। प्रसार के समय आय 'क' देश मे 'ख' देश की अपेक्षा बढ जाएगी। फलतः 'क' के आयातो मे अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि होगी। मन्दी के समय 'क' की आय अपेक्षाकृत अधिक घटेगी और इसलिए उसके आयातो मे अधिक कमी हो जाएगी।

(2) चक्र के विभिन्न पहलू यदि अलग देशो मे अलग समयो पर होते हैं तो भुगतान सन्तुलन मे असमतुल्यता पैदा हो जाती है। इस आधार पर एक देश के आयातो मे कमी अथवा वृद्धि हो जाती है।

(3) आयातो के लिए माँग की आय लोचशीलताओं मे अन्तरों के कारण भी चक्रवत असमतुल्यता पैदा हो जाती है। अन्य बातों के यथावत् रहते हुए यदि 'क' देश मे आयातो की माँग की आय लोचशीलता 'ख' देश की अपेक्षा अधिक है तो वृद्धि के दौरान 'क' देश घाटे से ग्रस्त बन जाएगा और मन्दी के समय अतिरेक का उपभोग करेगा। आयातो के लिए तुलनात्मक रूप से अधिक लोचशीलता होने के कारण 'क' देश मे आयातो के उतार-चढाव अपेक्षाकृत अधिक होंगे।

(4) विभिन्न देशो मे माँग की कीमत लोचशीलता मे अन्तरो से भी चक्रवत असमतुल्यताएँ जन्म लेती हैं। साधारणतः वृद्धि के समय कीमतें बढती हैं और मन्दी के समय घट जाती है। अन्य बातो के यथावत् रहने पर यदि 'क' मे आयातो के लिए माँग की कीमत लोचशीलता यदि 'ख' से उच्चतर है तो 'क' को वृद्धि के समय अतिरेक प्राप्त होगा और मन्दी के समय घाटे की स्थिति रहेगी। 'क' देश मे आयातो के लिए होने वाले उतार-चढाव भी अपेक्षाकृत अधिक होगे।

उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण परिस्थितियां भुगतान सन्तुलनो मे चक्रवत असमतुल्यता का कारण बनती हैं। ये सम्पूर्ण परिस्थितियां ही नही हैं इनके अतिरिक्त अन्य कुछ भी उल्लेखनीय हैं।

मौद्रिक असमतुल्यता उस समय पैदा होती है जब दूसरे देशों की अपेक्षा एक देश की कीमतों तथा धन के सामान्य स्तर में परिवर्तन आते हैं। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि चक्रवत आय और सापेक्षिक राष्ट्रीय कीमत तथा लागत स्तरों में होने वाले परिवर्तन परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होते हैं। मौद्रिक राष्ट्रीय आय में सामान्य वृद्धि का अर्थ यह है कि माल और सेवाओं की कुल माँग में वृद्धि हुई है। यदि वर्तमान मूल्यों पर माल और सेवाओं की पूर्ति बढ़ी हुई माँगों के लिए पर्याप्त नहीं है तो इसके परिणामस्वरूप मुद्रा स्फीति जन्म लेगी। विश्लेषणात्मक रूप में आय और कीमत के भुगतान सन्तुलन पर पड़ने वाले प्रभावों को अलग किया जा सकता है। एक सीमा तक मौद्रिक राष्ट्रीय आय में होने वाले परिवर्तन वास्तविक आय परिवर्तनों की अभिव्यक्ति होते हैं। यह भुगतान सन्तुलन पर आय का प्रभाव है।

दूसरी ओर सीमा तक ये मूल्य स्तर के परिवर्तनों की अभिव्यक्ति, ये भुगतान सन्तुलन पर कीमत का प्रभाव दिखाते हैं। दोनों प्रभाव एक ही दिशा में कार्य करते हैं। कीमतों और लागतों के अन्तर्राष्ट्रीय स्तर में सापेक्षिक वृद्धि के कारण न केवल आयातों में वृद्धि होती है वरन् निर्यातों में कमी भी हो जाती है। इसी प्रकार राष्ट्रीय कीमत और लागत-स्तर पर होने वाली सापेक्षिक वृद्धि से न केवल आयात गिर जाते हैं वरन् निर्यातों में भी वृद्धि हो जाती है। राष्ट्रीय कीमत एवं लागत स्तर में सापेक्षिक वृद्धि होने के कारण भुगतान सन्तुलन के चालू खाते में घाटे की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

मौद्रिक असमतुल्यता की एक विशेष स्थिति के रूप में विनिमय दर (Exchange Rate) की असमतुल्यता का नाम भी लिया जा सकता है। किसी देश की विनिमय दर में होने वाली कमी के सापेक्षिक मूल्य स्तरों पर पड़ने वाले प्रभाव घरेलू कीमतों में वृद्धि या विदेशी कीमतों में कमी के बराबर होते हैं। जब कभी आयातों को प्रोत्साहन देकर निर्यातों में कमी करके मुद्रा का अत्यधिक मूल्यांकन किया जाता है तो इसके फलस्वरूप भुगतानों के सन्तुलन में उत्पादन की घाटे की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

स्पष्ट है कि एक देश की अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थिति का निर्धारण करने में अनेक तत्वों का महत्व है जैसे—उत्पादन के साधनों की सापेक्षिक पूर्ति, आय के वितरण और स्तर, लागतों और कीमतों का स्तर, विनिमय दर आदि-आदि। इनमें से कुछ तत्वों की प्रकृति तो रचना सम्बन्धी है जबकि अन्य में तीव्र गति से परिवर्तन हो सकता है। असमतुल्यता न केवल अन्तर्राष्ट्रीय माँग और पूर्ति की मूल शक्तियों में परिवर्तनों द्वारा ही पैदा हो सकती हैं वरन् चक्रवत आय और सापेक्षिक कीमत परिवर्तनों से भी हो सकती हैं।

भुगतान सन्तुलन के लेखे
(The Accounts of Balance of Payments)

विभिन्न देशों की सरकारें दूसरे देशों के साथ किए गए वास्तविक [illegible] का अभिलेख रखती हैं ताकि वे यह जान सकें कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार [illegible]

स्थिति क्या है ? भुगतान सन्तुलनों के लेखों मे उन कारणों का उल्लेख किया जाता है जिनके लिए भुगतान किए गए है। इन्हें देखकर हम यह कह सकते हैं कि भारतवासियों को भारतीय माल की खरीद के लिए, या भारतीय सेवाओं के प्रयोग के लिए कितना भुगतान किया गया ? ये लेखे यह भी बता सकते हैं कि भारत के द्वारा विदेशी माल की खरीद के लिए, विदेशी सेवाओं के प्रयोग के लिए और विदेशियों को उधार देने के लिए कितना भुगतान किया गया ? जो मद विदेशी मुद्रा की खरीद को आवश्यक बनाती है उसे लेखों के नाम पक्ष की ओर लिखा जाता है। दूसरी ओर जो मद विदेशी मुद्रा की बिक्री को प्रदर्शित करती है उसे जमा खाते की ओर लिखा जाता है।

यह सच है कि विदेशी विनिमय बाजार में खरीदे गए रुपयो की संख्या बेचे गए रुपयों की संख्या के बराबर होनी चाहिए किन्तु यह बात एक विशेष चीज की खरीदारी या बिक्री पर लागू नहीं होती। कभी-कभी आयात के लिए विदेशी मुद्रा प्राप्त करने के हेतु बहुत से रुपये बेच दिए जाते हैं।

भुगतान सन्तुलन के लेखो के अनेक रूप होते हैं, उनमें प्रमुख ये हैं--चालू खाता (The Current Account), पूंजी खाता (The Capital Account), एक पक्षीय हस्तान्तरण (Unilateral Transfer), स्वर्ण खाता (Gold Account) आदि। "इनमे से भुगतान सन्तुलन खाते में अधिकांश महत्त्वपूर्ण विभाजन चालू खाते और पूंजी खाते के बीच होता है। चालू खाते में वे सभी भुगतान आते है जो सामान और सेवाओं के माल के खरीददारी के लिए किए गए हैं।"[1] इस सम्बन्ध मे स्पष्टतः कुछ नही कहा जा सकता कि चालू खाते के भुगतानो को क्यो सन्तुलित होना चाहिए ? हो सकता है कि एक देश अधिक आयात करने के लिए अपनी मुद्रा को अधिक बेचे और उसकी यह मात्रा निर्यातो की बिक्री से प्राप्त होने वाली मुद्रा से कम हो। यदि ऐसा है तो देश को कहीं से भी मुद्रा का प्रबन्ध करना होगा और चालू खाते मे जो खरीददारी का अतिशय हुआ है उसे पूंजी खाते में होने वाली बिक्रियों की बहुतायत के द्वारा मिलाना होगा। पूंजी खाते मे दीर्घकालीन विनियोग, अल्पकालीन विनियोग और चलन के आवागमन की मदें सम्मिलित की जाती हैं। मि. लिप्से और स्टेनियर (Lipsey and Stenier) के कथनानुसार, "पूंजीगत खाते मे उस प्रत्येक लेन-देन को रखा जाता है जिसे चालू खाते मे नही रखा गया है।"[2] पूंजीगत खातों में जिन मुख्य मदों को रखा जाता है उनमे पूंजीगत हस्तान्तरण और बिक्री आदि को लिया जाता है। जब कोई भारतीय नागरिक विदेशों मे विनियोग करना चाहता है तो उसे सम्बन्धित देश की विदेशी मुद्रा प्राप्त करनी होगी। उसे रुपये बेचकर विदेशी मुद्रा खरीदनी होगी। इनको भुगतान सन्तुलन में घाटे की दर के रूप मे लिया जाता है क्योंकि लेन-देन मे डॉलर का उपयोग किया गया है।

1 'The balance of payments on current accounts includes all payments made because of current purchases of goods and services"
—*Richard G. Lipsey and Peter O. Steiner*, Economics, p. 430.

2 "The capital accounts records transactions for every thing other than what is recorded in the current account."
—*Ibid*, p. 431.

आयातो की अपेक्षा अधिक होने वाले निर्यात की कीमत को केवल तभी चुकाया जा सकता है जब विदेशी अन्य स्रोतो से रुपया प्राप्त करें। यहाँ उनके सम्मुख दो सम्भावनाएँ हैं–(1) भारतीय रुपया उन निवेश कर्त्ताओं द्वारा प्रदान किया जा सकता है जो विदेशी माल खरीदने के लिए विदेशी मुद्रा प्राप्त करने के इच्छुक हैं। ऐसी स्थिति मे आयातों की अपेक्षा निर्यातो के अतिरेक को विदेशों मे भारतीय कर्जे के रूप मे सन्तुलित किया जाएगा। (2) विदेशी सरकारें अपने भारतीय रुपये के खजाने को कम करें और उसे उन लोगों को बेच दें जो अमेरिकी माल खरीदना चाहते हैं। बदले मे सरकार घरेलू मुद्रा ग्रहण कर लेती। चालू खाते मे अतिरेक को पूंजी खाते के घाटे द्वारा बराबर बनाया जाता है। इसके लिए या तो विदेशो को कर्ज देना पड़ेगा अथवा विदेशी केन्द्रीय सत्ताओ द्वारा रखे गए सोने और विदेशी विनिमय के सुरक्षित भण्डार को काम मे लेना होगा।

चालू खाते का बनाना—चालू खाते को प्राय: दृश्य और अदृश्य व्यापार के रूप मे विभाजित किया जाता है। दृश्य व्यापार का सम्बन्ध वस्तुओ मे रहता है अर्थात् कार, कॉफी, चाय, लोहा, अल्यूमिनियम, लकड़ी के लट्ठे आदि वे सारी चीजें जिनको अन्तर्राष्ट्रीय सीमाएँ पार करते समय हम देख और छू सकते हैं। अदृश्य व्यापार के अन्तर्गत वे सेवाएँ तथा चीजें आती हैं जिनको हम छू नही सकते। उदाहरण के लिए बीमा, जहाज का शुल्क आदि। बीमा सेवाओ के लिए भुगतान प्राय: भुगतानकर्त्ता देश की मुद्रा मे ही किया जाता है और इसलिए यह प्राप्त करने वाले देश के लिए आयात और भुगतान करने वाले देश के लिए निर्यात है।

पूंजीगत खाते का बनाना—पूंजीगत खाते मे विदेशी पूंजी की समस्त गतियों का अभिलेख रखा जाता है। यदि भारतीय निवेशकर्त्ता विदेशो मे निवेश करते हैं तो उन्हें भारतीय रुपया देना होगा ताकि विदेशी मुद्रा प्राप्त की जा सके। इस प्रकार यह विदेशी विनिमय के घाटे की स्थिति को सुधारने में योगदान करता है क्योंकि इसमे विदेशी मुद्रा का प्रयोग होता है। भारत मे जब विदेशी स्रोतो द्वारा विनियोग किया जाता है तो पूंजी लेखों मे अतिरेक पैदा होता है। पूंजी के आवागमन को दीर्घकालीन पूंजीगत आवागमन, अल्पकालीन आवागमन और विनिमय सुरक्षितों के परिवर्तनो आदि के रूप मे विभाजित किया जा सकता है। इस प्रकार के आवागमन क्यों होते हैं, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। निवेशकर्त्ता जोखिम उठाकर वहाँ विनियोग करना चाहता है जहाँ से उसे अधिक से अधिक प्राप्ति हो सके। जिस प्रकार देश के अन्तर्गत पूंजी एक उद्योग से दूसरे उद्योग मे आती-जाती रहती है, ताकि उसका अधिक से अधिक प्रयोग किया जा सके उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पूंजी का आवागमन चलता रहता है। इस प्रकार के पूंजीगत आवागमनों का अर्थ यह होता है कि एक देश के रहने वाले लोग तथा फर्में दूसरे देश के उद्योगो मे निवेश कर रहे हैं और इनको भुगतान लेखों मे दीर्घकालीन आवागमन मे दिखाया जाएगा।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अस्तित्व का तथ्य व्यापारियों को धन का सन्तुलन रखने के लिए बाध्य करता है। व्यापारियो की प्राप्तियाँ एवं खर्चे पूर्ण रूप से एक

समय नहीं होते फिर भी वे सन्तुलन बनाए रखते हैं। प्रेरकों में थोड़ा और परिवर्तन लाने वाली प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप या सभी प्रकार के वास्तविक या कल्पनात्मक भयों के द्वारा राशियाँ इधर से उधर आवागमन कर सकती हैं। इस प्रकार की राशियों की बड़ी मात्रा अन्तर्राष्ट्रीय अस्थायित्व का एक सम्भावित स्रोत है क्योंकि जब एक मुद्रा से दूसरी मुद्रा में अल्पकालीन पूँजी की एकदम भीड़ लग जाती है तो विदेशी मुद्रा के लिए माँग और पूर्ति में गम्भीर परिवर्तन हो जाते हैं।

पूँजीगत लाभों में अन्तिम तत्त्व केन्द्रीय सत्ताओं के पास स्थित सोने और विदेशी विनिमय के सुरक्षित भण्डारों में परिवर्तन हैं। अधिकांश देशों की केन्द्रीय सत्ताएँ सोने और विदेशी विनिमय की पूर्ति को इसलिए रखती हैं ताकि वे विदेशी विनिमय के बाजारों में विभिन्न उद्देश्यों के लिए हस्तक्षेप कर सकें। इस दृष्टि से सोने का बहुत महत्त्व रहता है क्योंकि उसे बड़ी आसानी से और तत्काल किसी भी वांछनीय विदेशी मुद्रा में बदला जा सकता है। यदि एक देश प्राप्त की गई मुद्रा से अधिक का प्रयोग करता है तो इस घाटे की पूर्ति उसे अपने विदेशी विनिमय और सोने के सुरक्षित भण्डार में कमी करके करनी होगी। संयुक्तराज्य अमेरिका में ये सुरक्षित भण्डार मुख्य रूप से सोने के रूप में रखे जाते हैं और उसे सभी अन्य मदों पर भुगतान सन्तुलन के घाटे को सोने के निर्यात द्वारा पूरा करना होता है।

14 विनिमय दरें एवं भुगतान सन्तुलनों का समायोजन

(EXCHANGE RATES AND THE ADJUSTMENT MECHANISMS UNDER GOLD STANDARD, FIXED EXCHANGE RATES AND FLEXIBLE EXCHANGE RATES)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और राष्ट्रीय व्यापार के बीच एक मुख्य अन्तर यह होता है कि राष्ट्रीय व्यापार मे केवल एक ही मुद्रा काम मे आती है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे भाग लेने वाले विभिन्न देशों की मुद्राएँ अलग-अलग होती हैं। जब एक देश अपने माल का निर्यात करना है तो बदले मे उसे दूसरे देश की मुद्रा प्राप्त होती है। इसका देश मे उस समय तक कोई महत्त्व नही होता जब तक कि उसकी विनिमय दरें निश्चित न की जाएँ। किसी मुद्रा का विनिमय इच्छित मुद्रा मे करने के लिए एक आसान तरीका यह बताया जाता है कि आयात-कर्त्ता और निर्यातकर्त्ता मिलकर इस समस्या को सुलझाएँ। यह सुझाव अधिक उपयोगी प्रतीत नही होता। आयातकर्त्ता और निर्यातकर्त्ता एक दूसरे से अन्जान भी रह सकते हैं। इसके अतिरिक्त हो सकता है कि आयातकर्त्ता को इतनी विदेशी मुद्रा की आवश्यकता न हो जितनी कि निर्यात-कर्त्ता देना चाहता है। इसके अतिरिक्त आयात-कर्त्ता देश को मुद्रा खरीदने का अधिकार पाने के लिए केवल अल्पकालीन साख की जरूरत होती है जबकि निर्यात करने वाला देश इस प्रकार के निर्यात करने के बदले यह चाहता है कि भुगतान तुरन्त किया जाए। ससार मे इस समय अनेक मुद्राएं प्रचलित हैं और इसलिए मुद्रा के विनिमय की सफलता के बारे मे सन्देह-विहीन दृष्टिकोण नहीं अपनाया जा सकता है। यह बात सम्भव प्रतीत नही होती कि आयात-कर्त्ता और निर्यात-कर्त्ता देश परस्पर सम्पर्क बनाए रख सकेंगे।

विनिमय की समस्या को सुलझाने के लिए विदेशी विनिमय बाजार की स्थापना की गई है जहाँ विदेशी मुद्रा के अधिकारी को देशी मुद्रा मे खरीदा और बेचा जा सकता है। विदेशी विनिमय के अर्थ के सम्बन्ध मे अनेक विचार हैं। स्नाइडर के कथनानुसार—"जिन साधनों का उपयोग अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान मे किया जाता है उनको विदेशी विनिमय कहते हैं।" एनसाइक्लो-पीडिया ब्रिटानिका (Encyclopaedia Brittanica) के अनुसार "विदेशी विनिमय एक ऐसी कार्य प्रणाली है

विनिमय की दर के अर्थ के सम्बन्ध में अभिव्यक्त उपर्युक्त विचारों का अन्तर बहुत कुछ शब्दों का है मूल भाव का नहीं। निष्कर्ष यह है कि विनिमय दर विदेशी विनिमय की कीमत है। इनका महत्व यह है कि ये व्यापार करने वाले देशों की लागत-मूल्य की बनावटों को प्रत्यक्ष रूप से जोड़ने वाली कड़ियाँ हैं। विनिमय दर का पर्याप्त महत्त्व है। किसी विशेष वस्तु का आयात या निर्यात किया जाएगा अथवा नहीं किया जाएगा यह बात घरेलू मांग और पूर्ति के बीच, सम्बन्धों पर निर्भर करती है। इसके लिए यह तय करना होगा कि उस वस्तु की विश्व कीमत और घरेलू कीमत के बीच क्या अन्तर है। इस बात का निर्धारण विनिमय दर द्वारा ही किया जा सकता है। विदेशी कीमतों को घरेलू कीमतों में बदलते समय यदि दरबहुत ऊँची चढ़ जाती है तो यह कहा जाएगा कि विनिमय दर ऊँची है। दूसरी ओर यदि विदेशी वस्तु को कम घरेलू कीमत पर बदला जा सके तो विनिमय दर नीची मानी जाएगी। इस प्रकार एक देश की वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति और भुगतानों के सन्तुलन की तुल्यभारिता की सफलता प्रत्यक्ष रूप से विनिमय दरों से प्रभावित होती है।

विनिमय दरों के बीच पारिस्परिकता का सम्बन्ध रहता है। अपनी प्रकृति के अनुसार विनिमय दर एक ही साथ विदेशी मुद्रा की एक इकाई की घरेलू मुद्रा मे कीमत है तथा साथ ही घरेलू मुद्रा की विदेशी मुद्रा मे भी कीमत है। दूसरे शब्दों में विनिमय की दर यह निश्चित करती है कि 'क' देश की एक मुद्रा के बदले 'ख' देश को अपनी मुद्रा की कितनी इकाइयाँ देनी होंगी। दूसरी ओर इनसे यह भी पता लग जाता है कि 'ख' देश की कितनी मुद्राओं के बदले 'क' देश द्वारा कितनी मुद्राएँ प्रदान की जाएँगी।

विनिमय दर का निर्धारण
(Determination of the Exchange Rate)

विनिमय की दर का निर्धारण मुद्रा की मांग और पूर्ति से सम्बन्धित परिस्थितियों द्वारा किया जाता है। विभिन्न विनिमय की दरें परस्पर सम्बन्धित रहती हैं। यह सम्बन्ध इस बात का प्रमाण है कि विनिमय की दर के निर्माण मे कोई न कोई सामान्य सिद्धान्त काम करता है।

विनिमय की दर को निर्धारित करते समय जो विभिन्न तत्त्व प्रभाव डालते हैं उनके अनुसार वह या तो समान होती है या अधिक होती है अथवा कम होती है। किस देश मे विनिमय दर का कौनसा रूप महत्त्वपूर्ण रहेगा यह विभिन्न परिस्थितियों पर निर्भर करता है। विनिमय की दर का निर्धारण स्वतन्त्र बाजार मे विभिन्न शक्तियों द्वारा किया जाता है। एक देश की सरकार प्रायः स्वयं यह निर्धारण कर देती है कि उसके निवासी किस दर पर एक विशेष प्रकार के विदेशी धन को खरीदेंगे तथा देश का कोई व्यक्ति विदेशी मुद्रा को किस दर पर सरकार को बेचेगा।

हो सकता है कि पूँजीगत माल के आयात पर भुगतान के लिए प्रयुक्त डॉलर की कीमत जमानत की खरीददारी के लिए प्रयोग मे लाए जाने वाले डॉलरों से भिन्न

विनिमय की दर जितनी कम होती है किए जाने वाले आयात देशी मुद्रा की दृष्टि से उतने ही सस्ते पड़ते हैं। अतः किए जाने वाले आयातों की माँग बढ़ जाती है। फलत. किए जाने वाले आयातो की माँग बढ़ने से विदेशी मुद्रा की मात्रा भी अधिक हो जाएगी।

विनिमय के लिए माँग की अनुसूची की दर, माँग की लोचशीलता से पर्याप्त सम्बन्ध रखती है। माँग की लोचशीलता का अर्थ उस प्रक्रिया की मात्रा से है जो विनिमय की दर मे कमी या बढोतरी के कारण विनिमय की मात्रा में आवश्यक समझी जाती है। माँग की लोचशीलता को परिभाषित करते हुए कहा जाता है कि यह विनिमय दर के परिवर्तन के प्रतिशत और वाञ्छित विनिमय की मात्रा मे परिवर्तन के प्रतिशत का अनुपात है। उदाहरण के लिए, यदि विनिमय दर मे एक प्रतिशत की कमी हो जाए और इसके परिणामस्वरूप विनिमय की माँग की मात्रा मे एक प्रतिशत की वृद्धि हो जाए तो माँग की लोचशीलता एकरूप होगी। यदि मात्रा के परिवर्तन का प्रतिशत 'दर' के परिवर्तन की अपेक्षा अधिक है तो माँग अपेक्षाकृत लोचशील होगी अर्थात् वह एक रूप से अधिक होगी। इससे विपरीत स्थितियो मे माँग लोचहीन होगी।

विनिमय की चालू माँग की लोचशीलता अनेक तत्वों पर निर्भर करती है। खाद्य सामग्री की माँग प्रायः लोचहीन होती है और इसलिए जिस देश के आयातों मे खाद्य सामग्री की मात्रा अधिक होती है उस देश मे इनका भुगतान करने के लिए विनिमय की माँग लोचहीन होती है। दूसरी ओर जब एक देश के आयातों में लोचशील माँग वाली बहुत सी वस्तुएँ होती हैं या जिनके घरेलू विकल्प होते हैं यदि उनकी विनिमय दर मे परिवर्तन किया गया तो वाञ्छित आयातों की मात्रा की प्रतिक्रिया अधिक होगी और विनिमय के लिए माँग की लोचशीलता अधिक हो जाएगी।

विनिमय की चालू पूर्ति
(The Current Supply of Exchange)

विदेशी विनिमय की चालू पूर्ति माल और सेवाओं के चालू निर्यात से प्राप्त की जाती है। एक देश की चालू विनिमय की आय वही है जो दूसरे देश उसके सामान और निर्यातों पर चालू खर्चा करते हैं। इस प्रकार विदेशी विनिमय की पूर्ति अनुसूची की लोचशीलता और उसकी स्थिति उस देश की मुद्रा के लिए विदेशी माँग की स्थिति और लोचशीलता पर निर्भर करती है। एक देश के विनिमय की माँग किस प्रकार दूसरे देश के विनिमय की पूर्ति मे बदल जाती है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। इस सम्बन्ध मे यह कहना उपयुक्त रहेगा कि एक देश मे विदेशी विनिमय की चालू पूर्ति की वक्र रेखा उस समय तक बाएँ से दाएँ की ओर बढती है जब तक कि उसकी मुद्रा की वैदेशिक माँग अपेक्षाकृत लोचशील है।

घटती-बढ़ती दर-व्यवस्था में दर निर्धारण (Rate Determination in a Freely Fluctuating Rate System)

यदि एक क्षण के लिए हम यह मान लें कि चालू खाते के लेन देन ही विदेशी विनिमय की मांग और पूर्ति के एकमात्र स्रोत हैं और पूंजी के आवागमन, सोने के बहाव तथा एक पक्षीय हस्तान्तरण का कोई महत्त्व नहीं होता तो विनिमय की दर चालू खाते की मांग तथा पूर्ति के सम्बन्धों में परिवर्तनों के अनुसार स्वतन्त्र रूप से घटती-बढ़ती रहेगी। चालू अन्तर्राष्ट्रीय खर्चा, चालू अन्तर्राष्ट्रीय प्राप्तियों से अधिक नहीं बढ़ सकता, क्योंकि आयातों का भुगतान करने के लिए हमारी मान्यता के अधीन कोई अन्य साधन नहीं रहेगा। विनिमय के लिए बढ़ी हुई मांग अथवा विनिमय के लिए घटी हुई पूर्ति शीघ्र ही विनिमय की दर की वृद्धि का कारण बन जाएगी और यह वृद्धि उस समय तक होगी जब तक कि विनिमय की दरें तथा मांग और पूर्ति बराबर न हो जाएं। इस सम्बन्ध में एक प्रश्न यह उठ सकता है कि मांग में होने वाली कोई वृद्धि या पूर्ति में होने वाली कोई कमी विनिमय की दर को कितना बढ़ा देती है? अनुसूचियों की लोचशीलता का इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण योगदान होता है।

विदेशी विनिमय की पूर्ति जितनी अधिक लोचहीन होती है, बढ़ी हुई मांग के परिणामस्वरूप दर की वृद्धि भी उतनी ही ऊँची हो जाती है।

दर का स्थायित्व (The Stability of Rate)

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि स्वतन्त्र रूप से घटने-बढ़ने वाली दर व्यवस्था में विनिमय बाजार का स्थायित्व कितना रहेगा? यदि आयातकर्त्ताओं द्वारा दर की वृद्धि को अस्थायी समझा जाता है तो वे अपनी दी गई आज्ञाओं को उस समय तक रोक देंगे जब तक कि दर गिर न जाए। दूसरी ओर यदि विदेशी आयातकर्त्ता भी उसे अस्थायी मानते हैं तो वे बढ़ती हुई दर का अधिक से अधिक लाभ उठाने की जल्दी में रहेंगे और अपने आयातों को बढ़ा देंगे। जब एक देश की विनिमय दर में वृद्धि होती है तो दूसरे देशों की मुद्राओं की दरों में भी कमी हो जाती है। इनका दर पर एक स्थायित्वपूर्ण प्रभाव पड़ेगा।

हम एक अन्य स्थिति की कल्पना कर सकते हैं जिसमें अल्पकालीन पूंजी के आवागमन शामिल होंगे। यह मान्यता गलत है कि विनिमय विक्रेता अपने विदेशी सन्तुलनों में शुद्ध कमी या बढ़ोतरी करने के अनिच्छुक होंगे। इसके अतिरिक्त जब हम यह मान लेते हैं कि दर की वृद्धि केवल अस्थायी है और शीघ्र ही गिर जाएगी, तो उसे स्थिरता देने के लिए अल्पकालीन पूंजीगत प्रवाह अस्तित्व में आ सकता है। विनिमय के सौदागर इस उच्च दर का लाभ उठाते हुए अपने विदेशी सन्तुलनों को साधारण स्तरों से भी नीचे ले आते हैं। किन्तु जिस देश में दर ऊँची चढ़ गई है वहाँ विनिमय के सौदागर अपने विदेशी सन्तुलनों को सामान्य से ऊपर रखेंगे। दरों में स्थायित्व लाने के लिए आयात और निर्यात का समायोजन किया जाता है।

निश्चित विनिमय दरें
(Fixed Exchange Rates)

उपरोक्त स्वतन्त्र बाजार की विनिमय व्यवस्था में दरें स्वतन्त्रतापूर्वक घटती-बढ़ती रहती हैं। इसके विपरीत विनिमय दर की एक निश्चित व्यवस्था होती है जिसे अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान (International Gold Standard) कहा जाता है। इसके अन्तर्गत विनिमय दरें एक सीमा से आगे नही घटती-बढ़ती।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की व्यवस्था मे प्रत्येक देश अपनी मौद्रिक इकाई को एक निश्चित स्वर्ण की मात्रा के रूप मे कानूनन परिभाषित कर देता है। 1930 मे सयुक्त राज्य अमेरिका और इगलैण्ड, दोनो ने स्वर्णमान अपनाए। डॉलर को 23 22 ग्रेन शुद्ध सोने के बराबर माना गया और ब्रिटिश पौंड को 113 ग्रेन शुद्ध सोने के बराबर। स्वर्ण के रूप मे मुद्रा का मूल्य निर्धारित करने के अतिरिक्त स्वर्णमान की व्यवस्था मे मौद्रिक सत्ताएँ स्वतन्त्रतापूर्वक निर्धारित कीमत पर असीमित मात्रा मे सोना खरीद और बेच सकती हैं। इससे बाजार भाव और सोने के सरकारी टंक भाव समान हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त स्वर्णमान के अन्तर्गत दो देशो के बीच विनिमय दर का निर्धारण उनके स्वर्ण भण्डार के अनुपात मे होता है। सोने की कीमत का अनुपात उनमे से प्रत्येक देश मे एक जैसा रहता है।

स्पष्ट है कि स्वर्णमान वाली मुद्राओ के बीच विनिमय की वास्तविक दर उस व्यय से अधिक नही बढ सकती जो उनको यहाँ से वहाँ ले जाने पर आता है। यदि दर इससे अधिक बढती है तो सौदा करने वालों को आयात या निर्यात करने मे बहुत लाभ रहेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की कुछ विशेषताएं होती हैं। एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमे स्वतन्त्र बाजार की शक्तियो के सचालन से विनिमय की स्थायी दरें स्वत ही कायम हो जाती हैं। ऐसी स्थिति मे अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान पर किसी प्रकार का कृत्रिम प्रतिबन्ध लगाए बिना जिस विनिमय व्यवस्था मे स्थायी विनिमय दरें कायम होती हैं उनको स्वर्ण मापक कहा जाता है।

लोचशील विनिमय दरें
(Flexible Exchange Rates)

लोचशील विनिमय दर के अधीन मुद्रा के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य को किसी वस्तु के रूप मे निश्चित नही किया जाता और न उसे व्यक्तिगत बाजार की शक्तियों की प्रतिक्रिया में स्वतन्त्रतापूर्वक घटने-बढने दिया जाता है। इस प्रकार 'लोचशील दर-व्यवस्था' निश्चित और स्वतन्त्रतापूर्वक घटने-बढने वाली दर-व्यवस्था के बीच की स्थिति है। एक लोचशील दर-व्यवस्था के अधीन विनिमय दर का निर्धारण दिन-प्रतिदिन के स्वतन्त्र बाजार की माँग तथा पूर्ति द्वारा होता है। जब सरकार विनिमय दर को नियन्त्रित करती है तो ऐसा करने के लिए उसे व्यक्तिगत बाजार को दबाना या बदलना नही होता वरन् उसे प्रयोग मे लाना होता है।

लोचशील दर-व्यवस्था को सचालित करने के लिए बाजार में आवश्यक हस्तक्षेप केन्द्रीय बैंक या राजकोष अथवा इसी लक्ष्य के लिए नियुक्त विशेष अभिकरण द्वारा किया जा सकता है। 1930 के दौरान ब्रिटेन, अमेरिका और फ्रांस में विनिमय स्थायीकरण कोष रखे गए थे। इस कोष की प्राप्तियों के अनुपात में परिवर्तन होने के कारण मुद्रा की अन्तर्राष्ट्रीय कीमत बदलती रहती है। जब कभी विनिमय दर को ऊँचा उठाना हो अथवा उसे गिरने से रोकना हो तो कोष द्वारा विदेशी विनिमय को कम दर पर खरीद लिया जाता है। यह कोष अपने कार्यों को गोपनीय रखता है ताकि केवल अनुमानों के आधार पर विनिमय बाजार की कार्यवाइयाँ सचालित की जाएँ।

विनिमय दर को नियन्त्रित करने की शक्ति सम्भवत इस कोष की प्राप्तियों की मात्रा पर निर्भर करती है।

लोचशील दर-व्यवस्था का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसके द्वारा अधिक घटाव-बढ़ाव के बिना ही स्वतन्त्र बाजार को सुगम बनाया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ प्रत्येक देश की लोचशील विनिमय दर की नीति अपनाने में सहायता करती है।

माँग और पूर्ति का सन्तुलन
(Balance of Demand and Supply)

माँग और पूर्ति के सन्तुलन द्वारा विनिमय दर निश्चित की जाती है। इस सन्तुलन में अन्तर के साथ विनिमय दर में भी परिवर्तन आ जाते हैं। विदेशी मुद्रा की माँग जब उसकी पूर्ति के बराबर होती है तो विनिमय की दर में समता आ जाती है। जब विदेशी मुद्रा की माँग उसकी पूर्ति से अधिक हो, जाती है तो विदेशी मुद्रा का मूल्य समता से ऊपर आ जाता है और स्वदेशी मुद्रा का मूल्य समता से नीचे गिर जाता है। ऐसी स्थिति में विदेशी मुद्रा खरीदने के लिए अधिक देशी मुद्रा देनी होगी। जब किसी विदेशी मुद्रा की माँग उसकी पूर्ति से कम हो जाती है तो उसकी कीमत समता से कम हो जाएगी। ऐसी स्थिति में विदेशी मुद्रा या उसके बिलो का भुगतान करने के लिए हमें पहले की अपेक्षा में कम देशी मुद्राएँ देनी होगी। इस प्रकार माँग या पूर्ति में असन्तुलन होता है तो विनिमय दर की समता ऊपर या नीचे चली जाती है। विनिमय दर के बढ़ने या घटने की सीमा जानने के लिए विभिन्न मुद्रा सम्बन्धी परिस्थितियों पर अलग से विचार करना होता है। ये निम्न प्रकार हैं—

(1) जब दोनों देश स्वर्णमान (Gold Standard) पर हों—जब दो देशो में स्वर्णमान होता है तो उनके बीच विनिमय समता प्राप्त करने के लिए उनके प्रामाणिक सिक्कों की विशुद्ध स्वर्ण से समानता स्थापित की जाती है। इसे टक समता दर (Mint Par of Exchange) कहा जाता है। इस व्यवस्था में उतार-चढ़ाव उन सीमाओं के बीच होते हैं जो उच्चतम और निम्नतम स्वर्ण बिन्दुओं द्वारा निर्धारित होती है।

निश्चित दिन को ही देने के समझौते किए जाते हैं। मुद्रा की कीमत समझौते के समय निर्धारित कर दी जाती है। बदले में भुगतान विदेशी मुद्रा देने के समय किया जाता है। अग्रिम बाजार यथास्थान विनिमय बाजार (Spot Exchange Market) से भिन्न होते हैं जिनमें विदेशी मुद्रा तुरन्त भुगतान के लिए दी जाती है।

तदनुसार अग्रिम विनिमय दर वह कीमत है जो भविष्य में निर्धारित समय दी जाने वाली मुद्रा के लिए तय की जाती है। सुविधा के लिए अग्रिम विनिमय वास्तविक कीमत के रूप में नहीं वरन् उनकी प्रीमियम या कटौती के रूप में वर्णित किए जाते हैं जो यथास्थान दर के ऊपर होती है। इस प्रकार ये वास्तविक कीमतें नहीं हैं वरन यथास्थान दरों पर प्रीमियम या कटौती की दर हैं।

अग्रिम विनिमय सुविधाएँ अधिकतर बैंकों द्वारा प्रदान की जाती हैं। बैंक इन सुविधाओं के लिए कमीशन लेते हैं। साधारणतः वे इनकी कोई जोखिम नहीं उठाते। अनेक आयातकर्त्ता भावी जोखिम से बचने के लिए अग्रिम रूप से विनिमय खरीद लेते हैं। इसी उद्देश्य से निर्यातकर्त्ता उसे बेचते हैं। क्रेता और विक्रेता के मध्य बिचौलियों का कार्य सम्पन्न करने के कारण बैंक कमीशन कमाती है। यदि कोई बैंक किसी आयातकर्त्ता को अग्रिम विनिमय बेचने का समझौता करती है तो उसी समय किसी निर्यातकर्त्ता से खरीदने का समझौता भी कर लेती है। बैंक की खरीद और बिक्री समान होती है इसलिए किसी जोखिम का प्रश्न नहीं उठता। बैंक सट्टेबाजी में न पड़कर केवल कमीशन से अपना लाभ कमाती है। इसलिए विनिमय दर की कीमत के उतार-चढ़ावों से वह अपने-आपको अलग बनाए रखती है। बैंक अनेक विकल्पों से जोखिम को दूर रखने का प्रयास करती है। आवश्यकता के समय बैंक सट्टेबाजों से विनिमय खरीद लेती है अथवा यदि किसी स्रोत से उसे मुद्रा न मिल सके तो वह अतिरिक्त अग्रिम विनिमय बेचना अस्वीकार कर देती है।

अग्रिम विनिमय दरों का निर्धारण
(Determination of Forward Exchange Rates)

अग्रिम विनिमय दरें अग्रिम विनिमय की माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होती हैं। यदि उनकी 'पूर्ति' माँग की अपेक्षा अधिक बढ़ जाती है तो अग्रिम विनिमय दर यथास्थित विनिमय दर से नीची होती है। दूसरी ओर यदि उनकी 'माँग' पूर्ति की अपेक्षा बढ़ जाती है तो अग्रिम विनिमय दरें यथास्थान विनिमय दरों (Spot Exchange Rates) की अपेक्षा ऊँची होंगी। अग्रिम विनिमय की माँग मुख्य रूप से आयातों, पूँजी के बहिर्गमन, सट्टेबाजी आदि द्वारा पैदा होती है। विदेशी माल को आयात करने वाला यदि भविष्य में भुगतान करे तो विनिमय दरों में परिवर्तन के जोखिम से बचने के लिए वह अग्रिम रूप से विदेशी विनिमय खरीदने का सौदा कर सकता है। जब सट्टेबाज विनिमय दर बढ़ने की आशा करते हैं तो वे अग्रिम विनिमय खरीदने के लिए समझौता कर लेते हैं। अग्रिम विनिमय की पूर्ति के स्रोत मुख्यतः पूँजी के निर्यातकर्त्ता, सट्टेबाज, व्यापारिक वस्तुओं के निर्यातकर्त्ता आदि होते हैं।

कटौती की दर बढती चली जाएगी। इस प्रकार भारत से लन्दन के लिए अतिरिक्त कोष के परिवर्तन की प्रेरणा समाप्त हो जाएगी। इसके अतिरिक्त जब भारत से पूँजी लन्दन की ओर जाएगी तो भारत मे ब्याज की दरें बढ जाएँगी और लन्दन मे कम हो जाएँगी। दोनों देशों के बीच ब्याज की दरों के अन्तर कम हो जाएँगे। अन्त मे एक समतुल्य स्थिति उत्पन्न हो जाएगी जिसमे अग्रिम विनिमय दर कटौती ब्याज की दर के अन्तर के बराबर हो जाएगी और इसलिए पूँजी के हस्तान्तरण की प्रेरणाएँ समाप्त हो जाएँगी।

अग्रिम विनिमय बाजार के सम्बन्ध मे एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह केवल कुछ मूलभूत शर्तों के साथ ही कार्य कर सकता है। प्रमुख शर्तें ये हैं—(1) विदेशी मुद्रा मे व्यापार, सट्टेबाजी आदि पर अनुचित प्रतिबन्ध नही होने चाहिए। (2) मुद्रा-चलन को विनिमय की निश्चित दर पर कठोर रूप से स्थिर नही करना चाहिए। (3) सम्बन्धित मुद्रा-चलन पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है, अर्थात् इसमे किए जाने-वाले लेन-देन नियमित और पर्याप्त होने चाहिए। विनिमय नियन्त्रण के होने पर अग्रिम समझौतों मे बाधा आएगी और इस प्रकार अग्रिम बाजारों का कार्य रुक जाएगा। कुछ देश अग्रिम विनिमय लेन-देनो पर पूरी तरह रोक लगा देते है।

क्रय-शक्ति क्षमता सिद्धान्त
(Purchasing Power Parity Theory)

इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम स्वीडन के अर्थशास्त्री गुस्ताव कैसिल (Gustav Cassel) ने किया। उसने विभिन्न देशो की मुद्राओ के बीच सही विनिमय दर को निर्धारित करने के लिए यह सिद्धान्त अपनाया। सिद्धान्त के दो रूप हैं—पूर्ण एव तुलनात्मक। इसके पूर्ण रूप के अनुसार विनिमय दर उस समय समतुल्य होगी जब व्यापार करने वाले सभी देशों मे मुद्रा की क्रय-शक्ति समान होगी। अपने तुलनात्मक रूप मे यह क्रय-शक्ति के परिवर्तनों एव विनिमय दरो मे होने वाले परिवर्तनो के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है। यह एक विशेष समय विभिन्न देशों की मुद्राओं के बीच सही विनिमय दर को निर्धारित करता है। सिद्धान्त के अनुसार अन्य बातें समान रहने पर कीमत स्तर मे होने वाली वृद्धि या कमी विनिमय दर मे आनुपातिक कमी या वृद्धि का कारण बनती है।

आलोचना—(1) आलोचकों का कहना है कि यह सिद्धान्त केवल तभी उपयुक्त ठहरता है जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की जाने वाली वस्तुओ पर ही लागू किया जाता है तथा सामान्य कीमत-स्तर पर लागू करते समय सही सिद्ध नही होता। व्यापार न की जाने वाली वस्तुओ की कीमतें अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों से स्वतन्त्र रहती है। ऐसी वस्तुओ की घरेलू और विदेशी कीमतों के बीच कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही रहता। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को जाने वाली वस्तुओ की कीमतें विनिमय दर मे होने वाले परिवर्तनो के साथ आवश्यक रूप से समायोजित हो जाती हैं। वस्तुओ की घरेलू कीमतें विनिमय दरों के परिवर्तनो को निर्धारित करने की अपेक्षा उन्हें स्वीकार करती है। कैसिल का मत था कि यदि इसे अन्तर्राष्ट्रीय

व्यापार की जाने वाली वस्तुओं पर लागू किया गया तो सिद्धान्त अधिक उपयुक्त नहीं रहेगा।

(2) सभी घटना क्रमों एवं आकस्मिक सम्बन्धों के बीच अन्तर किया जाना चाहिए। घरेलू कीमत-स्तर और विदेशी विनिमय की दर के बीच विरोधी गति का अर्थ आवश्यक रूप से यह नहीं होता कि बाद वाले का परिवर्तन प्रथम के परिवर्तन का परिणाम है। प्रायः दूसरे कारणों से भी इन दोनों में परिवर्तन हो जाते हैं। कभी-कभी विनिमय दर के कारण वस्तुओं की कीमतें बदल जाती हैं। विनिमय दर में होने वाली कटौती घरेलू मुद्रा की दृष्टि से आयात और निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की कीमतों को बढ़ा देगी। यह वृद्धि उन घरेलू वस्तुओं की कीमतों को बढ़ाएगी जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से आयात और निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की स्थानापन्न बन सकती है। घरेलू तथा व्यापार की जाने वाली वस्तुओं के लिए प्रयुक्त उत्पादन के साधन बहुत कुछ एक जैसे होते हैं। यदि व्यापार की जाने वाली वस्तुओं की कीमत बढ़ेगी तो घरेलू वस्तुओं की कीमतें भी बढ़ जाएँगी इस प्रकार विनिमय दर में होने वाली कमी सामान्य कीमत स्तर को बढ़ा देगी।

(3) कीमत-स्तर में परिवर्तन की मान्यता पर्याप्त व्यापक है। सभी वस्तुओं की कीमतें कभी एक ही दिशा में गति नहीं करतीं। कुछ वस्तुओं की कीमतें दूसरों की अपेक्षा अधिक तेजी से घटती या बढ़ती हैं। ऐसी स्थिति में विभिन्न देशों के बीच कीमत गतियों की तुलना नहीं की जा सकती। इस प्रकार की कोई तुलना निश्चित नहीं हो सकती, केवल अनुमान मात्र हो सकती है।

(4) इस सिद्धान्त का पूर्ण रूप वस्तुओं के स्थानान्तरण की लागत को भुला देता है। सिद्धान्त केवल तभी सही रहेगा जब विभिन्न देशों के बीच वस्तुएं स्वतन्त्रता पूर्वक बिना किसी लागत के आती-जाती रहें। वास्तविक व्यवहार में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की जाने वाली वस्तुओं की कीमतें दो देशों के बीच स्थानान्तरण लागत के कारण भी बदल सकती है। इसके अतिरिक्त सूचना का अभाव, नए बाजार में विक्रय-लागत, पहल का आयात आदि विभिन्न कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वस्तुओं की कीमतें विभिन्न देशों में अलग-अलग हो सकती हैं।

(5) दो देशों की मुद्राओं के बीच विनिमय दर क्रय शक्ति समता (Purchasing Power Parity) द्वारा ही निर्धारित नहीं होती वरन् एक दूसरे की वस्तुओं के बीच देशों की पारम्परिक माँग (Resiprocal Demand) द्वारा भी होती है। वस्तुओं की पारस्परिक माँग में रुचि, फैशन, आय इत्यादि के कारण परिवर्तन आते हैं। यह परिवर्तन कीमत स्तरों के अपरिवर्तित रहने पर भी विनिमय दर में परिवर्तन ला देते हैं। कैसिल ने प्रोफेसर वाइनर के साथ वाद विवाद के समय विनिमय दर के निर्धारण में पारस्परिक माँग के योगदान को स्वीकार किया है।

(6) कैसिल का कहना था कि कागजी मुद्रा की मात्रा में होने वाला कोई परिवर्तन उसके आन्तरिक और बाहरी मूल्य में आनुपातिक परिवर्तन का कारण बनेगा। इस गतिशील संसार में मुद्रा का आन्तरिक और बाहरी मूल्य उसके आकार

मे परिवर्तन से अधिक या कम हो सकता है। मुद्रा का बाहरी और आन्तरिक मूल्य निर्धारित करने मे आशाएँ और अनुमान महत्त्वपूर्ण योगदान करते हैं। विनिमय-दर प्रायः वास्तविक की अपेक्षा अनुमानित क्रय शक्ति समता से प्रभावित होती है।

(7) यह देखना अत्यन्त कठिन है कि किस समय विनिमय-दर समतुल्य होगी। इसलिए किसी विशेष समय सही विनिमय-दर निर्धारित करने के लिए आधारभूत समय किसे माना जाए यह समस्या उत्पन्न हो जाती है।

(8) क्रय शक्ति समता केवल एक वस्तु कीमत समता है। यह वस्तुओं के व्यापार मे उत्पन्न विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति को ध्यान में रखती है। यह दीर्घकालीन निवेश के प्रभाव, ब्याज और लाभांश के स्थानान्तरण और विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति पर पूँजी की अल्पकालीन गतियों की अवहेलना करती है। दो देशों मे कीमत-स्तर के अपरिवर्तित रहने पर भी उनके पूँजीगत आवागमन दोनो देशो की विनिमय-दर में परिवर्तन ला देते हैं।

क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त सर्वप्रथम विनिमय दरो मे होने वाली उन गतियों को स्पष्ट करने के लिए बनाया गया जो प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान हुई थी। विश्व-युद्धो के मध्यवर्ती काल मे इस सिद्धान्त की कटु आलोचनाएँ हुई और इसे बहुत कुछ ठुकरा दिया गया। अनेक आलोचनाओ के बाद भी यह कहा जा सकता है कि सिद्धान्त निरर्थक नही है। यह एक दम निश्चित (Exact) नही हो सकता, किन्तु सही विनिमय दर निर्धारित करने मे महत्त्वपूर्ण पथ-प्रदर्शक हो सकता है।

विनिमय दरों में उतार-चढ़ाव के कारण
(The Causes of Fluctuations in Rates of Exchange)

मुद्राओ की विभिन्नता के कारण विदेशी व्यापार की जटिलताएँ पर्याप्त बढ जाती हैं। प्रत्येक देश यह चाहता है कि भुगतान उसी की मुद्रा मे किया जाए अथवा ऐसी मुद्रा मे किया जाए जो सभी देशो मे महत्त्व रखती हो। जिस समय स्वर्णमान (Gold Standard) का प्रभाव था, उस समय प्रत्येक देश अपना भुगतान सोने के रूप मे कर सकता था और इसलिए विदेशी मुद्रा की समस्या कोई गम्भीर नही थी। आजकल स्वर्णमान (Gold Standard) छूट चुका है। इसके अतिरिक्त सोने को भेजना भी पर्याप्त खर्चीला होता है। अतः कोई भी देश अपने स्वर्णकोष को खाली करना पसन्द नहीं करता।

उपर्युक्त स्थिति के कारण विनिमय दर की आवश्यकता महसूस हुई। इसके द्वारा दो देशो की मुद्राओ के विनिमय-अनुपात को प्रकट किया जाता है। विनिमय दरो मे समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं जो विभिन्न कारणो का परिणाम है। यह परिवर्तन किसी देश के लिए अधिक फलदायी नही होता और प्रायः प्रत्येक देश का मुद्राधिकारी यह प्रयास करता है कि दीर्घकाल मे विनिमय दर स्थिर रहे। एक देश जिस प्रक्रिया द्वारा दीर्घकालीन विनिमय स्थिरता प्राप्त करता है वह भिन्न-भिन्न देशो के मुद्रा-मानो के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। विनिमय दर पर जिन विभिन्न तत्त्वो का प्रभाव पडता है वे अनेक हैं। इनमे विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति तथा राजनैतिक परिस्थितियो का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है।

किसी देश की मांग और पूर्ति विभिन्न कारणों से प्रभावित होती है—

(1) इसका प्रथम कारण व्यापारिक है। इसके अनुसार यदि एक देश का निर्यात उसके आयात से अधिक है तो उस देश की मुद्रा की मांग उसकी पूर्ति की अपेक्षा बढ़ जाएगी और इसलिए विनिमय की दर उस देश के पक्ष में हो जाएगी। इसके विपरीत जब एक देश का 'आयात' निर्यात की अपेक्षा अधिक होता है तो वहां विदेशी मुद्रा की 'मांग' पूर्ति की अपेक्षा बढ़ जाएगी। ऋण, ब्याज और लाभांश आदि द्वारा भी विनिमय दर पर पर्याप्त प्रभाव डाला जाता है।

(2) जब एक देश, विदेशों में प्रतिभूतियां खरीदता है तो विक्रेताओं को विदेशी मुद्रा देने के लिए विदेशी मुद्रा की मांग बढ़ जाती है। दूसरी ओर यदि विदेशी लोग उस देश में प्रतिभूतियां खरीद रहे हैं तो उन्हें भुगतान करने के लिए देशी मुद्रा जुटानी होगी। फलतः विदेशी मुद्रा की पूर्ति उसकी मांग की अपेक्षा बढ़ जाएगी। मांग और पूर्ति के इस परिवर्तन से विनिमय दर में भी उतार-चढ़ाव आता रहेगा।

(3) बैंकों से सम्बन्धित कुछ कारण होते हैं जो विदेशी विनिमय में उतार-चढ़ाव लाते रहते हैं। जब बैंकों द्वारा विदेशी बिलों अथवा यात्रियों के साख-पत्रों का क्रय-विक्रय किया जाता है तो पूंजी का एक देश से दूसरे देश को स्थानान्तरण होता रहता है। यह स्थानान्तरण विनिमय दर के परिवर्तन का कारण बनता है। बैंक दर में कमी या बढ़ोतरी होने के कारण पूंजी के आवागमन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है और इसके फलस्वरूप विदेशी मुद्रा की मांग और पूर्ति भी प्रभावित होती है।

(4) मुद्रा सम्बन्धी विभिन्न कारणों का भी विनिमय दर पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए जब मुद्रा का प्रसार होता है तो पूंजी विदेशों को जाने लगती है। मुद्रा प्रसार (Inflation) होने से उसका अवमूल्यन हो जाता है। परिणामस्वरूप मुद्रा की क्रय-शक्ति कम हो जाती है तथा विनिमय दर देश के प्रतिकूल हो जाती है। मुद्रा संकुचन (Deflation) का भी विनिमय दर पर प्रभाव पड़ता है क्योंकि ऐसा होने पर विदेशियों द्वारा लाभ के लोभ में देशी मुद्रा खरीदी जाती है।

(5) राजनैतिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप भी विनिमय दर प्रभावित होती है। उदाहरण के लिए सरकार की संरक्षण नीति जिसके द्वारा आयात को संकुचित और निर्यात को वृद्धिशील किया जाता है, विनिमय दर पर पर्याप्त प्रभाव डालती है। इस प्रभाव के कारण भुगतान सन्तुलन देश के अनुकूल हो जाता है और विनिमय दर देश के पक्ष में हो जाती है। दूसरे, युद्ध और शान्ति की स्थितियां भी इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व रखती हैं। देश में जब शान्ति रहती है तो सरकार स्थायी, निष्पक्ष एवं कुशल बन जाती है और इससे विदेशियों का उसमें विश्वास बढ़ जाता है। वे अपनी पूंजी देशी उद्योगों के विकास में लगाने लगते हैं। इसके फलस्वरूप विनिमय दर अनुकूल दिशा में प्रभावित होती है। तीसरे, एक देश की वित्तीय नीति भी उसकी विनिमय दर को प्रभावित करने के लिए महत्त्वपूर्ण होती है। उदाहरण के लिए, यदि सरकार द्वारा उसके बजट में घाटे की अर्थ-व्यवस्था अपनाई जाती है

तो इसके फलस्वरूप विनिमय दर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा क्योंकि देश में वही स्थिति उत्पन्न हो जाएगी जो मुद्रा-प्रसार के समय होती है। चौथे, सरकार अथवा केन्द्रीय बैंकों द्वारा विनिमय नियन्त्रण के विभिन्न साधनों को अपनाकर विनिमय दर को प्रभावित किया जा सकता है।

अनुकूल एवं प्रतिकूल विनिमय दरें
(Favourable and Unfavourable Exchange Rates)

यदि हम विनिमय दरों की अनुकूलता या प्रतिकूलता पर विचार करना चाहें तो इसके लिए हमें यह जानना चाहिए कि विनिमय दर स्वदेशी मुद्रा में प्रकट की जा रही है अथवा विदेशी मुद्रा में। जब हम विनिमय दर को स्वदेशी मुद्रा में प्रकट कर रहे हैं तो उसका गिरना या कम होना स्वदेश के पक्ष में होता है और उसका बढ़ना या ऊँचा होना स्वदेश के विपक्ष में होता है। दूसरी ओर यदि विनिमय दर को विदेशी मुद्रा में प्रकट किया जा रहा है तो बढ़ती हुई विनिमय दर स्वदेश के पक्ष में और घटती हुई विपक्ष में होती है।

अनुकूल विनिमय दरें विभिन्न व्यक्तियों पर अनेक प्रकार से प्रभाव डालती हैं। इनसे आयात को प्रोत्साहन मिलता है और निर्यात घटता है। इससे आयात कर्त्ताओं तथा उपभोक्ताओं को लाभ होता है और निर्यातकर्त्ताओं एवं उत्पादकों को हानि होती है तथा बेरोजगारी बढ़ती है।

विनिमय दर प्रतिकूल होने पर आयात घट जाते हैं और निर्यातों को प्रोत्साहन मिलता है। इससे निर्यातकर्त्ता एवं उत्पादक लाभ में रहते हैं, किन्तु आयातकर्त्ताओं एवं उपभोक्ताओं को हानि उठानी पड़ती है और श्रमिकों का रोजगार बढ़ता है।

विनिमय दर के प्रभावों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक विनिमय दर समाज के एक वर्ग पर यदि अनुकूल प्रभाव रखती है तो वह अन्य वर्ग पर प्रतिकूल प्रभाव भी रखती है और इस प्रकार किसी विशेष समय पर विनिमय को अनुकूल या प्रतिकूल कहना एक विरोधाभास सा प्रतीत होता है। कुल मिलाकर विनिमय दर का उतार-चढ़ाव लाभदायक नहीं होता; इससे व्यापार एवं व्यवसाय को क्षति पहुँचती है। जब विदेशी विनिमय दर बढ़ जाती है तो उसके परिणामस्वरूप होने वाली हानि को भरने के लिए व्यापारी वर्ग इस वृद्धि को ठहराए रखने का प्रयास करता है।

भुगतान सन्तुलनों का समायोजन
(The Adjustment Mechanisms under Gold Standard, Fixed Exchange Rates and Flexible Exchange Rates)

भुगतान सन्तुलनों में समायोजन करना परम आवश्यक है क्योंकि विनिमय की दर एक ऐसी कीमत होती है जिसे विदेशी विनिमय की माँग और पूर्ति की क्रिया प्रतिक्रिया द्वारा प्रतिपादित किया जाता है। इसके अलावा विनिमय दर एक ऐसा तत्त्व भी है जो विदेशी विनिमय की माँग और पूर्ति को प्रभावित करती है। इस प्रकार विनिमय-दर (Rate of Exchange) कारण और कार्य दोनों हैं। यहाँ

यह विषय महत्त्वपूर्ण है कि भुगतान सन्तुलनो मे विदेशी विनिमय की मांग और उसकी पूर्ति के बीच किस प्रकार सन्तुलन स्थापित किया जाता है।

समायोजन की आवश्यकता (The necessity of Adjustment)

भुगतान सन्तुलन मे जब असन्तुलितता आ जाती है तो एक देश के माल और सेवाओ का निर्यात उसके आयातो की अपेक्षा घट जाता है। समायोजना की आवश्यकता प्राय इसलिए होती है क्योकि एक देश मे विदेशी मुद्रा की पूर्ति सकुचित रहती है। इस सम्बन्ध मे किंडलेबर्गर (Kindleyberger) का कहना है कि "ब्रिटिश सरकार जब चाहे तब पौण्ड छाप सकती है अथवा बैंकिंग व्यवस्था के माध्यम से उन्हें बना सकती है किन्तु वह अमेरिकी डालर नही बना सकती।'[1] ऐसी स्थिति मे यह जरूरी हो जाता है कि सामन्जस्य की किसी व्यवस्था द्वारा भुगतान सन्तुलन की असमतुल्यता को दूर किया जाय। जब एक देश की विदेशी विनिमय की पूर्ति उसकी वर्तमान आवश्यकताओ को देखते हुए कम रहती है तो उसे अपनी विनिमय की प्रतिभूतियो (Reserves) और सोने से काम मे लेना होता है और इस प्रकार उसकी विदेशी सम्पत्ति कम हो जाती है तथा उसके विदेशी दायित्व बढ जाते है। ऐसी स्थिति मे उसका भुगतान सन्तुलन घाटे की अवस्था मे माना जाएगा। दूसरी ओर यदि भुगतानो की प्राप्ति का स्तर भुगतानो के दायित्व से अधिक है तो यह कहा जाएगा कि भुगतानो के सन्तुलन मे अतिरेक है और समतुल्यता का अभाव है।

भुगतान सन्तुलन म कमी अथवा अतिरेक कोई असाधारण बात नही है वरन् यह तो प्राय होता ही रहता है। वस्तुओ की कीमत के घटने बढने से अथवा उसकी मांग कम या अधिक होने से भुगतान सन्तुलन आगे-पीछे चलता रहता है।

इस प्रकार विभिन्न कारणो से देश का भुगतान सन्तुलन बिगड सकता है। इनमे प्रकृति का प्रकोप, आर्थिक मन्दी, व्यापार चक्र (Business Cycle), युद्धजनित उत्पादनो का जन्म, पुराने उत्पादनो की रचना के नए तरीके तथा अन्य कई कारण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। किंडलेबर्गर के शब्दो मे "अन्तर्राष्ट्रीय समायोजन की समस्या एक प्रदत्त कीमत पर एक प्रदत्त विदेशी विनिमय की मांग और पूर्ति के बीच स्थित अन्तरो में समझौता करना है।'[2]

जब एक देश का भुगतान सन्तुलन अस्त-व्यस्त होता है तो उसे किस प्रकार स्थापित किया जाए यह एक समस्या है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त शास्त्रियो ने इस प्रश्न पर बहुत समय पूर्व ही विचार करना प्रारम्भ किया और इस विषय पर पर्याप्त साहित्य मिलता है। इस साहित्य का सक्षिप्तीकरण करते हुए वाल्टर क्रॉस

1 "The British Govt can print Pounds Sterling any time it choses (or create them through the Banking System), it can not however, create U S Dollars "—*Charles P Kindleyberger,* International Economics, p 63.

2 "The problem of International Adjustment is that or reconciling the differences between the demand for and the supply of a given foreign exchange at a given price " —*C P Kindleyberger.*

(Walter Krause) ने लिखा है कि स्वतन्त्र व्यापार की स्थितियों में (या तो स्वर्ण मान के अधीन या अपरिवर्तनीय कागज के अधीन) जब विनिमय दरों (Exchange Rates), कीमतों (Prices) और आय (Incomes) में परिवर्तन होते हैं तो भुगतान सन्तुलन में सामन्जस्य स्वतः ही होता रहता है। इसके विपरीत जो देश स्वतन्त्र व्यापार की स्थितियों में सामन्जस्य नहीं लाना चाहता है वह घाटे की स्थिति में अपने अन्तर्राष्ट्रीय लेखों को सन्तुलित बनाने के लिए विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control) लागू कर सकता है। इसका उद्देश्य विदेशी विनिमय की माँग को जबरदस्ती इतना घटा देना है कि उसकी मात्रा उपलब्ध पूर्ति से अधिक न होने पाए।[1] इस सम्बन्ध में मि. हेबरलर का यह कहना पर्याप्त सही है कि "भुगतान सन्तुलनों का सामन्जस्य करने वाले यन्त्र से सम्बन्धित सिद्धान्त इतना ही पुराना है जितनी कि स्वयं आर्थिक विचारधारा है।"[2]

समायोजन की व्यवस्थाएँ
(The Systems of Adjustment)

उक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भुगतानों के अन्तर्राष्ट्रीय सामन्जस्य की स्थापना के लिए विभिन्न प्रक्रियाएँ अपनाई जा सकती हैं। सामन्जस्य की इन प्रक्रियाओं अथवा व्यवस्थाओं को प्रस्तुतीकरण की सरलता के लिए मि. क्रॉज (Mr. Crause) ने तीन प्रमुख भागों में विभाजित किया है—

(1) स्वर्णमान की स्थितियों के अधीन सामन्जस्य (The Adjustment under conditions of the Gold Standard);

(2) अपरिवर्तनीय कागजी मुद्राओं के अधीन सामन्जस्य (Adjustment under inconvertable-Paper Currencies) तथा

(3) विनिमय नियन्त्रण की व्यवस्थाओं के अधीन सामन्जस्य। (Adjustment under Systems of Exchange Control)

प्रो० किंडलेबर्गर ने भी अन्तर्राष्ट्रीय सामन्जस्य की ऐसी ही तीन व्यवस्थाओं का वर्णन किया है। उनके मतानुसार इनमें से प्रथम दो की प्रकृति अन्तर्राष्ट्रीय है जबकि अन्तिम की राष्ट्रवादी है। उनके द्वारा वर्णित व्यवस्थाएँ निम्न प्रकार हैं—

(1) स्वर्णमान या निश्चित विनिमय दर (Gold Standard or Fixed Exchange Rates)—इस व्यवस्था का मूल तत्त्व यह है कि विदेशी विनिमय की दरों को स्थिर रखा जाए और व्यवस्था के अन्य आन्तरिक तत्त्वों जैसे धन की मात्रा,

1 *Walter Krause* · The International Economy, Constable and Co, Ltd, London, 1955, p. 85

2 "The Theory of the adjustment mechanism of the balance of payments is as old as economic theory itself"—*Gottfried Heberler*, A survey of International Trade Theory, International Finance Section, Deptt. of Economics, Princeton University, 1961, p. 30.

राष्ट्रीय आय, कीमतों का स्तर तथा बैंकिंग और प्रशुल्क नीति आदि के द्वारा राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था को अन्तर्राष्ट्रीय सन्तुलन में बनाए रखने की आशा की जाए।

(2) कागजी मान या लोचशील विनिमय दर (Paper Standard or Fluctuating Exchange Rate)—इस व्यवस्था के अधीन अपनाई गई स्थिति पूर्व वर्णित की अपेक्षा विपरीत होती है। इसमें राष्ट्रीय आय, घरेलू कीमत स्तर, मौद्रिक तथा बैंकिंग नीति और प्रशुल्क सम्बन्धी व्यवहारों को यथावत् रखा जाता है और विनिमय दरों में परिवर्तन लाकर अन्तर्राष्ट्रीय समायोजन स्थापित करने का प्रयास किया जाता है।

(3) विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control)—इस व्यवस्था में उपर्युक्त दोनों व्यवस्थाओं के तत्वों को मिला दिया जाता है। इसमें राष्ट्रीय आय और धन की मात्रा आदि को यथावत् रखा जाता है और एक स्थाई विनिमय दर कायम की जाती है। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए इसमें आयातों को प्रत्यक्ष रूप में निर्यात के स्तर पर सीमित कर दिया जाता है या निर्यातों को आयातों के स्तर पर लाया जाता है अथवा दोनों को थोड़ा थोड़ा बदला जाता है।

इन तीनों व्यवस्थाओं के बीच मूल-भूत अन्तर को निम्न रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—
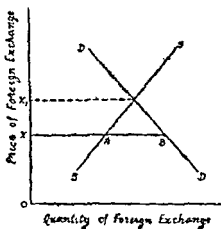
इस रेखाचित्र में यह प्रदर्शित किया गया है कि विदेशी मुद्रा की माँग (D, D) विदेशी मुद्रा की पूर्ति (S, S) से अधिक बढ़ जाती है। निश्चित विनिमय दर के आधीन घरेलू नीतियाँ बदली जाएँगी ताकि पूर्ति और माँग स्वतन्त्र बाजार में O, X कीमत पर समतुल्य बनाई जा सकें। एक लोचशील विनिमय दर के आधीन घरेलू नीतियों में परिवर्तन को अनावश्यक समझा जाएगा और पूर्ति तथा माँग की शक्तियों को समतुल्य कीमत OX_1 लाने की स्वतन्त्र अनुमति दी जाएगी। विनिमय नियन्त्रण के अधीन O, X कीमत को X Y मात्रा को

माँग करने वाले लोगों में उपलब्ध पूर्ति X A को आवंटित करके बनाए रखा जाएगा। इस प्रकार A B द्वारा प्रस्तुत की गई माँग का भाग अपूर्ण बना रहेगा।

स्वर्णमान के अधीन विनिमय दर स्वर्ण-बिन्दुओं की सीमाओं में रहकर लोचशील होने के लिए स्वतन्त्र रहती है। इस प्रकार सामन्जस्य की प्रक्रिया कीमतों और आय में परिवर्तन के द्वारा सम्पन्न की जाती है। आय और कीमतों में परिवर्तन व्यापार को और इस प्रकार विदेशी विनिमय की पूर्ति और माँग को प्रभावित करते हैं। भुगतानों के सन्तुलन में समतुल्यता केवल तभी मानी जा सकती है जब विदेशी विनिमय की पूर्ति और माँग दोनों का अनुपात बराबर हो। अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा के आधीन विनिमय की दर असीमित रूप से लोचशील रह सकती है। इस दर में परिवर्तन एवं कीमतों तथा आय के परिवर्तन मिलकर विदेशी विनिमय की माँग और पूर्ति को बराबर बनाने का प्रयास करते हैं। जो देश स्वतन्त्र बाजार की परिस्थितियों में समायोजन की स्थापना नहीं करता वह विदेशी विनिमय की माँग को उपलब्ध पूर्ति की मात्रा तक सीमित करने के लिए विनिमय नियन्त्रण लगा सकता है। यहाँ विनिमय दर स्थिर बनी रहने दी जाती है। इस प्रकार सन्तुलन बाध्यकारी तरीकों से प्राप्त किया जाता है न कि स्वतन्त्र बाजार की शक्तियों के माध्यम से।

इस प्रकार असमतुल्यता (Disequilibrium) की स्थिति में सामंजस्य स्थापित करना परमावश्यक होता है। तारशिस (Tarshis) का कहना है कि "जब भुगतान सन्तुलन समतुल्यता से बाहर है तो कुछ न कुछ होना चाहिए। यदि कुछ भी न करने की नीति अपनाई गई तो भी समायोजन होकर रहेगा।"[1] जब यह जानबूझ कर समायोजन नहीं किया जाता तो जो समायोजन होता है, वह अनिच्छापूर्ण होता है और ऐसी स्थिति में सम्बन्धित व्यक्तियों को अपनी खरीददारी कम करनी पड़ती है।

समायोजन जिन परिस्थितियों में किया जा सकता है उनका वर्णन हम पहिले कर चुके हैं। इन परिस्थितियों में किए जाने वाले प्रयासों का उल्लेख हम पृथक् से कर सकते हैं। ये प्रयास समायोजन की परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं। जिस समय भुगतानों का सन्तुलन सन्तुलित रहते हुए भी सन्तोषजनक स्तर पर नहीं रहता उस समय सन्तुलन की नवीन एवं आकर्षक स्थिति प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। इसके लिए सरकार और मौद्रिक संस्थाएँ अपनी आय के स्तर को बढ़ाने का लक्ष्य अपना लेती हैं अथवा आय प्रतिबन्धों को छूट दे देती है या उन्हें सीमित कर देती हैं अथवा पूँजीगत बाजार को स्वतन्त्र कर देती है। असमतुल्यता की स्थिति को सुधारने के लिए जो विभिन्न प्रयास किए जाते हैं उनको तारशिस (Tarshis) ने तीन समूहों में वर्गीकृत किया है—(1) अपरम्परागत किन्तु अप्रत्यक्ष उपाय (2) परम्परागत किन्तु प्रत्यक्ष उपाय और (3) धीमी गति वाले प्रयास।

इनमें से कुछ प्रयासों का उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है—

(1) निर्यातों में वृद्धि— असमतुल्यता को दूर करने का एक तरीका यह है कि पहले व्यापार सन्तुलन प्राप्त किया जाए। इसके लिए निर्यातों में वृद्धि की जाएगी

1 "When the Balance of Payment is out of equilibrium, something must happen... .. even if a policy of complete inaction is adopted an adjustment will have to take place "—*Lorie Tarshis*, Introduction to International Trade and Finance, 1955, p. 300.

करने मे सावधानी बरतनी चाहिए। इसके अलावा यदि दूसरे देश इस नीति की प्रतिक्रिया स्वरूप अपने देश मे मुद्रा के मूल्य एवं वस्तुओं के मूल्य को कम कर दें तो यह नीति अधिक फलदायक नहीं होगी।

(4) मुद्रा का अवमूल्यन (Devaluation of Currency)—यह एक अन्य प्रक्रिया है जिसे भुगतान सन्तुलन मे समानता लाने की गरज से प्रयुक्त किया जाता है। अवमूल्यन मे एक देश अपनी मुद्रा के बाहरी मूल्य को कम कर देता है जिसके परिणामस्वरूप वह मुद्रा पहले की अपेक्षा विदेशो से कम वस्तुएँ खरीद पाती है और विदेशी वस्तुओ को खरीदने मे पहले की अपेक्षा अधिक धन देना होता है। अवमूल्यन हो जाने से विदेशी मुद्रा पहले की अपेक्षा अब अधिक देशी माल की खरीद कर सकती है इसलिए निर्यात को प्रोत्साहन मिलता है।

अवमूल्यन का प्रभाव और सफलता बहुत कुछ दूसरे देशों की प्रतिक्रिया पर निर्भर करते हैं। यदि दूसरे देश इससे नाराज होकर अपने आयातों पर कर अधिक या कम कर दें तो इस नीति के सफल होने की सम्भावनाएँ कम हो जाती हैं। अवमूल्यन की नीति को अपनाने से पहले यह देख लेना चाहिए कि विदेशों में उसकी वस्तुओ की माँग और स्वदेश मे विदेशी वस्तुओं की माँग लोचदार है या नही। वस्तुओ की माँग के लोचशील होने के कारण मुद्रा का अवमूल्यन करने से कोई लाभ नही होता और न ही भुगतान सन्तुलन की असमतुल्यता को दूर करने का लक्ष्य पूरा हो सकता है। इस स्थिति म अवमूल्यन की नीति को अपनाने से पहले भी पर्याप्त सजगता रखनी चाहिए।

भुगतान सन्तुलन में समतुल्यता न होना अन्तर्राष्ट्रीय चिन्ता का विषय है और इसलिए कुछ अन्तर्राष्ट्रीय संगठन इसमे सुधार करने का प्रयास करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा इस स्थिति मे एक देश की सहायता की जाती है। वह भुगतान सन्तुलन मे समतुल्यता लाने के लिए असमतुल्यता की स्थिति को दो वर्गों में विभाजित करता है-मौलिक असमतुल्यता (Fundamental Disequilibrium) और अस्थायी समतुल्यता (Temporary Disequilibrium)। इन दोनों स्थितियों मे अलग-अलग उपाय बरतने का परामर्श दिया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्यों के लिए यह जरूरी है कि वे अपने देश में उत्पन्न असमतुल्यता को दूर करने के लिए कोई भी कदम उठाने से पहले कोष से सहमति प्राप्त करें। कोष द्वारा अपने सभी राष्ट्रों की मुद्राओ का सम्बन्ध स्वर्ण अथवा डालर से स्थापित कर दिया गया है और इस प्रकार उनकी आपसी विनिमय दरें भी निर्धारित कर दी गई हैं। इन विनिमय दरो में यदि कोई परिवर्तन करना हो तो वह कोष की अनुमति लिए बिना नहीं किया जा सकता। जब एक देश अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करता है तो भी उसे आवश्यक रूप से कोष से पूछना होता है।

निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि भुगतान सन्तुलन एक देश की . । म मौलिक रूप से महत्त्वपूर्ण है। इसकी स्थापना के लिए यदि कोई

जब मुद्रा प्रसार की प्रवृत्ति बढ़ेगी तो देश के उत्पादन को प्रोत्साहन मिलेगा और मुद्रा संकुचन की स्थिति समाप्त हो जाएगी।

(4) मूल सुधार के लिए—कभी-कभी एक देश विभिन्न कारणों से प्रभावित होकर अपनी मुद्रा को जरूरत से ज्यादा बाह्य कीमत प्रदान कर देता है। इस गलती को सुधारने के लिए वह मुद्रा का अवमूल्यन करता है।

(5) मुद्रा के आन्तरिक और बाह्य मूल्य में समानता लाने के लिए—जब एक देश की मुद्रा का आन्तरिक मूल्य कम हो जाता है और बाह्य मूल्य ऊँचा बना रहता है तो दोनों के बीच समानता स्थापित करने के लिए देश मे उत्पादन लागत एव मूल्य स्तर को नीचे गिराना होता है अथवा मुद्रा के बाह्य मूल्य को कम करना होता है अन्यथा यह स्थिति देश की अर्थ-व्यवस्था और विदेशी व्यापार पर बुरा प्रभाव डालती रहती है। इससे निर्यात कम हो जाते हैं और आयात बढ़ने लगते हैं। मुद्रा का अवमूल्यन करके मुद्रा की आन्तरिक तथा बाहरी कीमत मे समानता लाना अधिक सरल तथा लाभदायक है। इस प्रकार मुद्रा का अवमूल्यन विनिमय दर के उच्चावचनों को रोकने या उनमे समायोजन स्थापित करने के लिए किया जा सकता है।

मुद्रा के अवमूल्यन की नीति अपने विभिन्न उद्देश्यों को केवल तभी प्राप्त कर सकती है जबकि उसका प्रयोग पर्याप्त सजगता के साथ किया जाए। यदि अवमूल्यन की नीति को अपनाने पर दूसरे देश भी अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर देते हैं तो ऐसी स्थिति मे उस देश को वांछनीय लाभ प्राप्त नही हो सकते। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि जिस देश ने अवमूल्यन किया है उसके लागत मूल्य की सरचना विपरीत दिशा में परिवर्तित न हो अर्थात् निर्यात की जाने वाली वस्तुओ की कीमतें अवमूल्यन से पूर्व की कीमतो से अधिक न हो जायें। यदि कीमतो मे वृद्धि होती है तो जिस सीमा तक यह वृद्धि हुई है, उस तक अवमूल्यन कोई अच्छा परिणाम प्राप्त नही कर सकेगा। अवमूल्यन का प्रभाव शीघ्र होना चाहिए। यह जरूरी है कि निर्यातों को प्रोत्साहित एव आयातों को हतोत्साहित करने के लिए अवमूल्यन का प्रभाव शीघ्र हो। ऐसा न होने पर विदेशो की मांग और लोच मे परिवर्तन आ जाता है और वांछनीय परिणाम प्राप्त नही हो पाते।

अवमूल्यन से लाभ

अवमूल्यन की नीति अर्थ-व्यवस्था के दोषो को सुधारने का एक अस्थायी साधन है। इस नीति द्वारा जो लाभ प्राप्त होते हैं वे ऐसे ही प्राप्त नही होते। ये लाभ केवल उसी समय तक मिलते हैं जब तक घरेलू तथा विदेशी बाजारो मे लागत मूल्य संरचनाएँ अवमूल्यन के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली नवीन विनिमय क्षमता के अनुसार स्वयं को समायोजित नहीं कर लेतीं। सामान्यतः यह देखा गया है कि अवमूल्यन के लाभ एक देश को केवल 2-3 वर्ष तक प्राप्त होते रहते हैं। इस प्रकार यह एक अस्थायी समायोजन है और कुछ समय तक के लिए एक देश को इससे राहत मिलती है। इतने पर भी अवमूल्यन की नीति को बार-बार नही अपनाना चाहिए।

निर्यात दूसरे देश के आयातों के बराबर होते हैं जिसको निम्नानुसार प्रकट किया जा सकता है—

$$m_A = x_B \quad \text{जहां } p_x^* = p_x/r \quad ....(5)$$

$$\text{तथा } x_A = m_B \quad \text{जहां } p_m^* = p_m/r \quad ....(6)$$

माना कि देश A तथा B के निर्यात तथा आयात के फलनिक सम्बन्ध निम्नानुसार हैं—

$$x_A = f_{Ax}(p_x) \quad ....(7)$$

$$m_A = f_{Am}(p_m) \quad ....(8)$$

$$x_B = f_{Bx}\ (p_m/r) \quad ....(9)$$

$$m_B = f_{Bm}\ (p_x/r) \quad ....(10)$$

हमने यह मान रखा है कि दोनों देशों के निर्यात तथा आयात आपस में बराबर हैं अतः ये निर्यात एव आयात इनके मूल्यों पर निर्भर करेंगे जो कि यहाँ पर p_x तथा p_m हैं। परन्तु इन मूल्यों की विनिमय दर को अर्थात r के आधार पर समायोजित किया जाता है। और यहाँ पर r वस्तुत देश B की मुद्रा का देश A की मौद्रिक इकाइयों मे प्रकटीकरण है। परन्तु क्योंकि $x_B = m_A$ है अतः समीकरण (9) तथा (10) के अनुसार x_B तथा m_B भी r पर निर्भर करेंगे इसलिए देश A की व्यापार शर्तें $\frac{p_x}{p_m}$ के तुल्य होगी। उपरोक्त विश्लेषण मे यह भी माना गया है कि A तथा B दोनों देशों के निर्यात पूर्ति तथा आयात माँग वक्र सामान्य हैं अर्थात इनके ढलाव क्रमशः धनात्मक तथा ऋणात्मक हैं इसलिए $f'_{Ax} \geqslant 0$ व $f^1_{Bx} \geqslant 0$ होगें तथा $f^1_{Am} \leq 0$ व $f'_{Bm} \leq 0$ होगें।

अवमूल्यन का देश A के व्यापार सन्तुलन (B की मुद्रा में व्यक्त) पर प्रभाव

माना कि देश B की मुद्रा मे व्यक्त A का व्यापार सन्तुलन B_f है तो

$$B_f = \left(\frac{p_x}{r}\right) m_B - p_m^* - m_A \quad ....(11)$$

समीकरण (11) से स्पष्ट होता है कि निर्यातों से प्राप्त आय (V_x) का उसके द्वारा आयातित वस्तुओं के मूल्य (V_m) पर आधिक्य व्यक्त करता है। यहाँ पर V_m तथा V_x दोनो ही B की मुद्रा का अर्थ है अर्थाद्

$$V_m = P_m m_A = P_m X_B \quad ....(12)$$

$$V_x = P_x X_A = P_x m_B \quad ....(13)$$

जब A की मुद्रा का अवमूल्यन होता तो r का मूल्य बढ जाएगा अर्थाद् देश B की मुद्रा की प्रत्येक इकाई के बदले देश A को अधिक मुद्रा देनी होगी। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप देश B की मुद्रा में व्यक्त देश A का व्यापार सन्तुलन B_f उस

स्थिति में अनुकूल हो जाएगा जबकि $\frac{dB_f}{dr} > 0$ हो तथा B_f उस समय प्रतिकूल हो जाएगा जबकि $\frac{dB_f}{dr} < 0$ हो अथवा B_f उस स्थिति में अपरिवर्तित रहेगा जबकि $\frac{dB_f}{dr} = 0$ होगा। यदि $\frac{dB_f}{dr} > 0$ हो तो जितना इसका प्रथम अवकलन गुणांक (First derivative) अधिक होगा देश A के व्यापार सन्तुलन में निर्दिष्ट घाटे को दूर करने हेतु देश A की मुद्रा का उतना ही कम अनुपात में अवमूल्यन करना उचित होगा।

अब समीकरण (11) का r के सन्दर्भ में अवकलन करने पर

$$\frac{dB}{dr} = \frac{p_x}{r} m_p - \frac{p}{r} f_{Bm} \frac{p_x}{r} - p_m^* f_{Am} p_m^*$$

$$= \frac{V_x}{r}\left[-1 - \frac{f_{Bm}}{f_{Bm}}\frac{p_x}{r} - \frac{f_{Am}}{f_{Am}} \times \frac{V_m}{V_x} \quad p_m\right] \qquad (14)$$

अब निर्यातपूर्ति तथा आयात की माँग लोच के समीकरण (1) से (4) को समीकरण (14) के साथ समायोजित करने पर हम निम्न समीकरण प्राप्त होगा—

$$\frac{dB_f}{dr} = \frac{V_x}{r}\left[-1 - e_{Bm} - \frac{V_m}{V_x} e_{Am}\right] \qquad (15)$$

अवमूल्यन से A की व्यापार शर्तें उस स्थिति में अनुकूल हो जाएगी जब समीकरण (15) के कोष्ठक में अभिव्यक्त मूल्य इकाई से अधिक (>1) हो अर्थात् $\frac{dB_f}{dr} > 0$ हो तो A की व्यापार शर्तें एवं व्यापार सन्तुलन उस दशा में अनुकूल होंगे। जब

$$-1 - e_{Bm} - \frac{V_m}{V_x} e_{Am} > 0$$

$$\text{अथवा} \qquad -e_{Bm} - \frac{V_m}{V_x} e_{Am} > 1 \qquad (16)$$

इसे ही मार्शल-लर्नर शर्त कहते हैं। इस शर्त से यह ज्ञात होता है कि विनिमय दर में परिवर्तन या अवमूल्यन में व उस स्थिति में लाभप्रद होता है जब दोनों माँग लोचों का योग इकाई से अधिक हो ($e_{Bm} + e_{Am} > 1$)। परन्तु इस सन्दर्भ में हमारी मान्यता यह रहती है कि अवमूल्यन से पूर्व आयातों व निर्यातों के मूल्य समान थे अर्थात् $V_m = V_x$ हो।

यदि देश A के निर्यातों के लिए देश B की आयात माँग लोच इकाई से अधिक हो अर्थात् $e_{Bm} < -1$ हो तो अवमूल्यन का देश के A के व्यापार सन्तुलन पर अनुकूल प्रभाव होगा। यदि $e_{Bm} > -1$ हो तो देश A के व्यापार सन्तुलन पर

क्या प्रभाव होगा, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता है क्योंकि समीकरण (14) तथा (16) से स्पष्ट होता है कि अवमूल्यन से पूर्व का व्यापार सन्तुलन अथवा $\frac{V_m}{V_x}$ इस सन्दर्भ मे अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह अनुपात जितना अधिक होता है तथा देश A की आयात मांग जितनी लोचदार होती है, अवमूल्यन के फलस्वरूप *व्यापार सन्तुलन मे सुधार की उतनी ही अधिक सम्भावना रहती है।*

$$-e_{Bm}-\frac{V_m}{V_x}e_{Am} \geqslant -e_{Am}-e_{Bm} \quad ....(17)$$

किण्डलबर्जर की मान्यता है कि देश A की स्वयं की मुद्रा के रूप में व्यक्त देश A के व्यापार सन्तुलन पर होने वाले प्रभाव को देखने हेतु हमे देश B की मुद्रा के रूप में व्यक्त व्यापार सन्तुलन B_f को निम्न प्रकार से बदलना होगा—

$$B_d = rB_f \quad ....(18)$$

समीकरण (18) में B_d देश A की घरेलू मुद्रा के रूप मे व्यक्त व्यापार सन्तुलन है। पूर्व की भांति B_f देश A का देश B की मुद्रा के रूप मे व्यक्त व्यापार सन्तुलन है जबकि *r* दोनो मुद्राओं की विनिमय दर है जो देश A की मुद्रा के रूप मे व्यक्त *की जाती है। समीकरण (18) का अवकलन करते पर*

$$\frac{dB_d}{dr} = B_f + r\frac{dB}{dr} \quad ....(19)$$

यदि व्यापार सन्तुलन प्रारम्भ मे ही सन्तुलन में हो तो समीकरण (19) बदल कर निम्नानुसार हो जाएगा—

$$\frac{dB_d}{dr} = r\frac{dB_f}{dr}$$

इसलिए जब $Bd = B_f = 0$ हो तो $\frac{dB_d}{dr}$ धनात्मक होगा। ऐसा तभी होगा जबकि $\frac{dB_f}{dr}$ भी धनात्मक हो। परन्तु व्यापार सन्तुलन प्रारम्भ में प्रतिकूल हो तो B_f मे सुधार का यह भी अर्थ है कि B_d में भी सुधार होगा। B_f तथा $\frac{dB_f}{dr}$ को समीकरण (19) मे समायोजित करने तथा समीकरण (19) को पुन: समीकरण 14 एवं 15 की मदद से लिखने पर

$$\frac{dB_d}{dr} = \frac{V_x}{r} - \frac{V_m}{r} + \frac{V_x}{r}\left(-1 - e_{Bm} - \frac{V_m}{V_x}e_{Am}\right)$$

$$= \frac{V_m}{r}\left(-1 - e_{Am} - \frac{V_x}{V_m}e_{Bm}\right) \quad ....(20)$$

इस प्रकार अवमूल्यन के फलस्वरूप व्यापार सन्तुलन केवल उस स्थिति मे अनुकूल होगा जब

$$-\left(\frac{V_x}{V_m}\right)e_{Bm} - e_{Am} > 1 \quad ....(21$$

पूर्वोक्त समीकरण में $\triangle Y$ आय के परिवर्तन को तथा $\triangle X - \triangle M$ शेष व्यापार में हुए परिवर्तन को प्रकट करते हैं जबकि $\frac{1}{MPS+MPM}$ व्यापार गुणक का प्रतीक है। जैसा कि अपेक्षित है, अवमूल्यन के फलस्वरूप निर्यातों मे वृद्धि तथा आयातों में कमी होगी जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होगी। राष्ट्रीय आय मे कितनी वृद्धि होगी यह काफी सीमा तक गुणक के मूल्य पर निर्भर करेगा अर्थात् राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होने के कारण रोजगार के स्तर मे भी वृद्धि होगी। परन्तु विदेशी मुद्रा के अर्थ मे वृद्धि या स्वदेशी मुद्रा के अवमूल्यन के फलस्वरूप यह भी सम्भव है कि किस सीमा तक घरेलू मूल्य स्तर मे भी वृद्धि हो जाए क्योंकि अनेक आयातित वस्तुओं के द्वारा हम औद्योगिक वस्तुओं का उत्पादन करते हैं, अवमूल्यन के कारण आयात जब महँगे होंगे तो वे औद्योगिक वस्तुएँ महँगी हो जाएँगी। दूसरी ओर यदि खाद्यान्नों का आयात किया जाता है तो आयातित खाद्यान्नो की बढी हुई कीमतो के फलस्वरूप मजदूरों की मजदूरी में वृद्धि करना भी आवश्यक होगा तथा इससे भी उत्पादन लागतों मे वृद्धि होगी।

अवमूल्यन के फलस्वरूप उत्पादन लागतो तथा मूल्यों की यह वृद्धि दो बातों पर निर्भर करेगी—

(1) वस्तुओं के उत्पादन में आयातित वस्तुओ का अनुपात, तथा

(2) अवमूल्यन करने वाले देश मे सरकार की मूल्यों को नियन्त्रित करने की नीति।

यह हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि अवमूल्यन के पश्चात् यदि सरकार अत्यन्त कठोर मूल्य नीति अपनाती है तो इससे आयातित वस्तुओं अर्थात् उन पर आधारित वस्तुओं की काला बाजारी प्रारम्भ हो जाएगी। यदि देश अपनी वस्तुओं के उत्पादन मे पर्याप्त आयातित वस्तुओ का उपयोग करता है तो इनके मूल्यों मे वृद्धि होने पर निर्यातित वस्तुओं के मूल्यों मे भी वृद्धि हो जाएगी तथा अवमूल्यन का निर्यात-आय पर होने वाले प्रभाव की अनुकूलता कम हो जाएगी। इसके लिए सरकार को सजग एवं प्रभावपूर्ण नीति अपनानी होगी।

जहाँ अवमूल्यन का मूल्य स्तर पर प्रतिकूल प्रभाव हो सकता है वहीं साधनों के आवंटन पर इसके प्रभाव काफी अनुकूल होते हैं। अवमूल्यन के फलस्वरूप निर्यात हेतु वस्तुएँ बनाने वाले तथा आयात प्रतिस्थापन वाले उद्योगो मे साधनो का अधिक आवंटन होगा। अवमूल्यन के फलस्वरूप मूल्य वृद्धि अपेक्षाकृत उन्ही क्षेत्रो मे अधिक होती है जहाँ निर्यात योग्य अथवा आयात प्रतिस्थापन हेतु वस्तुओं का उत्पादन होता है। इन उद्योगों मे साधनों का अधिक आवंटन होने के साथ ही इन उद्योगों को अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में स्पर्द्धाशील बनाने हेतु इनकी दक्षता मे वृद्धि करने का प्रयास किया जाएगा और इसका भी देश की अर्थ-व्यवस्था पर कुल मिलाकर अनुकूल प्रभाव ही पड़ेगा।

आय गुणांक या बैकवाश प्रभाव (Income Multiplier or Backwash Effect) कहते हैं ।

घरेलू एवं विदेश की आय में परिवर्तनों के कारण आयातो एवं निर्यातों में होने वाले परिवर्तनो की माप हम सीमान्त आयात प्रवृत्ति (Marginal Propensity to Import) अथवा आयातों की आय लोच से कर सकते हैं। इकाई आय परिवर्तन के परिणामस्वरूप आयात मे होने वाले आनुपातिक परिवर्तन को सीमान्त आय प्रवृत्ति कहते हैं। अर्थात् यदि कुल आय को Y से तथा कुल आयात को M से प्रकट करें तो

$$\text{सीमान्त आय प्रवृत्ति (MPM)} = \frac{dM}{dY} \text{ होगा ।}$$

इसी प्रकार हम आयातो की आय लोच भी ज्ञात कर सकते हैं जो निम्नानुसार होगी—

$$\text{आयातों की आय लोच } (e_{yM}) = \frac{dM}{dY} \cdot \frac{Y}{M}$$

हम जानते हैं कि राष्ट्रीय आय तथा भुगतान सन्तुलन मे इतना अधिक सम्बन्ध होता है कि किसी एक चर मे परिवर्तन होने पर दूसरे चर में भी परिवर्तन हो जाता है। एक खुली अर्थ-व्यवस्था में कुल आय उस देश के कुल उपभोग (C), कुल निवेश (I) के साथ साथ कुल निर्यात तथा आयात के अन्तर पर भी निर्भर करती है जिसको निम्नानुसार प्रकट किया जा सकता है—

$$Y \equiv C + I + (X - M) \qquad ....(1)$$

समीकरण (1) मे (X – M) का मान भुगतान सन्तुलन के चालू खाते को प्रकट करता है। जब निर्यात एवं आयात का अन्तर धनात्मक होता है अर्थात् $(X–M) > 0$ होता है तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार राष्ट्रीय आय की वृद्धि में सहायक होता है इसके विपरीत जब यह अन्तर ऋणात्मक होता है अर्थात् $(X – M) < 0$ होता है तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार राष्ट्रीय आय मे कमी करता है तथा जब $X – M = 0$ होता है तब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का राष्ट्रीय आय पर प्रभाव उदासीन रहता है अर्थात् कोई प्रभाव नही पड़ता है।

समीकरण (1) मे से कुल आयात (M) का मान शून्य माना जाए तो समीकरण होगी—

$$Y \equiv C_d + I_d + X_d \qquad ....(2)$$

यहाँ पर d उत्पादन के घरेलू साधनो को इंगित करता है। हम यह भी जानते हैं कि कुल राष्ट्रीय आय अपने विभिन्न मौद्रिक प्रयोगों के योग के बराबर भी होती है अर्थात् घरेलू वस्तुओ एवं सेवाओं पर किया गया व्यय/आयातो पर किया गया व्यय एवं अप्रयुक्त आय (बचत) के योग के बराबर होती है अर्थात्

$$Y \equiv C_d + M + S \qquad ....(3)$$

समीकरण (2) तथा (3) के अनुसार

$$C_d + I_d + X_d = C_d + M + S$$

अथवा $I_d + X_d = M + S$

अथवा $X_d - M = S - I_d$ ....(4)

उपरोक्त समीकरण(4)से स्पष्ट होता है कि चालू खाते का भुगतान सन्तुलन (X-M), घरेलू बचत एव घरेलू विनियोग के अन्तर $(S-I_d)$ के तुल्य होता है। इन चार चरो मे से किसी एक मे भी होने वाला परिवर्तन, कुल राष्ट्रीय आय के परिवर्तन को प्रभावित कर देता है।

अब हम बैकवाश प्रभाव देखने हेतु निम्न मान्यता लेते हैं—

$Y_a = f(Y_b)$

तथा $Y_b = f(Y_a)$

यहाँ Y_a = देश A की कुल राष्ट्रीय आय है

तथा Y_b = देश B की कुल राष्ट्रीय आय है।

उपरोक्त फलनो से स्पष्ट होता है कि देश A की राष्ट्रीय आय देश B की आय पर एव देश B की राष्ट्रीय आय देश A की आय पर निर्भर करती है। अत किसी देश की विदेशी व्यापार नीति मे कोई भी परिवतन करते समय यह ध्यान रखना पडता है कि इस प्रकार के परिवर्तन का दूसरे राष्ट्र की आय पर क्या प्रभाव पडता है।

उदाहरण के लिए, यदि विकसित देश विकासशील देशो को अपने निर्यात बढाना चाहते हैं तो उन्हें विकासशील देशो मे विद्यमान प्रति व्यक्ति आय को भी ध्यान मे रखना होगा। यदि विकासशील देशो पर ये निर्यात वस्तुएँ थोप दी जाएँ तो उन देशो की राष्ट्रीय आय के स्तर मे होने वाले प्रतिकूल प्रभाव धीरे-धीरे विकसित राष्ट्रो की आय को भी प्रतिकूल प्रभावित करेंगे।

कोई देश जितना बडा होता है उसके विदेशी व्यापार भी उतना ही अधिक बैकवाश प्रभाव डालते हैं। जैसे कि अमेरिका को विश्व की मौद्रिक आय का एक बडा भाग लगभग 40% प्राप्त होता है। यदि अमेरिका की राष्ट्रीय आय बढ जाती है तो अन्य देशो से इसके आयात बढ जाएँगे जिससे अन्य देशो की मौद्रिक आय बढ जाएगी और इनके अमेरिका से होने वाले आयात भी बढ जाएँगे।

यह प्रक्रिया कहाँ बन्द होगी, यह इस बात पर निर्भर करता है कि अमेरिका एव अन्य देशो मे सीमान्त आयात प्रवृत्तियो का मूल्य कितना-कितना है।

अब माना कि कोई दो देश A तथा B हैं जिनकी कुल राष्ट्रीय आय Y_a तथा Y_b है तथा $Y_a = f(Y_b)$ है एव $Y_b = f(Y_a)$ है अत यदि Y_b शून्य हो तो Y_a का अनुमान देश A के उपभोग (C_a) विनियोग व्यय (I_{da}) तथा सरकारी

व्यय (G_a) से लगाया जा सकता है अर्थात् $Y_a = C_a + I_{da} + G_a$ होगा। यहां पर सभी चर स्वतन्त्र हैं जिनका देश B में होने वाले परिवर्तनों का कोई प्रभाव नही पड़ता है।
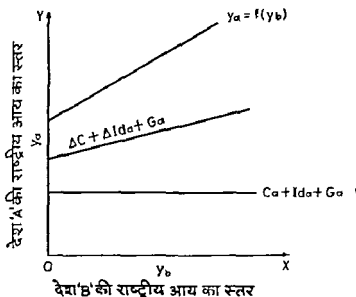
इस प्रवृत्ति को उपरोक्त चित्र मे एक समान्तर रेखा द्वारा प्रकट किया गया है जो कि देश A के उपभोग, विनियोग तथा सरकारी व्यय के योग अर्थात् $C_a + I_{da} + G_a$ को अंकित करती है। यह इस बात को व्यक्त करती है कि इस सीमा तक देश A की राष्ट्रीय आय देश B की राष्ट्रीय आय के सभी स्तरों पर स्थिर रहती है।

अब माना कि देश A के निर्यात उसकी आय मे वृद्धि करते हैं जिसका आकार देश B की आय-स्तर से स्वतन्त्र नहीं होता। उपरोक्त चित्र मे यह मान लिया गया है कि देश B अपनी आय शून्य होते हुए भी देश A से आयात करता है। इसके फलस्वरूप देश A में प्रत्यक्ष रूप से आय में वृद्धि होती है जिसे Y–अक्ष पर Y_o द्वारा प्रकट किया गया है। इसके साथ-साथ देश A मे विदेशी व्यापार गुणक के द्वारा उपभोग में पुन: वृद्धि ($\triangle C_a$) को प्रोत्साहन मिलेगा। जिस तरह देश B की आय मे वृद्धि होती है उसी तरह देश A के निर्यातो मे भी वृद्धि होती हैं तथा उनके साथ-साथ सरकारी व्यय मे वृद्धि होती है। इस प्रकार इन तीनो तरह से होने वाली कुल वृद्धि देश B की आय के विभिन्न स्तरों पर देश A की आय को व्यक्त करती है जिसे चित्र मे $Y_a = f(Y_b)$ से दिखाया गया है। इसी प्रकार का प्रकटीकरण देश B की आय को देश A की आय के फलन के रूप मे भी प्रकट किया जा सकता है।

उपरोक्त तथ्यो को जिसमे दो देशो के आय के परस्पर सम्बन्धो को समझाया गया है उसे निम्न रूप से भी गणितीय सूत्रो से प्रकट किया जा सकता है—

$$K_f = \frac{\Delta Y}{\Delta X}$$

$$= \frac{1}{MPS_a + MPM_a + MPM_b \left(\frac{MPS_a}{MPS_b}\right)}$$

MPS_a = देश A मे सीमान्त बचत प्रवृत्ति है,

MPS_b = देश B म सीमान्त बचत प्रवृत्ति है,

MPM_a = देश A मे सीमान्त आयात प्रवृत्ति है, तथा

MPM_b = देश B मे सीमान्त आयात प्रवृत्ति है,

देश A मे विदेशी व्यापार गुणक अधिक होगा यदि—

(1) देश A मे $MPM_a < MPM_b$ हो,

(2) देश A मे $MPS_a < MPS_b$ हो,

(3) देश B मे $MPM_b > MPS_a$ हो,

(4) देश B मे $MPS_b > MPS_a$ हो ।

इसके विपरीत मूल्य रखने पर देश B के लिए गुणक का आकार बडा होगा । परन्तु साधारणतया हम एक ही देश के लिए विदेशी व्यापार गुणक का विश्लेषण करते हैं ।

16 विनिमय नियन्त्रण

(EXCHANGE CONTROL)

विनिमय दर का नियन्त्रण आज पर्याप्त महत्त्व रखता है। वर्तमान युग को योजना, नियन्त्रण, प्रतिबन्ध और कमी का युग भी कह दिया जाता है। अनेक कारणों से देश की योजनाओं पर दिन-प्रतिदिन आर्थिक नियन्त्रण एवं प्रतिबन्ध बढते जा रहे हैं। ऐसी स्थिति मे विदेशी विनिमय बाजारों पर भी सरकार का नियन्त्रण रहना कोई आश्चर्य की बात नही है वरन् एक स्वाभाविक बात है। प्राय: प्रत्येक देश इसी प्रकार विनिमय नियन्त्रण की नीति अपनाता है। विनिमय दर का इतिहास अधिक पुराना नही है। प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान विभिन्न देशों ने यह महसूस किया था कि उन्हें अर्थ-व्यवस्था पर अधिक से अधिक प्रशासकीय नियन्त्रण बढ़ाना चाहिए। इसी काल मे जर्मन मार्क (German Mark) की कीमत बहुत घट गई। इसके दुष्परिणामों से बचने के लिए अर्थशास्त्रियों ने विनिमय नियन्त्रण के विज्ञान को जन्म दिया। इसकी सहायता से युद्ध के बाद जर्मन सरकार ने कुछ समय तक जर्मनी की विनिमय दर को स्थिरता प्रदान की। दूसरे कुछ देशों ने भी इस प्रणाली को अपनाया। पाल एन्जिग (Paul Einzig) ने लिखा है कि "विनिमय नियन्त्रण की यह प्रणाली विभिन्न देशो के समाजवादियो तथा फासीवादियों का, कोषो के अन्तर्राष्ट्रीय आवागमन को अपनी राजनैतिक तथा आर्थिक योजनाओं के हित में पूर्ण रूप से नियन्त्रित करने का स्वप्न था।"[1]

विनिमय नियन्त्रण के प्रशासन मे केन्द्रीय बैंक या सरकार द्वारा नियुक्त किसी भी अभिकरण द्वारा किए गए उन सभी हस्तक्षेपो को लिया जाता है जो विनिमय दर को प्रभावित करते हैं। प्रो. हैबरलर (G.V. Haberler) के कथानुसार "स्वतन्त्र आर्थिक प्रभावो के अतिरिक्त विदेशी विनिमय बाजार के नियमन मे जो प्रशासकीय हस्तक्षेप होता है वह विनिमय नियन्त्रण है।" यदि किसी देश की सरकार यह

1 "The dream of Socialists and Fascists in various countries secure complete control over the International movement of funds in the interest of their Political and Economic Plan". —*Paul, Einzig* : Exchange Control, p. 8.

अनुभव करे कि मांग और पूर्ति द्वारा निर्धारित की हुई स्वतन्त्र विनिमय दर देश के हित मे है तो वह किसी प्रकार के विनिमय नियन्त्रण को जरूरी नही समझेगी किन्तु यदि सरकार ऐसा नही समझती है तो वह देश के हित की दृष्टि से विदेशी मुद्रा की माँग एव पूर्ति मे आवश्यक सशोधन करके विनिमय दर को अपने अनुकूल बनाने का प्रयास कर सकती है। इस दृष्टि से वाल्टर क्राज (Walter Krause) का यह कथन उल्लेखनीय है कि 'विनिमय नियन्त्रण एक ऐसी तकनीकी है जिसके द्वारा विदेशी विनिमय की सीमित पूर्ति को एकत्रित करके पुन वितरित किया जाता है। इसका यह उद्देश्य होता है कि विदेशी मुद्रा की माँग को उसकी उपलब्ध पूर्ति तक ही सीमित रखा जाए। इस प्रकार विनिमय दर को स्थायी बना दिया जाता है। यद्यपि यह दर मुद्रा के अधिमूल्यित स्तर पर ही हो सकती है।"[1] विनिमय नियन्त्रण को प्रो. स्नाइडर ने एक ऐसी पद्धति माना है जिसमे 'स्वतन्त्र बाजार की शक्तियो के स्थान पर सरकारी विनियमो को रखा जाता है।"[2]

यदि कोई देश अपनी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिभूतियो (Reserves) को खोता जा रहा है और यदि सरकार अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नही करना चाहती है अथवा अपने आन्तरिक मूल्यो और आर्थिक क्रियाओ को मौद्रिक एव प्रशुल्क नीतियो से अधिमूल्यित नही करना चाहती है तो उस अपने अन्तराष्ट्रीय लेन-देन को प्रत्यक्ष रूप से विनियमित करना चाहिए। विदेशी विनिमय की माँग को प्रतिबन्धित किया जा सकता है और इसकी पूर्ति पर राशन लगाया जा सकता है। वैसे तो प्रत्यक्ष नियन्त्रण, अवमूल्यन तथा अधिमूल्यन करने वाली मौद्रिक एव प्रशुल्क नीतिया आदि सभी मे थोडा बहुत सरकारी हस्तक्षेप जरूरी होता है। सरकारी हस्तक्षेप के अन्य प्रकारो एव प्रत्यक्ष नियन्त्रणो के बीच एक मुख्य अन्तर इस प्रकार से सम्बन्धित है। प्रत्यक्ष नियन्त्रण के अधीन एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारी को यह विचार करना चाहिए कि एक प्रस्तावित अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन लाभदायक है या नही और सरकार को इसकी अनुमति देनी चाहिए अथवा नही किन्तु अवमूल्यन या अधिमूल्यन मे केवल उसकी लाभदायकता को ही देखा जाता है।

विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्य
(The Objects of Exchange Control)

विनिमय नियन्त्रण सरकार द्वारा इसलिए किया जाता है ताकि विनिमय दर को स्थिर रखा जा सके। सरकार चाहती है कि उसके द्वारा निर्धारित दर पर ही लोग विदेशी मुद्रा खरीदें और बेचें। प्रो एल्सवर्थ ने माना था कि "विनिमय नियन्त्रण किसी भी देश को प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन के विरुद्ध सुरक्षित रखने वाली

1 *Walter Krause* · The International Economics, p 80

2 'Exchange control with the system in which Government regulations are substituted for free market forces"

—*Delebert, A Snider* Introduction to International Economics p 252

प्रणाली है ।"[1] विनिमय नियन्त्रण द्वारा ऐसी विनिमय दर निर्धारित करने का प्रयास किया जाता है जो बाजार की स्वतन्त्र शक्तियों के माध्यम से निर्धारित नही हो सकती । जब सरकार माँग और पूर्ति की स्वतन्त्र शक्तियों द्वारा निर्धारित विनिमय दर से सन्तुष्ट होती है तो विनिमय नियन्त्रण की कोई जरूरत नही रहती किन्तु जब *वह स्वतन्त्र रूप से स्थापित विनिमय दर को न चाह कर स्वयं उसको स्थापित करना* चाहती है तो नियन्त्रण रखना जरूरी बन जाता है । विनिमय दर पर सरकारी *नियन्त्रण के उद्देश्य क्राउथर के अनुसार तीन हो सकते हैं—प्रथम, स्थित विनिमय* दर की अपेक्षा नवीन विनिमय दर स्थापित करना; दूसरे, कम विनिमय दर स्थापित करना; तीसरे, विनिमय दर की मात्रा को कम या अधिक न करके केवल विनिमय दर मे जल्दी-जल्दी होने वाले उच्चावचनों को रोकने का प्रयास करना । इस प्रकार अधिमूल्यन, अवमूल्यन और उच्चावचनों की रोकथाम के लिए सरकारी नियन्त्रण की नीति को अपनाया जाता है ।

विनिमय नियन्त्रण के लिए उत्तरदायी विभिन्न कारण निम्नलिखित हैं—

1 पूंजी के बहाव को रोकना (To Check Capital Flights)— *विनिमय नियन्त्रण पूंजी के बहाव को रोकने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है ।* जब जर्मनी, अर्जेन्टाइना और दूसरे कुछ देशो मे इसे प्रयुक्त किया गया तो मुख्य रूप से *यही उद्देश्य सामने था । विनिमय नियन्त्रण के अधीन सम्बन्धित सत्ताएँ विदेशी-*मुद्रा को बेचने से मना कर देती हैं और इस प्रकार पूंजी देश से बाहर नही जा पाती । पूंजी के व्यापक बहाव को रोकने के अतिरिक्त आजकल विभिन्न देशों द्वारा विनिमय नियन्त्रण की प्रक्रिया को दिन-प्रतिदिन के पूँजीगत आवागमन को रोकने के लिए भी अपनाया जाता है । इस रूप मे विनिमय नियन्त्रण का लक्ष्य यह होता है कि घरेलू बचत को प्रोत्साहन दिया जाए या विदेशो मे स्थित पूंजी को वापिस खीच लिया जाए । इस प्रकार के नियन्त्रण विभिन्न श्रेणियों मे विभाजित किए जा सकते हैं । ये केवल औपचारिकता से लेकर पूर्ण प्रतिबन्ध तक होते हैं । पूंजी को बाहर जाने से रोकने के लिए विनिमय नियन्त्रण की प्रक्रिया दो कारणो से अपनायी जाती है । प्रथम, यदि पूँजीगत बहाव व्यापक स्तर पर हुआ तो इसके परिणामस्वरूप सम्बन्धित देश के सामने भुगतान सन्तुलन की कठिनाइयाँ पैदा हो जाएँगी । इन कठिनाइयों के परिणामो को भुगतने की अपेक्षा एक देश यह सोचता है कि पूँजी के बहाव पर रोक लगाई जाए । दूसरे, कुछ देश विशेषतया पूँजी की दृष्टि से गरीब *और अर्द्धविकसित देश व्यापक स्तर के पूँजीगत बहाव पर रोक लगाते हैं ।* ये देश विनिमय नियन्त्रण के माध्यम से पूँजी को घर पर रखने का प्रयास करते हैं और स्वामियों को इसके सिवाय कोई विकल्प नही देते कि वे घर में ही पूँजी का निवेश करें ।

1 "A Method of Safeguarding a country against adverse balance of payment."
—*P. T. Ellsworth* : The International Economy, p. 347.

2. मुद्रा की स्थिरता (Stability of the Currency)—विनिमय नियन्त्रण के विभिन्न उद्देश्यो मे से एक यह भी है कि इसके माध्यम से कोई देश अपनी मुद्रा को एक अधिमूल्यित स्तर (Over value level) तक बनाए रख सकता है। यह एक मूल उद्देश्य है और दूसरे उद्देश्य मुख्यतया इस मूल लक्ष्य की प्राप्ति मे सहायता करते है। विनिमय नियन्त्रण द्वारा विदेशी मुद्रा के उन स्रोतो पर राशन लगा दिया जाता है जो अपेक्षाकृत अभाव की स्थिति मे होते है। इसके द्वारा कुछ मांगो को अपूर्ण छोड दिया जाता है और कुल मांग इतनी रखी जाती है कि वे उपलब्ध विदेशी मुद्रा द्वारा पूरी की जा सकें। इस प्रकार विनिमय नियन्त्रण मांगो मे कटौती करके अधिमूल्यित स्तर (Over value level) करने मे भी सफल हो पाता है। वैसे भुगतान सन्तुलन को प्रोत्साहित करने के लिए कुछ दूसरे तरीके भी अपनाए जा सकते है किन्तु विनिमय नियन्त्रण की प्रक्रिया को प्राथमिकता प्रदान की जाती है। जब कभी स्थित विनिमय दरें इतनी हो जाएँ कि उपलब्ध विदेशी मुद्रा तत्सम्बन्धी मांग को पूरा करने मे असमर्थ रहे तो विनिमय नियन्त्रण अपनाया जाता है।

3 घरेलू कार्यक्रमों को सुरक्षा के लिए (To Safe-guard Domestic Programmes)—विनिमय नियन्त्रण द्वारा एक देश अपनी मुद्रा स्फीति व विरोधी घरेलू नीतियो को अपनाए रह सकता है और इसका कोई विपरीत अन्तर्राष्ट्रीय परिणाम नही होता। उदाहरण के लिए यदि एक देश सामान्य स्फीति को रोकने के लिए पूर्ण रोजगार प्रदान करने के कार्यक्रम को प्रारम्भ करने वाला है तो इसके कुछ परिणाम हो सकते हैं। जैसे—उस देश की आय और कीमतो का स्तर विदेशो की अपेक्षा बढ जाएगा। इसके अतिरिक्त आयातो मे वृद्धि होगी और निर्यात घट जाएँगे। जब व्यापार का प्रवाह विपरीत दिशा मे होता है तो घरेलू प्रसार पर निरुत्साहजनक प्रभाव पडते हैं। ऐसी स्थिति मे देश की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिभूतियाँ (International Reserves) भी प्रभावित होती हैं। यदि अन्तर्राष्ट्रीय समायोजन की शक्तियो को स्वतन्त्र रूप से सचालित होने दिया जाए तो एक देश के घरेलू प्रसार के लिए किए जाने वाले प्रयास रुक जाएँगे। यदि वह देश विनिमय नियन्त्रण की नीति को अपना ले तो आयातो को तथा दूसरे ऐसे लेन-देनो को नियन्त्रित करने मे सफल हो सकता है जो कि उसकी विदेशी मुद्रा की मांग को बढाते है। इस सम्बन्ध मे विनिमय नियन्त्रण का महत्त्व यह है कि आयातो के कम होने से विदेशी व्यय कम हो जाएगा और देश की आय बढ़ने से बच जाएगी। इसके द्वारा देश की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिभूतियो पर अनुचित दबाव पडने से रुक जाते है।

संक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि विनिमय नियन्त्रण एक देश की अर्थ-व्यवस्था का कवच होता है जो कि उसे अवस्फीति विरोधी कार्यक्रम अपनाने में समर्थ बनाता है तथा किसी प्रकार का जोखिम नही आने देता। एक सुरक्षित साधन होने के कारण ही विनिमय नियन्त्रण उन देशो के युद्धागार का एक महत्त्वपूर्ण हथियार रहा है जो राष्ट्रीय नियोजन का उद्देश्य लेकर चल रहे है।

4. व्यापार को नियन्त्रित करने के लिए (To Control Trade)—जब एक देश यह अनुभव करता है कि स्थित विनिमय दर पर उसे सभी सम्भव माँगों की पूर्ति के लिए पर्याप्त विदेशी मुद्रा नहीं मिल पाएगी तो वह उपलब्ध पूर्ति को विनिमय नियन्त्रण द्वारा मर्यादित करता है। विभिन्न फर्मों मे विदेशी मुद्रा को आवंटित करते समय यदि वस्तुगतता को बनाए रखना है तो इसके लिए कुछ मापदण्ड तथा जागरूक प्रशासन की व्यवस्था परमावश्यक है अन्यथा यह खतरा रहता है कि एक विशेष आयातकर्त्ता के साथ उसके प्रतियोगियो की तुलना मे पक्षपात किया जाएगा और एकाधिकार अथवा अर्द्ध-एकाधिकार स्थापित किया जाएगा। विभिन्न देशों के बीच विदेशी मुद्रा को आवंटित करते समय विनिमय नियन्त्रण रहने से कुछ देशों से आयात को अन्य देशों से आयात की अपेक्षा प्राथमिकता दी जाएगी। ऐसी स्थिति में आयातों के स्रोत का निर्णय केवल कीमत या वस्तु के गुण पर नहीं वरन् विदेशी मुद्रा की विभिन्न श्रेणियों की सापेक्षिक पूर्ति पर भी निर्भर रहेगा।

विदेशी मुद्रा को आवंटित करने की प्रक्रिया मे व्यापार स्वतः ही नियन्त्रित हो जाता है। यह नियन्त्रण आयातकर्त्ता और निर्यातकर्त्ता दोनों के व्यापारो को प्रभावित करता है। आयात करने वाले देश मे विनिमय नियन्त्रण द्वारा यह छान-बीन की जाती है कि घरेलू उत्पादन की किन दिशाओं को समुन्नत किया जा सकता है। यदि एक उद्योग विदेशी मुद्रा प्राप्त करने योग्य है तो उसे आयात करने मे प्राथमिकता दी जाएगी और यदि दूसरा देश इतना योग्य नहीं है तो उसे प्राथमिकता नहीं दी जाएगी। इस प्रकार विनिमय नियन्त्रण के माध्यम से कुछ उद्योगों को एक प्रकार से सरकारी सहायता प्रदान की जाती है यद्यपि यह सहायता अप्रत्यक्ष होती है। इस सहायता के परिणामस्वरूप निश्चय ही यह उद्योग सम्पन्न और विकसित बन जाएँगे और घरेलू साधन स्रोत एवं मानव शक्ति इनकी ओर मुड़ने लगेगी। संक्षेप मे विनिमय नियन्त्रण घरेलू अर्थ-व्यवस्था को ढालने का एक साधन माना जा सकता है। यह उस समय विशेष रूप से सच है जबकि घरेलू अर्थ-व्यवस्था आयातित माल पर निर्भर रहती है।

5. भुगतान सन्तुलन सही करने के लिए (To Correct a Disequilibrium in the Balance of Payments)—एक देश के विनिमय नियन्त्रण के प्रयास अन्य देशो को गम्भीर रूप से प्रभावित कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग करके एक देश अन्य देशो के साथ अपने व्यापार में भेद-भाव पूर्ण व्यवहार कर सकता है और ऐसा करते हुए वह कुछ मुद्रा वाले देशो को कम उदारतापूर्वक देखे अथवा उन्हें विदेशी विनिमय के लिए पूर्ण रूप से अनुपयुक्त ठहराए। इस प्रकार व्यापारिक भेद-भाव विभिन्न देशों के बीच आर्थिक कड़ी बनाने के लिए अथवा विशेष देशो पर आर्थिक आश्रितता को कम करने के लिए किया जा सकता है। ग्रेट-ब्रिटेन ने द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद के वर्षों मे विनिमय नियन्त्रण लगाया ताकि अपने आयातों को डालर क्षेत्र से पौंड क्षेत्रों की ओर मोड सके क्योंकि उस समय डालर क्षेत्र के साथ ब्रिटेन का व्यापार घाटे में चल रहा था और अन्य के साथ वह तुलनात्मक रूप से घाटे की स्थिति मे नहीं था।

6 घरेलू उद्योगों की रक्षा के लिए (To Protect Domestic Industries)—विनिमय नियन्त्रण द्वारा एक देश विदेशी मुद्रा का आवटन उत्पादन देख कर करने में सक्षम होता है। इस प्रकार कुछ आयातो को अन्य की अपेक्षा अधिक प्रोत्साहित किया जा सकता है। जब आयातो को विभिन्नतापूर्ण दृष्टि से देखा जाता है तो जिन वस्तुओं का आयात कम महत्त्वपूर्ण माना गया है उन पर वही प्रभाव होगा जो प्रशुल्क अथवा नियतांश का होता है। जब विशेष आयातों को बाहर रख दिया जाता है अथवा उनके प्रवेश पर सजगता के साथ नियन्त्रण रखा जाता है तो इससे प्रतियोगी घरेलू उत्पादकों की रक्षा होती है।

घरेलू उत्पादकों की रक्षा के लिए कई कारणो से इस प्रकार का नियन्त्रण लगाया जाता है—

(अ) एक तर्क तो यह दिया जा सकता है कि कृषि सम्बन्धित अथवा औद्योगिक शिशु उद्योगो को यदि विकास का अवसर देना है तो उनकी रक्षा की जानी चाहिए। इस उद्देश्य के लिए विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग करते समय कुछ बातो का ध्यान रखना चाहिए। इसमे यह देखना चाहिए कि जिन शिशु उद्योगो को सरक्षण के लिए चुना गया है, वे दीर्घकाल मे उत्पादन के प्रयासों का गलत आवटन न कर दें।

(ब) आयातों की मात्रा मे कटौती को कभी-कभी घरेलू उत्पादन और रोजगार की कुल वृद्धि का साधन माना जाता है। नियन्त्रण की नीति का समर्थन करने वाले लोग इस सम्बन्ध मे यह अन्तर नही कर पाते कि एक विशेष उद्योग एव सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था पर इसका अलग-अलग क्या प्रभाव होगा। यह हो सकता है कि विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग करने से कुछ उद्योगो मे उत्पादन और रोजगार बढ जाएँ किन्तु सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध मे इसे निश्चय के साथ नही कहा जा सकता। तथ्य यह है कि व्यापार पारस्परिक होता है और जब आयातो मे कटौती करदी जाती है तो निर्यात मे भी स्वत ही कटौती होने लगती है।

कभी-कभी विशेष घरेलू उद्योगों को प्रोत्साहित करने के लिए विनिमय नियन्त्रण के स्थान पर बहुविनिमय दर-व्यवस्था को अपनाया जाता है। यहाँ भेदभावपूर्ण व्यवहार केवल यही नही होता कि कुछ विदेशी मुद्राओं को स्वीकार किया जाए और कुछ को न किया जाए किन्तु इस प्रक्रिया मे दो या अधिक विनिमय मुद्रा दरो को भी विदेशी मुद्रा की खरीद या बिक्री के लिए प्रयुक्त किया जाता है। कुछ प्रकार के आयातों को अधिक अनुकूल दरो पर विदेशी मुद्रा प्रदान की जाती है। इसी प्रकार कुछ विशेष प्रकार के निर्यातों को दूसरों की अपेक्षा बिक्री की अधिक अनुकूल दरें प्रदान की जा सकती हैं। आयातों पर कम अनुकूल विनिमय दरें अप्रत्यक्ष प्रशुल्क मानी जाएँगी। दो या दो से अधिक बिक्री दरों मे अधिक अनुकूल दरो को निर्यात सहायता माना जा सकता है। अर्जेन्टाइना और चिली जैसे अनेक अर्द्ध-विकसित देशों मे 'बहुविनिमय दर' विनिमय नियन्त्रण व्यवस्था की सामान्य विशेषताएँ हैं क्योंकि ये अपने आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करना चाहते हैं।

प्रारम्भ में जब विनिमय नियन्त्रण शुरू किया जाता है तो इसका उद्देश्य प्रायः घरेलू वस्तुओं की रक्षा करना नहीं होता। यह उद्देश्य कुछ समय बाद पैदा होता है। एक बार जब विनिमय नियन्त्रण प्रारम्भ हो जाता है तो उसके साथ विभिन्न हित जन्म ले लेते हैं और वे उसे समाप्त होने से रोकते हैं। विनिमय नियन्त्रण की सुरक्षा के कारण जो नए उद्योग जन्म लेते हैं वे उसे जारी रखने पर जोर देंगे। इसके अतिरिक्त पहले से ही स्थापित उद्योग जब नियन्त्रण के माध्यम से सुरक्षा प्राप्त करने लगेंगे तो वे भी नियन्त्रण को हटाने का प्रयास करेंगे। दोनों स्थितियों में ही एक बार विनिमय नियन्त्रण के कुछ समय तक लागू होने के बाद उसको हटाना मुश्किल हो जाएगा।

7. राजस्व प्राप्त करने के लिए (To Acquire Revenue)—विनिमय नियन्त्रण का एक अन्य उद्देश्य यह भी हो सकता है कि सरकार उसके माध्यम से राजस्व प्राप्त करना चाहे। अर्जेन्टाइना और चिली जैसे अनेक देश विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग किसी उद्योग के लिए करते हैं। उदाहरण के लिए चिली ने खरीददारी के लिए 12 विनिमय दरों को अपनाया है। सरकार द्वारा इस प्रकार जो राजस्व प्राप्त किया जाता है उसे देश के आर्थिक विकास के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है।

8. विनिमय दरों को स्थिर बनाने के लिए (To Stabilise the Exchange Rates)—दिन-प्रतिदिन की घटनाओं एवं सट्टेबाजीपूर्ण लेन-देन के कारण विनिमय दरों में गम्भीर उतार-चढाव होते रहते हैं। ये विश्व व्यापार के प्रसार के मार्ग की बहुत बड़ी बाधा है। कुछ देश अपनी विनिमय दरों को एक निर्धारित स्तर पर बनाए रखने के लिए विनिमय नियन्त्रण लागू करते हैं।

9. आवश्यक वस्तुओं के आयात के लिए (To Import Essential Goods)—जिस देश में विदेशी मुद्रा की कमी है वह प्रत्येक वस्तु का आयात नहीं कर सकता। उसे अपने सीमित साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग करना होगा और इसके लिए नियन्त्रण की नीति अपनाना आवश्यक है। आरामदायक और शृंगार की वस्तुओं के आयात को रोक कर आवश्यक वस्तुओं के आयात में अपने साधनों को कोई देश विनिमय नियन्त्रण की नीति अपना कर ही लगा सकता है। अधिकांश विकासशील देश विनिमय नियन्त्रण की नीति अपनाकर अपने सीमित साधनों का प्रयोग पूंजीगत माल, तकनीकी ज्ञान तथा आवश्यक कच्चे माल की खरीद में कर रहे हैं।

10. राष्ट्रीय प्रतिभूतियों की कीमत कम करने के लिए (To Lower the Prices of National Securities)—कुछ राज्य विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग विदेशों में स्थिर राष्ट्रीय प्रतिभूतियों को खरीदने पर रोक लगाने के लिए करते हैं। ऐसा करके वे विदेशियों को इन प्रतिभूतियों की कीमत कम करने के लिए दबा सकते हैं।

11 विदेशी ऋणों का भुगतान रोकने के लिए (To Pretent the Payment of Foreign Debts)—कभी कभी विनिमय नियन्त्रण की नीति का प्रयोग इसलिए भी किया जाता है ताकि एक देश अपने राष्ट्रिकों को विदेशी ऋणो का भुगतान करने से रोक सके। इस उपलब्ध विदेशी विनिमय का प्रयोग वह माल और सेवाओं का आयात करने के लिए कर सकता है।

12 कर्जदारों से भुगतान प्राप्त करने के लिए (To Obtain Payment from Debtor)—ऋणदाता राज्य अपने कर्जदारो का प्रभावित करने के लिए विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग कर सकता है ताकि वे अपने कर्ज का भुगतान कर सकें। इस प्रकार प्राप्त मुद्रा का प्रयोग वह सेवाओ तथा माल की खरीददारी के लिए कर सकता है।

13 सरकारी ऋणो को चुकाने के लिए (To Pay Governmental Debts)—विदेशो से सरकार द्वारा जो ऋण लिया जाता है उसका भुगतान करने के लिए भी विनिमय नियन्त्रण की नीति अपनाई जाती है। विदेशी ऋणों का भुगतान न किया जाना एक देश की सरकार के लिए अत्यन्त गम्भीर विषय है। एक बार यदि सरकार समय पर विदेशी ऋण न चुका पाए तो भविष्य के लिए उसकी साख चली जाती है। इसके अतिरिक्त वह देश दुनिया की नजरो म गिर जाता है। अत सरकार आवश्यक विदेशी मुद्रा प्राप्त करने क लिए विनिमय नियन्त्रण लगा देती है।

14 आर्थिक नियोजन के लिए (For Economic Planning)—आयात निर्यातो की मात्रा तथा कीमतो मे होने वाले अप्रत्याशित उतार-चढाव घरेलू नियोजन को खतरे म डाल देते हैं। ये उतार चढाव किसी भी देश के नियन्त्रण से परे है। विनिमय नियन्त्रण की नीति द्वारा अस्थायी प्रकृति की बाहरी घटनाओ के प्रभावो पर रोक लगाई जा सकती है।

15 व्यापारिक सौदेबाजो—विनिमय नियन्त्रण की नीति को अपनाकर एक राज्य भेदभाव पूर्ण व्यवहार कर सकता है। वह उन देशो को विनिमय रियायतें देगा जो उसे देने के लिए तैयार हैं और उनको नही जो उसे नहीं दे रहे। इस प्रकार वह प्रभावपूर्ण सौदेबाजी करने की स्थिति मे आ जाता है।

विनिमय नियन्त्रण के तरीके
(Methods of Exchange Control)

विनिमय नियन्त्रण के तरीको को मोटे रूप से दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष।

अप्रत्यक्ष तरीके (Indirect Methods)

(1) विदेशी व्यापार नियन्त्रण—इस तरीके मे सरकार द्वारा आयात और निर्यात पर कुछ कर लगा दिए जाते हैं। आयात कर का उद्देश्य यद्यपि आयातित वस्तुओ की मात्रा को कम करना होता है फिर भी यह विनिमय नियन्त्रण के रूप मे

प्रतिफलित होता है। आयात कर लग जाने के कारण आयातित वस्तुओं के भुगतान के लिए विदेशी मुद्रा के बदले देशी मुद्रा कम देनी पड़ेगी। यह नीति उस समय *असफल हो जाती है जब दूसरे देश भी इसका अनुसरण करने लगते हैं।*

(2) **ब्याज की दरों में परिवर्तन**—जब एक देश ब्याज की दरों में परिवर्तन कर देता है तो विनिमय दर प्रभावित होती है। ब्याज की दर अधिक होने पर विदेशी पूँजी आकर्षित होने लगती है ताकि वह अधिक से अधिक लाभ कमा सकें। इसके अतिरिक्त देशवासी भी अपनी सम्पत्ति को स्वदेश मे ही रखना चाहते हैं। फलतः देश मे मुद्रा की माँग बढ जाती है और विनिमय दर ऊँची होने लगती है।

विनिमय नियन्त्रण की उपर्युक्त रीतियाँ विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्य को लेकर नहीं चलती वरन् इनका मूल लक्ष्य देश की आन्तरिक स्थिति, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं पूँजी के आवागमन की परिस्थितियों को प्रभावित करना होता है। विनिमय की दर पर पड़ने वाला इनका प्रभाव प्रासंगिक होता है। यही कारण है कि इनको विनिमय नियन्त्रण की परोक्ष रीतियाँ कहा जाता है। इनका प्रभाव सीमित होता है। आयात अथवा निर्यात को ये केवल एक सीमित मात्रा मे ही प्रभावित करती हैं।

प्रत्यक्ष तरीके (Direct Methods)

विनिमय नियन्त्रण के कुछ प्रत्यक्ष तरीके भी हैं जो प्रायः संकटकाल मे *अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार* मे राज्य के हस्तक्षेप का सर्वाधिक अतिशयवादी रूप राज्य द्वारा किया गया व्यापार है। सरकार द्वारा निर्यात और आयात में व्यक्तिगत उद्यमों का स्थान स्वतः ले लिया जाता है। सरकारी *अभिकरण घरेलू व्यापारियों के उत्पादनों को देशी मुद्रा का भुगतान करके स्वयं* खरीद लेते हैं। वे उन्हे विदेशो मे विदेशी मुद्रा के बदले बेचते हैं। इसी प्रकार ये सरकारी अभिकरण विदेशों से माल खरीदकर अपने देश में बेचते हैं।

इस प्रकार के हस्तक्षेप *तथा स्वयं आयात-निर्यात के कार्यों* को सम्पन्न करने की अपेक्षा सरकार उसकी मात्रा निश्चित करने का काम भी अपने हाथ में ले सकती है। इस कार्य को राज्य प्रत्यक्ष नियमन द्वारा करता है।

*प्रत्यक्ष रूप से सरकार द्वारा जितने नियन्त्रण रखे जाते हैं उनको ऐसे गैर-*सरकारी व्यक्तियों एवं फर्मों पर रखा जाता है जो विदेशी विनिमय के व्यय और प्राप्तियों का कार्य करते हैं। विदेशी विनिमय प्राप्त करने वाले लोग उसे सरकार . .. इसके *अधिकृत अभिकरणों को बेच देते हैं। सरकार द्वारा व्यय योग्य विदेशी* . . *की मात्रा निर्धारित की जाती है।* इसके अतिरिक्त सरकार मात्रा या मूल्य सम्बन्धी प्रतिबन्ध लगाकर विदेशी विनिमय के प्रयोग को निर्देशित करती है। प्रत्यक्ष *तरीकों मे कुछ महत्वपूर्ण निम्न प्रकार हैं—*

(1) **हस्तक्षेप करना (Intervention)**—हस्तक्षेप करने की नीति द्वारा विनिमय की दर को प्रायः ऊँची अथवा नीची रखने का प्रयास किया जाता है।

प्राय यह नीति विनिमय दर को ऊँचा रखने के काम आती है। जब इस नीति का उद्देश्य मुद्रा के मूल्य को ऊँचा रखना होता है तो यह ऊँचा टांगने (Pegging up) की नीति कहलाती है।

पहले प्रकार के अन्तर्गत सरकार विनिमय दर को एक उच्च स्तर पर निश्चित कर देती है जबकि दूसरे मे विनिमय दर नीचे स्तर पर निर्धारित करनी है। विदेशी विनिमय को ऊँचे स्तर पर बनाए रखने मे सरकार तभी सफल हो सकती है जबकि उसकी विदेशी मुद्रा का कोष पर्याप्त सम्पन्न हो। विनिमय दर को ऊँचा टाँगना अधिक कठिनाईपूर्ण होता है क्योकि इसके लिए विदेशी मुद्रा की पूर्ति बढानी होती है। कई बार विदेशी मुद्रा की पूर्ति विदेशो से कर्जा लेकर की जाती है किन्तु यह तरीका ऋण की मात्रा एव समय की दृष्टि से अनेक सीमाएँ रखता है। इसके अतिरिक्त किसी अनुत्पादक उद्देश्य के लिए ऋण लेना उपयुक्त भी नही होता। स्पष्ट है कि एक सरकार विनिमय दर को केवल उतना ही ऊँचा टांग सकती है जितने उसके पास विदेशी मुद्रा कोष हैं।

विनिमय दर को नीचे अटकाने की सीमाएँ इतनी सकीर्ण नही होती क्योंकि इसके लिए विदेशी मुद्रा का नही वरन् देशी मुद्रा का कोष पर्याप्त होना चाहिए। यह काम अपेक्षाकृत सरल होता है। यद्यपि सीमाएँ इसमे भी है क्योकि देशी-मुद्रा को जनता पर कर लगाकर जनता से ऋण लेकर या नए नोट छापकर बढाया जा सकता है। ये तीनो तरीके असीमित नही हैं। यह सच है कि विनिमय दर को नीचे अटकान की नीति उसे ऊँचा अटकाने की अपेक्षा कम कठिनाईपूर्ण होती है किन्तु यह खर्चीली अधिक होती है। अत इसे स्थायी रूप से नही अपनाया जा सकता। यह नीति आर्थिक परिणामो की दृष्टि से भयकर और अपने आप मे खर्चीली होती है। इसे अपनाते समय पर्याप्त सजगता रखनी होती है।

(2) विनिमय प्रतिबन्ध (Exchange Restrictions)—जब एक सरकार अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो के आकारो और रचना को स्वतन्त्र बाजार मे निर्धारित होने देने के स्थान पर उसमे स्वय हस्तक्षेप करने का निर्णय लेती है तो उसे उन प्रश्नों का जवाब ढूंढना होता है जिनको स्वतन्त्र बाजार द्वारा स्वयमेव तय किया जाता रहा था अर्थात् सरकार को यह तय करना होगा कि कौन-सा माल और सेवाएँ आयात की जानी चाहिए ? प्रत्येक आयात पर कितना खर्च किया जाए ? पूंजी का निर्यात किस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किया जाए ? इन सबका लेन-देन करने की अनुमति किसे दी जाए ? पूँजी का प्रसार किन देशो को किया जाए ? आदि-आदि।

कुछ देशों मे इन प्रश्नो के समाधानार्थ विदेशी विनिमय का बजट बनाया जाता है। यह बजट प्रत्येक छ या बारह महीनो के बाद बनाया जाता है। अपने सरल अर्थ मे विनिमय प्रतिबन्ध की नीति वह है जिसमे एक देश अपनी मुद्रा की पूर्ति विदेशी विनिमय बाजार मे कम कर देता है। जो सरकार विनिमय नीति अपनाती है तो वह सारे व्यापार को स्वय अथवा अपने प्रतिनिधियो द्वारा नियन्त्रण मे रखती है। इसके अतिरिक्त जब कोई व्यक्ति देशी मुद्रा के बदले विदेशी मुद्रा

प्राप्त करने का प्रयास करता है तो उसे सरकार की आज्ञा लेनी होती है। प्रतिबन्ध की यह नीति सबसे पहले 1931 मे आस्ट्रिया-जर्मनी ने लागू की थी। जर्मनी को इस नीति का जनक कहा जाता है।

प्रतिबन्ध दो प्रकार के हो सकते हैं—मात्रागत और लागत सम्बन्धी। मात्रागत प्रतिबन्धो द्वारा विदेशो मे खर्च की जाने वाली या वहाँ से प्राप्त की जाने वाली मुद्रा की मात्रा पर संख्यात्मक सीमाएँ लगाई जाती हैं। दूसरी ओर, लागत प्रतिबन्धों पर विभिन्न लेन-देनो के लिए प्रयुक्त विदेशी विनिमय की अलग-अलग कीमतें वसूल की जाती हैं।

मात्रागत प्रतिबन्धो मे सरकार यह निश्चित कर देती है कि किन उद्देश्यों के लिए कितने विदेशी विनिमय का प्रयोग किया जाएगा ? इसे ज्ञात करने के लिए व्यक्तिगत लेन-देनो पर नियन्त्रण रखा जाता है। आयात नियतांश, आयात लाइसेंस या विनिमय लाइसेंस के रूप मे हो सकता है। एक नियतांश द्वारा आयात किए जाने वाले उत्पादन की कुल मात्रा की सीमा निर्धारित की जाती है। इसके अनेक रूप होते हैं।

विनिमय प्रतिबन्ध की नीति के कई रूप हैं। इनमे से अवरुद्ध खाते (Blocked Accounts) और बहुविनिमय दर (Multiple Exchange Rate) प्रमुख हैं। अवरुद्ध खाते की नीति मे विदेशी मुद्रा की निकासी पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है। केन्द्रीय बैंक मे जमा की गई रकम को विदेशी मुद्रा मे परिवर्तित नही किया जाता, उसको अवरुद्ध कर दिया जाता है। इससे विदेशी ऋणदाताओं को पर्याप्त कठिनाई का अनुभव होता है क्योंकि वे अपनी मुद्रा का प्रयोग और कही नही कर सकते और मजबूर होकर सम्बन्धित देश से ही उन्हें माल खरीदना होता है। खाते को इस प्रकार अवरुद्ध करने वाला देश पर्याप्त लाभ मे रहता है। जब हिटलर के आतकों से तग आकर यहूदियों ने जर्मनी को छोडा तो वहाँ उनकी करोड़ो की सम्पत्ति रह गई। जर्मन सरकार ने उस समस्त सम्पत्ति को अवरुद्ध खाते में लिख लिया। यहूदी उसे इग्लैण्ड में प्राप्त नहीं कर सकते थे। अवरोध की नीति काला बाजारी के अवसर खोलती है। मुद्रा को विदेशों मे जाने से रोक दिया जाता है अत इससे विनिमय की दर मे होने वाले उच्चावचन स्वतः ही रुक जाते हैं।

(3) बहुविनिमय दरें (*Multiple Exchange Rates*)—विनिमय प्रतिबन्धो का तीसरा रूप बहु-विनिमय दरें हैं। इस प्रणाली के जन्म का श्रेय भी जर्मनी को ही दिया जाता है। स्नाईडर के कथनानुसार बहुविनिमय दर का अर्थ विभिन्न प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देनो की विभिन्न प्रकार की विनिमय दरो का प्रयोग करना है। इस प्रक्रिया द्वारा आन्तरिक मूल्य एव आयके समायोजनों मे परिवर्तन किए बिना ही आयातों को नियन्त्रित किया जाता है और निर्यातों को प्रोत्साहन दिया जाता है। बहु विनिमय के तरीकों को सरल रूप मे नियन्त्रित विनिमय बाजार मे ही प्रयुक्त किया जा सकता है। आयात तथा निर्यात की जाने वाली वस्तुओ पर अलग-अलग विनिमय दर निर्धारित करके आयातों को न्यूनतम

और निर्यातों को अधिकतम किया जाता है ताकि अधिक से अधिक विदेशी विनिमय कमाया जा सके।

जिस देश में बहु विनिमय दरों को अपनाया जाता है वहाँ लाइसेंस अथवा मात्रागत प्रतिबन्धों के लगाने की आवश्यकता नहीं रहती। इस प्रणाली का दोष यह है कि इसके कारण विनिमय दरों का रूप अत्यन्त जटिल बन जाता है। इसके अतिरिक्त जब विनिमय दरों अथवा प्रत्येक विनिमय दर पर आयात व निर्यात की जाने वाली वस्तुओं को सदैव बदलते रखा जाता है तो देश में अनिश्चितता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रणाली के अन्तर्गत देश और विदेश के साधनों का प्रयोग अनार्थिक रूप से किया जाता है और इसलिए देश के नियोजित विकास में पर्याप्त बाधा पहुँचती है। अनेक वस्तुएँ विदेशों से आयातित की जाती है और इसलिए देश आत्मनिर्भर नहीं रह पाता। जिन विभिन्न देशों में इस प्रणाली को अपनाया गया उनको बहुत हानि उठानी पड़ी है। वहाँ कृषि उत्पादन का विकास अवरुद्ध हो गया है।

(4) विनिमय निकासी समझौते (Exchange Clearing Agreement)–यह अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन की अधिक सरल एवं विस्तृत पद्धति मानी जाती है। इसके अनुसार प्रत्येक देश एक समझौता करता है कि वह अपने केन्द्रीय बैंक में एक खाता खोलेगा और इस खाते के माध्यम से वह देश के सारे आयातों एवं निर्यातों का भुगतान करेगा। यह प्रणाली विदेशी विनिमय की परवाह किए बिना ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ाने का प्रयास करती है। इस व्यवस्था में विदेशी मुद्रा का महत्त्व समाप्त हो जाता है। इसे 1930 के आर्थिक संकट में अधिक अपनाया गया था। उस समय अनेक प्रतिबन्ध लगाने के बाद भी भुगतान सन्तुलन में विषमता थी और यह विषमता इतनी अधिक थी कि इसे रोकने के लिए किए गए सारे प्रयास प्रभावहीन सिद्ध हो रहे थे। कई देशों ने इस स्थिति से तंग आकर अपने आपको दिवालिया घोषित कर दिया। तत्कालीन परिस्थितियों में विदेशों से ऋण लेने की सम्भावनाएँ भी समाप्त प्राय हो चुकी थी। इन सब कारणों से प्रभावित होकर जर्मनी ने इस प्रणाली का आविष्कार किया।

विनिमय निकासी समझौतों द्वारा लाल-फीताशाही की मात्रा पर्याप्त कम हो जाती है क्योंकि इनके बाद आयात लाइसेंस जारी करना और आयात या निर्यात के मूल्यों का परीक्षण करना आवश्यक नहीं रह जाता।

इस प्रणाली के कुछ दोष भी हैं। इसमें एक समृद्ध देश कमजोर देश की कमजोरी का फायदा उठाते हुए उसका शोषण कर सकता है। इसमें आयात केवल उसी देश से किया जा सकेगा जिससे निर्यात किया जा रहा है। ऐसी स्थिति में सम्भव है कि एक देश को अनावश्यक वस्तुएँ भी खरीदनी पड़े। इस प्रकार से किए गए समझौतों का जब पूर्ण रूप से पालन किया जाता है तो विदेशी बाजारों की आवश्यकता नहीं रह जाती।

(5) **स्वर्ण नीति (Gold Policy)**—सरकार सोने की बिक्री और खरीद पर प्रतिबन्ध लगाकर तथा उनके नियमन द्वारा विनिमय को नियन्त्रित कर सकती है। अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने 1933 में विनिमय नियन्त्रण की दृष्टि से स्वर्ण क्रय-कार्यक्रम को कार्यान्वित किया। इस प्रकार के उपायों को अपनाने का स्वर्ण बिन्दुओं पर प्रभाव होता है और इस तरह विनिमय दरें भी प्रभावित होती हैं।

कुछ अन्य तरीके (Some other Methods)

उपरोक्त प्रणालियों के अतिरिक्त विनिमय नियन्त्रण के लिए कुछ अन्य प्रणालियाँ भी प्रयुक्त की जाती है। पाल एन्जिग ने विनिमय नियन्त्रण की 41 विभिन्न रीतियों का वर्णन किया है उपर्युक्त प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रीतियों के अतिरिक्त जो अन्य रीतियाँ इस दृष्टि से महत्त्व रखती हैं वे निम्नलिखित हैं—

(1) **भुगतान समझौते (Payments Agreements)**—भुगतान समझौते के अन्तर्गत साधारण विनिमय के तरीकों को ही काम मे लिया जाता है। इनमे एक विनिमय नियन्त्रित देश से स्वतन्त्र विनिमय वाले देश को जोड़ा जाता है। ये भुगतान समझौते दो प्रकार के होते हैं। पहले प्रकार के समझौते ऋण के भुगतान मे सहायता करते हैं जबकि दूसरे व्यापार के विकास के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं।

(2) **यथास्थिति समझौते (Stand-still Agreements)**—यह प्रणाली खाते अवरुद्ध करने की प्रणाली का विकल्प है। इसके अनुसार दो देशों के बीच सम्पत्ति के आवागमन पर रोक लगा दी जाती है। ऋणों के भुगतान को कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया जाता है और इस प्रकार कर्जदार देश को इतना समय दिया जाता है कि वह अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ बना ले। इस प्रकार यह प्रणाली पारस्परिक सहयोग एव पूंजी के आवागमन पर रोक लगाकर विनिमय दर को नियन्त्रित करने का प्रयास करती है।

(3) **निजी मुआवज़ा समझौते (*Private Compensation Agreement*)**—ये समझौते वस्तुओं के आदान-प्रदान की भाँति होते हैं। इस प्रणाली के अन्तर्गत एक देश दूसरे देश को उतनी ही मात्रा एव मूल्य की वस्तुएँ निर्यात करता है जितना वह बदले मे सम्बन्धित देश से आयात करता है। इस प्रकार आयातों का भुगतान निर्यातों द्वारा स्वयमेव ही कर दिया जाता है और किसी प्रकार का भुगतान करना शेष नही रह जाता। इस व्यवस्था के अन्तर्गत एक निर्यातकर्त्ता देश को आयातकर्त्ता और आयातकर्त्ता देश को निर्यातकर्त्ता भी होना चाहिए। इस प्रकार विनिमय दर के बीच साम्य बनाए रखा जाता है।

(4) **अव्यवस्थित भेदक दरें (Disorderly Crossed Rates)**—विनिमय नियन्त्रण केवल वहाँ लागू किया जाता है जहाँ द्विपक्षीय व्यापार हो रहा है। इसके अतिरिक्त कभी कभी विनिमय दरों के मध्य एक व्यवस्थापूर्ण सम्बन्ध के स्थान पर अव्यवस्थित दरें भी निर्धारित हो जाती हैं। पहले जब विभिन्न देशों की मुद्राएँ परिवर्तनशील थीं तो उनकी पारस्परिक विनिमय दरें प्रायः स्थायी होती थीं। उस समय विनिमय दरों में परिवर्तन की प्रवृत्ति को विनिमय का लाभ प्राप्त करने का

क्रियाओं द्वारा प्रभावशील होने से रोक दिया जाता था किन्तु अब विनिमय नियन्त्रण एवं अपरिवर्तनीयता के कारण लाभ प्राप्त करने से सम्बन्धित क्रियाएं प्राय असम्भव बन गई हैं। आज मुद्रा की दर सरकार द्वारा निर्धारित की जाती हैं और अनेक प्रतिबन्ध लगाकर उसे बनाए रखा जाता है। ऐसी स्थिति मे जब तक विभिन्न विपरीत विनिमय दरो को हम व्यवस्थित एवं स्थायी रूप प्रदान न करें तब तक वे अव्यवस्थित रहती हैं। अव्यवस्थित दरो मे देश की मुद्रा का मूल्य व्यापार शर्तों की अनुकूलता और प्रतिकूलता के साथ घटता-बढ़ता रहता है।

विनिमय नियन्त्रण की उपयोगिता एवं अनुपयोगिता
(The Advantage and Disadvantage of Exchange Control)

विनिमय नियन्त्रण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दृष्टि से कितना उपयोगी है और इसका महत्त्व क्या है इस प्रश्न के सम्बन्ध मे अर्थशास्त्री बहुत समय से विवाद करते रहे हैं। अमेरिकी दृष्टिकोण के अनुसार विनिमय नियन्त्रण की नीति व्यापार के मार्ग को अवरुद्ध करती है। इसलिए ऐसे नियन्त्रणो को जितनी जल्दी हो सके हटा लेना चाहिए। दूसरी ओर ग्रेट ब्रिटेन जैसे देशो की मान्यता है कि इस नीति ने अनेक मूल्यवान सेवाएँ प्रदान की हैं और इसलिए जब कभी इनको हटाया जाए तो पर्याप्त सावधानी बरतनी चाहिए। दोनो ी पक्ष अपने समथन म अनेक तक प्रस्तुत करते हैं।

उपयोगिता

(1) विनिमय नियन्त्रण द्वारा घरलू अर्थ-व्यवस्था को बाहरी अशान्ति से बचाए रखा जाता है। यह व्यवस्था चालू खाते के असन्तुलन को बिना कीमत या आय का अवमूल्यन किए या बिना विनिमय मन्दी का सहारा लिए ही सुधार सकती है। विनिमय नियन्त्रण के माध्यम से प्रसारवादी मौद्रिक एव प्रशुल्क नीतियाँ भुगतान सन्तुलन पर विचार किए बिना ही सचालित की जा सकती हैं।

(2) विनिमय नियन्त्रण का एक लाभ यह है कि यह स्वचालित अथवा समायोजन से स्वतन्त्र बाजार की प्रतिक्रियाओं की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है। नियन्त्रण करने वाली सत्ताएँ यह चयन कर सकती हैं कि किस विशेष आयात को कम करना है और किन विदेशी मुद्राओं की सबसे अधिक बचत करनी है? इस प्रकार यह निर्णय लिया जा सकता है कि सामाजिक दृष्टि से उपयोगी अन्य वस्तुओं के अधिक आयात को बनाए रखने के लिए आरामदायक चीजो के आयातो को हटाया जाए। दूसरी ओर स्वतन्त्र बाजार मे आरामदायक वस्तुओं का आयात बहुत कम प्रभावित होता है।

(3) विनिमय नियन्त्रण द्वारा एक सर्वाधिक, निश्चित और प्रभावशील प्रक्रिया प्रदान की जाती है ताकि पूँजी के आदान प्रदान के असन्तुलन को कम किया जा सके।

विनिमय नियन्त्रण के समर्थकों का कहना है कि स्वतन्त्र बाजार प्रणाली के सभी परिणाम उचित नहीं होते। इन विचारकों का मत है कि विनिमय नियन्त्रण द्वारा अर्थ व्यवस्था के बाहरी उपद्रवों को चाहे पूरी तरह मिटाया न जा सके किन्तु

उनकी विभिन्न समस्याओं का निदान भली प्रकार किया जा सकता है। विनिमय नियन्त्रण द्वारा उस पूँजी के आवागमन पर नियन्त्रण रखा जाता है जो भ्रमणशील एवं विषमताओं को बढाने वाली होती है।

अनुपयोगिता (हानियाँ)

विनिमय नियन्त्रण के उक्त लाभों के अतिरिक्त उसकी कुछ हानियाँ भी हैं। सामान्य रूप से विनिमय नियन्त्रण एक ऐसी व्यवस्था है जिसमे सरकारी विनिमयों को स्वतन्त्र बाजार की शक्तियों के स्थान पर रख दिया जाता है। इस व्यवस्था से यह मानकर चला जाता है कि प्रत्यक्ष नियन्त्रण अधिक प्रभावशाली कार्य करेगा। इसमें अवांछनीय बातें कम होंगी और मूल आय के परिवर्तन या विनिमय दर की विभिन्नताओं के कारण गलत प्रभाव नहीं पड़ेंगे।

विनिमय नियन्त्रण के प्रति सबसे गम्भीर आर्थिक आपत्ति यह की जाती है कि इसके द्वारा अल्प सख्या में स्थित उत्पादन के साधनो के निर्धारण मे कार्य-कुशलता नही रह पाएगी। सैद्धान्तिक रूप से नियन्त्रण पूँजी की गति की गलत स्थितियो को रोकने के लिए किए जाते हैं किन्तु व्यवहार मे इन्होने उत्पादन और व्यापार के रूप मे प्रायः प्रत्येक बार उत्पादन के नियमो को तोड़ा है। स्वतन्त्र बाजार की व्यवस्थाओं मे एक देश उस माल और सेवा को खरीदता है जिनकी उत्पादन लागत देश की अपेक्षा विदेशो मे कम आती है। इस दृष्टि से उत्पादन के साधनों का अधिक से अधिक निर्धारण करके विश्व की वास्तविक आमदनी को बढा दिया जाता है।

एक स्वतन्त्र विनिमय बाजार आन्तरिक और बाह्य लागतो तथा मूल्यों को जोडने वाली कडी है। यदि एक कडी टूट जाए तो लागत-कीमत की तुलना का आधार और साधनो के निर्धारण का कुशल यन्त्र नष्ट हो जाएगा। अधिकाँश देशों मे विनिमय नियन्त्रण का इतिहास यह प्रदर्शित करता है कि ऐसी व्यवस्थाओं मे यह कड़ी प्रायः टूट गई है। एक स्वतन्त्र बाजार मे व्यापार की गई वस्तुओं का मूल्य सभी देशो के अन्तर्गत एक जैसा रहेगा, उनके बीच केवल यातायात की लागत का अन्तर होगा। विनिमय नियन्त्रण की स्थिति से ऐसा नही होता। जब आयात लाइसेंस जारी करके प्रतिबन्ध लगा दिए जाते हैं तो कीमतो को समान करने के सभी प्रयास असफल हो जाते हैं।

विनिमय नियन्त्रण की योजना में विनिमय की जो कृत्रिम दर एक देश मे निर्धारित की जाती है उसकी अपेक्षा विदेशो मे प्राय. सभी वस्तुएँ सस्ती होती हैं। देश का निर्यात ऊँची कीमत पर होने के कारण प्रतिबन्धित हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि जिन साधनों को निर्यात करने वाली वस्तुओं के अधिक उत्पादन के लिए प्रयोग में लाया जा सकता था वे अब उन वस्तुओं के उत्पादन की ओर लगाई जाती हैं जो विदेशों मे अधिक कुशलतापूर्वक उत्पादित की जा सकती थी। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे श्रम विभाजन का लाभ प्राप्त नही हो पाता। इस व्यवस्था के अन्तर्गत किसी देश मे किए जाने वाले आयात का निर्णय इस आधार पर

नही किया जाता कि वहां माल सस्ता मिलेगा वरन् इस आधार पर किया जाएगा कि वहां से माल मिल भी सकेगा या नही। इसके परिणामस्वरूप व्यापार न केवल कम कुशल रह जाता है वरन् इसका आकार भी कम हो जाता है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से यूरोपीय देश के बीच का व्यापार बहुत कुछ द्विपक्षीय व्यापार एवं भुगतान समझौतो के माध्यम से हुआ जिनकी सख्या दो सौ से भी अधिक थी। इन पर अनेक व्यापक एवं कठोर विनिमय नियन्त्रण लगे हुए थे। इन्ही के कारण मुख्य रूप से यूरोपीय अर्थ व्यवस्था न आत्म निर्भर बन सकी और न ही अपना विकास कर सकी।

यद्यपि विनिमय नियन्त्रण की नीति का विरोध किया जाता है किन्तु यह विरोध तथा की गई समस्त आलोचनाएँ उस समय महत्वहीन प्रतीत होती हैं जब हमारे सामने यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या इनके स्थान पर स्वतन्त्र बाजार की नीति को अपनाया जाए ? आज प्राय अधिकांश लोग इस बात से सहमत हैं कि यदि किसी देश के भुगतान सन्तुलन की विषमताओ को दूर करना है तो इसके लिए कुछ उपाय अवश्य अपनाए जाने चाहिए। असल मे विनिमय को स्थायित्व प्रदान करने के लिए विनिमय नियन्त्रण की सेवाएँ पर्याप्त महत्त्वपूर्ण होती हैं।

विनिमय नियन्त्रण का व्यावहारिक रूप
(An applied form of Exchange Control)

विनिमय नियन्त्रण से सम्बन्धित मूल सिद्धान्तो, रूपो तथा पक्ष और विपक्ष मे दिए जाने वाले तर्कों का अध्ययन करने के बाद यह उपयुक्त है कि किसी देश विशेष मे इसके व्यावहारिक अनुभव का अध्ययन किया जाए ताकि सम्बन्धित सिद्धान्तो को समझा जा सके। अपने अध्ययन के लिए हम ग्रेट ब्रिटेन को चुनते हैं। ग्रेट ब्रिटेन मे विनिमय नियन्त्रण की व्यवस्था की ओर दो कारणो से विशेष ध्यान गया है। पहला कारण यह है कि इस देश की मुद्रा पौंड स्टर्लिंग (Pound Sterling) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और वित्त मे एक मुख्य स्थान रखती है। ग्रेट-ब्रिटेन की मुद्रा होने के अलावा यह दूसरे अनेक देशो की मुद्राओ का भी सहारा है। ग्रेट ब्रिटेन तथा उसकी मुद्रा से सम्बन्धित दूसरे देशो को मिलाकर पौण्ड क्षेत्र कहा जाता है। इन देशो मे विश्व की जनसख्या का लगभग एक तिहाई भाग रहता है। दूसरे, स्टर्लिंग मे किए जाने वाले व्यापार और वित्त की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक है। यह विश्व के कुल व्यापार और वित्त का आधा भाग है। जब स्टर्लिंग जैसी किसी मुद्रा के सम्बन्ध मे विनिमय नियन्त्रण लागू किया जाता है तो इस व्यवस्था का कुछ ज्ञान अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक गतिविधियो को समझने के लिए परमावश्यक है।

ग्रेट ब्रिटेन तथा स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्य देशो मे द्वितीय विश्व युद्ध के प्रारम्भ मे ही विनिमय नियन्त्रण लागू कर दिया गया था। यह कदम इसलिए उठाया गया ताकि ग्रेट ब्रिटेन और राष्ट्रमण्डल के देशो पर युद्धकालीन परिस्थितियो का प्रभाव न पड़े अथवा कम से कम पड़े। मूल रूप से ग्रेट ब्रिटेन ने विनिमय नियन्त्रण को इसलिए अपनाया ताकि वह अपने स्वर्ण और डॉलर के अपेक्षाकृत अल्प कोष को सुरक्षित बनाए रख सके या अपने कोष का अधिकतम प्रयोग कर सके। युद्ध से पूर्व स्टर्लिंग

क्षेत्र की जो मुख्य विशेषताएँ थी वे युद्ध के दौरान भी यथावत् बनी रहीं। केवल दो विकास हुए—प्रथम, यह कि स्टर्लिंग क्षेत्र के सभी देशों ने विनिमय नियन्त्रण लागू कर दिया और दूसरे, सभी सदस्य देश अपनी गैर-स्टर्लिंग क्षेत्र की मुद्रा और स्वर्ण को लन्दन मे रखने को राजी हो गए। इस काल मे भारत ने अपनी आवश्यकताओं से अधिक डॉलर कमाया। उसने इन डॉलरों को पौण्ड के बदले ग्रेट-ब्रिटेन को दे दिया। इस प्रक्रिया से ग्रेट-ब्रिटेन ने जितने डॉलर कमाए थे उनसे अधिक उसे मिल गए किन्तु अतिरिक्त डॉलर प्राप्त करने मे उसे भारत को स्टर्लिंग प्रदान करने पड़े। ग्रेट-ब्रिटेन को इस व्यवस्था मे यह लाभ हुआ कि वह अब गैर-स्टर्लिंग क्षेत्र से अधिक मात्रा मे आयात कर सकता था।

सम्पूर्ण स्टर्लिंग क्षेत्र मे विनिमय नियन्त्रण को सामान्य बनाने और लन्दन मे डॉलर एवं अन्य गैर-स्टर्लिंग क्षेत्रीय मुद्राओं को रखने का परिणाम यह हुआ कि एक व्यापक नियन्त्रण-विहीन क्षेत्र व्यापार के लिए खुल गया। किन्तु स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर वाले देशो के साथ विशेष प्रतिबन्ध लगाए गए। युद्ध के बाद भी स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों मे विनिमय नियन्त्रण की व्यवस्था बनी रही।

विनिमय नियन्त्रण का संचालन

ग्रेट-ब्रिटेन मे विनिमय नियन्त्रण 1939 मे प्रारम्भ किया गया। इसके बाद के वर्षों मे अनेक परिवर्तन व्यापक रूप से किए गए, किन्तु इसकी मूल बातें अपरिवर्तनीय रहीं। 1947 के विनिमय नियन्त्रण अधिनियम के प्रमुख प्रावधान निम्न प्रकार थे–

1. क्षेत्र (Coverage)—यह प्रतिबन्ध स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्य देशो के साथ किए जाने वाले लेन-देन पर लागू नही होंगे। ये केवल उन्हीं के साथ किए जाने वाले विनिमय पर लागू होंगे जो कि स्टर्लिंग क्षेत्र से बाहर हैं।

2. विनिमय दर (Exchange Rate)—यह व्यवस्था इकहरी दर व्यवस्था (Single Rate System) है जिसमे समस्त लेन-देनो के लिए एक दर निर्धारित करदी गई है।

3. प्रशासन (Administration)–विनिमय नियन्त्रण का प्रशासन राजकोष (Treasury) की ओर से बैंक ऑफ इंग्लैण्ड (Bank of England) द्वारा किया जाता है। दिन-प्रतिदिन के अधिकांश कार्य कॉमर्शियल बैंकों द्वारा किए जाते हैं। ये सभी बैंक इन कार्यों को सम्पन्न करने का अधिकार रखते हैं।

4. अनुज्ञप्तियाँ (Licencing)—विनिमय नियन्त्रण के अधीन जब व्यक्तिगत लेखो पर आयात किया जाता है तो उसके लिए आयात अनुज्ञप्ति की आवश्यकता होती है किन्तु सरकारी लेखे पर किए जाने वाले किसी आयात पर अनुज्ञप्तियाँ जरूरी नही होतीं। निर्यात अनुज्ञप्तियाँ भी होती हैं किन्तु वे विनिमय नियन्त्रण से सम्बन्ध नही रखती। सभी प्रकार की अनुज्ञप्तियाँ व्यापार मण्डल (Board of Trade) से सम्बन्ध रखती हैं।

5. विनिमय प्राप्तियाँ (Exchange Receipts)—किसी भी विशेष मुद्रा में

होने वाली समस्त विनिमय प्राप्तियाँ एक अधिकार प्राप्त बैंक को बेच दी जानी चाहिए। ये बैंक गैर-स्टर्लिंग क्षेत्रों से प्राप्त मुद्रा के बदले पौण्ड प्राप्त कर लेंगे।

6. विनिमय भुगतान (Exchange Payments)—ब्रिटिश विनिमय नियन्त्रण की व्यवस्था वह तरीका है जिसमे वापसी को प्रभावित किया जाता है। बैंकों के माध्यम से किए जाने वाले सभी हस्तान्तरणों को कुछ प्रमुख शीर्षकों मे वर्गीकृत किया जाता है और बैंक उनको स्थित विनिमय सम्बन्धी विनियमों द्वारा सचालित करती हैं। ये प्रमुख शीर्षक हैं—

(1) निवासी लेखे (Resident Accounts)

(2) गैर-निवासी लेखे (Non-resident Accounts)

इनमें बाद वाले शीर्षक का तीन मुख्य प्रकारों मे विभाजित किया जा सकता है। ये हैं—

(1) अमेरिकी लेखे (American Accounts)

(2) परिवर्तनीय लेखे (Transferable Accounts)

(3) द्विपक्षीय लेखे (ilateral Accounts)

7 व्यावसायिक वस्तुओं के आयात (Merchandise Imports)—स्टर्लिंग क्षेत्र के दूसरे भागों से किए जाने वाले आयातों का भुगतान स्वतन्त्रतापूर्वक स्टर्लिंग मे या स्टर्लिंग क्षेत्र की किसी भी अन्य मुद्रा मे किया जा सकता है। स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर से किए जाने वाले आयातों का भुगतान आयात अनुज्ञप्ति व्यवस्था के माध्यम से स्वीकृति का विषय है।

8 अदर्शनीय (Invisibles)—अदर्शनीय व्यापारिक मदों का भुगतान करने के लिए एक विनिमय अनुज्ञप्ति देना आवश्यक है। इस प्रकार की अनुज्ञप्तियाँ बिना किसी भेदभाव के दी जाती हैं।

9 पूँजीगत स्थानान्तरण (Capital Transfer)—स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर वाले देशों के लिए किए जाने वाले पूँजी के सभी स्थानान्तरण स्वीकृति की आवश्यकता रखते हैं। स्वीकृति के बाद ही इस प्रकार के स्थानान्तरण किए जा सकेंगे।

10. लक्ष्य (Overall Objective)—उपर्युक्त विनिमयों का मुख्य उद्देश्य स्वर्ण और डॉलर की रक्षा करना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ऐसे प्रयास किए गए हैं कि व्यापार डॉलर क्षेत्र से दूसरी ओर मुड़ जाए तथा उन देशों की ओर प्रवृत्त हो जाए जो स्टर्लिंग क्षेत्र मे आते हैं या जिनके बीच स्टर्लिंग सामान्य रूप से परिवर्तनीय है। प्रो क्रॉज (Prof Krause) का कहना है कि "ब्रिटेन मे विनिमय नियन्त्रण का यही मुख्य उद्देश्य था।"

विनिमय नियन्त्रण बनाम प्रशुल्क और नियतांश
(Exchange Control Vs Tarrifs and Quotas)

विनिमय नियन्त्रण की भाँति प्रशुल्क और नियतांश भी प्रतिबन्ध के तरीके हैं। उल्लेखनीय है कि भुगतान सन्तुलन की कुछ मदों पर विनिमय नियन्त्रण दूसरे

प्रतिबन्धों की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक रूप से लगाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, सैलानियों का व्यय (Tourist Expenditures) इस पर केवल तभी कर लगाया जा सकता है जब विदेशों में व्यय की गई मात्रा ज्ञात हो। यह तब हो सकता है जबकि कठोर विनिमय नियन्त्रण लगाए जाएं और विदेशों में व्यय किए धन की स्वीकृति नियन्त्रणकारी सत्ता से ग्रहण की जाए।

प्रतिबन्ध के दूसरे तरीकों की अपेक्षा विनिमय नियन्त्रण विशेषतापूर्ण है। इसकी महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं—

1. लोचशीलता (Flexibility)—विनिमय नियन्त्रण का प्रशासन आम रूप से कार्यपालिका द्वारा किया जाता है इसलिए यह प्रशुल्कों की अपेक्षा अधिक लोचशील होता है जिनमे व्यवस्थापिका की स्वीकृति आवश्यक होती है। बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार इसका शीघ्र समायोजन किया जा सकता है।

2. भेदभाव का उच्चत्तर साधन (Superior Instrument of Discrimination)—भेदभाव की नीति को अपनाने के लिए प्रशुल्कों की अपेक्षा विनिमय नियन्त्रण अधिक श्रेष्ठ है। प्रशुल्कों द्वारा वस्तुओं के केवल मोटे-मोटे वर्गों के बीच ही भेदभाव किया जा सकता है। विनिमय नियन्त्रण अधिकारियों द्वारा प्रत्येक लेन-देन की स्वीकृति दी जाती है। अतः वे देशों, वस्तुओं, आयातकर्त्ताओं और निर्यातकर्त्ताओं के बीच अधिक अच्छा भेदभाव बरत सकते हैं। एक विशेष बात यह है कि विनिमय नियन्त्रण के अन्तर्गत यह स्पष्ट रहता है कि भेदभाव किया जा रहा है किन्तु इसके अस्तित्व को सिद्ध करने या न करने के लिए कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं होता।

3. व्यापारिक सौदेबाजी का प्रभावशील साधन (Effective Instrument of Commercial Bargaining)—विनिमय नियन्त्रण प्रशुल्कों की अपेक्षा व्यापारिक सौदेबाजी के लिए अधिक प्रभावशील होता है। इनके द्वारा आयातों को तुरन्त नियमित किया जा सकता है। विनिमय नियन्त्रण के समझौते गुप्त रखे जा सकते हैं। प्रशुल्कों में व्यवस्थापिका की स्वीकृति आवश्यक होने के कारण उन्हें गुप्त नहीं रखा जा सकता।

4. व्यापक क्षेत्र (Wider Scope)—विनिमय नियन्त्रणों का क्षेत्र नियतांश अथवा प्रशुल्कों की अपेक्षा पर्याप्त व्यापक होता है। इसमें सेवाओं, पर्यटकों के व्यय, कूटनीतिक व्यय, पूँजीगत गतियों इत्यादि को भी शामिल किया जा सकता है जो प्रशुल्कों एवं नियतांश के विषय नहीं होते।

ट्रिफिन योजना
(Triffin Plan)

ट्रिफिन योजना के अनुसार निर्यातकर्त्ताओं एवं आसानी से नियन्त्रण योग्य स्रोतों द्वारा कमाई जाने वाली समस्त विदेशी मुद्रा विनिमय की सरकारी दर पर केन्द्रीय बैंक में जमा की जानी चाहिए। महत्त्वहीन तथा नियन्त्रण से परे स्रोतों से प्राप्त विनिमय को ही स्वतन्त्र विनिमय बाजार में खरीदा और बेचा जा सकता है।

विदेशी मुद्रा की आवश्यकता वाले सभी लेन-देनो को समाज के लिए उनके महत्व के आधार पर दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है—(1) पूर्ण अनिवार्यताएं और (2) आरामदेह वस्तुएं। प्रथम श्रेणी की वस्तुओ के लिए विदेशी मुद्रा निम्नतम दर पर प्रदान की जानी चाहिए ताकि आम जनता को उच्च कीमतो या उच्च जीवन-स्तर की परेशानी न सहनी पडे। इन आवश्यकताओ को पूरा करने के बाद शेष विदेशी मुद्रा को एक या कुछ नीलामी बाजारो मे बेचना चाहिए ताकि आरामदेह वस्तुओ के आयात की एव ऐसी ही दूसरी आवश्यकताएँ पूरी की जा सकें।

ट्रिफिन योजना को साधारण अनुज्ञप्ति व्यवस्था की अपेक्षा निम्न कारणो से श्रेष्ठ माना जा सकता है—

(1) इसमे प्रशासनिक स्वेच्छा के स्थान पर कीमत यन्त्र की स्थापना की गई है और इस प्रकार भ्रष्टाचार, पक्षपात, रिश्वतखोरी एव व्यापार की अनैतिकता आदि को कम कर दिया गया है। प्रशासनिक स्वेच्छा का प्रयोग विभिन्न श्रेणियो मे आयात की जाने वाली वस्तुओ को विभाजित करने के लिए किया जाता है। इसके सम्बन्ध मे निर्णय उच्च स्तर पर लिए जाते हैं जहाँ भ्रष्टाचार के अवसर अधिक महत्त्वपूर्ण नही होते।

(2) यह योजना सरकार को राजस्व प्रदान करती है जिसे समाज के सामान्य कल्याण के लिए प्रयोग मे लाया जाता है।

(3) यह धनवानो की क्रय-शक्ति को घटाएगी जो नीलामी मे विदेशी मुद्रा खरीदते हैं। इस प्रकार मुद्रा सकुचन का मार्ग खुल जाता है।

(4) व्यापार और विनिमय नियन्त्रण के पीछे नौकरशाही प्रशासन और अन्तर्निहित स्वार्थों का समर्थन रहता है। जो व्यापारी नियन्त्रण से पर्याप्त लाभ प्राप्त करते हैं वे उसे जारी रखने मे रुचि लेते हैं और प्रशासन को तदनुसार प्रभावित करने के लिए उचित और अनुचित सभी तरीके अपनाते हैं।

यद्यपि ट्रिफिन योजना के उपर्युक्त लाभ हैं फिर भी इसमे सन्देह है कि योजना विशेष रूप से अर्द्ध-विकसित देशो के लिए अधिक लाभदायक हो सकेगी। योजना की प्रमुख हानियाँ निम्न प्रकार है—

(1) अर्द्ध-विकसित देशो मे पूंजीगत वस्तुओ, तकनीकी ज्ञान और आवश्यक कच्चे माल की खरीद के लिए विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होती है। ऐसी स्थिति मे ये देश आरामदेह और गैर आवश्यक वस्तुएँ नही खरीद सकते। विकास के लिए इच्छुक देश अपने व्यय पर पूरा नियन्त्रण रखता है और आवश्यकताओ के बाद बचाए गए एक पैसे को भी विकास कार्यों मे लगाता है। जापान, रूस और चीन के विकास का इतिहास यह सिद्ध करता है कि तीव्र आर्थिक विकास के लिए नियन्त्रण कितना आवश्यक है। यदि धनवान लोग गरीब और मध्यम वर्ग के लोगो की अवहेलना करके आरामदेह चीजें खरीदने लग जाएँ तो गरीब लोग आर्थिक विकास के लिए आवश्यक कष्ट सहना अस्वीकार कर सकते है और ऊँची मजदूरी की माँग कर सकते हैं। प्राथमिक वस्तुओ का उत्पादन करने वाले देश अपनी अधिकांश विदेशी मुद्रा उन

वस्तुओं के निर्यात से प्राप्त करते हैं जो निर्धन वर्ग के लोगों के परिश्रम का परिणाम है। ये लोग कभी यह पसन्द नहीं करेंगे कि उनके पसीने की कमाई पर धनवान लोग मौज उड़ाएं। यदि ये देश आरामदेह और गैर-आवश्यक वस्तुओं का आयात नहीं कर सकते तो नीलामी का प्रश्न ही नहीं उठता।

(2) योजना के कुशल संचालन के लिए आयातकर्त्ताओं में पर्याप्त प्रतियोगिता होनी चाहिए। अधिकांश विकासशील देशों मे आयातकर्त्ताओं की संख्या बहुत कम होती है। वे आपस मे मिलकर नीलामी के उद्देश्य को निरर्थक बना सकते हैं, वे उपभोक्ताओं और सरकारी राजस्व के हितों को हानि पहुँचाकर अतिशय लाभ कमा सकते हैं।

(3) सरकार योजना का दुरुपयोग करते समय आवश्यक वस्तुओं की श्रेणी से माल को नीलामी की श्रेणी में स्थानान्तरित करके अधिक से अधिक राजस्व प्राप्ति का प्रयास कर सकती है। अर्द्धविकसित देशों मे इसकी सम्भावनाएँ अधिक हैं क्योंकि वहाँ सरकारें कमजोर होती हैं और राजस्व एकत्रित करने के ऐसे तरीके तलाश करती हैं जिनका जनता मे कम से कम विरोध हो। इसके फलस्वरूप बहुमूल्य विदेशी मुद्रा का आरामदेह वस्तुओं की खरीदारी मे दुरुपयोग होगा।

(4) सभी आयातों को दो अथवा कुछ श्रेणियों मे विभाजित करना वैज्ञानिक नहीं है। प्रत्येक आयात की श्रेणी मे भिन्न प्रकृति और महत्त्व के विषय होते हैं। यदि श्रेणियों की संख्या बढ़ा दी जाए तो योजना की सरलता समाप्त हो जाएगी।

(5) विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति के अनुसार नीलामी बाजार मे विदेशी विनिमय की दर समय-समय पर बदलती रहेगी और इसलिए कीमत स्तर अस्थिर बन जाएगा। एक बार विदेशी मुद्रा नीलाम हो जाने के बाद आयातकर्त्ता कोई भी कीमत वसूल कर सकते हैं क्योंकि बाद मे कोई कीमत नियन्त्रण नहीं रहता। नीलामी के बाद होने वाले परिवर्तनों के सारे लाभ अथवा हानि का दायित्व उन्हीं पर रहता है। इस प्रकार आयातकर्त्ताओं का जोखिम बढ़ जाता है।

(6) जहाँ तक भ्रष्टाचार का सम्बन्ध है, यह अनुज्ञप्ति प्रणाली का अन्तर्निहित भाग नहीं है। यह सरकारी यन्त्र के दोषों का परिणाम है। इन दोषों को दूर करने की अपेक्षा अनुज्ञप्ति प्रणाली का ही बहिष्कार करना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता।

17 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की भूमिका

[ROLE OF THE INTERNATIONAL MONETARY FUND (I. M. F.)]

द्वितीय विश्व युद्ध और प्रथम विश्व-युद्ध के मध्यवर्ती काल से ससार के देशो ने यह महसूस किया कि अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग जरूरी है। इसके अभाव मे एक देश अपना समुचित आर्थिक विकास करने मे प्राय असमर्थ रहता है। 1939 मे युद्ध छिडने से पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और वित्त के क्षेत्र मे अस्त व्यस्त स्थिति उत्पन्न हो गई थी और इसलिए यह अनुभव किया गया कि विश्व बाजार मे आई हुई कठिनाइयो को दूर करने के लिए कोई महत्त्वपूर्ण कार्य किया जाए। इस काल मे ससार के देशो ने अपनी आर्थिक अस्थिरता एव अन्य गम्भीर परिस्थितियो से छुटकारा पाने के लिए अनेक सम्मेलन बुलाए। तत्कालीन परिस्थितियो ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का प्रारूप तैयार करने मे महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाला।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की पृष्ठभूमि
(Back ground of International Monetary Fund)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का जन्म जिस पृष्ठभूमि का परिणाम है, उसने इसके प्रारूप को निश्चित करने मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। 1930 की आर्थिक मन्दी के परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बहुत कुछ कम हो गया था क्योकि विश्व के विदेशी विनिमय बाजारो मे विभिन्न मुद्राओ की माँग और पूर्ति के सम्बन्ध मे गम्भीर परिवर्तन हो गए थे। मुद्राओ की माँग पूर्ति की असन्तुलित परिस्थितियो का मुकाबला करने के लिए सरकारो ने इन तीन मे से किसी एक को अपनाया—

(1) जिस देश मे पर्याप्त सोने और विदेशी मुद्रा का भण्डार था उसने इन्ही के रूप मे बडे-बडे भुगतान किए ताकि स्थायी विनिमय दर को प्राप्त किया जा सके।

(2) विनिमय दरो को मन्द एव लोचहीन बनने दिया जाए, और

(3) विनिमय की खरीद और बिक्री पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिए गए।

इन तीनो प्रक्रियाओ को क्रमिक रूप से काम मे लिया गया। जब सुरक्षित भण्डार समाप्त होने लगता था तो विनिमय दरो को लोचशील होने दिया जाता था अथवा विनिमय प्रतिबन्ध लगाए जाते थे।

अनुकूल परिस्थितियाँ

(1) जिन देशों मे सोने अथवा विदेशी विनिमय के भण्डार अधिक थे, उनकी स्थिति काफी मजबूत थी इसलिए उनकी विदेशी विनिमय की दर मे स्थायित्व बना रहा। संयुक्त राज्य अमेरिका और फ्रांस आदि को ऐसे देशों का उदाहरण माना जा सकता है। इन देशो के अतिरिक्त दूसरे देशों में विदेशी विनिमय की दरों का स्थायित्व नहीं रह सका। यही कारण है कि विभिन्न देशों को यह महसूस होने लगा कि मुद्रा के बड़े भण्डार न केवल राष्ट्रीय उद्देश्यो के लिए वरन् संकटकालीन स्थिति मे देश को विदेशों की असाधारण माँगों का सामना करने के लिए तथा विनिमय दरों को स्थायी बनाने के लिए भी महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं। समय-समय पर इन सुरक्षित भण्डारो की सहायता के लिए विदेशी कर्ज और साख की भी सहायता ली जाती है किन्तु इस सहायता का पहले से अधिक महत्त्व नही रहता। ऐसी स्थिति मे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी संस्था की आवश्यकता महसूस की गई।

(2) दूसरी परिस्थिति यह थी कि प्रथम विश्व-युद्ध के बाद विभिन्न देशो ने आर्थिक स्थिरता और रोजगार के क्षेत्र मे जो नीति अपनाई वह स्वर्णमान (Gold Standard) के अनुकूल नही थी। युद्ध के कारण विभिन्न देशों के स्वर्ण कोष कम हो जाने से अपरिवर्तन पत्र मुद्रा को प्रारम्भ किया गया। इसके परिणाम-स्वरूप मूल्यों मे भारी उतार-चढाव आने लगे और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर्याप्त असुविधाजनक बन गया। ऐसी स्थिति मे विभिन्न देशों द्वारा पारस्परिक समझौतों के माध्यम से मुद्राओ की दरें तय की गई। उदाहरण के लिए, सितम्बर, 1936 मे अमेरिका, फ्रांस और ग्रेट-ब्रिटेन ने एक दूसरे की सहमति के बिना अपनी विनिमय दरों मे किसी प्रकार का परिवर्तन नही किया।

(3) आर्थिक अस्थिरता की स्थिति मे विभिन्न देशों के बीच गलाकाट प्रतिस्पर्धा प्रारम्भ हो गई। जब कोई देश मुद्रा का अवमूल्यन करके अपने निर्यात मे वृद्धि करने का प्रयास करता था तो दूसरे देश द्वारा उसके उद्योगों को सरक्षण प्रदान करने के लिए आयात कर लगा दिए जाते थे। इसके परिणामस्वरूप भी विनिमय दर पर्याप्त अस्थिर बन गई और सभी देशो का विदेशी व्यापार घटने लगा।

(4) द्वितीय विश्व-युद्ध ने विभिन्न देशों की अर्थ-व्यवस्था को और भी खराब बनाकर स्थिति को बदतर कर दिया।

(5) युद्ध के कारण पुनर्वास एवं पुनर्निर्माण की जो गम्भीर समस्याएँ उत्पन्न हुई उनको सुलझाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग आवश्यक था। विदेशी व्यापार के सन्तुलित विकास एवं अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों के सन्तुलित प्रवाह द्वारा ही ये समस्याएँ सुलझाई जा सकती थी।

1930 की आर्थिक मन्दी से छुटकारा पाने के लिए विभिन्न देशों ने विदेशी विनिमय की बिक्री और खरीद पर अनेक प्रतिबन्ध लगाए। इनका उद्देश्य विनिमय का स्थायित्व प्राप्त करना एवं राशन व्यवस्था के माध्यम से मूलभूत आयातो के लिए विनिमय प्रदान करना था। विनिमय सम्बन्धी प्रतिबन्धों के परिणामस्वरूप

कुछ देशो के माल के प्रति स्वाभाविक रूप से असमानता स्थापित हो गई। जिनके पास विदेशी मुद्रा की कमी थी उनके विपक्ष मे व जिनके पास नहीं थी, उनके पक्ष में नीतियाँ अपनाई गई। इन प्रतिबन्धो द्वारा घरेलू उद्योगों की रक्षा भी की जा सकती थी तथा राजनीतिक एव अन्य प्रकार के लक्ष्यो की साधना भी। विनिमय पर लगाए गए प्रतिबन्ध इतने दोषपूर्ण थे कि उनके स्थान पर अन्य प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय उपाय की आवश्यकता महसूस करना स्वाभाविक था, यद्यपि किसी भी अन्य उपाय द्वारा समस्त बुराइयो को दूर करने की आशा नही की जा सकती थी।

1930 के दौरान विभिन्न देशो मे यह व्यवहार अपनाया गया कि लेन-देनो के लिए अलग अलग विनिमय दरें लागू करने की पद्धति अपनायी गई। कुछ मूलभूत आयातो के लिए उपयुक्त दरें और आरामदायक वस्तुओ के लिए अनुपयुक्त रखी गई। इस प्रक्रिया मे भी अनेक बुराइयो के पैदा होने की सम्भावना थी। इनको अपनाने से व्यापार मे पर्याप्त जटिलता पैदा हो गई और एक जैसी दर पर आधारित स्वतन्त्र विनिमय व्यवस्था पर लौटना असम्भव बन गया।

1930 के परवर्ती काल मे प्रशुल्को के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर अनेक नए प्रतिबन्ध और सीमाएँ लगाई गयी। व्यापार की समस्याएँ विभिन्न आर्थिक समस्याओ का एक रूप बन गयीं। संक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि 1930 के दौरान जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार घटा और उसमे विभिन्न समस्याएँ आई तथा उन समस्याओ को सुलझाने के लिए विभिन्न सरकारो ने जो तरीके अपनाए उनके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान यन्त्र के उपयुक्त कार्य की आवश्यकता स्पष्ट हो गई। भुगतान सन्तुलन की गलत व्यवस्था के कारण और कुछ मुद्राओ की अपरिवर्तनीयता के कारण भी विश्व उत्पादन और व्यापार कम हुआ। जब भुगतानो की समस्याओ के फलस्वरूप माल का व्यापार कठिन हो गया तो उसका उत्पादन भी अनावश्यक समझा गया। जब कोई एक अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की इकाई नही थी तो भुगतानो की बहुल व्यवस्था को जरूरी समझा जाने लगा। निर्यातकर्त्ताओ एव क्रय-कर्त्ताओ को आश्वासन दिया जाना जरूरी था कि वे बिना अधिक कठिनाई के विभिन्न कोषों को अपनी मुद्रा मे परिवर्तित कर सकें। यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे एक व्यापारी को ऐसी मुद्रा प्राप्त होती है जिसे वह अपनी मुद्रा मे परिवर्तित नही कर सकता तो इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रति उसकी अभिरुचि कम हो जाएगी। ऐसी स्थिति मे एक ऐसे वित्तीय यन्त्र की स्थापना को आवश्यक समझा गया जो अन्तर्सरकारी सहयोग एव संयुक्त कार्यवाही पर आधारित हो।

ब्रेटनवुड्स् सम्मेलन
(Brettonwoods Conference)

द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और वित्त के क्षेत्र में असन्तोषजनक स्थितियो को देखने के बाद विभिन्न विचारको ने स्थिति को सुधारने की दृष्टि से गम्भीरतापूर्वक विचारने की आवश्यकता का अनुभव किया। संयुक्तराज्य अमेरिका ने युद्ध से पूर्व ही अन्य देशों की सरकार के साथ मिलकर नवीन अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओ

उपर्युक्त दोनो योजनाओं मे अनेक समानताएँ हैं किन्तु कुछ महत्त्वपूर्ण मामलो मे वे भिन्न भी हैं। दोनो का मुख्य लक्ष्य विनिमय दरो को स्थायित्व प्रदान करना था। दोनो ने इस बात पर जोर दिया कि विनिमय दरो मे जो भी परिवर्तन किए जाएँ वे प्रस्तावित अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के बाद ही किए जाने चाहिए। इन योजनाओं के अन्तर्गत व्यक्तिगत देशों को उनकी आन्तरिक वित्तीय एव प्रशुल्क सम्बन्धी नीति निर्धारित करने की स्वतन्त्रता को मान्यता दी गई।

दोनो योजनाओं के अन्तर्गत सोने के रूप मे परिभाषित एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा इकाई की व्यवस्था की गई। कीन्स योजना मे इसे बैंकर (Bancor) और ह्वाइट योजना मे इसको यूनीटास (Unitas) कहा जाता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक सदस्य को उसके आर्थिक महत्त्व के आधार पर नियतांश देने की बात कही गई। प्रस्तावित सगठन के स्रोत क्या हो और सदस्यो को वे किस प्रकार प्राप्त हो सकेंगे, इस सम्बन्ध मे दोनो योजनाएं भिन्न-भिन्न थी। अमेरिकी योजना मे एक योगदान के रूप मे कोष प्रदान करने की व्यवस्था की गई जिसमे प्रत्येक सदस्य अपने दिए गए नियतांश के आधार पर साधनो का अश प्रदान करेगा। यदि किसी सदस्य के सामने भुगतानो के सन्तुलन मे घाटे की अस्थायी स्थिति उत्पन्न हो जाए तो उसका मुकाबला करने के लिए कुछ शर्तों के अधीन इन स्रोतो का काम मे ले सकता था। दूसरी ओर, ब्रिटिश योजना का आधार भिन्न था और इसमे यह कहा गया कि व्यापार करने वाले देश चालू अन्तर्राष्ट्रीय खाते पर अपने कर्जदारो मे समाशोधन सघ की किताबो पर साख सन्तुलन प्राप्त करेंगे जो नवीन मुद्रा इकाई (Bancor) के रूप मे होगा। बैंकर को सभी सदस्य देशो द्वारा स्वीकार किया जाना था और वे उसे आसानी से हस्तान्तरित कर सकते थे। इस दृष्टि से एक कर्जदार देश अपने आयातो के लिए सगठन की पुस्तक मे अपने विरुद्ध खुले सन्तुलन के द्वारा भुगतान कर सकता था। अपने मौलिक रूप मे ब्रिटिश प्रस्ताव ने व्यापारिक देश द्वारा प्रसारित साख की मात्रा पर कोई सीमा नही लगाई। इस प्रस्ताव का सयुक्तराज्य अमेरिका द्वारा विरोध किया गया। उसके सुझाव ग्रेट-ब्रिटेन ने अस्वीकार कर दिए।

कीन्स योजना (Keynes Plan) के अनुसार जिस साख सन्तुलन का कुछ समय तक काम मे नही लाया जाता वह अपने आप ही रद्द हो जाता है। इस प्रकार यदि एक देश अपने चालू खाते मे आयात की अपेक्षा भारी निर्यात करता रहता तो उसके पास साखो का सग्रह होता रहेगा किन्तु उसे यह साख एक निश्चित तारीख से पूर्व खर्च कर देनी चाहिए नही तो वह इनको खो देगा। इसका कारण यह बताया गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय लेखो को सन्तुलित बनाए रखने के लिए समायोजन का भार कर्ज देने वाले पर पहले की अपेक्षा ज्यादा डाला जाना चाहिए। सयुक्तराज्य अमेरिका ने कीन्स योजना को अस्वीकार कर दिया।

उपर्युक्त दोनो योजनाओं के अन्तर्गत जो प्रमुख भेद थे उनको मिलाने के लिए 1944 मे दोनो देशों के प्रतिनिधियो के बीच कई बैठको का आयोजन किया गया।

इसके अतिरिक्त लगभग बीस अन्य देशों के प्रतिनिधियों से भी विचार-विमर्श किया गया। इस सम्बन्ध मे एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने की योजना बनाई गई ताकि एक मौद्रिक संस्था तथा सम्भवतः एक बैंक के बारे मे सहमति प्राप्त की जा सके। अमेरिका और ग्रेट-ब्रिटेन ने यह माना कि यदि इस प्रकार के सम्मेलनों को वे सफल बनाना चाहते है तो उन्हे स्वयं सभी प्रमुख मसलों पर समझौता करना होगा। फलतः दोनो देश के प्रतिनिधियो के बीच वाशिंगटन में अनेक बैठकें हुई। ब्रिटिश दल का विश्वास था कि प्रस्तावित संस्था के एक सदस्य को यह अधिकार होना चाहिए कि वह अपने नियतांश के अनुसार संस्था से धन ले सके। ब्रिटिश दल का नेतृत्व लॉर्ड कीन्स ने किया था। दूसरी ओर सयुक्तराज्य अमेरिका का यह विश्वास था कि सस्था को समस्त लेनदारियो पर नियन्त्रण रखना चाहिए ताकि यह देखा जा सके कि साधनो का प्रयोग सही उद्देश्यों के लिए किया जा रहा है अथवा नहीं।

दोनो देशों के बीच अन्य विचारणीय विषयो मे एक देश का अपनी ओर से विनिमय दर को बदलने का अधिकार, स्वर्ण में भुगतान योग्य नियतांश की मात्रा, कोष से लिए जाने वाले ऋण का पुनर्भुगतान आदि-आदि थे। ग्रेट ब्रिटेन तथा अन्य देश संयुक्तराज्य अमेरिका मे आर्थिक मन्दी और व्यापक बेरोजगारी से भयभीत थे। उन्होने यह अनुभव किया कि यदि वे अपनी मुद्रा को स्वर्ण अथवा डालर से जोड़ देंगे तो वे आर्थिक मन्दी का विरोध करने मे असमर्थ बन जाएँगे और इस प्रकार वे अपनी आय को अमेरिकी पतंग की पूंछ से बाँध लेंगे। इसी कारण उन्होंने विनिमय दरो को बदलने के सम्बन्ध मे लोचशील उपबन्धो की इच्छा प्रकट की।

सयुक्तराज्य अमेरिका, ग्रेट-ब्रिटेन और अन्य कुछ प्रमुख देशो के बीच समझौता अप्रेल, 1944 मे हुआ। इसको अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना के बारे मे विशेषज्ञो का सयुक्त वक्तव्य (The Joint Statement by expert on the establishment of an International Monetary Fund) कहा जाता है। इसमे उस योजना की रूपरेखा थी जिसे बाद मे ब्रेटनवुड्स (Brettonwoods) मे पूरी तरह से क्रियान्वित किया गया। जुलाई, 1944 मे आयोजित किए गए एक सम्मेलन के लिए राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने 44 देशों को प्रतिनिधि भेजने हेतु आमन्त्रित किया। यह सम्मेलन सयुक्त वक्तव्य पर आधारित एक योजना पर विचार करने के लिए ब्रेटन वुड्स, न्यू हेमिस्फ़ियर मे होने वाला था। इससे पूर्व ही सत्रह देशो के प्रतिनिधि कुछ अनसुलझे प्रश्नों पर विचार करने के लिए अटलांटिक नगर मे मिले। ब्रेटनवुड्स सम्मेलन में विभिन्न देशो ने यथासम्भव अधिक नियतांश प्राप्त करने मे विशेष रुचि दिखाई क्योंकि नियतांश द्वारा ही ऋण लेने के अधिकारों एवं मत देने की शक्ति का निर्धारण किया जाना था। नियतांश का आकार एक देश के आर्थिक महत्व का मापदण्ड बन गया और इसलिए राष्ट्रीय सम्मान का प्रश्न बना दिया गया।

दो सप्ताह तक विभिन्न प्रकार के मतो में समझौते के प्रयास किए जाते रहे और अन्त मे सम्मेलन ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के समझौते के अनुच्छेद तैयार किए। इन अनुच्छेदो ने कोष का मूल चार्टर तैयार किया। इनके प्रभावशाली होने

से पूर्व व्यवस्थापिका निकायो की औपचारिक स्वीकृति आवश्यक थी। जुलाई, 1945 को अमेरिकी कांग्रेस ने इस कोष मे सयुक्तराज्य अमेरिका के सम्मिलित होने की स्वीकृति प्रदान कर दी। 27 दिसम्बर, 1945 को तीस देशो द्वारा इन अनुच्छेदो पर हस्ताक्षर कर दिए गए। बाद मे अन्य देश भी इसमे सम्मिलित हो गए और इस प्रकार कोष औपचारिक रूप से अस्तित्व मे आया। ब्रेटनवुड्स के सम्मेलन मे दो अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सस्थाओ की रचना की गई। प्रथम तो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और दूसरी अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक अथवा विश्व बैंक थी। यग (Young) के कथनानुसार "अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का विकास भी कोष के साथ-साथ हुआ और इसके समझौते के अनुच्छेदो पर हस्ताक्षर भी उसी समय हो गए।"[1] इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष दिसम्बर, 1945 को अस्तित्व मे आया।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के लक्ष्य
(The Objects of I M. F)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष कई उद्देश्यो को लेकर चला। उसका मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रसार की सन्तुलित प्रगति को समायोजित करना था। साथ ही इसे विनिमय की अस्थायी दरो के कुप्रभावो से बचाना और विदेशी विनिमय के प्रतिबन्धो को ढीला करना था। इसके अतिरिक्त यह प्रत्येक देश मे वास्तविक आय एव रोजगार के उच्च-स्तरो की स्थापना के लिए भी प्रयत्नशील था।

समझौते के अनुच्छेद—1 मे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के विभिन्न लक्ष्यो को स्पष्ट किया गया। इसमे मुख्यत तीन लक्ष्यो को मान्यता प्रदान की गई है।

(1) विनिमय स्थायित्व को प्रोत्साहन देना, सदस्यो के बीच व्यवस्थित विनिमय प्रबन्धो की स्थापना करना और प्रतिस्पर्धापूर्ण विनिमय मन्दी की स्थिति को दूर करना।

(2) सदस्यो के बीच चालू लेन-देन मे भुगतान की बहुपक्षीय प्रणाली की स्थापना मे सहायता करना तथा साथ ही विदेशी विनिमय के उन प्रतिबन्धो को समाप्त करना जो विश्व व्यापार की प्रगति को रोकते हैं।

(3) पर्याप्त सुरक्षाओ के आधीन सदस्यो को कोष के साधनो को उपलब्ध कराना और इस प्रकार उनमे विश्वास की भावना जाग्रत करना। इस प्रकार विभिन्न देशो को राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सम्पन्नता के लिए हानि पहुँचाने वाले प्रयासो को अपनाए बिना ही उनके भुगतान सन्तुलनो की अव्यवस्था को सुधारने का अवसर देना।

मुद्रा कोष द्वारा उपर्युक्त लक्ष्यो की पूर्ति के अतिरिक्त भुगतान सन्तुलन की विषमता को दूर रखने के लिए, असन्तुलन की अवधि व अश को कम करने के लिए, लाभदायक उद्योगो मे दीर्घकालीन पूँजी की सहायता प्रदान करने के लिए,

1 'The International Bank was developed along side of the fund and its articles of Agreements were signed at the same time."
—J. P Young The International Economy, 1951, p 455

अल्पकालीन मौलिक सहायता प्रदान करने के लिए तथा ऐसे ही अन्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विभिन्न प्रयास किए जाते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के मूल सिद्धान्त
(Basic Principles of I. M. F.)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष विभिन्न सिद्धान्तों के आधार पर अपने लक्ष्यों की प्राप्ति का प्रयास करता है। इन सिद्धान्तो का अध्ययन हम निम्न प्रकार से कर सकते हैं—

(1) कोष के सभी सदस्य-देश अपनी विनिमय दरों को यथासम्भव स्थायी रखने का प्रयास किया करते हैं। वे विनिमय दरो के परिवर्तनो को एक संकीर्ण सीमा के अन्तर्गत करते हैं जो उनके द्वारा स्पष्ट कर दी जाती है। वे उस समय तक अपनी दरों मे कोई परिवर्तन नहीं करते जब तक कि यह परिवर्तन एक मौलिक असमतुल्यता को सुधारने के लिए आवश्यक न हो।

(2) एक विनिमय दर का किसी भी प्रकार का समायोजन कोष से विचार विमर्श किए जाने के बाद ही किया जाना चाहिए। छोटे-मोटे परिवर्तनों के अलावा यदि दरो का समायोजन करना है तो वह केवल कोष की सहमति के बाद ही किया जाना चाहिए।

(3) सदस्यो की मुद्राओं के मूल्य सोने के रूप मे अभिव्यक्त किए जाते हैं। लेखो को सुलझाने के लिए सदस्यो द्वारा स्वर्ण को स्वीकार किया जाता है।

(4) कोष के पास वित्तीय स्रोत होते हैं जो सदस्यो द्वारा दिए गए योगदान पर आधारित रहते हैं। यह योगदान उनके लिए सौंपे गए नियतांश पर आधारित होता है। ये स्रोत कुछ सुरक्षा पूर्ण शर्तों के अन्तर्गत किसी भी सदस्य को प्रदान किए जाते हैं ताकि वह विनिमय की अपनी अस्थायी कमी को पूरा कर सकें।

कोष के स्रोतो को लेने के लिए एक सदस्य अपनी मुद्रा को वांछित विदेशी मुद्रा मे बदल लेता है। कोष के स्रोतो का लक्ष्य एक देश की सहायता करना है ताकि वह अपने चालू अन्तर्राष्ट्रीय खातों में अस्थायी घाटे की व्यवस्था का सामना कर सकें और इस प्रकार विदेशी विनिमय के स्थायित्व को बनाए रख सकें। उदाहरण के लिए, यह हो सकता है कि एक देश की फसल खराब हो जाने के कारण उसका कृषि सम्बन्धी निर्यात कम हो जाए। ऐसी स्थिति मे उस देश के पास पर्याप्त विदेशी विनिमय के स्रोत नहीं रहेंगे जिनसे वह अपने आयातों का भुगतान कर सके। कोष उस सदस्य देश को विदेशी मुद्रा की कुछ मात्रा खरीदने की अनुमति दे देगा। वह सदस्य-देश अपनी मुद्रा के बदले मे डालर, पौंड या फ्रांक आदि बदल सकता है।

कोष के साधनो का उद्देश्य यह नहीं है कि वे विनियोग के लिए पूँजी प्रदान करें अथवा अन्य दीर्घकालीन उद्देश्यों के लिए पूंजी दें वरन् वे सदस्यों को इसलिए दिए जाते हैं ताकि चालू लेन-देनो मे भुगतान करने के लिए सदस्यो की सहायता की जा सके। इन स्रोतों द्वारा भुगतानों के सन्तुलन में चालू या गैर-सरकारी पूंजी के मदो मे परिवर्तन की व्यवस्था की जाती है। मुद्रा कोष के स्रोतों मे से कर्ज लेने का

एक सदस्य का अधिकार उसके नियतांश के प्रकार से सम्बन्ध रखता है। असाधारण परिस्थितियों को छोड़ एक सदस्य एक वर्ष के अन्तर्गत अपने नियतांश मे 25% से अधिक नही ले सकता और न ही कोष मे एक सदस्य देश की मुद्रा उसके नियतांश के 200% से अधिक रखी जा सकती है।

कोष से उधार लिए गए धन पर ब्याज दिया जाता है। यह ब्याज ऋण की मात्रा और भुगतान के समय के अनुसार बढ़ता है। इस प्रकार प्राप्त धन से कोष अपने कार्य सचालन के खर्च का निर्वाह करता है।

(5) कोष का एक प्रमुख उद्देश्य यह है कि विनिमय के लेन देनो पर से प्रतिबन्धो को समाप्त कर, भुगतानो की अपेक्षा ऐसी स्वतन्त्र बहुपक्षीय व्यवस्था कायम करें जहाँ किसी भी मुद्रा को आसानी के साथ दूसरी मुद्रा म बदला जा सके। यही कारण है कि सदस्य देश इस सम्बन्ध मे सहमत होते हैं कि वे समझौते की शक्ति के बिना या कोष की स्वीकृति के बिना चालू अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देनो के भुगतानो पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध लागू नही करेंगे। युद्ध के बाद सक्रमण काल मे उन विनिमय प्रतिबन्धो को बने रहने की अनुमति दी गई जो पहले स्थित थे, किन्तु यह कहा गया कि इनको ज्यो ही मौका मिले त्यो ही समाप्त कर देना चाहिए। पूंजीगत हस्तान्तरणो पर प्रतिबन्धो की स्वीकृति दी गई। यदि कभी एक विदेशी मुद्रा की माँग बहुत अधिक बढ जाए और कोष उसकी पूर्ति मे अपने आपको असमर्थ पाए तो वह औपचारिक रूप से उस मुद्रा की कमी की घोषणा कर सकता है। ऐसा होने पर सदस्य देश अस्थायी रूप से उस कम घोषित मुद्रा मे लेन देनो पर प्रतिबन्ध लगा सकते हैं।

(6) सदस्य देश उस बात पर सहमत थे कि वे कोष मे अपनी मुद्रा की मन्दी नही आने देंगे। इस प्रकार वे कोष के द्वारा अपनाई गई अपनी मुद्रा के स्वर्ण-मूल्य को बनाए रखने के बारे मे सहमत होते हैं। वे आवश्यकता पडने पर अतिरिक्त मात्रा की पूर्ति भी कर सकते हैं।

(7) कोष केवल सरकारी एव उनके अभिकरणो से ही सम्बन्ध रखता है उसका विदेशी विनिमय बाजारो के साथ कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही होता।

(8) कोष को 14 कार्यपालिका निर्देशको द्वारा प्रशासित किया जाता है। ये निर्देशक कोष के मुख्य कार्यालयो मे निरन्तर अधिवेशन करते रहते हैं। इनमे से पाँच की नियुक्ति उन देशो द्वारा की जाती है जो सबसे अधिक नियतांशो से युक्त है अर्थात् सयुक्तराज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, चीन, फ्रांस और भारत। शेष का चुनाव अन्य सदस्यो द्वारा किया जाता है। गवर्नरो के मण्डल मे एक गवर्नर तथा एक उसका विकल्प होता है। इनकी नियुक्ति प्रत्येक सदस्य द्वारा की जाती है। ये वार्षिक बैठक करते हैं।

उपर्युक्त विचार विमर्श के बाद सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना करके, एक ऐसी सस्था की स्थापना और ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करने का प्रयत्न किया गया जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आकार

बढ़ सके और घरेलू सम्पन्नता तथा पूरा रोजगार प्राप्त किया जा सके। द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व जो नीति सम्बन्धी विवाद एवं राष्ट्रीय प्रयास अपनाए जाते थे उनके स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग एवं विचार-विमर्श की स्थापना की गई। मुद्रा कोष द्वारा विनिमय स्थायित्व का सामान्य नियम बनाने का प्रयास किया गया और जब असन्तुलन को सुधारने के लिए किए गए अन्य प्रयास देश की सम्पन्नता या व्यापार की स्वतन्त्रता के प्रयास को चुनौती प्रदान करने लगे तो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा स्वीकृत एवं समन्वित विनिमय दरों के समायोजनों की स्वीकृति दी गई।

कोष की सदस्यता एवं नियतांश प्रणाली
(The Membership and Quota System of I. M. F.)

कोष का सदस्य बनने के लिए प्रत्येक उस देश को उपयुक्त माना गया है जो कि इसके समझौते-पत्र (Articles of Agreement) को स्वीकार करता है। कोष के सदस्यो को सामान्य सदस्य और मौलिक सदस्य दो भागों मे विभाजित किया गया है। जो देश ब्रेटनवुड्स सम्मेलन मे उपस्थित थे और जिन्होने 31 दिसम्बर, 1945 से पहले ही सघ का सदस्य बनना स्वीकार कर लिया था, उन्हें कोष का मौलिक सदस्य माना जाता है। इनके अतिरिक्त जो सदस्य बने हैं, उनको सामान्य सदस्य की सज्ञा प्रदान की जाती है। अप्रेल 1977 तक कोष के सदस्यो की कुल सख्या 129 हो गयी। जब कोई सदस्य-देश कोष से अलग होना चाहता है तो वह इसके लिए लिखित रूप में सूचना देता है। कोष को यह अधिकार नही है कि वह त्यागपत्र को अस्वीकार कर दे। इसके अतिरिक्त जब कभी एक देश कोष के नियमो का उल्लंघन करता है तो स्वय कोष भी उसको सदस्यता से वचित कर सकता है।

सोवियत रूस इस कोष का सदस्य नही है। कोष की समस्त पूँजी उसके सदस्यो के नियतांशो के कुल योग के बराबर होती है। सदस्यो की संख्या ज्यों-ज्यों बढती है त्यो-त्यो कोष की पूँजी भी बढती है। एक व्यवस्था के अनुसार कोष के द्वारा प्रति पाँचवें वर्ष सदस्य देशों के अभ्यंशो के बारे मे विचार किया जाएगा और यदि वह आवश्यक समझे तो उनमे पुर्नविचार का प्रस्ताव कर सकता है। इसी प्रावधान के अनुसार कोष ने 1958 की अपनी दिल्ली बैठक मे सदस्यो के अभ्यंशो की 50 प्रतिशत की वृद्धि का निर्णय लिया। इस वर्ष कोष की कुल राशि 15 बिलियन डॉलर थी। 1966 मे जब पुनः विचार किया गया तो प्रत्येक सदस्य-देश के नियतांश मे 25 प्रतिशत की वृद्धि करके कुल मात्रा को 21 बिलियन डालर कर दिया गया। प्रत्येक देश को अधिकार है कि वह अपने अभ्यंश मे आवश्यकता के अनुसार कमी या वृद्धि कर ले। एक देश कमी की अपेक्षा वृद्धि करने मे ही अधिक रुचि लेता है।

अभ्यंश अथवा नियतांश कोष की कार्यवाही तथा सगठन की दृष्टि से पर्याप्त महत्त्व रखते हैं। नियतांशों के आधार पर ही यह निश्चित किया जाता है कि एक

सदस्य देश कोष के साधनो मे कितना योगदान करेगा ? इस प्रकार कोष के साधनों की कुल मात्रा का निर्धारण किया जाएगा। यदि कोष के साधनो की मात्रा को बढाना है तो इसके लिए सदस्य देशो के नियतांश मे वृद्धि करनी होती है। नियतांशो का एक अन्य दृष्टि से भी महत्त्व है और वह इसलिए है क्योंकि इन्ही के आधार पर यह तय किया जाता है कि कोई भी सदस्य-देश अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से कितनी रकम कितने समय मे निकाल सकेगा ? साथ ही एक सदस्य के मताधिकार का निर्धारण भी सदस्य के नियतांश की मात्रा द्वारा किया जाता है।

नियतांशो का निर्धारण कई आधारो पर किया जाता है। उदाहरण के लिए एक देश के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का मूल्य, व्यापार का सगठन एव विभिन्नता, कर्जदाता एव कर्ज लेने वाले की स्थिति, अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रतिभूतियो का आकार, राष्ट्रीय आय, विदेशी व्यापार का सापेक्षिक महत्त्व, राजनैतिक स्थिति एव अन्य ऐसे ही अनेक तत्व। विभिन्न सदस्य देशो के नियतांशो का निर्धारण करने के लिए जिस सूत्र को काम मे लिया जाता है उसकी घोषणा कभी भी कोष द्वारा नहीं की गई।

कोष की कुल अभ्यश राशि कोष के सदस्यो के कुल अभ्यशो (Quotas) के योग के बराबर है। आरम्भ मे कोष के कुल अभ्यशो की पूंजी राशि केवल 8800 मिलियन अमेरिकन डॉलर थी जिसे कोष के सदस्यो के अभ्यशो के रूप मे विभाजित कर दिया गया था, किन्तु 1973 के प्रथम चरण के लगभग यह राशि बढकर 29169 मिलियन SDR हो गई।[1] कोष के सदस्यो के अभ्यशो की मात्रा प्रत्येक सदस्य देश के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा उसके राष्ट्रीय आय और जनसख्या के आधार पर निर्धारित की जाती है। यही कारण है कि जहाँ पनामा के अभ्यश की मात्रा केवल ½ मिलियन SDR है वहाँ अमेरिका के अभ्यश की मात्रा 5107 मिलियन SDR है जिसमे अब और भी वृद्धि हो गई है। प्रत्येक सदस्य देश अपने कुल अभ्यश का 25 प्रतिशत या अपने कुल स्वर्ण डॉलर कोषो का 10 प्रतिशत (जो भी कम हो) स्वर्ण मे कोष को देता है। शेष अभ्यश राशि सदस्य देश की मुद्रा मे जमा की जाती है। प्रारम्भ मे कोष के कुल अभ्यशो की जो पूंजी राशि 8800 मिलियन अमेरिकी डॉलर थी उसमे 1800 मिलियन डॉलर स्वर्ण के रूप मे और शेष 7000 मिलियन डॉलर सदस्य देशो की मुद्राओ के रूप मे थी। जो अभ्यश राशि सदस्य देश की मुद्रा मे जमा की जाती है उसे कोष सदस्य देश के केन्द्रीय बैंक के पास अपने नाम से जमा करा देता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का प्रधान कार्यालय उस देश मे होता है जो इसमे सबसे अधिक अभ्यश प्रदान करे। आजकल यह सयुक्त राज्य अमेरिका (वाशिंगटन) मे है। इस कोष की शाखाएं किसी भी सदस्य देश मे खोली जा सकती है। कोष को अभ्यशो से प्राप्त सभी स्वर्ण एक ही स्थान पर नही रखा जाता। उसका 50 प्रतिशत

1 उल्लेखनीय है कि 20 मार्च 1972 से कोष का सामान्य लेखा SDR के रूप में लिखा जाता है। एक SDR इकाई का मूल्य 0 888671 ग्राम शुद्ध स्वर्ण के बराबर है।

सबसे अधिक अभ्यंश वाले राष्ट्र अर्थात् अमेरिका में रखा जाता है और शेष 40 प्रतिशत भाग अगले चार सबसे अधिक अभ्यंश वाले राष्ट्रों में रखे जाने का प्रावधान है।

मुद्रा कोष का संगठन एवं प्रबन्ध
(The Organisation and Management of I.M.F.)

कोष का प्रबन्ध एक गवर्नर मण्डल (Board of Governors), कार्यकारी सचालकों की समिति (Board of Executive Directors), प्रबन्ध संचालक (Managing Directors) एव अन्य स्टॉफ की सहायता से किया जाता है। गवर्नरों के मण्डल मे प्रत्येक सदस्य-देश की ओर से एक गवर्नर होता है। कार्यकारी सचालकों की समिति के 20 संचालकों मे से 6 उन देशो के होते हैं जिनका सबसे अधिक नियतांश होता है (वर्तमान मे ये सदस्य है—अमेरिका, इग्लैंड, जर्मनी, फ्रांस, जापान और भारत), शेष 14 देशों के प्रतिनिधि निर्वाचित किए जाते है। प्रबन्ध सचालक को कोष के दिन-प्रति-दिन के कार्य के लिए उत्तरदायी बनाया जाता है। वह कार्यकारी सचालकों की समिति का अध्यक्ष होता है। प्रत्येक सदस्य देश 250 मत देने का अधिकार रखता है। संचालक मण्डल द्वारा कार्यकारी सचालकों के लिए महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ हस्तान्तरित नही की जा सकती; जैसे नए सदस्यो की भर्ती करना, नियतांश का संशोधन करना, सभी सदस्यो की मुद्राओं के मूल्य मे परिवर्तन करना, किसी सदस्य को निकालना, आदि-आदि।

कोष में सभी सदस्यो को समान मत देने का अधिकार नही है, जैसे कि अन्य अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओं मे हुआ करता है। कोष मे सदस्यो को साभार मत प्रदान करने का अधिकार होता है। 250 मत प्रदान करने के लिए एक अतिरिक्त प्रत्येक 1 लाख अमेरिकी डॉलर के लिए एक अतिरिक्त मत प्रदान करने का अधिकार और भी मिल जाता है। इस मत प्रणाली के परिणामस्वरूप मुख्यतः दो देशों के हाथ मे शक्ति का केन्द्रीकरण हो गया है जो सबसे अधिक नियतांश वाले हैं। ये हैं—ग्रेट ब्रिटेन और सयुक्त राज्य अमेरिका। ये देश जिस किसी प्रस्ताव के बारे मे सहमत होते हैं उसे आसानी से पास करा सकते हैं क्योंकि कुल मतदान शक्ति के लगभग 40 प्रतिशत पर इनका अधिकार रहता है।

मुद्रा कोष की कार्य प्रणाली
(Mode of Operation of I.M.F.)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को स्वर्ण और सदस्य देशो की मुद्राओ मे जो पूंजी प्राप्त होती है उसके द्वारा वह अस्थायी ऋणो के रूप में सदस्यों को मौद्रिक सहायता देकर विदेशी विनिमय दरो मे उच्चावचनो को समाप्त कर बहुपक्षीय भुगतान पद्धति को प्रोत्साहित करने, बहूद्देश्यीय व्यापार प्रणाली को स्थापित करने एवं विश्व व्यापार का सन्तुलित विकास करने का प्रयत्न करता है। मुद्रा कोष की कार्य प्रणाली निम्नानुसार है—

1. समता दरों का निर्धारण—समझौता-पत्र की धारा 4 के अनुसार प्रत्येक राष्ट्र को अपनी मुद्रा की इकाई का मूल्य स्वर्ण तथा SDR मे व्यक्त करना पड़ता है। इस मूल्य को ही समता दर (Par Value) कहा जाता है। इसके आधार पर ही कोष प्रत्येक सदस्य देश की मुद्रा का एक सामान्य आधार स्थापित कर देता है और इसकी न्यूनतम एव अधिकतम सीमाओ के बीच ही अवमूल्यन तथा अधिमूल्यन की अनुमति दी जाती है।

2 समता दरों मे परिवर्तन—विनिमय दरो म स्थायित्व रखने तथा प्रतिस्पर्द्धात्मक अवमूल्यन को रोकने की दृष्टि से समता दरो अथवा समता मूल्य (Par Values) म लोच की व्यवस्था की गई है। *आवश्यकता पडने पर समता दर* मे परिवर्तन किए जा सकते हैं। इस सम्बन्ध मे निम्न सीमाएँ हैं—(क) सदस्य देश अपनी मुद्रा इकाई समता दर मे प्रथम 10 प्रतिशत का परिवर्तन कोष को केवल सूचना देकर कर सकते हैं, इसके बाद अपनी मुद्रा इकाई के समता मूल्य मे परिवर्तन करने के लिए सदस्य को कोष की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक है, (ख) सदस्य देश अपनी मुद्रा इकाई की समता दर मे परिवर्तन केवल अपने भुगतान शेष के मूल असन्तुलन (Fundamental Disequilibrium) को समाप्त करने हेतु कर सकता है, (ग) गम्भीर प्रकृति और व्यापक आकार के भुगतान शेष के घाटे को समाप्त करने के लिए कोष किसी सदस्य देश को अपनी मुद्रा इकाई का दस प्रतिशत मे अधिक अवमूल्यन करने की अनुमति दे सकता है। यदि कोष को यह विश्वास हो जाए कि किसी सदस्य देश के भुगतान शेष मे मूल असन्तुलन विद्यमान है तो वह उस सदस्य *की मुद्रा इकाई की समता दर म परिवतन को प्राय नही रोकता।*

3. मुद्रा कोष से ऋण व्यवस्था—कोष सदस्य देश को उसके भुगतान शेष मे अस्थायी घाटे की पूर्ति के लिए यथासाध्य सकटकालीन ऋण उस देश के केन्द्रीय बैंक के माध्यम से देता है। अर्थात् कोष सदस्य देशो को उनकी देशी मुद्रा के बदल विदेशी मुद्रा का क्रय-विक्रय करता है किन्तु शर्त यह है कि किसी भी समय कोष क पास उस देश की मुद्रा उसके निर्धारित अभ्यश के 200 प्रतिशत से अधिक नही होनी चाहिए और कोई भी सदस्य देश 12 माह के भीतर अपन अभ्यश के 25 प्रतिशत से अधिक विदेशी मुद्रा क्रय नही कर सकता। व्यवहार मे इस नियम का प्राय उल्लघन होता रहा है।

सदस्य देशो को कोष से 4 प्रकार के ऋण दिए जाते हैं और ऋणो का उपयोग उन्ही कार्यों के लिए किया जा सकता है जिनके लिए ऋण स्वीकृत किए गए हैं। *आकस्मिक आर्थिक सकट अथवा राजनीतिक सकट के समय 'सकटकालीन ऋण'* दिए जाने की व्यवस्था है। उदाहरणार्थ, 1956 मे ब्रिटेन को स्वेज नहर सकट के समय ऐसा ही ऋण दिया गया था। 'स्थायित्व ऋण' आर्थिक कठिनाई के समय विनिमय दरो मे स्थायित्व के लिए दिए जाते हैं। इजरायल, ब्राजील आदि को इस प्रकृति के ऋण दिए जाते रहे हैं। आर्थिक सकट के समय विनिमय दरो मे स्थायित्व बनाए रखने हेतु ब्रिटेन, फ्रास और सयुक्त राज्य अमेरिका को भी अनेक अवसरो पर

पर्याप्त मात्रा में विशेष सहायता दी गई है। उदाहरणार्थ, संयुक्त राज्य अमेरिका को 1971 मे 1362 मिलियन डॉलर की और ब्रिटेन को 1972 में 584 मिलियन डॉलर की विशेष व्यवस्था दी गई। "मौसमी अथवा सामयिक ऋण अल्पकाल के लिए 'प्राय: 6 से 12 महीने तक के लिए' दिए जाते हैं। ये ऋण उन देशों को दिए जाते हैं जिनके सामने मौसमी या सामयिक निर्यातों के कारण भुगतान शेष की कठिनाई आ जाती है। क्यूबा, निकारगुआ, एलसाल्वेडोर को इसी प्रकार के ऋण दिए जाते रहे हैं।" चालू भुगतान शेष की असाम्यता को दूर करने के लिए भी ऋण देने की व्यवस्था है। सदस्य देशों को अपनी विकास योजनाओं को लागू करने मे भुगतान शेष की असाम्यता से अल्पकाल मे कठिनाई को दूर करने के लिए अनेक बार ऐसे ऋण कोष द्वारा दिए गए हैं। भारत, जापान, कनाडा, फ्रांस आदि देशों को ऐसे ऋण समय-समय पर मिलते रहे हैं।

4. ऋणों पर शुल्क—कोष सदस्य देशो को दिए गए विदेशी मुद्रा ऋणो पर शुल्क वसूल करता है। यह शुल्क ऋण की मात्रा और अवधि की वृद्धि के साथ-साथ बढता जाता है और 0 5 प्रतिशत से लेकर 6 प्रतिशत तक है। शुल्क की दर 5 प्रतिशत तक पहुँच जाने तक कोष सदस्य देश को अपनी मुद्रा के अवमूल्यन का सुझाव देता है। यह शुल्क मुद्रा कोष को स्वर्ण मे चुकाया जाता है।

5. कोष सदस्य देशों को तकनीकी सहायता भी प्रदान करता है। कोष का विशेष विषयक कर्मचारी वर्ग सदस्य देशो की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्थाओं का अध्ययन करता है। कोष सदस्यो की मुद्रा इकाइयों की समता दरों, विदेशी विनिमय नियन्त्रण, अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो, साख मुद्रा एव आर्थिक नीति एव केन्द्रीय बैंकिंग नीति तथा विदेशी विनिमय नियन्त्रण, प्रशासन, आर्थिक विकास योजनाओ आदि का समुचित अध्ययन करके सदस्य देशो को अपनी बहुमूल्य सलाह देता है।

सदस्यों के सामान्य दायित्व
(General Responsibilities of Members)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए अपने सदस्यों पर विभिन्न प्रतिबन्ध लगाता है। इन प्रतिबन्धों का पालन करना सभी सदस्यो का सामान्य दायित्व है। कोष के सदस्यों के प्रमुख दायित्व इस प्रकार हैं—

(1) जो राशि कोष से उधार ली जाएगी, उसका प्रयोग उन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए किया जाएगा जिनके लिए कोष की स्थापना की गई है।

(2) यदि कोई देश अपने चालू अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देनों पर विनिमय प्रतिबन्ध लगाना चाहता है तो इसके लिए उसे कोष की आज्ञा लेनी होगी।

(3) प्रत्येक देश द्वारा स्वर्ण का क्रय और विक्रय उसी दर पर किया जाएगा जो कोष ने निर्धारित की है।

(4) यदि कोई देश अपनी मुद्रा नीति मे परिवर्तन करना चाहता है तो इसके लिए उसे कोष से आज्ञा प्राप्त करनी होगी।

(5) एक देश मुद्रा के सम्बन्ध मे विभिन्नतापूर्ण नीति अर्थात् बहुपक्षीय मौद्रिक व्यवहार केवल तभी अपना सकता है जबकि या तो समझौते-पत्र मे ऐसी व्यवस्था हो अथवा कोष द्वारा मान्यता प्राप्त कर ली गई हो। यदि वे प्रतिबन्ध कोष के अस्तित्व मे आने से पहले ही कायम थे तो सम्बन्धित सदस्यो को इन प्रतिबन्धो को हटाने के बारे मे कोष से विचार-विमर्श करना होगा। कोष ने बहुविनिमय दरो को सरल बनाने मे कुछ प्रगति की है। बहुविनिमय दरो द्वारा प्रशुल्को एव अन्य व्यापारिक विषयो पर समझौता-वार्ताओ को जटिल बना दिया जाता है।

(6) प्रत्येक देश के द्वारा विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय उसी दर पर किया जाएगा जो कोष द्वारा निर्धारित की गई है।

(7) कोष के सदस्यो का एक यह भी दायित्व है कि वे कोष के आदेशो का पालन करें और उसके द्वारा मांगी गई समस्त सूचना भेजने का प्रयास करें।

मुद्रा कोष के कार्यों की प्रगति और उपलब्धियाँ (Progress and Achievements of I M. F)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का कार्य विगत 25 से भी अधिक वर्षों म कुल मिलाकर काफी सन्तोषजनक रहा है। कोष की प्रारम्भिक अम्यश पूँजी 8800 मिलियन अमेरिकी डॉलर थी जो बढ़कर 1973 तक ही 29,169 मिलियन SDR हो गई। कोष के सदस्यो की सख्या सन् 1945 मे केवल 30 थी वह अब अप्रेल, 1977 तक बढकर 129 हो गई है। यह स्थिति कोष की बढती लोकप्रियता की परिचायक है। 1948 से लेकर अप्रेल, 1973 तक बडी सख्या मे सदस्य देशो ने कोष से दुर्लभ मुद्राओ का खरीदा है। कोष ने इस अवधि मे लगभग 21 6 मिलियन डॉलर राशि की मुद्राओ को बेचा। कोष के सहायता कार्यों मे प्रारम्भ मे शिथिलता रही और 1947 से 1957 तक के प्रथम दस वर्षो मे इसने केवल 2350 5 मिलियन डॉलर की सहायता प्रदान की, लेकिन आगे चलकर कोष के सहायता कार्यो मे निरन्तर तेजी आती गई और 30 अप्रेल, 1975 को कोष के 13574 20 मिलियन SDR के ऋण शेष बकाया थे। कोष ने सदस्य देशो को 1975 के वित्तीय वर्ष मे 5102 45 मिलियन SDR तुल्य ऋण देकर अकेले 1 वर्ष मे रिकार्ड ऋण दिया और सदस्य देशो को भुगतान सन्तुलन के सकट से उबारा। कोष के अफ्रीकी विभाग ने अफ्रीका के कम विकसित देशो की समस्याओ के प्रति भारी जागरूकता प्रदर्शित की है। कोष का तकनीकी विद्यापीठ सदस्य देशो के लिए जिन प्रशिक्षण कार्यक्रमो का आयोजन करता रहा है वे बडे उपयोगी सिद्ध हुए है। केन्द्रीय बैंकिंग भुगतान शेष, राजकोषीय मामलो आदि पर कोष ने सदस्य देशो के अधिकारियो को विभिन्न पाठ्यक्रमो के अन्तर्गत उपयोगी प्रशिक्षण प्रदान किया है।

इन उपलब्धियो के बावजूद कोष के कार्य आलोचना रहित नही है। सदस्य देशो ने कोष की अनुमति के बिना ही अपनी मुद्राओ की समता दरो मे परिवर्तन करके कोष के नियमो का उल्लघन किया है, लेकिन कोष उनके विरुद्ध कोई कडी

कार्यवाही नहीं कर सका है। डॉलर आज भी लगभग उतना ही दुर्लभ है जितना कि यह 1949 मे पौण्ड-स्टर्लिंग के अवमूल्यन के समय था, लेकिन कोष अमेरिका को अभी तक इस बात के लिए नही मना सका कि वह डॉलर की दुर्लभता को समाप्त करे। डॉलर की यह दुर्लभता कभी भी अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग के हितों के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। कोष सदस्यों के मुद्रा इकाइयों की समता दरों को स्थिर रखने मे असफल रहा है। यह इसी बात से प्रकट है कि 1948 से लेकर 1973 तक ही लगभग 120 सदस्यों द्वारा अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन किया गया।

सन्तोष की बात यह है कि कोष की लोकप्रियता, इसकी कमियों के बावजूद बढ़ रही है और आशा की जानी चाहिए कि कोष निरन्तर प्रभावशाली बनता जाएगा।

भारत तथा कोष
(India and I. M F.)

भारत कोष का संस्थापक सदस्य है और कोष के कार्यकारी संचालक मण्डल मे भारत का एक स्थायी प्रतिनिधि नियुक्त है। भारत को कोष के भुगतान-शेष के भारतीय घाटे को पूरा करने के लिए समय-समय पर काफी वित्तीय सहायता मिलती रही है। 1948 और 1949 मे भारत ने कोष से 100 मिलियन डॉलर का ऋण प्राप्त किया जिसका भुगतान 1956–57 मे कर दिया गया। 1957 मे भारत ने कोष से पुन: 200 मिलियन डॉलर का ऋण लिया ताकि अपने भुगतान शेष के अस्थायी असन्तुलन को वह ठीक कर सके। जुलाई, 1961 मे भारत ने कोष से 250 मिलियन डॉलर का ऋण छः देशों की मुद्राओं में प्राप्त किया। जुलाई, 1962 मे भारत ने कोष के साथ 100 मिलियन डॉलर का ऋण प्राप्त करने का समझौता किया। मार्च, 1964 मे कोष ने भारत को 200 मिलियन डॉलर की सहायता दी ताकि वह अपने भुगतान शेष के संकट को समाप्त कर सके। 1967 मे कोष ने भारत को भुगतान शेष के अस्थायी घाटे की पूर्ति के लिए 90 मिलियन डॉलर का ऋण प्रदान किया। विशेष ऋण अधिकार योजना के अन्तर्गत विकास कार्यों के लिए जो SDR राशि आवंटित की जाती है उसमें से भारत समय-समय पर काफी राशि का उपयोग करता रहा है। 30 अप्रैल, 1973 को भारत के कुल SDR कोष की राशि 245·26 मिलियन SDR थी और भारत को कोष से कुल 326·22 SDR राशि के शुद्ध संचयी आवंटन प्राप्त हुए थे। 30 अप्रैल, 1973 को भारत की कुल SDR कोष राशि भारत के शुद्ध संचयी आवंटनों की 75·2 प्रतिशत थी। भारत समय-समय पर कोष के विशेषज्ञों द्वारा अपनी आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था का अध्ययन कराकर उपयोगी परामर्श प्राप्त करता रहा है। 1974 और 1975 मे मुद्रा कोष से भारत को 7·57 करोड़ रुपये का ऋण मिला था। भारत ने जिन शर्तों पर ऋण समय-समय पर प्राप्त किए उनका वह समुचित अनुपालन करता रहा है और ऋण भुगतान की दृष्टि से भारत की साख काफी बढ़ी हुई है। मुद्रा कोष से भारत ने जो भी ऋण लिए हैं उनका वह भुगतान कर चुका है और इन ऋणों से लगभग मुक्त है।

18 अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या
(THE PROBLEM OF INTERNATIONAL LIQUIDITY)

आजकल अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की चर्चा एक महत्त्वपूर्ण विषय बन गई है। अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के अन्तर्गत प्राय उन सभी वित्तीय साधनो एव सुविधाओ को शामिल किया जाता है जो व्यक्तिगत देशो के मुद्रा सम्बन्धी अधिकारियो के लिए भुगतान शेष की पूर्ति करने के हेतु उपलब्ध रहते हैं। दूसरे प्रकार स इसे यो कहा जा सकता है कि जब खाते की अन्य निधियों से सन्तुलित न किया जा सके तो बची हुई रकम का भुगतान विदेशी मुद्रा मे किया जाय। अन्तर्राष्ट्रीय तरलता मे जिन मुद्राओ को शामिल किया जाता है, उनका कोष अन्य देशो मे भी होना चाहिए। भारतीय रुपया अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का आधार केवल तभी बन सकता है जब यह न केवल भारत के पास वरन् विश्व के अन्य देशो के पास भी हो।

तरलता का अर्थ
(The Meaning of Liquidity)

तरलता के अर्थ के सम्बन्ध मे एच० डब्ल्यू० आर्नट (H W Arndt)[1] तथा फिज मैकलप (Fritz Machlup) आदि ने अपने महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किए। मैकलप के कथनानुसार "यदि हम तरलता का अर्थ एक व्यक्ति अथवा समूह की स्थिति से लगाएँ (चाहे उसका आकार सम्पूर्ण राष्ट्र से लेकर सम्पूर्ण ससार तक, कितना ही क्यो न हो) तो हमे इसकी व्याख्या तुरन्त भुगतान करने की क्षमता (Capacity to pay promptly) के रूप मे करनी होगी।" इसके अतिरिक्त एक निश्चित समय के लिए आवश्यक कोषो के लिए जमा किए जाने योग्य कोषो के अनुपातो के रूप मे इसकी अभिव्यक्ति की जाती है। यहाँ समस्या यह पैदा होती है कि हमारा अर्थ किस कोष से किस चीज के भुगतान करने की किस क्षमता से है? इनमे से प्रत्येक प्रश्न अनेक उत्तर प्रस्तुत करता है। इस प्रकार यह शब्द अनेकार्थक है। इसके सही अर्थ को जानने मे हमारे सामने अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। विचारको

1 *H W Arndt*: 'The Concept of Liquidity in International Monetary Theory," Review of Economic Studies, Volume 15 (1947–1948) pp 20–26

का मत है कि तरलता के मत की अनिश्चितता ही इस शब्द की लोकप्रियता का कारण है।

तरलता का सही अर्थ जानने के लिए तीन मुख्य प्रश्नों का उत्तर देना जरूरी है—(1) कोष के सम्भावित स्रोत क्या-क्या हो सकते हैं? (2) कोष के उपयुक्त प्रयोग क्या-क्या होंगे? और (3) भुगतान करने का किसी क्षमता से हमारा क्या अर्थ है? फ्रिज मैकलप ने कोष के सम्भावित दस स्रोतों का उल्लेख किया है। इनमें कुछ स्रोत तो व्यापक और अनिश्चित हैं, विशेष रूप से वे जहाँ विषयगत निर्णय का महत्त्व है; अर्थात् जहाँ गम्भीर हानियों और बुद्धिपूर्ण शर्तों या वस्तुओं की आवश्यक खरीददारी आदि का उल्लेख किया गया है।

फ्रिज मैकलप ने 19 ऐसे विषयों का उल्लेख किया है जिनमे सम्भावित रूप से कोष का प्रयोग किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त 16 ऐसे सम्भावित विषयो का उल्लेख किया है जो भुगतान करने की क्षमता रखते हैं।

जब हम यह जानना चाहते हैं कि एक फर्म की तरलता क्या है अर्थात् तुरन्त भुगतान करने की उसकी क्षमता क्या है? तो इसके लिए पहले यह देखना होता है कि कोष के किन स्रोतों एवं प्रयोगो को ध्यान मे रखा जाना चाहिए? जब हम दो या दो से अधिक फर्मों की कुल तरलता की जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं तो हमारे सामने धारणा सम्बन्धी कठिनाइयाँ आती हैं। यह समस्या पैदा होगी कि क्या हमको उस समूह मे एक फर्म द्वारा दूसरे फर्मों से खरीदी गई चीजों को सम्मिलित करना चाहिए? क्या हमको एक फर्म द्वारा भुगतान किए जाने वाले और दूसरी फर्म द्वारा प्राप्त किए जाने वाले लेखों को सम्मिलित करना चाहिए? इन प्रश्नो का उत्तर सरल रूप में नही दिया जा सकता। समूह के अन्तर्गत एक-दूसरे को भुगतान करने की फर्मों की क्षमता एक दूसरी चीज है और समूह के बाहर फर्मों को भुगतान करना दूसरी चीज है। उनकी सम्मिलित तरलता के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त करना प्रश्न का पूरा अर्थ समझे बिना अर्थहीन रहेगा।

कई स्थितियो मे ऐसा लगता है कि तरलता शब्द का प्रयोग न किया जाए किन्तु ऐसी स्थिति मे भ्रम पैदा होने की सम्भावनाएँ बढ जाती हैं। यदि इसके लिए हम अन्य शब्द का प्रयोग करते हैं तो वह शब्द प्रायः ऐसा नही होता जो अपने अर्थ को निश्चित रूप से अभिव्यक्त कर सके। विचारकों का मत है कि पहले शब्द बना लेना और फिर अर्थ ढूँढना एक अर्थहीन चीज है जबकि होना यह चाहिए कि किसी एक निश्चित अर्थ के लिए उपयुक्त शब्द ढूंढा जाए। जब हम उपयुक्त शब्द ढूंढ लेते हैं तो इससे मौखिक या लिखित विचार-विमर्श मे समय की पर्याप्त बचत हो जाती है, किन्तु इस सुविधा को प्राप्त करने के लिए हमे शब्द अन्य अर्थों से ग्रहण नही करना चाहिए क्योकि इससे भ्रम पैदा होने का अंदेशा बढ जाता है।

तरलता का एक घरेलू क्षेत्र होता है। इसके अतिरिक्त उसका अन्तर्राष्ट्रीय रूप भी होता है। जब निजी केन्द्रीय बैंक अपने कोष मे से विदेशी दायित्वों का निर्वाह करने के लिए उत्तरदायी होता है और इस उत्तरदायित्व को वह तुरन्त पूरा

तरलता प्रथम में उधार लेने की सीमा स्वर्ण निधि की मात्रा तक रख दी गयी है जबकि दूसरे की सीमा साख निधि तक रखी गई है। सशर्त तरलता को उसकी शर्तों के कारण अनुपयोगी नही कहा जा सकता क्योंकि इससे भी एक देश अपनी भुगतान सन्तुलन की विषमताओं को दूर करने का प्रयास करता है।

तरलता का निर्माण मुद्रा कोष के अतिरिक्त साधनो से भी किया जाता है। युद्ध के बाद विश्व की तरलता मे जो वृद्धि हुई है, उसका बहुत कुछ श्रेय स्वर्ण उत्पादन एवं अमेरिकी भुगतान सन्तुलन के घाटे को दिया जा सकता है। जब अमेरिका के अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सन्तुलन मे घाटा रहता है तो अन्य देशों की केन्द्रीय बैंको के पास डालर निधि बढ़ जाती है। सयुक्तराज्य अमेरिका से अन्य देशों के मुद्रा अधिकारी प्रार्थना करें तो वह स्वर्ण के बदले मे डालर देने को तुरन्त तैयार हो जाता है। जब एक देश अमेरिकी डालरो को स्वर्ण के रूप मे परिवर्तित कर लेता है तो इससे अन्तर्राष्ट्रीय तरलता मे वृद्धि नही होती है क्योंकि दूसरे देशों को जो स्वर्ण मिला वह अमेरिका द्वारा ही प्रदान किया गया था। ऐसी स्थिति मे अमेरिका के स्वर्ण कोष कम हो जाएंगे।

निधि-निर्माण के तरीकों की सीमाएँ—एक देश अपनी निधि के निर्माण मे जिन तरीकों को काम मे लाता है, उन पर अनेक सीमाएं लगी रहती हैं। प्रथम सीमा, स्वर्ण-परिवर्तन के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है। जब एक देश डॉलर को सोने के रूप मे बदलने का प्रयास करता है तो इसके कारण अमेरिका के स्वर्ण कोष बहुत कुछ कम हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त एक अन्य सीमा यह भी है कि जब दूसरे देशों की डॉलर निधि बढ जाती है तो अनिश्चितता का वातावरण बनता है। ऐसी स्थिति मे जो भी डॉलर के स्वामी हैं वे यह सोचने लगेंगे कि अपने डॉलरो को स्वर्ण मे परिवर्तित कर दें। ऐसी स्थिति में अमेरिका की डॉलर निधि और भी बढ जाएगी। फलतः यदि संयुक्तराज्य अमेरिका मे घाटे की स्थिति आती है तो इससे विश्व तरलता मे कमी आ जाएगी। यदि सयुक्तराज्य अमेरिका हमेशा ही अपने भुगतान सन्तुलन मे घाटे की स्थिति रखेगा तो यह न तो विश्व के लिए लाभदायक है और न स्वय उसके लिए ही। ऐसी स्थिति मे इसे समाप्त किया जाना उपयुक्त समझा जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या
(The Problem of International Liquidity)

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की मात्रा को कब पर्याप्त कहा जाए और कब उसे अपर्याप्त माना जाए यह एक मौलिक समस्या है। इसका निर्णय करना अत्यन्त कठिन है। सिद्धान्त रूप मे सम्भवतः प्रत्येक देश अपनी राष्ट्रीय नीतियों का पालन करते हुए अपने आपको अन्तर्राष्ट्रीय खातों मे सन्तुलित पाता है। यदि हम व्यावहारिक दृष्टि से देखें तो पाएंगे कि विभिन्न देशों का भुगतान शेष हमेशा सन्तुलित नही रहता है और प्रायः वह घाटे की स्थिति मे रहता है। इस घाटे की पूर्ति करना परम आवश्यक है। घाटे की स्थिति न रहने पर भी एक देश को यह विश्वास होना

चाहिए कि यदि कभी उसे घाटे की स्थिति का मुकाबला करना भी पड़ा तो घाटे की वित्तीय-व्यवस्था उसे उपलब्ध हो सकेगी जिसके आधार पर वह एक निश्चित समय मे पुन सन्तुलन प्राप्त कर सके। विश्व-व्यापार की मात्रा बढ़ने पर अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान बहुत कुछ असन्तुलित बन जाते हैं। जब तक तरलता का विशेष स्तर नही बनाया जाता तब तक विश्व-व्यापार का विस्तार एव ससार की अर्थ व्यवस्था का विकास दोनो ही रुक जाते हैं।

तरलता के पर्याप्त स्तर को तय करना अत्यन्त कठिन है। परिणाम को देखकर ही इसके सम्बन्ध मे कुछ कहा जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय तरलता को पर्याप्तता का बिन्दु वहाँ माना जा सकता है जहाँ से नीचे गिरने पर ससार के विभिन्न देश अपने खाते को सन्तुलित करने के लिए राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय विकास की लागत पर निर्भर रहते हैं और जिससे ऊँचे उठने पर ससार के विभिन्न देश भुगतान सन्तुलन मे लगातार घाटा सहन करते रहते हैं। यह घाटे की स्थिति विदेशो मे प्रसार की स्थिति को प्रोत्साहन देती है।

असल मे हमारे पास अभी तक आँकड़ो की कोई ऐसी कसौटी नही बन पाई है जो नि सन्देह रूप से यह बता सके कि तरलता की एक मात्रा पर्याप्त है अथवा नहीं। एक ही देश की तरलता के बारे मे कुछ लोगो का विश्वास होता है कि यह अत्यधिक है जबकि दूसरो का विचार होता है कि यह आवश्यकता से कम है। अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की मात्रा एव रूप के सम्बन्ध मे जटिल समस्या का एक अन्य कारण यह है कि प्रत्येक देश इसे अपने दृष्टिकोण से देखता है। अपनी आर्थिक स्थिति और राष्ट्रीय तरलता के अनुभवो से प्रभावित होने के बाद वह विश्व तरलता के बारे मे दूसरो जैसे विचार नहीं रख पाता वरन् प्रत्येक पक्ष अपने समर्थन के लिए कोई तर्क ढूंढ लेता है।

अब तक अमेरिका के घाटे की व्यवस्था विश्व की तरलता का स्रोत मानी जाती थी किन्तु इसके समाप्त होने के बाद अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का एक महत्वपूर्ण स्रोत समाप्त हो गया। अब आवश्यकता यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय निधि के निमाण के लिए और कोई तरीका खोजा जाए।

इस समस्या पर वर्तमान काल मे पर्याप्त अध्ययन किए गए हैं। इन विभिन्न अध्ययनो मे दस देशो का समूह (Group of Ten) और सयुक्त राष्ट्र व्यापार तथा विकास के लिए सम्मेलन (United Nations Conference on Trade & Development) द्वारा नियुक्त विशेषज्ञो के प्रतिवेदन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। दस के समूहो का सम्मेलन जून, 1966 मे फ्रैंक फर्ट मे किया गया था। इस सम्मेलन मे विश्व की भुगतान प्रणाली को सुधारने के लिए अधिक ठोस सुझाव प्रदान नही किए गए थे किन्तु फिर भी सम्मेलन के अध्यक्ष डॉ० एमिन्गर (Emminger) ने बताया कि समूह के सदस्य निम्न बातो मे सहमत थे—

(1) वर्तमान समय मे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्बन्धी तरलता कम नही है।

(2) जब तक संयुक्तराज्य अमेरिका के भुगतान सन्तुलन में घाटे की स्थिति है उस समय तक अतिरिक्त तरलता के निर्माण के लिए विचार नहीं किया जा सकता।

(3) वर्तमान परिस्थितियों मे निश्चय के साथ यह नहीं कहा जा सकता कि यदि अमेरिका का भुगतान सन्तुलन समतुल्य बन जाए तो अतिरिक्त तरलता अवश्य होगी।

डॉ० एमिन्गर का यह विचार था कि संयुक्तराज्य अमेरिका में स्थित घाटे की अर्थ-व्यवस्था का कारण आर्थिक नही है, वरन् यह राजनैतिक है। इसमे वियतनाम का युद्ध भी सम्मिलित है। वियतनाम का युद्ध समाप्त होने पर अमेरिका के घाटे की अर्थ-व्यवस्था एकदम बदल सकती है, किन्तु इससे अनेक नवीन आर्थिक समस्याएँ पैदा हो जाएँगी।

सयुक्त राष्ट्र व्यापार एवं विकास के लिए सम्मेलन ने विशेषज्ञों के समूह को अन्तर्राष्ट्रीय तरलता पर विचार करने के लिए नियुक्त किया। इस सम्मेलन ने अपने प्रतिवेदन मे यह बताया कि निधियों का विस्तार करना विकासोन्मुख देशों की बढती हुई आवश्यकताओं के लिए आवश्यक है। समूह का कहना था कि यदि विश्व तरलता का विस्तार कर दिया गया तो विकसित देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं सहायता की नीतियो मे अधिक उदार दृष्टिकोण अपना सकेंगे। वर्तमान समय मे निधि की मात्रा कम होने के कारण यह सीमित स्तर पर है। समूह ने विभिन्न देशो के विकास की दर एवं व्यापार की समस्याओं के बारे मे गम्भीर चिन्ता व्यक्त की। समूह का कहना था कि निधि का विस्तार और निधि की कमी के प्रभाव न केवल घाटे की व्यवस्था वाले देशों मे ही लागू होते हैं वरन् ये अधिशेष वाले देशो मे भी लागू होते हैं। सामान्य रूप से समूह ने यह माना कि निधियों का साधारण स्तर अपर्याप्त था और इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय तरलता मे विस्तार की आवश्यकता महत्त्वपूर्ण थी।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के सम्बन्ध मे जो भी अध्ययन किए गए उनकी अनेक बातें महत्त्वपूर्ण थी। उनमे विशेष रूप से उल्लेखनीय एक बात यह थी कि नवीन अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की रचना विभिन्न साधनों से करने की बात कही गई। वर्तमान समय में ऐसी तकनीकों पर ध्यान दिया जा रहा है जिन्हें अपनाकर अन्तर्राष्ट्रीय समिति के आधार पर समय के अनुकूल अन्तर्राष्ट्रीय तरलता मे वृद्धि की जा सके। तरलता में वृद्धि का कार्य कोष के अन्तर्गत और कोष के बाहर दोनों ही जगह किया जा सकता है। इसका सर्वश्रेष्ठ उपाय यह बताया जाता है कि कोष का विकास एवं विस्तार किया जाए क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता उपलब्ध कराने वाली यह एक आधारभूत संस्था है।

यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की पर्याप्तता के बिन्दु का पता लगाना अत्यन्त कठिन है किन्तु फिर भी यदि विवाद मे न पड कर यह मान भी लें कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की पूर्ति का स्तर वर्तमान काल मे पर्याप्त है तो भी भविष्य के बारे मे समस्या उठ सकती है। यह कहा जा सकता है कि भावी-वृद्धि की दर सम्भवतः

अपर्याप्त है। भविष्य के प्रबन्ध के लिए ऐसी व्यवस्था करनी होगी जिससे कि अन्तर्राष्ट्रीय जगत् अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के सम्बन्ध मे उपयुक्त कार्यवाही कर सके इस व्यवस्था को करते समय कई बातो का निर्धारण करना होगा, जैसे (1) भविष्य में विश्व को निधियो की कितनी आवश्यकता है और वे सम्भवत कितनी बढ सकती है? (2) यदि आवश्यक समझा जाए कि निधि निर्माण यन्त्र होना चाहिए तो प्रश्न यह है कि इस यन्त्र मे भाग लेने वालो की सख्या कितनी रखी जाए ? (3) विभिन्न देशो के बीच निधियो का वितरण किस आधार पर किया जाए ? और (4) इन सब क्रियाओ का नियमन किसके द्वारा किया जाए ? निधि निर्माण से सम्बन्धित समस्या का समाधान कुछ इस प्रकार का होना चाहिए कि वह विकसित और विकासोन्मुख दोनो प्रकार के देशो की न्यायपूर्ण निधि-आवश्यकताओ की पूर्ति कर सकें।

समस्या का हल

समस्या पर भारत मे विचार-विमर्श
(Discussions on the Problem held in India)

दिसम्बर, 1964 मे बडोदा म भारतीय आर्थिक सस्था के सम्मेलन मे अन्तर्राष्ट्रीय तरलता से सम्बन्धित समस्या पर पर्याप्त विचार विमर्श किया गया। इस विषय पर कुल मिलाकर 20 निबन्ध प्रस्तुत किए गए जो इसके विभिन्न पहलुओ पर प्रकाश डालते थे। इन सभी के अन्तर्गत सामान्य रूप से यह सहमति प्रकट की गई कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की रचना म क्या क्या तत्त्व आते हैं ? अन्तर्राष्ट्रीय तरलता को परिभाषित करते हुए यह कहा गया कि इसमे वे सभी साधन स्रोत है जो कि भुगतान सन्तुलन के घाटे की व्यवस्था का मुकाबला करने के उद्देश्य से विभिन्न देशो की मौद्रिक सत्ताओ के पास उपलब्ध रहते हैं। सम्मेलन के सभी सदस्य इस बात से सहमत थे कि यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की पर्याप्तता का निर्धारण करने का मापदण्ड निश्चित करना बहुत कठिन है किन्तु फिर भी तत्कालीन परिस्थितियो म कुल मिला कर अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की कमी नही थी, फिर भी भविष्य मे यह कभी विकसित हो सकती थी। अन्तर्राष्ट्रीय तरलता को भविष्य की बढती हुई मागो के अनुसार किस प्रकार बढाया जाए, इसके सम्बन्ध म विभिन्न विचारकर्ताओ के बीच मतभेद था।

बडोदा के सम्मेलन म जिन विभिन्न प्रश्नो पर जिन विभिन्न दृष्टिकोणो से विचार किया गया उनका यहाँ उल्लेख करना अन्तराष्ट्रीय तरलता की स्थिति को सही जानने के लिए आवश्यक प्रतीत होता है।

क्रान्तिकारी बनाम विकासवादी दृष्टिकोण
(Revolutionary Vs Evolutionary Approach)

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की स्थिति को सुधारने के लिए विचारको ने अनेक सुझाव प्रस्तुत किए किन्तु इनमे से कुछ विचारको ने दृढ अथवा क्रान्तिकारी दृष्टिकोण का समर्थन किया। इन्होने विश्व केन्द्रीय बैंक जैसी सस्था की रचना के लिए प्रस्ताव

रखे। यद्यपि इन प्रस्तावों के समर्थन में थोड़े ही तर्क दिए गए और इन्हें क्रियान्वित करने में जो विभिन्न समस्याएँ आती हैं उनके बारे में बहुत कम कहा गया। दूसरी ओर मि. नायक और श्रीनिवास मूर्ति आदि विचारकों ने एक विकासवादी दृष्टिकोण का समर्थन किया। उन्होंने पिछले दो तीन वर्षों के विभिन्न सुधारों एवं सुविधाओं का केवल उल्लेख किया, मुद्रा कोष की नीतियों मे परिवर्तन लाने की बात कही, केन्द्रीय बैंकों में द्विपक्षीय समझौते प्रबन्धों का समर्थन किया और ऐसे ही अन्य उपाय बतलाए। मि. नायक ने अपेक्षाकृत एक व्यापक तथ्यगत सर्वेक्षण प्रस्तुत किया। सम्मेलन मे इन विकासवादी और क्रान्तिकारी पक्षों के बीच विचारों का महत्त्वपूर्ण आदान-प्रदान हुआ। इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि विकासवादी दृष्टिकोण को उद्देश्य के रूप मे मस्तिष्क में रखते हुए भी निकट भविष्य मे विकासवादी दिशा मे प्रगति की सम्भावनाएँ अधिक हैं।

वैसे देखा जाए तो इन दोनों विश्वासों के बीच अन्तर की खाई इतनी चौड़ी नहीं जितनी कि समझी जाती है। यदि अधिकांश यूरोपीय देशों तथा अमेरिका की दृष्टि से देखा जाए तो ज्ञात होगा कि निकट भविष्य मे क्रान्तिकारी प्रस्तावों को स्वीकार करना मुश्किल है किन्तु फिर भी वर्तमान विचार प्रक्रिया में क्रान्तिकारी परिवर्तन आ सकता है। वैसे विकासवादी और क्रान्तिकारी दोनों ही भविष्य की ओर देखने का दृष्टिकोण अपना रहे थे।

पर्याप्तता से सम्बन्धित विचार
(Considerations Regarding Adequacy)

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के प्रमुख तत्त्व, उसका स्तर, उसकी बनावट और उसका वितरण होते हैं। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की बनावट बहुरूपी होती है। ऐसी स्थिति मे उसकी पर्याप्तता को निर्धारित करना सरल नहीं है। यह बहुत कुछ एक व्यक्ति के राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक नीति सम्बन्धी लक्ष्यों एवं भुगतान सन्तुलन की असमतुल्यता के विभिन्न प्रकारों के समायोजन की प्रक्रिया पर निर्भर करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ बातों के सम्बन्ध मे थोड़ी सहमति पाई जाती है जैसे- (1) कीमतों के स्थायित्व की स्थिति मे सर्वाधिक रोजगार और विकास हो सकता है, (2) व्यापार एवं विनिमय प्रतिबन्धों से स्वतन्त्रता प्राप्त की जाए, (3) विशेष रूप से अर्द्ध-विकसित देशों की पूँजी के प्रभाव को संचालित किया जाए, (4) स्थायी विनिमय दरें कायम की जाए, और (5) स्थायित्व के साथ प्रगति को बनाए रखने के लिए उपयुक्त आर्थिक और मौद्रिक अनुशासन रखा जाए। इन लक्ष्यों की प्राप्ति के सम्बन्ध में कुछ मतभेदों की सम्भावना भी हो सकती है। भाग लेने वालों में से कुछ विचारकों का मत था कि लोचशील विनिमय दरों की व्यवस्था भुगतानों के सन्तुलन को समतुल्य बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण रूप से सहायता करती है। वैसे निश्चित विनिमय दरों की व्यवस्था बनाए रखने के लिए एक सामान्य इच्छा प्रदर्शित की गई। अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की पर्याप्तता को इस पृष्ठभूमि मे देखा जाना चाहिए। सम्भवतः यह कहना सही है कि अन्तर्राष्ट्रीय

तरलता का विस्तार विश्व व्यापार और पूंजी के आवागमन के विकास की दरों के अनुमान के निकट होना चाहिए। कुल मिलाकर यह सामान्य धारणा थी कि तरलता के प्रसार की दर अतीत की तुलना में अधिक होनी चाहिए।

तरलता की बनावट
(Composition of Liquidity)

बनावट की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय तरलता को प्राथमिक या अधिकृत निधियों एवं सभी प्रकार की उधार लेने की सुविधाओं से भिन्न किया जा सकता है। बनावट की दृष्टि से तरलता के दो रूप हो सकते हैं—स्वजनित तरलता (Automatic Liquidity) और सशर्त तरलता (Conditional Liquidity)। अधिकृत साधन स्रोत कभी-कभी सशर्त तरलता की रचना करते हैं। दूसरी ओर लिए गए ऋण यद्यपि सामान्य रूप से सशर्त होते हैं किन्तु फिर भी वे अशर्त या स्वजनित तरलता की रचना करते हैं। ऋण लेने का प्रबन्ध सामयिक, कुछ समय के लिए अथवा लम्बे समय के लिए हो सकता है। प्रश्न यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का प्रसार किस सीमा तक मुद्रा बनाम स्वर्ण का रूप धारण कर सकता है? और दो या तीन व्यक्तिगत देशों की मुद्रा के भण्डार बनाम बहुराष्ट्रीय मुद्रा के भण्डार या केन्द्रीय सुरक्षित सस्था की जमा रूप धारण कर सकता है। यह तो स्पष्ट है कि स्वर्ण पैदावार का प्रसार वांछित अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के विकास की दर को बनाए नहीं रख सकता। यह सच है कि आने वाले भविष्य में भी स्वर्ण के बिना काम नहीं चल सकता और यह अन्तिम अन्तर्राष्ट्रीय निधि है जो सामान्य रूप से विभिन्न देशों के बीच समता स्थापित है, फिर भी भुगतान सन्तुलनों के घाटे की स्थिति को सुलझाने में स्वर्ण का महत्त्व घट रहा है और इसलिए प्राप्त स्वर्ण भण्डारों का सर्वाधिक प्रयोग करने के लिए प्रयास किया जा रहा है।

इस दृष्टि से स्वर्ण की कीमतों में वृद्धि का भी पर्याप्त महत्त्व होता है। स्वर्ण की कीमतों में वृद्धि का अपना राजनैतिक महत्त्व होता है। सोने के लिए गैर-मौद्रिक माँग की कीमतों में वृद्धि का प्रभाव तथा पुनर्मूल्यांकन की प्राप्तियों का विभिन्न देशों के बीच समानता के आधार पर वितरण एक विचारणीय प्रश्न रहा है।

प्रमुख मुद्राओं की व्यवस्था के लिए परिवर्तन
(Modifications to the System of Key-Currencies)

यदि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता को मुद्रा एवं साख के साथ अधिक से अधिक समायोजित होना है तो इसके लिए प्रमुख मुद्राओं की वर्तमान व्यवस्था एवं स्वर्ण विनिमय के मानक में परिवर्तन पर विचार करना होगा। भविष्य में दो प्रमुख सुरक्षित मुद्राओं-पाउण्ड स्टर्लिंग और अमेरिकी डालर में घाटे की व्यवस्था द्वारा तरलता का प्रसार नहीं किया जा सकता क्योंकि अब अधिक समय तक बड़े घाटे की व्यवस्था को बनाए रखने की क्षमता काफी सीमित हो गई है। इस क्षेत्र में संयुक्त-राज्य अमेरिका की सामर्थ्य भी बहुत कुछ घट गई है। इसके अतिरिक्त अन्य सुरक्षित

मुद्राएँ भी दीर्घकालीन सन्तुलन नहीं बनाए रखना चाहती। इस दृष्टि से एक रास्ता तो यह है कि विश्व के केन्द्रीय बैंक में निधियों का केन्द्रीयकरण कर लिया जाए किन्तु ऐसा करने पर अनेक व्यावहारिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्रीय बैंक, राष्ट्रीय केन्द्रीय बैंक की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल है। इसके द्वारा अनेक तकनीकी समस्याओं को उपस्थित करने के अतिरिक्त इसमे अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक सहयोग की एक मात्रा को मानकर चला जाता है जो निकट भविष्य में सम्भवतः दिखाई नहीं देती। इसके साथ ही सुरक्षित मुद्राओं के वर्तमान भण्डार को केन्द्रीय विश्व बैंक को स्थानान्तरित करने मे भी अनेक समस्याएँ पैदा होगी। यह कहा जाता है कि विश्व केन्द्रीय बैंक व्यवस्था द्वारा सदस्य देशो पर जो अनुशासन लादा जाएगा वह स्वाभाविक रूप से आर्थिक समस्याएँ पैदा करेगा और बिना अनुशासन के विश्व केन्द्रीय बैंक मन्दी की स्थिति मे आ सकता है, जैसा कि अनेक राष्ट्रीय केन्द्रीय बैंक आ जाते हैं।

नवीन प्रमुख मुद्राओं के भार को हल्का करने के लिए एक अन्य समाधान मि० बर्नस्टीन (Bernstein) द्वारा सुझाया गया। इनके अनुसार एक नई सुरक्षित इकाई रखी जाए जिसमे प्रमुख मुद्राओ मे से एक दर्जन के लगभग के निश्चित अनुपात रखे जाएँ और उनका मूल्य वर्तमान अमेरिकी स्वर्ण डॉलर के बराबर रखा जाए। बर्नस्टीन ने बाद मे अपनी मौलिक योजना के अन्तर्गत कुछ परिवर्तन किए। विशेष रूप से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सुरक्षित इकाई मे केवल 20 प्रतिशत का अंशदान दिया गया।

इस सम्बन्ध मे आज बहुत कम सन्देह किया जाता है कि साख या ऋण के प्रावधानो द्वारा तरलता का स्वभाव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाना चाहिए चाहे यह अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा या द्विपक्ष रूप से या क्षेत्रीय रूप से किया जाए। प्रश्न यह है कि कर्ज को किस प्रकार कम से कम सशर्त अर्थात् अधिक से अधिक स्वायत्त बनाया जाए? अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के माध्यम से लिए जाने वाले ऋण के सम्बन्ध मे इसका महत्त्व विशेष रूप से बढ जाता है।

कोष की नीतियों में अर्वाचीन परिवर्तन
(Recent Changes in Policies of I.M.F.)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की नीति और प्रक्रियाओ में हाल ही मे बड़े परिवर्तन हुए हैं। इस दृष्टि से देखने पर हम पाएँगे कि कोष मे किए गए अनेक परिवर्तन ऐसे हैं जिनसे भविष्य मे अनेक सम्भावनाएँ जन्म लेती हैं। कोष के ब्याज की दर में कमी करने का भी प्रस्ताव था। कोष नियतांश मे वृद्धि और ऋण सम्बन्धी नीतियों में उदारता अन्तर्राष्ट्रीय तरलता को प्रसारित करने मे महत्त्वपूर्ण योगदान करते हैं। कानूनी रूप से यह एक सशर्त तरलता होगी और तथ्यगत रूप से यह अधिक से अधिक स्वजनित होगी। विचारको का कहना था कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्रीय बैंक भी बना दिया जाए तो उसके कार्यों की प्रकृति बहुत कुछ ऐसी ही होगी,

जो कोष के द्वारा वर्तमान समय में किए जाते हैं। तरलता के कम से कम प्रसार की गारण्टी तो दी ही जानी चाहिए। साख के कुल प्रसार की भी कुछ सीमाएँ होंगी। ऋण सम्बन्धी व्यवहार पर सामूहिक रूप से देखभाल की जानी चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में अपनी साख स्थिति बनाए रखना, विश्व केन्द्रीय बैंक में जमा रखने अथवा अपनी मुद्रा रखने से भिन्न नहीं है। यह सुझाया जाता है कि कोष में किसी सदस्य की जो स्थिति है, उसके लिए उसे प्रमाण-पत्र दिया जाना चाहिए। इस दृष्टि से राष्ट्रीय सम्प्रभुता को छोड़ना भी मूल रूप से कोई भिन्न चीज नहीं है। कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्था राजनीतिक पहलुओं को पूर्ण रूप से नहीं छोड़ सकती। इन सभी दृष्टियों से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, सुधार के लिए उपयुक्त संस्था बन जाता है।

तरलता का वितरण
(Distribution of Liquidity)

विभिन्न देशों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का वितरण भी एक महत्त्वपूर्ण विषय है। वर्तमान वितरण अतीत के असन्तुलनों को अभिव्यक्त करता है किन्तु भविष्य में सजगतापूर्ण किए गए प्रयास आवश्यक हैं ताकि तरलता की प्राप्ति में असमानता को कम किया जा सके। जहाँ तक विकसित देशों का सम्बन्ध है उनमें गलत वितरण की समस्याएँ हैं। वहाँ सुरक्षित मुद्राओं के बड़े मौद्रिक दायित्वों की समस्याएँ भी हैं। इस समस्या से दोनों देशों को प्रभावित किया जाता है किन्तु इसका समाधान सम्भव है।

विकासशील देशों की तरलता की आवश्यकता के लिए विशेष ध्यान दिया जाना भी आवश्यक है। यह सच है कि इन देशों में विकास के लिए दीर्घकालीन पूँजीगत सहायता की पर्याप्त मात्रा आवश्यक है। इसके अलावा ये तरलता की समस्या से भी प्रभावित हैं। कच्चे माल का उत्पादन करने वाले देश अपने निर्यातों के आकार और मूल्य में पर्याप्त उतार चढ़ाव से प्रभावित होते हैं। उनमें विदेशी सहायता के प्रयोग के बारे में भी पर्याप्त ढील रहती है। प्रथम समस्या के निपटारे के लिए मुद्रा कोष ने हाल में ही यह सुविधा प्रदान की है कि उसके स्रोतों से अतिरिक्त धन निकाला जा सके किन्तु इससे अधिक फर्क नहीं पड़ता निर्यातों के बढ़ने से उपलब्ध मात्रा भी बढ़ सकती है।

इस कोष की सहायता के अतिरिक्त कुछ और भी सुझाव दिए गए, जैसे-निर्यात प्राप्तियों का स्थायीकरण कोष (Export Receipt Stabilisation Fund) बनाया जाए। विकासशील देशों की एक जरूरत यह भी है कि वे विकसित देशों के बाजार में स्वतन्त्रतापूर्वक प्रवेश पा सकें। इसके अलावा विकासशील देशों में गरम धन के प्रवाह की भी समस्या है। विकासशील देशों में निधियों का सचय नहीं किया जा सकता, अतः ऋण लेने की सुविधाएँ उनके लिए विशेष महत्त्व रखती है। जब मुद्रा कोषों के साधनों का प्रसार होगा तथा कोष की महत्त्वपूर्ण निधियाँ उदार बन

जाएँगी तो इन देशों को बहुत लाभ रहेगा। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के लिए सुझाई गई विभिन्न योजनाओं का विकासशील देशों के लिए क्या फायदा हुआ ? इस पर विशेष रूप से विचार करना चाहिए। यह उपयुक्त है कि प्रत्येक योजना मे विकासशील देशो की आवश्यकताओ के प्रति विशेष ध्यान दिया गया है। यद्यपि वे उन पर भिन्न रूप से विचार करना चाहती हैं।

विकासशील देशों की तरलता पर आवश्यक विचार करते समय यह उल्लेखनीय है कि इन देशों द्वारा उपयुक्त प्रशुल्क एव मौद्रिक नीतियाँ अपनाई जानी चाहिए ताकि घरेलू कीमतों मे उपयुक्त स्थायित्व रह सके। जब तक प्रशुल्क सम्बन्धी एवं मौद्रिक अनुशासन नही रखा जाता, तब तक यह आशंका रहती है कि निधियों का उच्च-स्तर शीघ्र समाप्त हो जाएगा।

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और देखभाल (International Collaboration and Surveillance)

यहाँ एक बात महत्त्वपूर्ण यह है कि स्थिति में सुधार के लिए दिए गए प्रत्येक सुझाव मे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और निगरानी रखने की परम आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय सम्प्रभुता की कुछ मात्राओं को भी छोड़ना पड़ेगा। कुछ विचारकों का सुझाव है कि इस सम्बन्ध मे यदि कुछ विभिन्नता रखी जाए तो अधिक नुकसान नही रहेगा। लोचशीलता एव कार्य कुशलता के लिए अनेक प्रकार के प्रबन्ध किए जाने चाहिए। ऐसी स्थिति में उपयुक्त अवरोधों तथा सन्तुलनो की स्थापना हो जाएगी। भुगतानो के सन्तुलनो की व्यवस्था अलग-अलग होती हैं। इसके अलावा एक ही समय मे यह अलग-अलग देशो मे भिन्न होती हैं। सभी स्थितियों में तरलता की गति उल्लेखनीय रहती है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के माध्यम से उन उद्देश्यों की प्राप्ति की दिशा में पर्याप्त सफलता रही है जो विश्व केन्द्रीय बैंक की स्थापना से प्राप्त किए जाने थे। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का अधिक से अधिक लाभ उठाने के लिए सम्भावित आवश्यकता यह है कि जिस प्रकार राष्ट्रीय केन्द्रीय बैंक से ऋण लेने के लिए व्यापारिक बैंक तत्पर रहते हैं, उसी प्रकार सदस्य देशों को कोष द्वारा प्रदान की गई साख सुविधाओं का प्रयोग संकटकालीन कार्य की अपेक्षा साधारण व्यवहार के रूप मे करना चाहिए। कोष के माध्यम से जो लेन-देन का व्यापार किया जाता है उससे साख वाले और अतिरेक वाले देशो को पर्याप्त सुरक्षाएँ प्रदान की जाती हैं। इसके अतिरिक्त कोष की साख सुविधाओं को उदार बनाना तथा कोष के साधनो को प्रसारित करना भी बहुत कुछ उपयुक्त रहेगा।

कुल मिलाकर कोष के कार्य पर्याप्त संतोषजनक रहे। एस. एल. सिन्हा के शब्दों में "इसकी नीतियाँ, प्रक्रियाएँ एवं साधन स्रोत, विशेष रूप से वर्तमान वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय वित्त की बदलती हुई आवश्यकताओं का मुकाबला करने के लिए निरन्तर

समायोजित होते रहे हैं।"[1] आज की स्थिति में विकसित अथवा कम विकसित देशों को कोष से जितनी आसानी से मदद मिल जाती है वह आज से एक दशाब्दी पूर्व कठिन थी। उदाहरण के लिए, ग्रेट ब्रिटन ने 1957, 1961 और 1964 में जो बड़े कर्ज लिए उनका उल्लेख किया जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि इससे सदस्य देशों में पर्याप्त विश्वास जाग्रत हुआ है और अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में विश्वास एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्त्व होता है। विकासशील देशों के प्रति कोष का दृष्टिकोण एवं सहयोग पर्याप्त सहायता पूर्ण रहा है और अन्तर्राष्ट्रीय संस्था द्वारा इन देशों के हितों की उल्लेखनीय रूप से साधना की गई है। कोष अपनी नीतियों एवं प्रक्रियाओं में धीरे धीरे सुधार करता जा रहा है। ब्रेटन वुड्स के बुद्धिमान सृष्टाओं ने कोष के प्रारूप को इतना लोचशील बनाया है कि उसमें बहुत कुछ समायोजन सम्भव है। यदि आवश्यकता यह माँग करे कि कोष के विधान को संशोधित किया जाए तो ऐसा करने में भी कोई हिचक नहीं होनी चाहिए।

---

1 'Its policies, procedures and resources have been continuously adop' meet the changing needs of International Finance, particularly ' years —*S L. Sinha* Essays on Finance,

19 अस्थिरता उत्पन्न करने वाले अल्पकालीन पूँजीगत आवागमन के प्रभाव, दीर्घकालीन निजी पूँजीगत निवेश की प्रवृत्ति एवं समस्याएँ

(DESTABILIZING EFFECTS OF SHORT-TERM CAPITAL MOVEMENT, LONG TERM PRIVATE INVESTMENT : TRENDS AND PROBLEMS)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विषय माल (Goods), सेवाएँ (Services) और पूंजी (Capital) होती हैं। पूंजी का आवागमन अनेक प्रकार से वस्तुओं और सेवाओं के व्यापार से भिन्नता रखता है। जब लाभपूर्ण व्यापार मे एक देश के वर्तमान उत्पादन और गतिशील माल की खरीद तथा बिक्री की जाती है तो दूसरी ओर प्रतिभूतियो (Securities) का व्यापार स्वामित्व और कर्जदारी के प्रमाणो से सम्बन्ध रखता है। जब माल को जहाज मे भर कर एक देश से दूसरे देश मे ले जाया जाता है तो उसके प्रभाव तत्कालीन और प्रत्यक्ष होते हैं। निर्यातकर्त्ता देश की दृष्टि से जहाज में माल लादने का अर्थ है कि उसके देश मे माल कम रह जाएगा और आयातकर्त्ता देश की दृष्टि से इसका अर्थ यह है कि उसकी मांगो को पूरा करने के अधिक साधन उपलब्ध हो सकेंगे।

पूंजी के आवागमन का प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन की उस मात्रा पर प्रभाव नहीं पड़ता जो कि एक देश के निवासियो को प्राप्त हो सकती है। जो प्रतिभूतियां एक देश द्वारा दूसरे देश को बेची जाती हैं उन्हे दूसरे द्वारा किसी अन्य प्रकार से खाया अथवा प्रयोग मे नही लिया जा सकता। इस बिक्री के कारण पूंजी का आयातकर्त्ता देश ऐसी किसी चीज से वञ्चित नही रहता जो उसके प्राप्त उत्पादन को बढा सकती है। दूसरी ओर उसकी खरीद पूंजी निर्यातकर्त्ता देश के निवासियो के माल तथा सेवाओं की पूर्ति के लिए लाभदायक नहीं होती। यद्यपि इस प्रकार के लेन-देन से माल के बाजार प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित नही होते किन्तु विभिन्न देशो के साख बाजारो पर इनका असर पड़ता है। जब कभी पूंजी का आवागमन होता

तो साख की कीमत या दूसरे शब्दो मे ब्याज की दर प्रभावित होती है। इन प्रभावो के परिणामस्वरूप अन्य महत्त्वपूर्ण फल भी सामने आते हैं।

पूंजी के आवागमन और व्यापारिक आवागमन के बीच एक अन्य मुख्य अन्तर यह है कि व्यापारिक आवागमन के लेन-देनो मे भविष्य के लिए कोई वान्छनीयता स्थापित नही की जाएगी जबकि प्रथम प्रकार के लेन देनो मे की जाती हैं। जब एक देश दूसरे देश की प्रतिभूतियाँ प्राप्त करता है तो विक्रीकर्त्ता देश कर्ज का पुन भुगतान करने के लिए बाध्य होता है। कुल मिलाकर जब एक देश के निवासी विदेशी प्रतिभूतियो को प्राप्त करते हैं तो भविष्य मे उनका कुछ उत्तरदायित्व बढ जाता है जिसे विक्रीकर्त्ता देश को पहचानना चाहिए। जब विदेशी बॉण्ड एक देश के निवासियो द्वारा लिए जाते है तो व्ययकर्त्ता देश साधारणत यह आशा करता है कि उसे कुछ धन प्रतिवष ब्याज के रूप मे मिले। पूंजीगत आवागमन मे कुछ भविष्य के उत्तरदायित्व निहित होते हैं और पूंजी का आयातकर्त्ता देश इन उत्तरदायित्वो का सम्मान करता है। यदि हम माल के व्यापार (Trade of Commodities) और प्रतिभूतियो के व्यापार (Trade of Reserves) के बीच स्थित अन्तरो का सक्षेप मे उल्लेख करना चाह तो यह कहना होगा कि प्रथम द्वारा माल के बाजारो को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया जाता है जबकि दूसरे द्वारा साख बाजारो (Credit Markets) को किया जाता है। दूसरे, प्रतिभूतियो का व्यापार कुछ दावो की स्थापना करता है अथवा यूं कहिए कि इसस एक देश के निवासियो को दूसरे देश के निवासियो के विरुद्ध स्वामित्व के अधिकार प्राप्त होते हैं। माल के व्यापार म ऐसा कुछ भी नही होता।

विदशी पूंजी द्वारा विश्व के अधिकांश देशो म विकास मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया जाता है। मि० आर्थर लेविस (W Arthur Lewis) के कथनानुसार 'करीब-करीब प्रत्येक विकसित देश को उसके विकास के प्रारम्भिक स्तरो पर स्वय की अल्प बचतो को सहायता देने के लिए विदेशी सहयोग प्राप्त हुआ। इग्लैण्ड ने 17वी और 18वी शताब्दी म हॉलैण्ड से उधार लिया और 19वी तथा 20वी शताब्दी मे इसने विश्व के प्राय सभी देशो को उधार दिया। सयुक्तराज्य अमेरिका आज दुनियाँ का धनिकतम देश है। उसने 19वी शताब्दी मे बहुत उधार दिया। इस शताब्दी मे वह प्रमुख ऋणदाता देश बन गया है।" विश्व मे केवल जापान और सोवियत रूस एस उदाहरण है जिन्होंने बिना किसी महत्त्वपूर्ण विदेशी पूंजी के अपना विकास किया। जापान मे कुछ अनुकूल तत्त्व होने के कारण विदेशी पूंजी क उसका विकास सम्भव हो सका, यह अनुकूलता सभी देशो मे नही रह पाती।

दुनिया के विभिन्न भागो मे श्रम, खनिज, जलवायु और तकनीकी ज्ञान आदि साधनो की भिन्न भिन्न मात्राएं हैं। यही कारण है कि यहाँ जिस साधन की कमी रहती है उसे उस स्थान से पूर्ण किया जाता है जहाँ इसकी अधिकता रहती है। इसके कारण पूंजीगत आवागमन सम्भव बनता है। विकसित तथा अर्द्ध विकसित देशो के जीवन स्तर के बीच पर्याप्त अन्तर रहते हैं। ये अन्तर विश्व शान्ति के लिए एक

चुनौती कहे जा सकते हैं। स्थायी विश्व शान्ति की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि अर्द्ध-विकसित देशों का तीव्र गति से विकास किया जाए। अर्द्ध-विकसित देशों के घरेलू साधन इतने नहीं होते कि वे अपना तीव्र गति से विकास करें। इन देशों मे बचत की दर अत्यन्त अल्प होती हैं। यदि बचत करनी है तो इसके लिए जीवन को और भी नीचे गिराना होगा जबकि वह पहले से ही नीचा है। इस प्रकार इन देशो के द्रुत गति से विकास के लिए विदेशी पूँजी परम आवश्यक है।

यदि 'घरेलू बचत' विकास की दर को सन्तोषजनक बनाए रखने के लिए पर्याप्त है तो भी भुगतान सन्तुलनों की घाटे की स्थिति को दूर करने के लिए विदेशी पूँजी काम मे आ सकती है। विकास की तीव्र गति सामान्यतः भुगतान सन्तुलन में घाटे की स्थिति ला देती है। यह इसलिए होता है कि क्योंकि विकास कार्यों को क्रियान्वित करने के लिए तकनीकी ज्ञान, पूंजीगत माल और आवश्यक कच्चे माल का पर्याप्त आयात करना होता है। इसके अलावा पहले जिन चीजों का निर्यात किया जाता था अब उन्हे नव-निर्मित घरेलू उद्योगों द्वारा उपभोग का विषय बनाया जा सकता है। मूल्य और कीमत के प्रभाव भी भुगतान सन्तुलन को घाटे की स्थिति मे लाने का उल्लेखनीय कार्य करते हैं।

शताब्दियो से अन्तर्राष्ट्रीय ऋण-दान प्रगतिशील देशो की विदेशी आर्थिक नीति का मूल तत्त्व रहा है। यही कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी के सिद्धान्त और व्यवहार के बारे मे पर्याप्त विचार किया जाता है। अर्द्ध-विकसित देशो के विकास मे विदेशी पूँजी के योगदान के सम्बन्ध मे अर्थ-शास्त्रियो के बीच विभिन्नता है। इस सम्बन्ध से दोनों प्रकार के मत प्रकट किए जाते हैं। कुछ लोग विदेशी निवेश के नियन्त्रित प्रतिबन्धित प्रसार पर जोर देते हैं जबकि दूसरे लोग इसे शुद्ध रूप से राष्ट्रवादी प्रश्न बना लेते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी के योगदान मे सम्बन्धित विभिन्न विचार न केवल राजनीतिक विभिन्नताओ का परिणाम है वरन् ये अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी के आवागमन के सिद्धान्तो मे निहित भ्रम को अभिव्यक्त करते हैं।

पूँजी के आयात का अर्थ भौतिक मुद्रा का एक देश से दूसरे देश में स्थानान्तरण नहीं होता और न ही इसका अर्थ हमेशा भौतिक पूँजी का मशीन या साधनों के रूप मे आयात होता है। पूंजी के आयात के दो रूप हो सकते हैं—(1) मौद्रिक स्थानान्तरण (Monetary Transfer) और (2) वास्तविक स्थानान्तरण (Real Transfer)। मौद्रिक स्थानान्तरण के अन्तर्गत ऋण लेने वाले देश को ऋण देने वाले देश में खरीददारी करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार ऋण देने वाला देश अपनी बचत की हुई पूँजी को ऋण लेने वाले देश मे व्यय करता है। यह निवेश केवल तभी हो सकता है जब ऋण लेने वाला देश उधार मे प्राप्त कोष को ऋण देने वाले देश मे माल, सेवाओं तथा सोने की खरीद के लिए खर्च करता है। पूंजी के आयात का दूसरा स्तर वास्तविक स्थानान्तरण है जो माल, सेवाओ और स्वर्ण का आयात है। पूंजी के आयात मे यह दूसरा स्तर कुछ समय के बाद ही आता है। कभी-कभी यह तुरन्त

भा सकता है किन्तु ऐसे भी उदाहरण हैं जबकि माल और सेवाओं का अन्तिम स्थानान्तरण ऋण के सम्बन्ध मे समझौता हो जाने के बहुत समय बाद होता है।

पूंजी के प्रायात और वस्तुओं तथा सेवाओं के प्रायात के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। इन दोनों के बीच स्पष्ट कारण-कार्य का सम्बन्ध स्थापित करना अत्यन्त कठिन है। पूंजीगत आयात वस्तुओं के आयात को प्रोत्साहन देते हैं इसका विपरीत असर भी सही है। अमल मे दोनो का सम्बन्ध पारस्परिकता का है।

अन्तर्राष्ट्रीय पूंजीगत आवागमनो के लिए आर्थिक साहित्य मे पर्याप्त अमूर्त विचारधाराएँ प्रतिपादित की गई हैं। एक महत्त्वपूर्ण तर्क यह दिया जाता है कि पूंजी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पूंजी की उत्पादिता के सीमान्त के निम्न-स्तर वाले देशो से उच्च स्तर वाले देशो की ओर गति करती है। ऐसी स्थिति मे सीमान्त उत्पादिता को विश्व भर म समान करने की प्रवृत्ति जाग्रत होती है। इसे एक स्वस्थ प्रवृत्ति माना जाता है क्योंकि इससे पूंजीगत साधनो क अधिकतम उपयोग को प्रोत्साहन मिलता है। वैसे सत्य तो यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी के आवागमन की गत्यात्मकता इतनी जटिल है कि वह इस सम्बन्ध मे किए गए किसी भी अमूर्त और सरल विश्लेषण के औचित्य को असत्य बना देती है। अन्तर्राष्ट्रीय पूंजीगत आवागमनो को विभिन्न देशो के ब्याज या लाभ की दर के अन्तर के रूप म ही परिभाषित नही करना चाहिए वरन् इन ऋणदाता और ऋण लेने वाले देशो मे पारस्परिक लाभो के रूप म भी परिभाषित करना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी के आवागमन का इतिहास
(History of International Capital Movements)

मि स्नाईडर के कथनानुसार "19वी और 20वी शताब्दी के प्रथम 15 वष गैर-सरकारी अन्तर्राष्ट्रीय व्यय से सम्बन्धित क्रियाओं के सुनहरी युग माने जा सकत हैं।' यह अनुमान लगाया जाता है कि 1914 तक प्रमुख व्यापारी देशो के दीर्घकालीन विदेशी व्यय का कुल योग 41 हजार मिलियन डॉलर था। व्यक्तिगत दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी का प्रवाह उस समय के बाद से 1914 के पूर्व की स्थिति तक आज भी नही पहुँचा है।

1914 से पूर्व प्रमुख व्ययकर्त्ता देशों म ग्रेट-ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी प्रमुख थे। ग्रेट-ब्रिटेन के व्यय की मात्रा कुल योग का 40 प्रतिशत थी। इस काल मे सयुक्तराज्य अमेरिका की स्थिति पर्याप्त आलोचनात्मक थी। वह विदेशो मे अपने दीर्घकालीन व्यय की दृष्टि से चौथे नम्बर पर आता है। 1913 म सयुक्तराज्य अमेरिका की विदेशी सम्पत्ति 6 8 मिलियन डॉलर थी और इसके परिणामस्वरूप वह शुद्ध रूप से एक कर्ज देने वाला नही वरन् कर्ज लेने वाला देश था।

बीसवी शताब्दी के मध्य मे अधिकांश पूंजीगत निर्यात जर्मनी और आस्ट्रेलिया जैसे विकसित देशो की ओर प्रेरित थे। इस काल मे आकर जर्मनी एक पूंजी निर्यातकर्त्ता देश बन गया। यह उम्मीद की जा सकती थी कि पश्चिमी यूरोप क विकसित देश उन देशो को कर्जा देंगे जिन्हें मुख्य रूप से इसकी आवश्यकता है किन्तु

उस समय के अनुभव ने इस मान्यता का समर्थन नही किया। पूंजी का आवागमन विकसित और अर्द्ध-विकसित देशो के बीच होने की अपेक्षा केवल विकसित देशों के बीच होने लगा। व्यापार करने वाले देश केवल सन्तुलन की स्थिति में ही व्यापार करते थे। यद्यपि उन्होने दूसरे देशो को सम्पत्ति का निर्यात किया किन्तु साथ ही दूसरे देशों से सम्पत्ति के आयात को भी आकर्षित किया। विदेशी पूंजी प्रायः उन देशो की ओर गई जिनकी आबादी कम थी और प्राकृतिक साधन बहुत थे। ये देश अपने व्यापारिक निर्यात को आसानी से बढा सकते थे। पूंजीगत आयातों से अन्य देश, विशेष रूप से सुदूर पूर्व और अफ्रीका के देश बहुत प्रभावित हुए। संयुक्तराज्य अमेरिका 1914 से पूर्व वर्षो से ऋण लेने वाला देश रहा किन्तु 1914 के पांच वर्ष बाद उसकी स्थिति उल्लेखनीय रूप से परिवर्तित हो गई।

फ्रांस और जर्मनी 19वी शताब्दी के अन्त तक महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय ऋणदाता नही बन पाए। इसके अतिरिक्त फ्रांस द्वारा दिए जाने वाले कर्ज राजनीतिक दृष्टि से बहुत प्रभावित होते थे। यही बात जर्मनी के विदेशी व्यय के सम्बन्ध में थी। इस सम्बन्ध मे अन्तर्राष्ट्रीय मामलो की एक अध्ययनकर्त्ता संस्था ने यह विचार प्रकट किया कि युद्ध से पूर्व के अन्तर्राष्ट्रीय व्यय की प्रकृति को एक वाक्य में संक्षिप्त किया जा सकता है। फ्रांस और जर्मनी द्वारा राजनीतिक एवं सैनिक उद्देश्यों से दिए जाने वाले ऋणों के अतिरिक्त व्यय का मुख्य भाग अविकसित देशों की ओर सचालित था जो प्राथमिक वस्तुओं का उत्पादन करते थे। इनमे प्रमुख कर्ज लेने वाले वे थे जो कि सर्वोच्च प्रतिदान दे सकें।[1]

प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान पूंजी का आवागमन
(Capital Movements during the First World-War)

प्रथम विश्व-युद्ध ने प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो को पूर्ण रूप से बदल दिया। युद्ध मे हुए खर्चे को पूरा करने के लिए प्रायः सभी प्रमुख कर्जदाता देश समुद्र पार के अपने व्यय के अधिकांश भाग को बेचने के लिए बाध्य हो गए। इस प्रकार स्नाइडर का यह कहना सही है कि प्रथम विश्व युद्ध अनेक देशो की अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी स्थिति मे उल्लेखनीय परिवर्तन लाया। इसने पूंजीगत आवागमन के इतिहास में एक नए युग को प्रारम्भ किया। युद्ध का तत्कालीन प्रभाव यह पड़ा कि संयुक्तराज्य अमेरिका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे एक कर्जदार की स्थिति से ऊपर उठकर कर्जदार बन गया। अधिकांश यूरोपीय देशों का विदेशी व्यय पर्याप्त घट गया। यहां तक कि जर्मनी आदि देशो में तो यह इतना घटा कि वे कर्ज ग्रहण करने वाले देश बन गए। फ्रांस के अनेक अन्तर्राष्ट्रीय व्यय कम हो गए तथा युद्ध के विध्वंश के कारण उनमे से अनेक मूल्यहीन बन गए; इनमे से अनेक बाद मे होने वाली क्रान्ति एवं सामाजिक परिवर्तनो द्वारा जब्त किए गए। अनुमान है कि इस काल मे फ्रांस को लगभग चार मिलियन डॉलर की हानि उठानी पड़ी।

1 Royal Institute of International Affairs, the Problems of the International Development, London : Oxford University Press, 1937, p. 120.

इस काल की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि अल्पकालीन पूंजीगत आवागमनो का सम्पूर्ण लेन-देन में उल्लेखनीय योगदान रहा। सन् 1920 में अन्य देशों को जो फ्रांसिसी सम्पत्ति निर्यात की गई थी वह अल्पकालीन प्रकृति की थी। ये अल्पकालीन आवागमन इतने महत्त्वपूर्ण थे कि अमेरिका और ग्रेट-ब्रिटेन जैसे प्रमुख पूंजी निर्यातकर्त्ता देशो ने भी अल्पकालीन लेखों पर भारी कर्जा लिया। कहा जाता है कि 1924 से 1927 तक अल्पकालीन पूंजीगत प्रवाह अमेरिका में एक बिलियन से भी थोड़ा ज्यादा था। ग्रेट-ब्रिटेन मे इसकी मात्रा और भी अधिक थी। यद्यपि पूंजी को अल्पकालीन आधार पर उधार मे लिया गया था किन्तु कुछ देशो ने इसे अपने दीर्घकालीन विकास में प्रयुक्त किया। इसके परिणामस्वरूप पर्याप्त अस्थिरता आ गयी।

जब एक बार महान् आर्थिक मन्दी ने वित्तीय बाजारो को प्रभावित किया तो उधार लेने वाले देशों मे व्यक्तिगत व्यय-कर्त्ताओं को सम्बन्धित देशों द्वारा घरेलू कठिनाइयो के कारण इस बात के लिए प्रभावित किया गया कि वे विदेशों से अपनी सम्पत्ति को वापिस ले लें। अल्पकालीन वायदो को समाप्त करने के लिए कहा गया। *इन सबके परिणामस्वरूप उधार लेने वाले देशों मे अनेक आर्थिक उलझने आ गई।* 1930 के दौरान दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय ऋण की मात्रा एवं प्रभाव बढा। प्रायः ससार का प्रत्येक देश इस प्रकार के ऋण से प्रभावित था, किन्तु कुछ देश तुलनात्मक रूप से अधिक प्रभावित थे। कनाडा, आस्ट्रेलिया, अर्जेन्टाइना आदि देश दीर्घकालीन कर्जदारी मे प्रमुख थे किन्तु चीन, भारत, जर्मनी और ब्राजील भी प्रमुख कर्जदार थे।

1930 के पूंजीगत आवागमन
(Capital Movements in the 1930)

1930 के दौरान स्थिति पहले की अपेक्षा असाधारण बन गई। इस काल *की आर्थिक मन्दी ने विश्व की अर्थ-व्यवस्था पर भयानक प्रभाव डाला। द्वितीय* विश्व-युद्ध से एक दशाब्दी पूर्व की इस विश्व व्यापक आर्थिक मन्दी ने आर्थिक सम्बन्धो को पर्याप्त असन्तुलित बना दिया और आने वाले युद्ध के लिए आधार भूमि तैयार की। 1930 मे दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी के आवागमन अपनी अन्तिम सीमा तक पहुंच गए। आगे के कुछ वर्षों मे बेरोजगारी बढ़ी, अवमूल्यन हुआ और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आकार घटा। इसके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक यन्त्र का विघटन हुआ, व्यापार और विनिमय का नियन्त्रण किया जाने लगा, प्रशुल्क एवं अन्य विभिन्न बाधाएं सामने आने लगी और इन सबके परिणामस्वरूप राजनीतिक अस्थिरता बढी। इन सभी विकासो के कारण नवीन दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यय प्राय रुक गए।

आर्थिक मन्दी के काल मे विभिन्न कर्जदाता देश भी कर्जदार बन गए। उदाहरण के लिए सयुक्तराज्य अमेरिका ने 1934–1944 के बीच लगभग 6 बिलियन डॉलर का कर्ज लिया, जबकि इस काल मे ग्रेट-ब्रिटेन ने $1\frac{1}{2}$ बिलियन डॉलर का कर्ज लिया। स्विट्जरलैण्ड ने पूंजी का न तो आयात किया और न ही निर्यात।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी का आवागमन प्रथम विश्व-युद्ध द्वारा स्थापित राजनीतिक अस्थायित्व के पूर्व किस प्रकार होता था। उसके पश्चात् 1920 की असुरक्षाओं में, अन्य महायुद्ध के समय में और 1940 की अस्थायित्वपूर्ण परिस्थितियों से पूँजी का आवागमन किस प्रकार हुआ ? प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व करोड़ों डॉलर के पूँजी के निर्यात उस समय की पर्याप्त संख्या का प्रतिनिधित्व करते हैं। यद्यपि ये निर्यात प्राथमिक अर्थ-व्यवस्थाओं (Primary Economies) की ओर संचालित नहीं थे, जिन्हें विदेशी पूँजी की सबसे अधिक आवश्यकता थी, वरन् इन्होंने पर्याप्त स्रोतों वाले और अपेक्षाकृत सुरक्षित एवं स्थायी राजनीतिक दृष्टिकोण वाले देशों को अपना विकास शीघ्र करने के लिए प्रोत्साहित किया। इससे अन्य देशों को भी विकास का अवसर मिला।

प्रथम विश्व-युद्ध के बाद जो अस्थायित्व आया और आर्थिक मन्दी के साथ कर्ज लेने और देने वाले के बीच जो सम्बन्ध स्थापित हुए उनके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि इसका कारण पूँजी का आवागमन ही था। जो देश पूँजी की सख्त आवश्यकता महसूस कर रहे थे उनको यह अनुभव हुआ कि इसे प्रदान करने वाला कोई नहीं है। जो देश पहले दूसरे देशों को कर्ज देने की क्षमता रखते थे वे अब विदेशी कर्ज प्राप्त करने में अनिच्छा प्रदर्शित करने लगे। पूँजीगत आवागमनों ने इन वर्षों में प्रत्यक्ष रूप से आर्थिक विकास के क्षेत्र में बहुत कम योगदान किया।

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद बाध्यकारी दिवानिएपन की स्थिति आई। इस काल में जो कर्ज दिए गए उनका आधार अर्द्ध शताब्दी पूर्व दिए गए कर्जों से भिन्न था। गैर-सरकारी कर्जों का कोई महत्त्व नहीं रहा। इस प्रकार वर्तमान काल में पूँजी के आवागमन की दिशा को स्थापित करने में राजनीतिक विचार-विमर्श भी पर्याप्त प्रभाव डालने लगे। पिछला इतिहास यह सिद्ध करता है कि विभिन्न क्षेत्रों का आर्थिक विकास, पूँजी के आवागमन की मात्रा, दिशा एवं प्रकृति पर निर्भर करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी की गतिशीलता के कारण
(Reasons of International Capital Movement)

पूँजी की गतिशीलता का क्या कारण है और एक देश से दूसरे देश में पूँजी का आयात और निर्यात क्यों होता है ? यह प्रश्न पर्याप्त महत्त्व रखता है। इस प्रश्न का जवाब देने के बाद ही हम पूँजी के आवागमनों की वास्तविक प्रवृत्तियों के बारे में कुछ निर्णय ले सकते हैं और तभी हम इस बात का मूल्यांकन कर पाएँगे कि सर्वाधिक वांछनीय किसे माना जाए।

माल और सेवाओं का व्यापार इसलिए होता है क्योंकि इससे खरीददार को आयात करने में लाभ रहता है। जब एक देश को दूसरे देश में स्थिति पूर्ति के स्रोत से सस्ता माल प्राप्त हो सकता है, तो वह उसी विदेशी माल की माँग करेगा और इस प्रकार व्यापार का जन्म हो जाएगा। एक समय था जब पूँजी का आवागमन इसलिए होता था क्योंकि खरीददार विदेशी प्रतिभूतियों को प्राप्त करने के सम्बन्ध में स्वयं ही एक विधेयात्मक और सक्रिय निर्णय लेता था। ऐसी स्थिति में वह अपने स्वार्थों को देखने के बाद स्वतन्त्रतापूर्वक कोई निर्णय लेता था।

पूंजी के आवागमन सरकारी और गैर-सरकारी दोनों प्रकार के होते हैं और इनके लिए उत्तरदायी कारण भी प्राय अलग अलग होते हैं। अत इनका अलग-अलग अध्ययन किया जाए तो अधिक उपयुक्त रहेगा।

पूंजी के गैर-सरकारी आवागमन के कारण (The Reasons of Private International Capital Movement)

पूंजी के आवागमन मे जिन प्रतिभूतियो का नाम लिया जाता है, उनका एक व्यापक अर्थ है, इनमे न केवल बॉण्ड्स एव स्टॉक ही आते हैं वरन् अल्पकालीन नोट, जमा लेखे और विदेशो मे स्थित वास्तविक सम्पत्ति आदि भी आती है। जिस प्रकार विदेश म स्थित सम्पत्ति की खरीददारी को पूंजी का निर्यात माना जाता है, उसी प्रकार देश मे स्थित विदेशी पूंजी की खरीददारी को भी पूंजी का निर्यात माना जाएगा। यदि एक व्यक्ति लन्दन मे स्थित अमेरिकी रेलवे कम्पनी के बॉण्ड्स खरीदता है तो यह सम्पत्ति उसके स्वय के देश मे स्थित रहते हुए भी पूंजी का निर्यात कही जाएगी। आयात के प्रसग मे यहाँ यह बात मुख्य है कि खरीददारी दूसरे देश के निवासियो से की जा रही है। दूसरी ओर विदेशो मे स्थित स्वदेशवासियो से यदि किसी सम्पत्ति को खरीदा जाता है तो इसे पूंजी का निर्यात नही कहा जाएगा। यहाँ विदेशी प्रतिभूति से हमारा अर्थ ऐसी प्रतिभूति से है जो अपने पूर्व-स्वामित्व के कारण विदेशी होती है। केवल विदेशो मे स्थित होने के कारण ही हम इसको विदेशी नही कह सकते।

विदेशी प्रतिभूतियो को कुछ उद्देश्यों की पूर्ति के लिए खरीदा जाता है। जब हम इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि एक अमेरिकन व्यवकर्त्ता किसी कनाडावासी या अंग्रेज या एशिया निवासी से प्रतिभूतियाँ क्यो खरीदना है तो हम पाएँगे कि यह निर्णय उसने कीमतो के आकर्षक होने के कारण लिया है। पूंजी का बहुत कुछ आयात-निर्यात कीमतो के बीच पाए जाने वाले अन्तर के कारण होता है।

पूंजी के आवागमन से सम्बन्धित व्यापक सहमति के लिए हम एक उदाहरण पर विचार कर सकते हैं। इसमे सबसे पहले हम एक पूर्णत सुरक्षित बॉण्ड पर विचार करें। इस प्रकार का बॉण्ड प्रत्येक वर्ष एक निश्चित धन के भुगतान का वायदा करता है। मान लीजिए यह 500 रुपये हैं, इसके परिपक्व होने पर वह मूलधन का भुगतान करेगा। मान लीजिए वह दस हजार रुपए हैं। वर्तमान समय मे दी गई ब्याज की मात्रा को कितना महत्त्व दिया जाएगा यह इस बात पर निर्भर करता है कि ब्याज की दर क्या है ? यदि ब्याज की दर नीची है तो भविष्य मे चुकाए जाने वाले धन की मात्रा पर्याप्त मूल्यवान बन जाएगी और यदि ब्याज की दर ऊँची है तो उसको कम महत्त्व दिया जाएगा। ब्याज की दर जितनी ऊँची होगी प्रतिभूति का मूल्य उतना ही नीचा होगा और दर जितनी नीची होगी उसकी कीमत उतनी ही ऊँची होगी।

पूंजी के आयात निर्यात का न होना ब्याज की एक जैसी दर का आवश्यक

परिणाम नही है। एक देश मे ब्याज की दरें बहुत कुछ उन नीतियों पर आधारित रहती हैं जो उस देश के बैंको तथा मौद्रिक सस्थाओं द्वारा अपनाई गई हैं। इन नीतियो को राष्ट्रीय स्तर पर निर्धारित किया जाता है। इनको कोई अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता निर्धारित नही करती, यह हो सकता है कि एक समय मे एक देश धन से सम्बन्धित सरल नीति अपनाएँ। ऐसी स्थिति मे उस देश मे ब्याज की दर कम होगी। दूसरा देश उसी समय प्रतिरोध की नीति अपना सकता है और इसलिए वहाँ ब्याज की दरें अधिक होगी।

यदि एक स्थिति मे दो देशो के समस्त व्ययकर्त्ताओ को एक जैसा जोखिम उठाना पडता है तो ब्याज की दर मे किसी प्रकार का अन्तर भी अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी के आवागमन का कारण बन जाएगा। ब्याज की उच्च-दर वाला देश, दूसरे देश से पूँजी का आयात करेगा और उस समय तक करता रहेगा जब तक कि परिस्थितियाँ न बदल जाएँ। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि पूँजी को उस देश मे आकर्षित किया जाएगा जहाँ वह उच्च ब्याज की दर कमा सकें।

कुछ लेखको का कहना है कि उपर्युक्त स्थिति पर्याप्त अवास्तविक है। यदि पूँजी के प्रवाह को बिना प्रतिबन्ध लगाए रखा गया तो दो देशो मे ब्याज की दर एक जैसी बन जाएगी क्योकि पूँजी के निर्यातकर्त्ता देश के बैंको का सुरक्षित भण्डार धीरे-धीरे कम होता चला जाएगा और इसलिए वे भी कुछ समय बाद दर बढ़ाने के लिए बाध्य होगे। दूसरी ओर पूँजी के आयात करने वाले देश के बैंको का सुरक्षित भण्डार बढ जाएगा, इसके फलस्वरूप वह देश ब्याज की दर बढाने के लिए चाहे बाध्य न हो किन्तु फिर भी इस दृष्टि से सोच सकता है।

जोखिम—जिन बॉण्ड्स को प्रत्येक देश द्वारा पूर्ण रूप से सुरक्षित माना जाता है, उनके सम्बन्ध मे भी दृष्टिकोण का अन्तर रह सकता है। व्ययकर्त्ता के जोखिम का सम्बन्ध न केवल प्राप्त किए जाने वाले ब्याज से रहता है वरन् इससे भी रहता है कि यदि भविष्य मे कभी वह अपने बॉण्ड को बेचना चाहे तो उसको क्या कीमत मिल सकेगी ? यह हो सकता है कि सयुक्तराज्य अमेरिका की सरकार द्वारा प्रसारित बॉण्ड के प्राप्तकर्त्ता ब्याज के भुगतान और मूलधन के पुनर्भुगतान मे पूर्ण रूप से सुरक्षा का अनुभव करें किन्तु वे उस बॉण्ड के परिपक्व होने से पहले किस कीमत पर बेच सकते हैं। इस सम्बन्ध मे अलग-अलग मत हो सकते है। कुछ व्ययकर्त्ता यह सोच सकते हैं कि भविष्य मे बाजार अपरिवर्तित रहेगा और कल भी यही भाव रहेगा जो आज है। इस प्रकार भविष्य मे कीमतो की वृद्धि का अनुमान लगाया जा सकता है अतः व्ययकर्त्ताओं का दृष्टिकोण एक रूप नहीं होता। उनके मध्य स्थित विभिन्नता के कारण पूंजी के आवागमन मे अन्तर आ जाता है।

कीमतें—जब पूँजी का आवागमन कीमतो के अन्तर के कारण होता है तो ऊँची कीमतें एक विक्रेता को प्रतिभूति छोडने के लिए प्रेरित करती हैं। पूंजी के आवागमन को जारी रखने के लिए विक्रेता देश की दृष्टि से कीमतें निरन्तर बढती रनी चाहिए। दूसरी ओर खरीददार देश की दृष्टि से कीमतो को कम से कम होना

चाहिए। इस प्रकार विक्रेता देश मे कीमतो के बढने और खरीददार देश मे कीमतो के घटने की प्रवृत्ति रहती है तभी उनके बीच पूंजी का आवागमन हो पाता है। जब कीमतें एक दूसरे के अत्यन्त निकट आ जाती हैं और सस्ता खरीदने और महंगा बेचने से प्राप्त होने वाले लाभ के अवसर कम हो जाते हैं तो पूंजी का आवागमन रुक जाता है।

दृष्टिकोण का परिवर्तन—उक्त विचार-विमर्श के बाद हम इस महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि हम ऐसी समतुल्य स्थिति से प्रारम्भ करें जिसम कि पूंजी का कोई आवागमन नही रहा है तो मौद्रिक नीति मे अथवा व्ययकर्त्ताओ के दृष्टिकोण मे किसी प्रकार का भी परिवर्तन होने से पूंजी का आवागमन प्रारम्भ हो जाएगा। यदि एक देश के व्ययकर्त्ता अधिक आशावादी दृष्टिकोण अपना लें और विदेशो से प्रतिभूतियां खरीदने पर उनके ऊपर कोई प्रतिबन्ध न हो तो वे पूंजी के आवागमन को सम्भव बना देंगे। पूंजी का निर्यात केवल उन्ही देशो को किया जाता है जिनके व्ययकर्त्ता अधिक आशावादी होते हैं। दूसरे देशो से पूंजी का केवल आयात किया जाता है, पूंजी का आवागमन इसलिए भी प्रारम्भ होता है क्योकि बैंक व्यवस्था की नीति के परिणामस्वरूप एक देश मे ब्याज की दर कम हो जाती है और दूसरे मे वे ज्यो की त्यो बनी रहती हैं। इस प्रकार व पूंजीगत आवागमन से उस देश से पूंजी का निर्यात किया जाएगा तथा उस देश मे प्रतिभूतियो का आयात किया जाएगा जिसमें ब्याज की दरें कम हैं।

भविष्यवाणियां—कीमतो क परिवर्तनो के सम्बन्ध म भविष्यवाणियां पर्याप्त महत्त्वपूर्ण होती हैं। सट्टेबाज इस दृष्टि से पर्याप्त महत्त्व रखत हैं। वे आज इस आशा से व्यापार करते या खरीददारी करते हैं कि कल वे ऊंची कीमतो मे बिक्री कर सकेंगे। इस प्रकार के व्ययकर्त्ताओ को उनसे भिन्न माना जाएगा जो प्रतिभूतियो की प्राप्ति केवल आकर्षक ब्याज अथवा लाभांश के कारण करना चाहते हैं। वैसे अनेक व्ययकर्त्ता सट्टेबाजो की मनोभावना से प्रभावित रहते हैं।

प्रतिभूतियो के प्रकार—अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे जिन प्रतिभूतियो का व्यापार किया जाता है उनका प्रकार भी पर्याप्त महत्त्व रखता है। इस दृष्टि से बॉण्ड्स का नाम उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त स्टॉक, प्रमाण-पत्र आदि भी महत्त्वपूर्ण योगदान करते हैं। यदि एक व्यापारी किसी स्टॉक के एक सौ अंश खरीदता है ता वह अपनी खरीददारी ब्याज की आशा से नही करता क्योंकि वह अपना धन उधार नही दे रहा है वरन् वह एक फर्म के स्वामित्व को खरीद रहा है। उसको मिलने वाला प्रतिदान ब्याज के रूप मे नहीं बरन् लाभांश के रूप मे होगा। यहाँ मूलधन के लौटने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार की प्रतिभूतियो से होने वाली आय, बॉण्ड्स से प्राप्त होने वाली आय से सुरक्षित होती है क्योंकि लाभांश की दर के सम्बन्ध मे कोई गारण्टी नही दी जाती वरन् वह कुछ प्रतिबन्धो के साथ निर्देशको के निर्णय पर निर्धारित होती हैं।

प्रतिभूतियो के बीच स्थित पर्याप्त अन्तर भी पूंजी के आवागमन का कारण

बनता है। एक देश मे प्रसारित प्रतिभूतियाँ दूसरे देश में प्रसारित प्रतिभूतियों से भिन्न हो सकती हैं। हो सकता है कि संयुक्तराज्य अमेरिका मे प्रसारित प्रतिभूतियों तथा किसी भी अर्द्ध-विकसित देश की प्रतिभूतियों के बीच महान् अन्तर हो। यह अन्तर प्रतिभूतियो की स्वीकृति मे पर्याप्त महत्त्वपूर्ण बन जाता है। उनकी दर चाहे कुछ भी हो किन्तु इस अन्तर के कारण कई बार प्रतिभूतियां स्वीकृत या अस्वीकृत बन जाती हैं। अमेरिका के व्ययकर्त्ता इस प्रकार की विदेशी प्रतिभूतियों को प्राप्त करने मे प्रायः रुचि नही लेते।

पूंजी के आवागमन की दृष्टि से यह प्रश्न पर्याप्त महत्त्व रखता है कि व्ययकर्त्ता की भावनाओं मे परिवर्तन कैसे आ सकता है ? विभिन्न विकास व्ययकर्त्ता की आकांक्षाओं को परिवर्तित कर देते हैं। इनको दो शीर्षकों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जा सकता है। प्रथम भाग के अन्तर्गत उन परिवर्तनों को लिया जा सकता है जो विदेशी व्यय से होने वाली कुछ प्राप्तियो से होते हैं और दूसरे भाग मे वे परिवर्तन आते हैं जो देश मे वैकल्पिक व्यय के फलस्वरूप होने वाली प्राप्तियो से होते हैं।

पूंजी के आवागमन को प्रभावित करने वाले अनेक कारणों में से कुछ प्रमुख निम्न प्रकार हैं—

1. **राजनीतिक विकास (Political Development)**—राजनीतिक विकासों का महत्त्वपूर्ण प्रभाव होता है। यदि एक देश मे राजनीतिक स्थायित्व को चुनौती प्राप्त होती है तो दूसरे देश के व्ययकर्त्ता को उस देश की प्रतिभूतियो के सम्बन्ध मे निराशापूर्ण दृष्टिकोण अपनाना होगा। उदाहरण के लिए, उसे यह भी डर हो सकता है कि उसकी प्रतिभूतियो को जब्त कर लिया जाएगा। सम्भवतः यह सबसे बड़ी बाधा है जिसके कारण वर्तमान समय मे कुछ अर्द्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं मे पूंजी का भारी निर्यात नही किया जाता। इन देशों मे पूंजी के आयात का स्तर बहुत नीचा होता है। इसके परिणामस्वरूप राजनीतिक अस्थिरता के खतरे और भी अधिक गम्भीर बन जाते हैं। इस प्रकार के आयातो के बिना देश का आर्थिक विकास अत्यन्त धीमा हो जाता है। इससे भारी असन्तोष पैदा होता है और सम्भावित व्ययकर्त्ता के लिए कम आकर्षक वातावरण तैयार होता है। इस प्रकार के विकास के कारणों को रोकने के लिए जब तक कुछ नही किया जाता स्थिति निरन्तर बदतर होती जाती है।

2. **मत परिवर्तन (Shifts in Opinion)**—इस दृष्टि से एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात विदेशी बाजारो से सम्बन्धित मतो के परिवर्तन से सम्बन्ध रखती है। उदाहरण के लिए, जब एक देश के लोगों मे यह भावना बढ़ती है कि दूसरे देश की मुद्रा के दाम गिर रहे हैं तो उस देश के व्ययकर्त्ता अपने व्यय मे कमी कर देते हैं; दूसरे देश के विनिमय की बदतर स्थिति भी एक देश के मूल्यों को गिरा देती हैं और इस प्रकार उनके बीच पूंजी का आवागमन रुक जाता है। इस स्थिति में यह भय बढ़ जाता है कि व्ययकर्त्ता को अपने धन का उचित प्रतिदान नहीं मिल पाएगा

और उसका व्यय निष्फल रहेगा। यदि इस प्रकार का डर व्यापक बन जाए तो इसके परिणामस्वरूप एक देश दूसरे देशो को अपनी सम्पत्ति का निर्यात नही करेगा। दूसरे देशो मे भी जब इस प्रकार का भय उत्पन्न हो जाएगा तो वे पूंजी का आयात नहीं करेंगे।

3 साधन स्रोतो की खोज (The Discovery of Resources)—जब अन्य देशो मे साधनो की खोज की जाती है तो भी एक देश के व्ययकर्त्ताओं को पर्याप्त लाभ प्राप्त होता है। विदेशो मे व्यय करने से लाभ की सम्भावनाएँ प्राय उस समय बढ जाती हैं जब दूसरे देशो के साधनो की खोज से लाभ उठाने की नीति को जाना जा सके। उदाहरण के लिए जब पश्चिमी कनाडा मे सबसे पहले पैट्रोल के सुरक्षित भण्डारो का पता लगाया गया तो अमेरिकी व्ययकर्त्ताओ को पर्याप्त आशा बधी और उन्होने कनाडा की प्रतिभूतियाँ खरीदने मे रुचि प्रदर्शित की।

4 विश्व मांग मे परिवर्तन (Changes in World Demand)—जब विश्व की मांग मे परिवर्तन होते हैं और इनके स्थायी रहने की आशा रहती है तो इनसे विभिन्न देशो पर पडने वाले प्रभावो का कुछ अनुमान लगाना सम्भव होता है तो उससे पूंजी का आवागमन भी प्रभावित हो सकता है क्योकि इससे उत्पादन की आकांक्षाओ की प्रवृत्तियां प्रभावित होती है। जब एक लम्बे समय तक सैनिक उत्पादन की मांग पर्याप्त उच्च बनी रहती है तो तांबा, यूरेनियम, टिन आदि साधनो स सम्पन्न देशों की कुछ फर्मो को अधिक लाभ प्राप्त होता है और तब इन उद्यमो मे धन लगाना बुद्धिपूर्ण समझा जाएगा।

5. भण्डार के बाजार (The Stock Market)—एक देश के भण्डार मे होने वाले विकास भी दूसरे देशो के व्ययकर्त्ताओ के दृष्टिकोण को प्रभावित करते हैं। बाजार चाहे गिरे अथवा उठे, प्रवृत्ति हमेशा यह रहती है कि परिवर्तन का सह्यागन होना चाहिए। उदाहरण के लिए, यदि लन्दन मे बाजार उठ रहा है तो अमेरिकी व्यापारी यह सोच सकता है कि वहाँ अधिक से अधिक प्रतिभूतियाँ खरीदी जाएं। जब एक बार शीर्ष के स्तर को प्रभावित कर दिया जाए तो अन्य दिशाओ मे भी यह प्रवृत्ति बढती है।

6 कर नीतियों मे परिवर्तन (Changes in Tax Policies)—जब कर नीतियों मे परिवर्तन किया जाता है और इस परिवर्तन द्वारा भेदभाव की नीति को अपनाया जाता है तो इसमे विदेशी व्ययकर्त्ता का मार्ग या तो अवरुद्ध हो जाता है या सुगम बन जाता है। ऐसी स्थिति मे पूंजी का आवागमन पर्याप्त बदल जाता है। यदि एक देश व्यापार के समस्त लाभो पर एक सी दर से कर लगाता है तो वह उन नियमो के लाभो पर भी कर लगाएगा जो कि विदेशियो द्वारा नियन्त्रित है। वह उन लाभांशो पर भी कर लगा देगा जो गैर निवासियो को मिलने वाले हैं। ऐसा करने से विदेशी व्ययकर्त्ताओ की आशाओ पर पानी फिर जाएगा और वे उस देश म अपने व्यय से होने वाले लाभो के सम्बन्ध मे पुन विचार करेंगे।

7 घरेलू स्थिति (Domestic Situation)—जब घरेलू स्थिति कम

अनुकूल रह जाती है तो इसके परिणामस्वरूप देश मे प्रतिभूतियों की खरीददारी के सम्बन्ध में निराशावादी दृष्टिकोण का प्रभाव हो जाता है। इस दृष्टिकोण से प्रभावित होकर विदेशी व्ययकर्त्ता भी प्रतिभूतियाँ नही खरीदते। जब घरेलू निगमों पर कर की दर की वृद्धि दूसरे देशों की बढ़ी हुई दरो से काफी आगे हो तो इसके परिणामस्वरूप पूंजी का निर्यात होगा क्योंकि जब इस देश मे करों की मात्रा अधिक है तो विदेशी निगम के भण्डार अधिक आकर्षक बन जाएँगे।

8. कुछ अन्य कारण (Some Other Reasons)—पूँजी के आवागमन को कुछ अन्य कारणों द्वारा भी प्रोत्साहन दिया जाता है। वस्तुओं और सेवाओं के व्यापार के साथ पूँजीगत आवागमन स्वतः होने लगता है। जब एक देश मे कोई *आयात करता है तो उसे कुछ न कुछ निर्यात करने का भी प्रबन्ध करना होगा।* यदि ऐसा नही किया गया तो उसे खरीदी गई चीजों के दाम देने पड़ेंगे। सम्भवतः यह भी हो सकता है कि वह निर्यातकर्त्ता से साख प्राप्त करले अथवा अपने बैंक से ही आवश्यक विदेशी विनिमय या सोना प्राप्त करले। प्रत्येक स्थिति मे पूंजी का आयात करना पड़ेगा। जब एक देश अपने निर्यात को बढाएगा तो उसका आयात भी स्वाभाविक रूप से बढ़ जाएगा। व्यापार से सम्बन्धित आयात बढने पर पूँजी का आवागमन जन्म लेता है और उसे कोई भी प्रतिबन्ध नही रोक सकता।

जिस प्रकार माल और सेवाओ के व्यापार मे सन्तुलन स्थापित करने के लिए पूंजी के आवागमन की आवश्यकता होती है उसी प्रकार दूसरे देशो से प्रतिभूतियों की खरीददारी एव बिक्री भी आवश्यक बन जाती है। जब एक देश के व्ययकर्त्ता दूसरे देश की प्रतिभूतियाँ खरीदने की ओर प्रेरित होते हैं तो ऐसा करने के लिए या तो उनको अपने देश के विदेशी विनिमय भण्डार कम करने होते हैं अथवा अपने देश की मुद्रा दूसरे देश के निवासियों के हाथ मे देनी होती है। दूसरे शब्दों मे यह कहा जा सकता है कि ये खरीददार या तो इन प्रतिभूतियों के लिए भुगतान करेंगे अथवा नही करेंगे। यदि वे भुगतान करते हैं तो किसी न किसी प्रकार पूँजी का आवागमन होकर रहेगा और यदि वे भुगतान को भविष्य के लिए छोड़ देते हैं तो भी पूँजी का आवागमन होता है, यद्यपि यह आवागमन भिन्न प्रकार का होता है। एक देश माल, सेवाओं एवं प्रतिभूतियों का निर्यात करते समय भी पूंजी के आवागमन को प्रोत्साहन देता है।

उक्त प्रकार के पूँजी के आवागमन एक प्रकार से सन्तुलन स्थापित करने के लिए होते हैं। यदि एक देश के आयात उसके कुल निर्यात से आगे बढ जाते हैं तो उनके बीच सन्तुलन स्थापित करने के लिए पूँजी का आयात किया जाता है। यदि सम्बन्धित देश पूँजी के आयात की अनुमति न दे तो विदेशों से खरीद करने के इच्छुक आयातकर्त्ताओं को यह महसूस होगा कि वे भुगतान करने मे असमर्थ हैं। ऐसी स्थिति मे आयातों के अतिरेक को उनकी पूंजी के आयात द्वारा सन्तुलित करना चाहिए।

कभी-कभी सुविधा की दृष्टि से भी सन्तुलन करने वाले पूँजी के आवागमनों का रूप निर्धारित किया जाता है। उदाहरण के लिए एक देश के निर्यातकर्त्ता यह

मान सकते हैं कि उनको विदेशी उपभोक्ताओं की आज्ञाएँ उस समय तक प्राप्त नहीं होंगी जब तक कि वे अपनी साख को यथार्थ मे प्रसारित न करें। इस प्रकार आयातकर्त्ता देश के लिए यह आवश्यक बन जाता है कि वह अपने विदेशी विनिमय और सोने के सुरक्षित भण्डारों को काम मे लाए। यदि इसे निर्यातकर्त्ताओं की दृष्टि से देखा जाए तो ज्ञात होगा कि वे इस साख को आयातकर्त्ताओं तक प्रसारित करने का प्रबन्ध करते है। उनके द्वारा जब पर्याप्त बाजारों को ढूंढने के लिए भी कठिनाई का अनुभव किया जाएगा तो वे भुगतान की तारीख को बदल देंगे। आयातकर्त्ता को खरीददारी करने के लिए सुविधाजनक साख की शर्तों का प्रबन्ध करना पडता है और इस प्रकार निर्यातकर्त्ता अथवा बैंक द्वारा अल्पकालीन पूंजी के आवागमन को प्रारम्भ किया जाता है। दूसरी ओर आयातकर्त्ता भी समय-समय पर निर्यातकर्त्ता को साख की सुविधाएँ प्रदान करता है। निर्यातकर्त्ता भी अपने उत्पादन की लागत को पूरा करने के लिए धन उधार ले सकता है। यदि लागतकर्त्ता वस्तु के प्राप्त होने से पहले ही भुगतान कर देता है तो इसे भी पूंजीगत आवागमन समझा जाएगा।

पूंजीगत आवागमन कभी-कभी स्वेच्छापूर्ण होते हैं जबकि दूसरे समय मे वे इतने स्वेच्छापूर्ण नही होते। एक देश के व्यापारी समय समय पर यह अनुभव कर सकते हैं कि जिस देश मे उन्होने व्यय किया है वहाँ से वे उस धन को वापिस न ले पाएंगे और न ही वे अपनी प्रतिभूतियो के ब्याज का भुगतान प्राप्त कर पाएंगे। इस प्रकार की स्थिति 1933 के बाद जर्मनी मे पैदा हुई थी। उस समय जिन अमेरिकियों के पास जर्मनी की प्रतिभूतियाँ थी, उनको यद्यपि जर्मनी की मुद्रा (Mark) मे ब्याज लगातार मिल रहा था किन्तु फिर भी वे इस मुद्रा को अमेरिकी डॉलर म परिवर्तित करने के लिए स्वतन्त्र नही थे। ऐसी स्थिति मे इन अमेरिकी व्यापारियो को जितना ब्याज प्रतिवर्ष प्राप्त होना था उतना ही वे जर्मनी को कर्ज मे दे देते थे। इस प्रकार ये कर्ज इच्छापूर्ण नही वरन् बाध्यकारी थे। यद्यपि ये व्यापारी चाहते थे कि प्राप्त की गई जर्मन मुद्रा को डॉलर मे बदल दें किन्तु वे ऐसा करने मे असफल थ।

कभी-कभी व्यापारिक विचार-विमर्श की अपेक्षा दबावों के कारण भी पूँजी का आवागमन सम्भव बनता है। एक कर्ज लेने वाला देश अपने कर्ज का एक भाग किसी निश्चित तारीख को चुकाने के लिए सहमत होता है और जब समय आता है तो वह उनका निर्यात करने के लिए बाध्य होता है किन्तु इस प्रकार का निर्यात आय प्राप्ति की आशाओं से या पूँजी प्राप्त करने अथवा व्यापार को प्रोत्साहित करने के लिए नही किया जाता वरन् उसकी मजबूरी होती है।

ऊपर पूंजी के जिन आवागमनों का वर्णन किया गया है उनकी प्रकृति गैर-सरकारी है किन्तु आधुनिक समय मे अनेक पूंजीगत आयात-निर्यात सरकार द्वारा सचालित किए जाते हैं।

पूँजी की सरकारी अन्तर्राष्ट्रीय गति के कारण (The Reasons of the Official International Capital Movement)

सरकार द्वारा जिस पूंजीगत आवागमन की पहल की जाती है वह 1945 के

बाद के व्यक्तिगत पूंजीगत आवागमन की अपेक्षा बड़े आकार का है यद्यपि व्यक्तिगत लेन-देन को प्रभावित करने वाली शक्तियों का विस्तार के साथ वर्णन किया जा सकता है किन्तु सरकार द्वारा प्रेरित तथ्यो के बारे मे अधिक कुछ कहना अत्यन्त कठिन है।

सरकारी नीति के निर्धारण की कठिनाइयाँ—सरकार की नीतियों का स्पष्ट रूप से उल्लेख करना सरल नही है। जिस प्रकार हम व्यक्तिगत व्ययकर्त्ता के बारे मे कहते हैं कि वह आर्थिक प्राप्ति चाहता है, सरकार के उद्देश्यों को इतनी निश्चितता के साथ हम नही कह सकते, यद्यपि उनका महत्त्व भी कुछ कम नही होता, लाभ और हानि की मान्यताएँ बहुत कुछ निश्चित होती हैं और इनको आसानी से समझा जाता है किन्तु सामान्य कल्याण जो कि सरकारी व्यय का एक उद्देश्य बताया जाता है, उतना निश्चित नही होता। सामान्य कल्याण के अन्तर्गत जो विभिन्न बातें आती है उनको पृथक् से न तो जाना जा सकता है और न ही उनकी व्याख्या की जा सकती है। इसके अन्तर्गत हम जनसख्या के आर्थिक कल्याण, आक्रमण से सुरक्षा और राजनीतिक स्थायित्व आदि बातों को ले सकते हैं किन्तु इनमे से प्रत्येक उद्देश्य अपने आप मे जटिल है। जनता के आर्थिक कल्याण मे हम सभी के लिए उच्च आमदनी, आय की दर मे उपयुक्त वृद्धि, आय का न्यायपूर्ण वितरण और बेचे गए माल का उपयुक्त प्रकार आदि बातो को सम्मिलित कर सकते है। ये सभी उद्देश्य अपेक्षाकृत सामान्य हैं और इनको संक्षिप्त रूप से इंगित नही किया जा सकता। इस प्रकार सरकार की क्रियाओ के सम्बन्ध मे ये विभिन्न स्पष्टीकरण अधिक सार्थक प्रतीत नही होते। सरकार द्वारा जिस पूंजी के आवागमन को प्रोत्साहित किया जाता है, उसके पीछे कई कारण होते है और इनको समझने के बाद सम्भवतः विषय अधिक स्पष्ट हो जाएगा।

सरकारी ऋण के कारण (Causes of Public-debts)—सरकार के द्वारा जब दूसरे देशो को ऋण प्रदान किए जाते हैं तो इसके लिए अनेक कारण उत्तरदायी होते हैं। उदाहरण के लिए, उस सरकार को यह डर रह सकता है कि यदि ऋण न दिया गया तो दूसरा देश उसके उत्पादन को नही खरीद पाएगा। एक देश की सरकार अपने देश के उत्पादन का आयात करने के लिए दूसरे देशो को प्रोत्साहित करती है। आर्थिक मन्दी के समय सरकार द्वारा बाजार के आकार को बढाने मे विशेष रुचि प्रदर्शित की जाती है क्योंकि इससे देश के उत्पादन, आय, लाभ और रोजगार मे वृद्धि होती है। यह तर्क न केवल आर्थिक मन्दी के समय वरन् साधारण समय मे भी महत्त्व रखता है, यद्यपि सम्पन्नता की स्थिति मे बाजारों की रचना इतनी अधिक तात्कालिक नही होती, किन्तु फिर भी आने वाले भविष्य मे इसका पर्याप्त महत्त्व होता है।

सरकार द्वारा निर्यात को प्रोत्साहित करने के लिए अनेक प्रकार के ऋण दिए जाते हैं। उदाहरण के लिए, 1934 में स्थापित अमेरिकी आयात-निर्यात बैंक का प्रारम्भ मे उद्देश्य यह था कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि के लिए निर्यातों को बढ़ावा दें।

कभी कभी एक सरकार अपने निर्यात को बढ़ाने के लिए केवल इसलिए कर्जा नहीं देती कि उसे बाजार की आवश्यकता है वरन् इसलिए देती है कि ऋण लेने वाले देश को आयात करना चाहिए। उदाहरण के लिए, वह राजनीतिक या सैनिक कारणों से उधार लेने वाले देश की आर्थिक शक्ति का उच्च बनाने का प्रयास कर सकती है। इसके अतिरिक्त जब एक बार कर्ज लेने वाला देश विकास के सन्तोषजनक स्तर पर पहुंच जाएगा तो वह कर्जदाता देश के लिए कच्चे माल तथा अन्य सामग्रियां आसानी से भेज सकेगा।

पूंजी के निर्यात करने की स्थिति में रहने वाली सरकार मित्रतापूर्ण विचारों अथवा अतीत के लाभों से प्रेरित होकर भी पूंजी का निर्यात कर सकती है। एक देश की सरकार को कभी-कभी यह भी डर लगता है कि यदि दूसरे देश में स्थित सरकार का पतन हो गया तो उसके स्थान पर आने वाली सरकार कम मैत्रीपूर्ण हो सकती है, अत वह उसका समर्थन करके उसे पतनोन्मुख होने से बचाती है।

कभी-कभी एक सरकार दूसरे देश को इसलिए भी पूंजी भेजती है कि यदि उसने ऐसा नहीं किया तो दूसरे देश द्वारा ऐसे आर्थिक निर्णय लिए जा सकते हैं जो उसके लिए नुकसानदायक होंगे। वे सम्भवत सम्भावित कर्जदारों पर बुरा प्रभाव डालेंगे। एक देश के सामने ऐसी स्थिति उपस्थित हो सकती है कि वह आवश्यक आयातों के लिए भुगतान न कर सके। ऐसा करने के लिए उसे या तो अपनी मुद्रा का मूल्य घटाना होगा अथवा कम महत्वपूर्ण आयातों की संख्या को एकदम कम करना होगा। इस प्रकार के प्रयास दूसरे देशों के लिए कष्टदायक होते हैं और इसीलिए वे सफलता प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु दूसरे देश भी बदले की ऐसी नीतियां अपना सकते हैं और ऐसा होने पर ये नीतियां फलहीन बन जाएंगी। जब इस इस प्रकार की गर्दनतोड प्रतिद्वन्द्विता विभिन्न देशों के बीच कायम हो जाएगी तो किसी देश को लाभ नहीं होगा। इस प्रवृत्ति के प्रारम्भ होने से पहले ही रोकने के लिए पूंजी के आवागमन का सहारा लिया जाएगा।

विकास और विनिमय स्थायित्व के उद्देश्यों के बीच बहुत कम अन्तर रहता है। 1945 के दौरान संयुक्तराज्य अमेरिका ने ग्रेट-ब्रिटेन को जो कर्ज दिए हैं वे इन दोनों की ही पूर्ति करते थे। अमेरिका ने पश्चिमी यूरोप के अन्य देशों को युद्ध के बाद जो सहायताएं प्रदान की वे भी इस प्रकार के योगदान के उदाहरण हैं। ये विभिन्न कर्जे इन अर्थ-व्यवस्थाओं की पुन रचना में सहायता करने के उद्देश्य से दिए गए। ई आर पी (European Recovery Programme) के अन्तर्गत सम्बन्धित देशों की अर्थ-व्यवस्था को पुन सुधारने के लिए भारी मात्रा में धन की व्यवस्था की गई, क्योंकि युद्ध अथवा सैनिक कार्यवाही के कारण इन देशों की अर्थ-व्यवस्था पर्याप्त बिखर चुकी थी।

सरकारी एवं गैर-सरकारी प्रेरणाओं के बीच अन्तर

सरकारी व्ययकर्त्ता की रुचि एवं व्यक्तिगत व्ययकर्त्ता की रुचि के बीच उद्देश्यों की विभिन्नता होती है। व्यक्तिगत व्ययकर्त्ता कभी-कभी तो सरकार द्वारा

प्रेरित होते हैं किन्तु प्राय: उनको सरकार से कोई प्रेरणा नही मिलती। कभी-कभी व्यक्तिगत व्ययकर्त्ताओं के हित परिस्थिति की आवश्यकताओं के ठीक विपरीत सिद्ध होते हैं। एक सरकार को जिस बात का भय रहता है उसी बात को प्रेरित करने के लिए कई बार व्यक्तिगत व्ययकर्त्ता अपनी नीतियों को संचालित करते हैं।

एक सरकार के कार्यों की प्रेरणाएँ वे भी हो सकती हैं जो कि व्यक्तिगत व्ययकर्त्ता की नही होती। एक देश अपनी सरकार के माध्यम से एक ऐसे देश मे पर्याप्त पूँजी भेज सकता है जिसकी मुद्रा अवमूल्यन के नजदीक पहुँच गई थी। यदि अवमूल्यन से एक देश को कोई भय नही है तो भी वह सम्बन्धित देश की सहायता कर सकता है।

कई कारणों से एक सरकार व्यक्तिगत व्ययकर्त्ताओं के हाथ मे निर्णय की शक्ति छोड़ने की अपेक्षा स्वयं ही पूँजी के आवागमन के सम्बन्ध मे निर्णय लेती है। उदाहरण के लिए, यदि एक देश आर्थिक संकट का अनुभव कर रहा है जिसे वह विदेशो मे अपने बाजार का प्रसार करके दूर कर सकता है तो इस तथ्य की जानकारी के बाद उसके पड़ौसी देशो के व्ययकर्त्ता उसे ऋण प्रदान करके बाजारो की रचना का प्रयास नही करेंगे क्योंकि इसमे जोखिम है।

सरकार जब पूँजी के आवागमन को प्रोत्साहन देती है तो उसका स्पष्ट उद्देश्य यह नही होता कि वह केवल लाभ प्राप्ति के लिए ऐसा करे। दूसरी ओर व्यक्तिगत व्ययकर्त्ता हमेशा सम्पन्नता और लाभ को ध्यान मे रख कर ही आगे बढ़ता है। सरकार राजनीतिक मित्रता के लिए तथा दूसरे देशों के साथ सैनिक सन्धि का निर्वाह करने के लिए भी पूँजी के आवागमनो मे रुचि ले सकती है। सरकार के सामने ऐसी अनेक परिस्थितियाँ आ जाती हैं जबकि उसे पूँजी के आवागमन का प्रबन्ध करना होता है। यदि वह इन परिस्थितियों में इस कार्य को व्यक्तिगत व्ययकर्त्ताओं के हाथ मे छोड दे तो इसके फलस्वरूप कोई कार्य नहीं किया जाएगा क्योंकि उपर्युक्त प्रेरणाओं के अभाव मे व्यक्तिगत व्ययकर्त्ता कोई रुचि नही लेंगे।

सरकार जिस प्रकार के पूँजीगत आवागमन मे भाग लेती है उसके कई रूप हो सकते हैं। कभी-कभी इसका रूप प्रत्यक्ष कर्ज होता है। इस प्रकार के कर्जे प्राय: दीर्घकालीन होते हैं और सरल शर्त पर प्रदान किए जाते हैं। उदाहरण के लिए, जब अमेरिकी आयात-निर्यात बैंक ने पुन: रचना के लिए कर्जे दिए तो कर्जा लेने वालो को पुन भुगतान के लिए 20 या 30 वर्ष की छूट दी गई तथा उनसे बहुत कम ब्याज की दर (3%) प्राप्त की गई।

कर्ज और अनुदान दो अलग-अलग चीजें हैं और इनके बीच पर्याप्त अन्तर होता है। अनुदान प्राप्त करने वाला देश उसके ब्याज या मूलधन का भुगतान करने के लिए बाध्य नही होता। ऐसी स्थिति मे यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि एक सरकार इन शर्तों पर पूँजी का निर्यात क्यो करती है? सरकार धन को पूरी तरह से छोड़ने की अपेक्षा उसे वापिस लेने का प्रयास क्यो नही करती? इन प्रश्नो का उत्तर उस देश के भावी स्वार्थ मे पाया जाता है। अनुभव ने यह प्रदर्शित किया है

कि यदि एक देश की आर्थिक स्थिति मजबूत नही है और विदेशी कर्जा का भुगतान करने का भार भी उसके ऊपर डाल दिया जाए तो वह पर्याप्त कमजोर हो जाएगा। जब युद्ध के दौरान दो देश सैनिक दृष्टि से मित्र होते हैं तो वे अपनी मित्रता को सैनिक लक्ष्यो के अतिरिक्त अन्य लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए भी प्रयुक्त कर सकते हैं। उदाहरण के लिए बीमारियो के प्रसार को रोकने के लिए ये परस्पर सहयोग कर सकते हैं।

एक देश की सरकार दूसरे देश की सरकार को पूँजी का निर्यात करने की अपेक्षा अन्य प्रकार के प्रबन्ध को भी अपना सकती है। पूँजी का निर्यात करने वाले देश की सरकार स्वय कर्जा देने की अपेक्षा अपने देश के व्ययकर्त्ताओ को ऐसा करने के लिए प्रोत्साहित कर सकती है। इसके लिए वह कर्जदाताओ को यह गारन्टी प्रदान करेगी कि कर्जा लेने वाले अपने घरेलू वित्तीय बाजार पर दबाव डालकर दूसरी सरकार की आवश्यकताओ को पूरी करने की वांछनीयता पर जोर दे सकती है।

कभी-कभी सरकारो के बीच कर्जे का प्रबन्ध अन्य तरीको से भी किया जाता है। एक सरकार पुन रचना और विकास के अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (International Bank for Reconstruction & Development) जैसे अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणो के माध्यम से प्रतिभूतियाँ खरीद सकती है अथवा अनुदान दे सकती है। यह अभिकरण दूसरे देशो को धन उधार देगा। इसी प्रकार एक अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरण व्यक्तिगत व्ययकर्त्ताओ से धन प्राप्त करके उन्हे किसी सरकार को देने की अपेक्षा व्यक्तिगत उद्यमो मे ही लगा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सरकारो के बीच पूँजी का आवागमन कई प्रकार से प्रभावित हो सकता है। पूँजी उधार देने वाली सरकार सकीर्ण आर्थिक, राजनैतिक या युद्ध कौशल सम्बन्धी विभिन्न कारणो से प्रभावित हो सकती है। इसके अतिरिक्त अनेक मानवीय कारण भी इस पर प्रभाव डालते हैं। आजकल व्यक्तिगत व्ययकर्त्ताओ की अपेक्षा सरकार की पहल द्वारा किए गए पूँजी आवागमन अधिक दिखाई देते है। इस प्रकार का विकास कोई आश्चर्य की बात नही क्योकि व्यक्तिगत लाभो की अपेक्षा सरकारी व्ययकर्ता की प्रेरणा के स्रोत अनेक होते हैं। व्यक्तिगत व्ययकर्त्ता के सामने रण-कौशल सम्बन्धी राजनैतिक या मानवीय आदि विभिन्न कारण नही होते।

पूँजीगत आवागमन का वर्गीकरण (Classification of Capital Movement)

पूँजीगत आवागमन के कई रूप हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, इसमे एक देश दूसरे देश का कर्जदार बन सकता है अथवा एक देश को कुछ वस्तुओ का स्वामित्व प्राप्त हो सकता है। पूँजीगत आवागमन का जन्म साधारण व्यापारिक लेन-देन से भी हो सकता है अथवा इसलिए भी हो सकता है कि कुछ लोग इसमे अपना लाभ देखते हैं। इसके द्वारा विभिन्न सरकारो के बीच अथवा गैर-सरकारी व्यक्तियो के बीच अथवा अर्द्ध-सरकारी व्यक्तियो के बीच के प्रबन्धको को अभिव्यक्त

किया जा सकता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि दो पूँजीगत आवागमनों के बीच विभिन्नता के अनेक कारण हैं और उनके अनुसार वे कई प्रकार से वर्गीकृत किए जा सकते हैं।

पूँजीगत आवागमन के कुछ वर्गीकरण सैद्धान्तिक रूप से अपेक्षाकृत स्पष्ट होते हैं फिर भी कभी-कभी उनको लागू करना कठिन होता है। इस प्रकार के वर्गीकरणों की व्याख्या प्रत्यक्ष रूप से की जाती है। पूँजीगत आवागमन को कई आधारों पर वर्गीकृत किया जाता है।

(1) प्रथम आधार समय की लम्बाई है जिसके लिए ऐसे आवागमन किए गए हैं—जब एक कर्जा दिया जाता है तो इसके साथ ही यह भी निर्धारित किया जाता है कि यह कितने समय में वापस लिया जाएगा। हो सकता है कि एक कर्जे का भुगतान करने का प्रबन्ध 60 दिन की अवधि में हो। इस प्रकार का कर्जा अल्पकालीन कर्जा कहलाता है और जब यह राष्ट्रीय सीमाओं को लाँघ जाता है तो इसको अल्पकालीन पूँजीगत आवागमन कह देते हैं। दूसरी ओर जो कर्जा एक वर्ष से पहले चुकाना नहीं होता उसे दीर्घकालीन पूँजीगत आवागमन कहते हैं।

पूँजीगत आवागमन को अल्पकालीन या दीर्घकालीन के रूप में वर्गीकृत करना अधिक उपयोगी सिद्ध इसलिए नहीं होता क्योंकि हम खरीदी गयी वस्तु को देखकर ही निश्चित रूप से यह पता नहीं लगा सकते कि खरीददार का वास्तविक इरादा क्या है? खरीददारों और विक्रेताओं के वास्तविक इरादों को जानने के पश्चात् ही निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि पूंजीगत आवागमन दीर्घ-आवागमन को वर्गीकृत करेगा तो वह केवल यह देखेगा कि अगर प्रतिभूतियाँ एक वर्ष से कम समय में परिपक्व हो जाती हैं तो वे अल्पकालीन हैं वरना वे दीर्घकालीन हैं। इस प्रकार के आँकड़ों की व्याख्या करते समय हमको पर्याप्त सजगता रखने की आवश्यकता है क्योंकि इससे स्पष्टतः पूंजीगत आवागमन का काल ज्ञात नहीं हो पाता।

(2) पूंजी के वर्गीकरण का एक अन्य आधार यह है कि भाग लेने वाले देशों के बीच एकरूपता रहती है। पूंजी की गतिशीलता या आवागमन प्रायः गैर-सरकारी व्यक्तियों या व्यापारिक फर्मों के बीच होता है। कुछ अन्य पूँजीगत आवागमनों में सरकारी निकाय जैसे केन्द्रीय बैंक आदि भी हो सकते हैं। पूँजीगत आवागमनों को हम सम्बन्धित पक्षों की प्रकृति के आधार पर वर्गीकृत कर सकते हैं।

(3) इसका तीसरा आधार पूँजी का आयात करने वाले देश द्वारा अपनाए गए उत्तरदायित्वों की प्रकृति है। यदि वह देश विदेशों को बॉण्ड्स बेचता है तो वह सामयिक रूप से ब्याज का भुगतान करेगा और समय पूरा हो जाने पर मूलधन को वापिस करेगा। ऐसा भी हो सकता है कि सम्बन्धित देश को समय-समय पर भुगतान करने की आवश्यकता न पड़े अथवा मूल-धन को लौटाने की जरूरत न पड़े क्योंकि किए जाने वाले भुगतान की मात्रा उस लाभ के आकार पर निर्भर करेगी जो सम्पत्ति के स्वामियों द्वारा कमाया जाता है। इस प्रकार यह उत्तरदायित्व कम कठिन है। वैसे कभी-कभी भुगतान किए जाने वाले धन का आकार इतना अधिक हो जाता है जो मूलधन से भी आगे निकल जाता है।

पूँजी के आवागमन के विभिन्न रूपों को हम निम्न प्रकार वर्णित कर सकते हैं—

(1) दीर्घकालीन निजी पूँजीगत आवागमन (Long Term Private Capital Movements)

पूँजी के दीर्घकालीन आवागमन सरकारी, गैर सरकारी या मिलेजुले किसी भी प्रकार के हो सकते हैं। इसमें स्वामियों की समानता या जमा कर्त्ताओं के दाव भी निहित रह सकते हैं। इस प्रकार के लेन-देनों की कुछ अन्य विशेषताएँ भी होती हैं। इनकी एक विशेषता यह है कि इस अर्थ-व्यवस्था के व्यक्तिगत उद्यम में एक देश का निगम दूसरे देश के वित्तीय बाजारों में बॉण्ड्स का व्यवसाय करता है। इस प्रकार का व्यवसाय प्रायः देश के वित्तीय केन्द्र द्वारा संचालित किया जाता है। जो बॉण्ड्स विदेशी बिक्री के लिए प्रसारित किए जाते हैं वे खरीदने वाले अथवा उधार लेने वाले देश की मुद्रा में भी अभिव्यक्त होते हैं।

यद्यपि अधिकांश महत्त्वपूर्ण दीर्घकालीन गैर-सरकारी पूँजी के आवागमन राष्ट्रीय सीमाओं के पार प्रतिभूतियों की बिक्री का रूप धारण करते हैं किन्तु इसके अतिरिक्त एक ऐसा रूप भी है जो अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण है और जिस पर अधिक विचार करना उपयुक्त है। तकनीकी रूप से इस प्रकार की खरीददारी प्रतिभूतियों की खरीददारी से भिन्न होती है किन्तु आर्थिक दृष्टि से दूसरा महत्त्व समान होता है। इस प्रकार के प्रबन्ध को प्रत्यक्ष व्यय कहते हैं जिसमें वित्तीय बाजार की अवहेलना की जाती है। एक देश के निवासी दूसरे देश में स्थित वास्तविक सम्पत्ति या व्यापारिक फर्म को खरीद लेते हैं और उसका प्रबन्ध या तो वे स्वयं करते हैं या अपने एजेन्टों द्वारा करवाते हैं। द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान अमेरिकी फर्मों ने दूसरे देशों में अपनी अनेकों शाखाएँ खोलीं। अनेकों कारणों से इस प्रकार का व्यय दूसरे व्यय की अपेक्षा अधिक आकर्षक लगता है। यद्यपि इस प्रकार का व्यय कुछ उद्योगों अथवा देशों तक ही सीमित रहता है फिर भी संयुक्तराज्य अमेरिका के द्वारा अधिकांश गैर-सरकारी व्यय इसी प्रकार से किया गया। इस प्रकार के पूँजीगत आवागमनों का अभिलेख रखना अत्यन्त कठिन होता है। जब तक ये सम्पत्तियाँ बाजार की प्रतिभूतियों का रूप धारण न करलें उस समय तक इनका रजिस्टर में लिखना कोई सरल काम नहीं है।

(2) सार्वजनिक पूँजीगत आवागमन (Public Capital Movements)

पूँजीगत आवागमन केवल गैर-सरकारी व्यक्तियों, निगमों या बैंकों के बीच होने वाले लेन-देन का परिणाम ही नहीं हैं। कई बार एक सरकार द्वारा अन्य सरकार को भी ऋण प्रदान किया जाता है। इस प्रकार के प्रबन्ध द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद से बहुत महत्त्वपूर्ण बन गए हैं। कभी-कभी इस प्रकार के कर्जे थोड़े समय के लिए होते हैं किन्तु प्रायः ये दीर्घकालीन कर्जे होते हैं। यदि हम अल्पकालीन पूँजीगत आवागमनों का उदाहरण लेना चाहें तो हमें ऐसे अनेक उदाहरण

मिल जाएँगे जहां कि एक देश के केन्द्रीय बैंक द्वारा दूसरे देश के केन्द्रीय बैंको को थोड़े समय के लिए कर्जा दिया जाता है। न्यूयार्क का संघीय रिजर्व बैंक, इंग्लैण्ड के बैंक के लिए डॉलर के रूप मे ऋण दे सकता है। ऐसा होने पर इग्लैण्ड का बैंक न्यूयार्क के संघीय रिजर्व बैंक से उतने ही डॉलर निकाल सकता है जितने उसे कर्ज मे प्रदान किए गए थे।

सरकारो के बीच जो प्रबन्ध होते है वे प्राय: दीर्घकालीन प्रकृति के होते है। ये कर्जे 25 वर्षों अथवा उससे भी अधिक समय के हेतु लिए जा सकते है। अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन मे जिस प्रक्रिया को अपनाया जाता है वह प्राय: वही होती है जो व्यक्तिगत वित्तीय लेन-देनो मे अपनाई जाती है। एक सरकार दूसरे देश के राजकोष से प्रत्यक्ष कर्जा प्राप्त कर सकती है और तब कर्जदार देश के सामान्य बजट मे उस कर्जे मे ली गयी राशि को रखा जाता है। कर्जे लेने वाले देश का राजकोष या तो अपने ही खाते के अनुसार चल सकता है और या इस प्रकार लिए गये कर्जों की वित्तीय व्यवस्था का स्वय प्रबन्ध कर सकता है अथवा अपने देश की जनता को कर्ज मे ली गयी प्रतिभूतियो को वह बेच सकता है।

कुछ समय से संयुक्तराज्य अमेरिका विश्व का आर्थिक केन्द्र बन गया है। यह विश्व के अधिकांश देशो को ऋण देता है। इस कर्ज का रूप या तो राजकोष के लिए होता है अर्थात् अमेरिकी राजकोष प्रत्यक्ष रूप से दूसरे देश के राजकोषो को धन कर्ज मे देता है अथवा वह कर्जदान ऐसी संस्थाओं के द्वारा भी किया जा सकता है जिन पर सरकार का स्वामित्व है तथा सरकार द्वारा ही जो प्रारम्भ की गयी है। इस प्रकार के कर्ज प्राय: उन सरकारो को दिए जाते हैं जिनके बॉण्ड्स गैर-सरकारी बाजार के लिए अपेक्षाकृत कम आकर्षक होगे।

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद एक नए प्रकार का सरकारी तथा गैर-सरकारी पूँजीगत आवागमन अस्तित्व मे आया है। इनका एक श्रेष्ठ उदाहरण पुनर्रचना एव विकास के लिए विश्व बैंक द्वारा किए जाने वाले प्रबन्धो मे प्राप्त होता है। इसका कार्य यह है कि अपने सदस्यो को कर्ज लेने मे सुविधा प्रदान करे। इनके लिए यह बैंक सरकारो को पुन: भुगतान की गारन्टी प्रदान करता है। इस प्रकार के पूँजीगत आवागमनो मे कुछ विशेषताएँ सरकारी होती हैं और कुछ गैर-सरकारी होती हैं और इस प्रकार न तो वे पूर्ण रूप से व्यक्तिगत होते हैं और न अव्यक्तिगत।

(3) अल्पकालीन पूँजीगत आवागमन (Short Term Capital Movement)

अल्पकालीन पूँजीगत आवागमन भी सरकारी, गैर-सरकारी या मिले-जुले तीनो प्रकार के हो सकते हैं। इनका सम्बन्ध सम्पत्ति के स्वामी की अपेक्षा प्राय: विभिन्न दावो अथवा ऋण से रहता है। यह इसलिए होता है क्योंकि वास्तविक सम्पत्ति की सारी बिक्री को दीर्घकालीन पूँजीगत आवागमन के रूप मे वर्गीकृत कर दिया जाता है। अल्पकालीन पूँजीगत आवागमन द्वारा जो विभिन्न दावे किए जाते हैं उनके अनेक रूप हो सकते हैं। सामान्य रूप से एक देश के निवासियो के अल्प-

कालीन कर्जो मे किसी प्रकार की वृद्धि जो अन्य देश के पक्ष मे होती है, उसका अर्थ यह होगा कि प्रथम प्रकार के देश ने पूंजी का आयात किया था। इसी प्रकार दूसरी ओर यदि एक देश के निवासियो द्वारा लिया गया अल्पकालीन कर्ज थोडा बहुत घटता है तो इसका अर्थ यह होगा कि दूसरे देश ने अल्पकालीन पूंजी का आयात किया है। इसी प्रकार यदि एक देश के आयातकर्त्ता विदेशो से की जाने वाली अपनी खरीददारी को बढा देते हैं और इस कार्य के लिए वे निर्यातकर्ता से अधिक साख प्राप्त करके वित्तीय व्यवस्था करते हैं तो आयातकर्त्ता देश भी पूंजी का आयात करता है।

अल्पकालीन पूंजीगत आयात और निर्यात का एक अन्य रूप यह भी है कि एक देश का केन्द्रीय बैंक विदेशी मुद्रा के अपने भण्डार को घटा लेता है। इसी प्रकार जब एक देश के व्यावसायिक बैंक दूसरे देश के बैंको मे अपनी जमा रकम घटा लेते हैं तो प्रथम देश को अल्पकालीन आधार पर पूंजी का आयातकर्त्ता माना जाएगा। इन विभिन्न रूपो मे पूंजी का आयात व निर्यात अल्पकालीन आधार पर होता रहता है।

अल्पकालीन पूंजीगत आवागमन कई कारणो से अस्तित्व मे आता है। यह कहा जाता है कि वस्तुओ के लेखे मे होने वाले सभी लेन-देन अल्पकालीन पूंजीगत आवागमन को प्रोत्साहन देते हैं। उदाहरण के लिए, जब एक आयातकर्त्ता विदेशो से कोई माल प्राप्त करता है तो निश्चय ही उसे उसकी कीमत चुकानी होगी। इसके लिए या तो वह प्रत्यक्ष रूप से भुगतान कर सकता है अथवा निर्यातकर्त्ता से साख प्राप्त कर सकता है। यदि वह प्रत्यक्ष रूप से भुगतान करना चाहता है तो इसके लिए उसे विदेशी मुद्रा चाहिए अथवा वह निर्यातकर्त्ता को, या निर्यातकर्त्ता देश के किसी व्यक्ति को उसके लिए राजी करेगा कि वह आयातकर्त्ता देश की मुद्रा ग्रहण करे। इन विभिन्न सम्भावनाओ को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि या तो आयातकर्त्ता देश को अपने विदेशी विनिमय का भण्डार कम करना होगा अथवा निर्यातकर्त्ता देश को अपना भण्डार बढाना होगा। यह भी हो सकता है कि निर्यातकर्त्ता देश आयातकर्त्ता देश के लिए अतिरिक्त साख प्रदान करे। आयातकर्त्ता देश की दृष्टि से इनसे प्रत्येक लेन देन अल्पकालीन पूंजीगत आयात की रचना करता है। माल अथवा सेवाओ का प्रत्येक आयात अल्पकालीन पूंजी आयात के लिए एक अवसर बन जाता है।

यद्यपि वस्तुओ एव सेवाओ का व्यापार अल्पकालीन पूंजीगत आवागमनो के लिए एक महत्त्वपूर्ण अवसर है किन्तु फिर भी यही एक मात्र कारण नही है। आधुनिक समय मे अधिकांश महत्त्वपूर्ण पूंजी आवागमन कुछ भिन्न कारणो से अस्तित्व मे आए हैं। उदाहरण के लिए, जब एक फ्रांसीसी अपनी मुद्रा के बदले डॉलर खरीदता है तो यह जरूरी नही कि वह अमेरिकी कार खरीदने के लिए ही ऐसा कर रहा है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि वह उसके धन को अमेरिकी बैंक मे जमा के रूप मे अधिक सुरक्षित समझे। इस प्रकार अल्पकालीन पूंजी आवागमन अस्तित्व मे आ गया, किन्तु भिन्न कारणो से।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य बातें भी हो सकती है जो व्ययकर्त्ता को अपने धन को दूसरे धन मे बदलने के लिए प्रेरित करती हैं। कुछ प्राप्त करने की आशाएँ कभी-कभी कुछ खोने के डर की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली बन जाती हैं। यदि हम अभिवर्णित परिवर्तनो का प्रबन्ध कर दे तो प्राप्ति के अवसर बढ जाते हैं। जब हम यह देखते हैं कि हमारे देश की अपेक्षा अन्य देशों मे ब्याज की दर अधिक है तो हम उस देश को अधिक धन उधार देने में लाभ का अनुभव करेंगे।

अस्थिरता उत्पन्न करने वाले अल्पकालीन पूंजीगत आवागमन के प्रभाव (Destabilizing Effects of Short–Term Capital Movement)

जब कभी सटोरियो द्वारा स्वय ही विनिमय जोखिम लेने के कारण अल्पकालीन पूंजीगत आवागमन होते हैं तो ये स्थिरता लाने वाले भी हो सकते हैं अथवा इनके द्वारा अस्थिरता भी उत्पन्न हो सकती है। ऐसी स्थिति में बट्टा दर मे वृद्धि करने पर स्वर्ण बाहर जाने लगेगा जबकि बट्टा दर मे कमी करने पर स्वर्ण बाहर से आने लगेगा। ऐसी अवस्था मे पूंजी का बाहर जाना मौद्रिक अधिकारियों की सामर्थ्य का परिचायक नही माना जाएगा क्योंकि उन्हे भुगतान सन्तुलन की अवस्था को बनाए रखने के लिए तत्काल कदम उठाने चाहिए, परन्तु सटोरियों की क्रियाशीलता के कारण पूंजी का बाहर जाना अधिकारियो की दुर्बलता का द्योतक होता है जिसके परिणामस्वरूप बाद मे देश की मुद्रा का अवमूल्यन करना पड़ सकता है।

अस्थिरता के कारण सट्टा प्रवृत्ति के अन्तर्गत आयात का अतिरेक होने पर विनिमय दर मे कमी आती है तथा भुगतान सन्तुलन शेष के चालू खाते मे वित्त की पूर्ति स्वर्ण के आवागमन की अपेक्षा इसके द्वारा पूंजी बाहर जाने लग जाती है तथा सुरक्षित कोष कम हो जाते हैं। इसके विपरीत निर्यात का अतिरेक होने पर विनिमय दर मे वृद्धि होती है, ब्याज की दर मे कमी होती है तथा स्थिरता लाने वाले सट्टे से सम्बन्ध रखने वाली पूंजी के बाहर जाने की अपेक्षा स्वर्ण का बाहर से आयात होने लगता है।

यदि चालू खाता असमतल रूप से सन्तुलित है तो अस्थिरता उत्पन्न करने वाली पूंजी का बाहर जाना स्वर्ण को बाहर जाने मे सहयोग प्रदान करेगा जबकि पूंजी के बाहर से आने की प्रवृत्ति स्वर्ण के आने के रूप मे प्रोत्साहित होगी। कभी-कभी पूंजी प्रवाह का मौद्रिक प्रभाव स्वर्ण के आवागमन के फलस्वरूप नष्ट भी हो जाता है।

पूंजी के आवागमन की समस्याएँ (The Problems of Capital Movement)

यह कहा जाता है कि वस्तुओ एव सेवाओ के व्यापार की व्याख्या करना पूंजी के आवागमन की व्याख्या करने से अधिक कठिन होता है। यह कहना सत्य है किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि पूंजीगत आवागमन की सही मात्रा का अभिलेख रखना एक अत्यन्त कठिन काम है। जब कोई माल अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओ को पार

करके निकलता है तो उसका पता आसानी से लगाया जा सकता है क्योंकि प्राय अधिकांश देशो मे उनकी सीमाओं पर चुंगी कर प्रशासन सक्रिय रहता है जो प्रत्येक वस्तु के आने और जाने को पंजीकृत करता रहता है। जब हम सीमाओं के पार सेवाओं की गति का अनुमान लगाने का प्रयास करते हैं तो मापने का कार्य अधिक कठिन हो जाता है। व्यापार के ये अपरिहार्य भाग इस प्रकार की प्रकृति के होते हैं कि इनको रोकना कठिन होता है। जहाज से सम्बन्धित सेवाएं कुछ आसानी से मापी जा सकती हैं क्योंकि जहाज की कम्पनियां अपेक्षाकृत कम होती हैं और जो जहाज सेवा प्रदान करते हैं उनको देखा जा सकता है तथा आसानी से उन पर नजर रखी जा सकती है किन्तु विदेशों मे यात्रियो द्वारा यात्रा पर कितना खर्च किया जाता है इसका अनुमान लगाना बडा कठिन है यद्यपि यात्रियो की सख्या अधिक नही होती फिर भी उनके द्वारा किया जाने वाला व्यय कुछ ऐसा जटिलतापूर्ण हाता है जिसका अनुमान लगाना सम्भव नही होता।

इसी प्रकार ब्याज के भुगतान को गिनना और भी कठिन होता है क्योंकि हो सकता है कि वे सीमाओं को पार भी न करें और किसी विदेशी बैंक मे प्राप्तिकर्त्ता के खाते मे जोड दिए जाएं। जब कभी उनको डाक द्वारा एक देश से दूसरे देश को भेजा जाता है तब भी वे अवरोध से बच सकते हैं। इस प्रकार दो देशो के बीच जा सेवाओं का लेन देन होता है उसका अनुमान लगाना कठिन है फिर भी ये कठिनाइयां उन कठिनाइयो से अत्यन्त अल्प होती हैं जो पूंजी के आवागमन का सही-सही अनुमान लगाने म उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार क अनुमान बहुत सावधानी के साथ लगाने चाहिए। पर्याप्त सावधानी बरतने के बाद भी अनेक कारणो से य अनुमान पूर्ण-रूपेण सही नही हा सकते।

पूंजीगत आवागमन के अनुमान के तरीके
(Methods of Estimating Capital Movement)

पूंजी की गतिशीलता का अनुमान लगाने के लिए प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनो तरीको को काम मे लाया जा सकता है। जब प्रत्यक्ष तरीके को अपनाया जाता है तो वह वास्तविक पूंजी के लेन-देन का अभिलेख रखता है। इस प्रकार के पूर्ण अभिलेख मे विभिन्न बाधाएं आती हैं। कुछ देशो मे इस बात पर कोई प्रतिबन्ध नही लगाया जाता कि एक देश के निवासी विदेशो मे कितनी प्रतिभूतियां प्रसारित करते हैं। अधिकांश देश उस धन का अनुमान लगाने म पर्याप्त कठिनाई का अनुभव करते हैं जो कि उन्होने विदेशो मे स्थित अपनी सम्पत्ति पर लगाया हुआ है। अधिकांश देश इस बात का भी सही-सही अनुमान नही लगा पाते कि उनके घरेलू बैंकों मे विदेशियो की जमा के अन्तर्गत क्या-क्या परिवर्तन हुए हैं, ऐसे अनेक तरीके हैं जिन्हे अपनाकर पूंजी एक देश से दूसरे देश मे सांख्यिकी अधिकारी की नजरो से बचकर जा सकती है। असल मे जब सरकार इस प्रकार के आवागमन को रोकना चाहती है तो उसके द्वारा सांख्यिकी अधिकारियो के स्थान पर पुलिस अधिकारी नियुक्त कर दिए जाते हैं। इन अधिकारियो की पर्याप्त सजगता के बाद भी काफी

पूंजी का आवागमन चलता रहता है। इस प्रकार पूंजी के आवागमन का अनुमान लगाने के प्रत्यक्ष तरीके अनेक सीमाओं के विषय होते हैं।

अनुमान के कुछ अन्य तरीके भी हैं जिनका प्रयोग सामान्य रूप से किया जाता है और जिनके आधार पर अधिक सही परिणामों तक पहुँचने की कोशिश की जाती है। इनको हम अप्रत्यक्ष तरीकों का नाम देते हैं। अप्रत्यक्ष अनुमान इस तथ्य पर आधारित होते हैं कि जब एक देश निर्यात की अपेक्षा अधिक माल और सेवाएँ आयातित करता है तो इस अन्तर का स्पष्टीकरण ऋण के आधार पर किया जा सकता है जो कि वह देश अन्य देशों से ग्रहण करता है। दूसरी ओर, जब एक देश आयातों की अपेक्षा अधिक माल और सेवाओं का निर्यात करता है तो वह देश आवश्यक रूप से एक कर्जदाता या अन्य देशों को पूंजी का निर्यातकर्त्ता बन जाएगा। जब हम एक देश के चालू खाते में यह पाते हैं कि उसने पांच लाख रुपए का निर्यात और चार लाख रुपए का आयात किया है तो इससे यह सिद्ध होता है कि उस देश ने उस काल में एक लाख रुपए की पूंजी का निर्यात किया होगा। ये अप्रत्यक्ष तरीके प्रत्यक्ष तरीकों की अपेक्षा अधिक उपयोगी एवं प्रभावशील होते हैं।

उपयोगिता होते हुए भी पूंजी के आवागमन लगाने के अप्रत्यक्ष तरीके की सीमाएँ हैं। इनके द्वारा वह सब कुछ नहीं जाना जाता जो हम जानना चाहते हैं। इनके द्वारा पूंजी के आवागमन के रूप का उल्लेख नहीं किया जाता। इनमें यह नहीं बताया जाता कि पूंजी का आवागमन अल्पकालीन है या दीर्घकालीन, वह सरकारी है अथवा गैर-सरकारी।

पूंजी के आवागमन का अनुमान लगाने के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष दोनों ही तरीकों की सीमाओं के कारण इनके अनुमान में सामान्य रूप से यह सिद्धान्त अपनाया जाता है कि पूंजी के जिस आवागमन के सम्बन्धों में अधिक निश्चित आँकड़े आसानी से प्राप्त किए जा सकें, उनके लिए प्रत्यक्ष अनुमान का प्रयोग किया जाए और अन्य पूंजीगत आवागमनों के लिए प्रत्यक्ष तरीके का प्रयोग किया जाए।

1930 की महान् आर्थिक मन्दी से पहले पूंजी के आवागमन का अनुमान लगाने की कठिनाइयाँ विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण थीं। इस सरलता के युग में कोई भी व्यक्ति अपनी मुद्रा को इच्छानुसार किसी भी विदेशी मुद्रा में बदलने के लिए स्वतन्त्र था। उस पर न कोई प्रतिबन्ध था और न ही उसको किसी को सूचना देनी पड़ती थी किन्तु उस समय भी पूंजी के आवागमन के सही आँकड़े प्राप्त करना असम्भव था। आर्थिक मन्दी और उसके बाद के काल में अधिकांश देशों में विनिमय-नियन्त्रण की किसी न किसी प्रणाली को अपना लिया गया। आज अधिकांश देशों में वहाँ के निवासियों को विदेशी प्रतिभूतियाँ अथवा सम्पत्ति खरीदने से या तो रोक दिया जाता है अथवा उनकी खरीददारियों को सरकार द्वारा अभिलेखित किया जाता है। इसका अर्थ यह नहीं होता कि प्रत्येक खरीददारी का अभिलेख रखा जाएगा फिर भी अधिकांश आवागमनों पर नियन्त्रण और प्रतिबन्ध लगाए जाएँगे। परिणामस्वरूप आजकल पूंजीगत आवागमन के अनुमान पहले की अपेक्षा कुछ

अधिक सही बन गए हैं फिर भी सामान्य रूप से यह विश्वास किया जाता है कि आज भी पूँजी के आवागमनों के अनुमान पर्याप्त अनिश्चितता रखते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी के आवागमन का मूल्यांकन

(An Appraisal of International Capital Movements)

अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी के आवागमन से सम्बन्धित उपर्युक्त विचार विमर्श के बाद यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पहलू है। इसके द्वारा विश्व के उत्पादन की मात्रा को बहुत कुछ बढ़ा दिया जाता है। इसे अनादर ऐसा प्रयास किया जाता है कि विभिन्न देशों के बीच पूँजी का अधिक से अधिक वितरण हो सके। विभिन्न देशों के बीच पूँजीगत कोषों को किस प्रकार वितरित किया जाए ? यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इस सम्बन्ध में कई अन्य प्रश्न भी उठते हैं जैसे क्या अर्द्ध–विकसित देशों को सम्पूर्ण पूँजी का केवल एक भाग मात्र ही प्रदान किया जाए ? क्या पश्चिमी यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका को सबसे बड़ा भाग प्रदान किया जाए ? दूसरा प्रश्न यह भी है कि विकासशील अर्थ व्यवस्थाओं में पूँजी के आयातों की कीमतें ऊँची रखी जाए और विकसित देशों में इन्हें नीचा रखा जाए ? इन प्रश्नों का उत्तर ढूँढना पूँजीगत आवागमन के वास्तविक मूल्यांकन के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

जो कर्जे दिए जाते हैं वे प्राय दो उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं—(1) वे उपभोक्ताओं को वह सब खरीदने के योग्य बना सकते हैं जो वे अन्य प्रकार से नहीं खरीद सकते क्योंकि उनकी आय सीमित होती है। (2) इनके द्वारा उत्पादन में सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग कर सकते हैं तथा उत्पादन कम कीमत पर और अच्छा हो सकेगा। यदि हम कर्ज को उपभोक्ताओं की दृष्टि से देखें तो यह कहना होगा कि सबसे अच्छा निर्धारण उस समय प्राप्त किया जा सकता है जब समस्त उपभोक्ता एक जैसी कीमत का भुगतान करें। कर्ज का सर्वश्रेष्ठ वितरण वह होता है जिसमें प्रत्येक कर्ज लेने वाला उपभोक्ता समान शर्तों के ऊपर कर्ज ले सके। यदि सभी उपभोक्ता कर्जदारों के लिए ब्याज की दर बराबर न हो तो इसका अर्थ यह होगा कि कुछ उपभोक्ताओं को अन्य की अपेक्षा खरीदे गए माल के लिए अधिक भुगतान करना होगा। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उपभोक्ता वस्तुओं का उपभोक्ताओं के बीच वितरण इतना कुशल नहीं होता जितना कि यह होना चाहिए। यदि माल सभी उपभोक्ताओं को समान मूल्यों पर प्राप्त कराया जा सके तो कल्याण में वृद्धि होती है। यही बात व्यापारिक उद्यमों पर भी लागू होती है। यदि हम यह चाहते हैं कि व्यापारिक उद्यमों के बीच पूँजीगत कोषों को अधिक से अधिक मात्रा में निर्धारित किया जाए तो इसके लिए यह आवश्यक है कि सभी व्यापारिक उद्यमों के लिए पूँजीगत कोषों की कीमत एकसी होनी चाहिए।

विभिन्न अर्थ व्यवस्थाओं में पूँजी का आदर्श-वितरण वह माना जाएगा जिसके अन्तर्गत कुछ मूलभूत मापदण्डों को आधार मान कर चला जाए। विभिन्न देशों में धन की जो आवश्यकता होती है उसकी व्यापकता के आधार पर ही धन का वितरण किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त विभिन्न देशों में ऋण लेने से सम्बन्धित

जोखिम की मात्रा को भी ध्यान में रखना होगा। उसके आधार पर ही ब्याज की दर को निर्धारित किया जाएगा। ब्याज की दरो मे समय-समय पर परिवर्तन भी किया जा सकता है। जब आय का छोटा सा भाग कुछ देशो को जाय और दूसरे देश उससे बहुत कुछ कमाने लग जाएँ तो ब्याज की दरों मे परिवर्तन के लिए उत्तरदायी अनेक तत्व हो सकते हैं। कुछ देशो मे ऐसी चीजे अधिक उत्पादित की जाती है जिनका सामाजिक मूल्यांकन बाजार के मूल्यांकन की अपेक्षा अधिक होता है। इस प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन को प्रोत्साहित या हतोत्साहित करने के लिए सरकार द्वारा या तो सहायता दी जाती है अथवा अधिक कर लगाए जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी प्राय: ऐसा ही होता है। जिस देश मे उपयुक्त उत्पादन किया जा सके उस देश के लिए कर्जा विशेष रूप से आसान शर्तों पर दिया जा सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कर्जों द्वारा एक देश के आर्थिक विकास को बढ़ावा मिलता है। यदि कर्जा शीघ्र किसी रचना करने के उद्देश्य के लिए दिया जाता है तो कर्ज लेने वाले देश की अर्थ-व्यवस्था को इससे अनेक लाभ प्राप्त होगे। जब ऐसी स्थिति बनाली जाती है जिसमे ब्याज की दरें समान हो तो इसके परिणामस्वरूप एक अर्थ व्यवस्था का प्रसार पर्याप्त प्रोत्साहित रूप से होता है। ब्याज की एक दर विभिन्न देशो के बीच पूँजी के वांछनीय वितरण की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। यह दर प्राय. हमेशा एक-रूप नहीं होती वरन् इसके विपरीत यह देशो के बीच विभिन्नता भी स्थापित करती है।

दीर्घकालीन पूँजीगत निवेश की प्रवृत्ति एवं समस्याएँ
(Long Term Private Investment : Trends & Problems)

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था मे दीर्घकालीन पूंजीगत निवेश एक महत्वपूर्ण विषय माना जाता है क्योंकि विकसित देश अपनी कम्पनियो द्वारा विदेशों मे किए जाने वाले निवेश पर नियन्त्रण रखकर, भुगतान सन्तुलन को बनाए रखने का प्रयत्न करते हैं, जबकि विकासशील राष्ट्र बाहर से आने वाली निवेश पूँजी को शंका की दृष्टि से देखते हैं, क्योंकि यह पूंजी शोषणकारी भी हो सकती है तथा इनके निवेश द्वारा विदेशी कम्पनियाँ देश मे उपलब्ध साधनों का ज्यादा से ज्यादा आहरण भी कर सकती है। इसी कारण ज्यादातर विकासशील देश विदेशी प्रत्यक्ष निवेश के लिए यह शर्त लगा देते हैं कि ऐसी कम्पनियो के प्रबन्ध, कर्मचारियों की नियुक्ति तथा निर्यात व्यापार मे स्थानीय भागीदारी भी रखी जाएगी। यदि किसी कम्पनी के शेयर पूंजी मे 50% से 100% तक प्रत्यक्ष स्वामित्व विदेशी निवेश के रूप मे हो, तो इसमे निवेश करने वाली कम्पनी का नियन्त्रण भी इसी अनुपात मे होता है। यहाँ पर नियन्त्रण से हमारा अभिप्राय उत्पादन की प्रकृति एवं मात्रा, उच्च-स्तरीय अधिकारियों की नियुक्ति, पूँजीगत-अनुदान शोध आदि का निर्धारणकर्त्ता से होता है।

यदि किसी अन्य देश मे निवेश करने वाली कोई फर्म वहाँ के स्थानीय बाजारों से ऋण लेती है तो इस प्रकार के प्रत्यक्ष निवेश से पूंजी का कोई आवागमन नहीं होता है। एक बार निवेश लाभप्रद बन जाने पर वह विदेशी कम्पनी अपने

ऋणों का भुगतान कर देगी और यहाँ तक कि अपने लाभों को पुन निवेश करने लगेगी। परन्तु अधिकांश स्थितियों में प्रत्यक्ष निवेश के अन्तर्गत पूंजी का आवागमन होता है, विदेशो म स्थित कम्पनी के प्रबन्ध पर आंशिक रूप से नियन्त्रण विदेशी फर्म का होता है। इसके अतिरिक्त तकनीकी का आवागमन किया जाता है। कभी-कभी संयुक्त उद्योग भी स्थापित किए जाते हैं, जिनके अन्तर्गत विदेशी कम्पनियाँ विदेशी विनिमय के रूप मे शेयर पूंजी प्रदान करती है, अथवा उनके स्वयं की मशीनें प्रौद्योगिकी या अन्य प्रकार के योगदान को ही शेयर पूंजी मे उनके योगदान के रूप मे मान लिया जाता है।

आर्थिक इतिहास मे ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनके अन्तर्गत कुछ कम्पनियो ने भूतकाल मे लाभ अर्जित करने के उद्देश्य के बजाय निवेश के विविधीकरण अथवा हानि से बचने के लिए अन्य देशो मे पूंजी का निवेश किया था। फिर भी यदि लाभ का 50% अथवा इससे अधिक उन्ही कम्पनियो म पुन निवेश कर दिया जाए तो विदेशी निवेश तथा जुए मे कोई अन्तर नही रह जाता है क्योकि किसी कम्पनी के लिए किसी दूसरे देश मे व्यवसाय करना स्थानीय उद्यमियो की अपेक्षा अधिक खर्चीला तथा कम लाभप्रद कार्य होता है, अत विदेशो मे निवेश करने वाली ज्यादातर कम्पनियाँ इस कमी की पूर्ति करने हेतु स्थानीय फर्मों की अपेक्षा अपनी तकनीक या अपने पेटेन्ट एव प्रसिद्ध वस्तु की श्रेष्ठता के आधार पर अपना व्यवसाय करती है। यदि फर्म को देश के बाहर पूंजी निवेश करके लाभ अर्जित करना है तो उसे विशिष्टता का लाभ अथवा श्रेष्ठता का उपभोग करना आवश्यक हो जाता है। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक हो जाता है कि यह कम्पनी पूंजी का अन्य देशो मे निवेश करके, अपने देश मे किए जाने वाले निवेश की अपेक्षा अधिक लाभ अर्जित करे। साथ ही यह लाभ मेजबान देश की फर्मों द्वारा उतनी ही पूंजी निवेश से प्राप्त लाभो की अपेक्षा अधिक होना चाहिए।

उपरोक्त तथ्यो से विदेशी निवेश के बारे मे तीन बाते स्पष्ट होती है—

(1) जिन उद्योगो मे पूर्ण प्रतियोगिता विद्यमान है उनमे दीर्घकालीन पूंजीगत विदेशी निवेश नही किया जाएगा। इसी कारण से कृषक या खुदरा व्यापारी विदेशो मे प्रत्यक्ष रूप से निवेश करना पसन्द नही करते हैं।

(2) एक विदेशी कम्पनी यथासम्भव स्थानीय उद्यमियो की तुलना मे अपनी श्रेष्ठता को बनाए रखने का हर सम्भव प्रयत्न करती है। जबकि स्थानीय उद्यमी भी विदेशी निवेशकर्त्ता को सदैव शका की दृष्टि से देखते है।

(3) दीर्घकालीन विदेशी पूंजीगत निवेश एक ही उद्योग मे दो दिशाओ मे प्रयुक्त किए जाते है, क्योकि कुछ तो विभेदात्मक स्थिति के लाभो मे अन्तर के कारण तथा कुछ अल्पाधिकारिक स्थिति के कारण एक फर्म यथासम्भव किसी दूसरी फर्म को अप्रत्याशित लाभ प्राप्त नही करने देती है। यह उस नौका-दौड की भाँति है जिसमे कोई भी नाविक किसी दूसरे की नौका को अपने से आगे नहीं जाने देता, वरन् अपने नेता के पीछे रहकर अपनी स्थिति को बनाये रखता है।

गणितीय रूप से दीर्घकालीन विदेशी पूंजीगत निवेश के सिद्धान्त को निम्न रूप से प्रकट किया जा सकता है—

$$C = \frac{I}{r}$$

यहाँ पर C = *निवेश का मूल्य है,*

I = *निवेश से होने वाला आय प्रवाह है,*

r = *बाजार की ब्याज दर है।*

कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि विदेशी लोग किसी अन्य देश A में आय प्रदान करने वाले किसी व्यवसाय के लिए उस देश के निवासियों की तुलना में अधिक पूंजी निवेश करने को इसलिए तैयार नहीं होते हैं कि देश A में ब्याज की दर (r) कम है, वरन् इसलिए तैयार होते हैं कि इस निवेश (c) से प्राप्त होने वाला आय प्रवाह (I) अधिक होता है। अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी बाजारों में पूर्ण प्रतियोगिता नहीं होती है तथा सामान्यतः ब्याज की दरों के अन्तर का पूंजी के आवागमन पर भी प्रभाव पड़ता है। परन्तु विदेशी लोग ब्याज की दर वही होने पर तथा *I का मान अधिक होने पर किसी दूसरे देश में पूंजी का निवेश कर देते हैं।*

विदेशी निवेश के कारण निवेश करने वाले, तथा निवेश प्राप्त करने वाले दोनों ही देशों के भुगतान सन्तुलन प्रभावित होते हैं क्योंकि पूंजीगत निवेश के कारण साज सज्जा कलपुर्जों, भण्डार आदि के निर्यात में वृद्धि होती है तथा इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष निवेश के कारण निवेशकर्ता को लाभांश तथा ब्याज की प्राप्ति होती है। इस प्रकार, यद्यपि प्रत्यक्ष निवेश से निवेश करने वाले देश के भुगतान सन्तुलन पर प्रारम्भ में तो प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है परन्तु बाद में ब्याज एवं लाभांश की प्राप्ति तथा बढ़ते हुए निर्यातों के कारण उसका भुगतान सन्तुलन अगले अनेक वर्षों तक अनुकूल बना रहता है। परन्तु दीर्घकाल में मेजबान देश द्वारा निवेश करने वाले देश से अनेक वस्तुओं का आयात बन्द कर दिया जाता है क्योंकि तब तक उसकी स्वयं की उत्पादन क्षमता में विदेशी निवेश के कारण काफी सुधार हो चुका होता है। फलतः दीर्घकाल में निवेश करने वाले देश के भुगतान सन्तुलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है, फिर भी यह प्रभाव अन्य वस्तुओं के निर्यात में हुई वृद्धि, रायल्टी भुगतानों, तथा मेजबान देशों से आने वाली ब्याज व लाभांश की राशि की तुलना में बहुत कम होता है।

विदेशी निवेश के प्रारम्भ के वर्षों में मेजबान देश का भुगतान सन्तुलन काफी अनुकूल हो जाता है परन्तु धीरे-धीरे आगे के वर्षों में परिशोधन, ब्याज तथा लाभांश के भुगतानों के कारण इसका भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल होने लगता है। ये बाहरी भुगतान किस सीमा तक उसके भुगतान सन्तुलन पर प्रतिकूल प्रभाव डालेंगे, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि मूल निवेश पर कितना लाभ प्राप्त होता है तथा ब्याज व लाभांश के आवागमन हेतु क्या शर्तें रखी गई हैं।

की नवीन वस्तुओं के उपभोग पर व्यय किया जाता है, जिनकी पूर्ति भी विदेशों से मँगाकर की जाती है। अनेक अर्द्ध-विकसित देश कृषि-प्रधान होते हुए भी कृषि व्यवसाय और उत्पादन-पद्धतियों के अवनत होने के कारण देश की आवश्यकतानुसार खाद्यान्न और उद्योगों के लिए कृषि-जनित कच्चा माल भी उत्पन्न नहीं करते। अतः उन्हें खाद्यान्नों और ऐसे कच्चे माल का भी आयात करना पड़ता है। भारतीय योजनाओं में ऐसा ही हुआ। अधिकांश अर्द्ध-विकसित देश अधिक जनसंख्या से ग्रसित होते हैं और इनकी जनसंख्या-वृद्धि की दर भी अधिक होती है। इस बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए अधिक मात्रा में उपभोग सामग्री और उत्पादक वस्तुओं की आवश्यकता होती है, जिसकी पूर्ति के लिए आयातों का आश्रय लेना पड़ता है। कई *अर्द्ध-विकसित देशों में आयातों के बढ़ने का यह भी एक कारण है। इस प्रकार,* विकासार्थ नियोजन के प्रारम्भिक वर्षों में आयातों के बढ़ने की प्रवृत्ति होती है। इन देशों को परिपोषक आयात (Maintenance Imports), विकासात्मक आयात (Developmental Imports) और अस्फीतिकारी आयात (Anti-inflationary Imports) करने पड़ते हैं। इन सब आयातों के भुगतान हेतु विदेशी विनिमय की आवश्यकता होती है।

निर्यात और विदेशी-विनिमय का अर्जन—स्पष्ट है कि विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था में वृद्धिमान दर से आयात करने पड़ते हैं। विदेशों से इन पदार्थों का आयात करने के लिए इनका भुगतान विदेशी मुद्रा में करना पड़ता है, जिसे ये देश अपनी वस्तुओं का निर्यात करके प्राप्त कर सकते हैं। अधिक मात्रा में वस्तुएँ आयात की जा सकें, इसके लिए यह आवश्यक है कि ये देश अधिकाधिक मात्रा में अपने देश से पदार्थों का निर्यात करके अधिकाधिक विदेशी मुद्रा या विदेशी विनिमय अर्जित करें। इन निर्यातों में दृश्यगत और अदृश्य (Visible and Invisible Exports) दोनों निर्यात सम्मिलित हैं। इस प्रकार, विकासोन्मुख देशों के लिए निर्यातों में वृद्धि करना आवश्यक होता है। किन्तु दुर्भाग्यवश, इन देशों में नियोजन की प्रारम्भिक अवस्थाओं में निर्यात-क्षमता बहुत अधिक नहीं होती है। एक तो स्वयं देश के विकास कार्यक्रमों के लिए वस्तुओं की आवश्यकता होती है। दूसरे, आर्थिक विकास के कारण बढ़ी हुई आय को भी जनता, उपभोग पर ही व्यय करना चाहती है, क्योंकि इन देशों में उपभोग की प्रवृत्ति अधिक होती है। अतः निर्यात-योग्य आधिक्य (Exportable Surplus) कम बच पाता है। योजनाबद्ध आर्थिक विकास में जो कुछ उत्पादन किया जाता है, वह उपभोग की बढ़ती हुई आवश्यकता में प्रयुक्त कर लिया जाता है। परिणामस्वरूप, इतनी अतिरिक्त निम्न-स्तरीय उत्पादकता और मुद्रा-प्रसारिक प्रवृत्तियों के कारण उत्पादन लागत अधिक होती है और विश्व के बाजारों में वे प्रतिस्पर्द्धा में प्रारम्भिक वर्षों में नहीं टिक पाते, फलस्वरूप, व्यापार प्रतिकूल हो जाता है क्योंकि, एक ओर आयातों में वृद्धि होती है तथा दूसरी ओर उनके भुगतान के लिए निर्यात अधिक नहीं बढ़ पाते। इस प्रकार विदेशी विनिमय का संकट पैदा हो जाता है। जिसको विदेशी सहायता द्वारा पूरा करने का प्रयत्न किया जाता है।

अर्द्ध विकसित अथवा विकासशील देश योजनाबद्ध आर्थिक विकास के मार्ग पर हैं और इसमें सहायता देने के लिए उन्हें विकसित राष्ट्रों से ऋण (Loans) के साथ साथ अनुदान (Grants) भी प्राप्त होते हैं। इसलिए आजकल 'विदेशी पूँजी" (Foreign Capital) के स्थान पर "विदेशी सहायता" (Foreign Aid) शब्द अधिक प्रचलित हो गया है। भारत के आर्थिक विकास में विदेशी सहायता की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण रही है, तथापि इसने कुछ समस्याएँ भी उत्पन्न कर दी हैं। स्पष्ट है कि विदेशी सहायता के लाभ और हानि दोनों हैं।

विदेशी सहायता की आवश्यकता

अर्द्ध विकसित और विकासशील देशों के लिए विदेशी सहायता मुख्यतः इन दो कारणों से बहुत आवश्यक है—

(1) इन देशों की प्राय बहुत कम होती है, अतः आन्तरिक बचत भी कम होती है और आर्थिक विकास के लिए आवश्यक पूँजी आन्तरिक साधनों से उपलब्ध नहीं हो पाती। इसलिए विदेशी पूँजी का सहारा लिया जाता है। यदि विदेशी पूँजी सुलभ न हो तो इन देशों का आर्थिक विकास या तो रुक जाता है अथवा बहुत मन्द गति से हो पाता है। आर्थिक विकास का इतिहास बतलाता है कि आज के विकसित देशों ने भी अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्था में विदेशी पूँजी की सहायता ली थी। उदाहरणार्थ, ब्रिटेन ने 17वीं और 18वीं सदी में हॉलैण्ड से, संयुक्त राज्य अमरिका ने 19वीं सदी में यूरोप से और कनाडा ने 1900 से 1930 के बीच इंग्लैण्ड तथा अमरिका से काफी पूँजी प्राप्त की थी। लेकिन रूस इसका अपवाद रहा है, क्योंकि वहाँ उपभोग घटाकर अनिवार्य बचत द्वारा पूँजी-निर्माण करके आर्थिक विकास किया गया पर लोकतान्त्रिक पद्धति वाले देशों में यह मार्ग अपनाया जाना सम्भव नहीं है।

(2) विकसित और अर्द्ध-विकसित देशों के बीच आर्थिक असमानता की खाई को पाटने के लिए भी यह आवश्यक है कि विकसित देश बड़े पैमाने पर अर्द्ध-विकसित देशों को आर्थिक सहयोग दें। यह आर्थिक सहयोग और सहायता दोनों पक्षों के लिए हितकारी है, क्योंकि जब विश्व की आर्थिक समृद्धि बढ़ती है तो सभी देशों के नागरिकों का जीवन-स्तर ऊँचा उठता है।

पियरसन कमीशन द्वारा विश्व बैंक को अक्तूबर, 1969 में पेश की गई अपनी रिपोर्ट में विदेशी सहायता का 'नैतिक" और "व्यावहारिक' कारणों के आधार पर समर्थन किया गया। नैतिक दृष्टि से यह उचित है कि जो समर्थ और शक्तिशाली हैं वे दूसरों की सहायता करें। व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाए तो विदेशी सहायता विश्व की गरीबी हटाने के लिए आवश्यक है। आज विश्व-समाज की धारणा बल पकड़ रही है और 'कल्याण" विभाज्य (Divisible) नहीं रह गया है।

भारत को विदेशी सहायता से लाभ[1]

भारत योजनाबद्ध रूप मे आर्थिक विकास के लिए प्रयत्नशील है। विदेशी सहायता के लिए भारत के सन्दर्भ मे मुख्यत: निम्नलिखित आधार हैं—

1. प्राकृतिक साधनों के विदोहन के लिए—भारत प्राकृतिक साधनो की दृष्टि से धनी है, लेकिन पूँजी के अभाव मे अपने प्राकृतिक साधनों का समुचित विदोहन नही कर सकता। विदेशी पूँजी के सहयोग से देश प्राकृतिक साधनों का तेजी से विदोहन करके आर्थिक विकास को तीव्र गति दे सकता है और देशवासियो का जीवन-स्तर ऊँचा उठा सकता है।

2. पूँजी-निर्माण बढ़ाने के लिए—विदेशी सहायता के अभाव मे भारत के लिए अपना उपभोग घटाकर पूँजी-निर्माण करना होगा, जो निश्चिय ही बड़ा कठिन काम है। विदेशी सहायता का उपयोग आयात बढ़ा कर उपभोग वस्तुओं की घरेलू पूर्ति की वृद्धि मे किया जा सकता है जिससे अर्थ-व्यवस्था पर भार में कमी आती है।

3. देशी पूँजी के प्रभावपूर्ण उपयोग के लिए—विदेशी पूँजी अथवा विदेशी सहायता के अभाव मे देशी पूँजी प्रभावशाली नही हो पाती। नए कारखाने खोलने पर मशीनो, औजारो, कच्चे माल तथा अन्य विकास सामग्री की खरीद विदेशों से करनी पड़ती है। पूँजी के अभाव में समुचित खरीद नहीं हो पाती और कार्यक्रम ठप्प हो जाते हैं। पर यदि आवश्यकता के समय विदेशी पूँजी सुलभ हो तो देशी पूँजी का भी प्रभावशाली उपयोग हो सकता है।

4. विदेशी विनिमय का संकट टालने के लिए—विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे आयात तो बढ़ते जाते हैं जबकि निर्यात उतनी तेजी से नहीं बढ पाते। अत: विदेशी भुगतान की समस्या उत्पन्न हो जाती है। देश का विदेशी विनिमय कोष समाप्त होने लगता हैं। इस परिस्थिति मे "विदेशी सहायता" द्वारा विनिमय संकट को टालना सम्भव हो पाता है।

5. स्वदेशी विनियोजकों को प्रोत्साहित करने के लिए—विदेशी पूँजी से स्वदेशी विनियोजकों को भी विनियोग-वृद्धि की प्रेरणा मिलती है। विदेशी सहायता के बल पर देश मे ऐसी वस्तुओं का उत्पादन बढ़ने लगता है जो अन्य उद्योगों के लिए कच्चा माल बन जाते हैं। इस प्रकार देश के उद्योगों मे विनियोजन बढ़ जाता है।

6. स्थायी सम्पत्तियों का निर्माण बढ़ाने के लिए—विदेशी पूँजी की सहायता से देश में सिंचाई साधन, बाँध, बिजली घर आदि के रूप मे स्थायी सम्पत्तियों से भविष्य में लाभ अर्जित करके हम विदेशी पूँजी का भुगतान कर सकते हैं।

1. भारत एक अर्द्धविकसित राष्ट्र है अत: भारत के लिए लागू लगभग सभी आधार अन्य अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों के लिए भी लागू होते हैं।

7 विभिन्न आर्थिक क्रियाओं में विदेशी अनुभव का लाभ उठाने के लिए—परिवहन विकास, खनिज व्यवसाय एवं मूलभूत पूँजीगत उद्योगों के विकास आदि में विदेशी अनुभव का लाभ उठाने की दृष्टि से भी विदेशी पूँजी महत्त्वपूर्ण है। भारत औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशों की उत्पादन-विधियों को अपना कर तेजी से अपना औद्योगीकरण कर सकता है।

8 आन्तरिक स्थायित्व के लिए—विदेशी पूँजी की सहायता से आर्थिक विकास को गति देकर देश में आन्तरिक स्थायित्व के तत्वों को बल पहुँचाया जा सकता है।

9 मुद्रा-स्फीति विहीन विकास सम्भव बनाने के लिए—विदेशी पूँजी से देश में मुद्रा-स्फीति विहीन विकास सम्भव होता है। विदेशी पूँजी का आयात न होने से हीनार्थ प्रबन्धन द्वारा बचत से अधिक विनियोजन करने की नीति से देश में मुद्रा-स्फीति का प्रसार होना है। किन्तु विदेशी पूँजी के आयात से मुद्रा स्फीति का यह भय बहुत कम हो जाता है, बशर्ते कि विदेशी पूँजी से उत्पादन शीघ्रातिशीघ्र किया जाए और यदि उत्पादित सामान का निर्यात हो तो देश के उपभोग के लिए समुचित आयात भी हो।

इन सभी कारणों से भारत के लिए विदेशी सहायता का बड़ा उपयोग है। देश की पंचवर्षीय योजनाओं में विदेशी सहायता का भारी उपयोग किया गया है और जब तक देश सभी प्रकार की मशीनरी में आत्म निर्भर नहीं हो जाता तब तक हम विदेशी सहायता लेनी पड़ेगी। पर विदेशी सहायता पर अत्यधिक निर्भरता नुकसानदेह है। इसके कुछ बड़े खतरे हैं जिनसे सावधानियाँ बरती जाना अति आवश्यक है।

विदेशी सहायता के खतरे और हानियाँ

भारत जैसे अर्द्ध-विकसित देश विदेशी पूँजी के माध्यम से अपने आर्थिक विकास को तीव्र करने का प्रयत्न करते हैं, लेकिन इस स्रोत पर अधिक निर्भरता के अनेक खतरे भी हैं, जैसे—

(1) विदेशी पूँजी देश में राजनीतिक हस्तक्षेप को साथ लाती है। भारी मात्रा में आर्थिक सहायता देने वाला देश "आर्थिक प्रभुत्व" के साथ-साथ "राजनीतिक प्रभुत्व" भी बढ़ाने का प्रयत्न करता है। भारत की विदेश-नीति गुट निरपेक्षता पर आधारित है, तथापि विदेशों से लगातार आर्थिक सहायता लेने पर हमारी आर्थिक नीति पर परोक्ष रूप में उनका कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है। योजना की प्राथमिकताएँ भी प्रभावित होती हैं। विदेशी विनियोग कर्त्ताओं को सन्तुष्ट रखने के लिए देश की कर-नीति में भी कुछ न कुछ परिवर्तन संशोधन करने पड़ते हैं। औद्योगिक नीति, प्रशुल्क नीति आदि को इस रूप में ढाला जाता है कि विदेशी पूँजी के प्रवाह में बाधा न पड़े। यद्यपि, भारत ने अभी तक विदेशी दबावों का सफलता-पूर्वक सामना किया है, तथापि अमेरिका आदि देशों की दबाव-नीति हमें सतर्क कर देने के लिए काफी है। भारत यह नहीं भूल सकता कि पाकिस्तानी आक्रमण से

उत्पन्न संकटकाल में अमेरिका ने अपनी आर्थिक सहायता को भारत पर दबाव डालने के हथियार के रूप मे प्रयोग करने का कुत्सित प्रयत्न किया।

(2) विदेशी सहायता देश की सुरक्षा के लिए संकट पैदा कर सकती है। जब संकटकाल मे अचानक विदेशी सहायता बन्द कर दी जाती है और विदेश पूँजी वापस लौटने लगती है तो देश की सुरक्षा को खतरा पैदा हो जाता है।

(3) विदेशी पूँजी के अत्यधिक आयात से देश के आर्थिक दिवालिएपन का खतरा पैदा हो जाता है, क्योंकि ब्याज और लाभ के भुगतान के रूप मे भारी मात्रा मे राशि विदेशो को चली जाती है। इससे देश में आवश्यक पूँजी-निर्माण सम्भव नही हो पाता और आर्थिक विकास की योजनाएँ ठप्प होने लगती हैं। इसी अध्याय मे हम आगे चल कर पढ़ेंगे कि पूँजी के कारण भारत पर ब्याज और मूल-धन चुकाने का कितना भारी बोझा बढ़ता जा रहा है।

(4) भारी मात्रा में विदेशी मशीनों और उपकरणों को निरन्तर काम मे लेने से इनके सम्बन्ध मे देश की निर्भरता बढ़ जाती है। यद्यपि भारत मशीनरी के सम्बन्ध मे आत्म-निर्भरता की ओर बढ रहा है, तथापि आधारभूत उद्योगो के लिए आवश्यक जटिल और भारी मशीनो के खातिर विदेशो पर उसकी निर्भरता काफी बढी हुई है। यह स्थिति देश के लिए गम्भीर चुनौती है।

(5) विदेशी पूँजी के साथ-साथ जो विदेशी लोग देश मे घुस आते है उनके कारण गोपनीयता कायम नही रह पाती। कभी-कभी अवांछित विदेशी तत्त्व देश के हितों को बड़ा नुकसान पहुँचा देते हैं।

इन दोषो और हानियो के प्रकाश मे अनेक अर्थ-शास्त्रियों का मत है कि भारत को अपने आन्तरिक साधनो पर ही अधिक निर्भर रहना चाहिए। विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे हमारे लिए विदेशी सहायता की बहुत अधिक आवश्यकता थी, लेकिन अब समय आ गया है कि हम विदेशी सहायता पर अपनी निर्भरता को तेजी से कम करते जाएँ --इसके लिए चाहे हमे कुछ अधिक कठिनाइयाँ झेलनी पड़े और विकास की गति को चाहे धीमा करना पड़े। विदेशी पूँजी का जितना अधिक ब्याज भारत को चुकाना पड रहा है वह चिन्ताजनक पहलू है।

विदेशी सहायता के प्रति भारत सरकार की नीति

भारत सरकार प्रारम्भ से ही यह मानकर चली कि देश के विकास के लिए घरेलू बचतो के पूरक के रूप मे विदेशी पूँजी का भारी महत्त्व है वस्तुत. नवोदित स्वतन्त्र भारत के सामने विकास का दबाव इतना प्रबल था और देश के आन्तरिक साधन इतने अल्प थे कि सरकार के पास विदेशी पूँजी लेने के अलावा कोई विकल्प न था। सरकार ने अप्रेल, 1948 के औद्योगिक नीति संकल्प मे और तत्पश्चात् 1949 मे संविधान सभा मे प्रधानमन्त्री ने विदेशी पूँजी के बारे मे सरकारी नीति के व्यापक सिद्धान्त इस प्रकार व्यक्त किए—

(1) विदेशी पूंजी तथा उद्यम की हिस्सेदारी को राष्ट्रीय हित मे इस प्रकार विनियमित किया जाएगा कि कुछ अपवादो को छोड़कर स्वामित्व का अधिकांश भाग और नियन्त्रण भारतीयो के हाथो मे रहे ।

(2) भारतीय कर्मचारियो को समुचित प्रशिक्षण दिया जाएगा ताकि वे अन्तत विदेशी विशेषज्ञो का स्थान ग्रहण कर सकें ।

(3) देशी और विदेशी पूंजी मे कोई भेदभावपूर्ण व्यवहार नही किया जाएगा तथा विदेशी हितो पर कोई विशेष प्रतिबन्ध नही लगाए जाएँगे ।

(4) विदेशी विनियोगकर्त्ताओ का लाभ और पूंजी देश से बाहर भेजने की अनुमति होगी, किन्तु इस सम्बन्ध मे देश की मुद्रा स्थिति का ध्यान अवश्य रखा जाएगा ।

(5) राष्ट्रीयकरण कर लेने की सूरत मे उचित और न्यायपूर्ण मुआवजा दिया जाएगा ।

विदेशी पूंजी अथवा विदेशी सहायता के सम्बन्ध मे सरकार की आधारभूत नीति अभी तक यही चली आ रही है और इसमे कोई विशेष परिवर्तन नही हुए हैं । चतुर्थ पचवर्षीय योजना मे विदेशी पूंजी का स्वागत करते हुए इस बात पर विशेष बल दिया गया था कि विदेशी सहयोग मुख्य रूप से उन्ही क्षेत्रो मे लिया जाए जहाँ एक तो तान्त्रिक अन्तराल को भरना आवश्यक हो और दूसरे उसके कारण घरेलू सेवाओ और ज्ञान के अधिकतम उपयोग मे बाधा न पडे । जुलाई, 1970 मे सरकार ने ऐसी इकाइयो की स्थापना की अनुमति दी जो विदेशी कम्पनियो की अधीनस्थ कम्पनियो के पूर्ण स्वामित्व मे कायम की जाए, बशर्ते कि वे अपना शत प्रतिशत उत्पादन निर्यात करें । इस सम्बन्ध मे आगे चलकर भारत सरकार ने कुछ निर्देशक तत्त्व भी जारी किए । लाभो को बाहर भेजने की अनुमति देने की नीति जारी रही, लेकिन फिर भी शत-प्रतिशत विदेशी स्वामित्व वाली कम्पनियो द्वारा घोषित लाभाँशो के भेजने पर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिए गए । सार रूप मे, विदेशी पूंजी के सम्बन्ध मे भारत सरकार की नीति अभी यही है कि कुछ चुने हुए क्षेत्रो मे इसका स्वागत किया जाए तथापि अन्तिम रूप मे यह सदैव भारतीयकरण के उद्देश्य के अधीन रहे ।

सम्पूर्ण योजना-काल में विदेशी सहायता का आकार व उपयोग

सन् 1950–51 मे योजनाबद्ध आर्थिक विकास का सूत्रपात करने से लेकर 1973–74 तक विदेशी सहायता के आकार और उपयोग की जानकारी महत्त्वपूर्ण है । विदेशी सहायता को मोटे रूप मे तीन श्रेणियो मे विभाजित किया गया है—(क) ऋण (Loans), (ख) अनुदान (Grants) एव (ग) सार्वजनिक अधिनियम सहायता (Public Law Ass stance) । कुल विदेशी सहायता का चित्र अग्रिम सारणी से भली भाँति स्पष्ट होगा—

कुल विदेशी सहायता
(Overall External Assistance)

वर्ष	ऋण (Loans)	अनुदान (Grants)	जोड़	पी.एल. 480/665 आदि सहायता: रुपये में चुकाई जाने वाली	पी.एल. 480/665 आदि सहायता: परिवर्तनीय मुद्रा में चुकाई जाने वाली	कुल जोड़
1	2	3	4	5	6	7
(क) दी गई विदेशी सहायता						
तीसरी आयोजना के अन्त तक	3808·8	392·0	4200·6	1510·8	—	5711·6
1966–67	1034·1	79 7	1113·8	392·7	—	1506·5
1967–68	398·5	16·8	415 3	235 6	67·6	718·8
1968–69	753 1	68 4	821·5	71·6	53·7	946 8
1969–70	421·8	26 0	447 8	73 6	112·9	634 8
1970–71	705·4	56·5	761 9	—	—	761·9
1971–72	774·5	36·0	810 5	22·5	96·2	929·2
1972–73	639·6	36·6	676·2	—	—	676 2
1973–74	1129·5	41·1	1170·6	—	—	1170 6
1974–75	1481·4	189 8	1671·2	—	—	1671·2
1975–76	2192·8	440·7	2633·5	—	20 0	2653 5
1976–77	806·7	386·1	1192·8	—	93 6	1286 4
योग	14146·1	1769 7	15915·9	2307·1	440 0	18667 0
(ख) उपयोग की गई विदेशी सहायता						
तीसरी आयोजना के अन्त तक	2768 7	336·9	3105·6	1403·2	—	4508 8
1966–67	674·7	67 1	771·7	359·2	—	1506·5
1967–68	793·2	60·7	853 9	310 6	30 8	1195 6
1968–69	679 8	65·1	745·0	84·5	73 1	902·6
1969–70	660 7	26 1	686 8	107·5	62 0	856·3
1970–71	658 9	43·5	702·4	37·7	51·3	791·4
1971–72	671·7	50 5	722 2	8 8	103·1	834·1
1972–73	649 9	12 0	661·9	—	4·3	666·2
1973–74	1015·0	20·7	1035·7	—	—	1035 7
1974–75	1220 4	93·0	1314 3	—	—	1314·3
1975–76	1464 6	283 3	1748 2	—	93 2	1840·5
1976–77	1285 3	245 8	1531 1	—	67 8	1598·9
योग	12543·2	1335 7	11878 9	2312·2	484 1	16675·8

Source : Economic Survey, 1977-78.

सारणी से स्पष्ट है कि कुल विदेशी सहायता स्वीकृतियाँ (Authorisations) तीसरी योजना के अन्त तक 5711 6 करोड़ रुपया थी जो बढ़कर 1976–77 तक कुल मिलाकर 18667 0 करोड़ रुपया हो गई। इस कुल योग मे ऋण की राशि 14146 1 करोड़ रुपये, अनुदान की राशि 1769 7 करोड़ रुपये और सार्वजनिक अधिनियम सहायता 2747 1 करोड़ रुपये की रही। विदेशी सहायता के उपयोग को लें तो तीसरी योजना के अन्त तक उपयोग 4508 8 करोड़ रुपये का हुआ जो बढकर 1976–77 तक 16675 8 करोड़ रुपये हो गई।

विदेशी सहायता की प्राप्ति : सकल एव शुद्ध

विदेशी सहायता की शुद्ध प्राप्ति के लिए कुल प्राप्ति (Gross Inflow) मे से मूलधन और ब्याज का भुगतान को घटा दिया जाता है। वस्तुत योजनाओं मे आर्थिक विकास के लिए इसी राशि का उपयोग होता है। सकल और शुद्ध विदेशी सहायता की प्राप्ति की। 1967–68 से 1977–78 तक जो स्थिति रही वह निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है—

विदेशी सहायता की प्राप्ति सकल और निवल

(Inflow of External Assistance Gross & Net)

(करोड़ रुपये)

मदें	1967 68	1970-71	1972 73	1974 75	1975-76	1977 78
1	2	3	4	5	6	7
1 सकल प्राप्तियाँ जिसमे	1196	691	666	1314	1841	1585
(क) पब्लिक लॉ 480 के अन्तगत अनाज	385	57	—	—	92	22
(ख) पब्लिक लॉ 480 के अन्तर्गत अनाज से भिन्न पदार्थ	57	32	4	—	—	—
(ग) अन्य खाद्य सहायता	45	36	—	162	97	32
2 कुल ऋण परिशोधन जिसमे	333	450	507	626	687	842
(क) मूलधन की अदायगियाँ	211	290	327	411	463	594
(ख) ब्याज की अदायगियाँ	122	160	189	215	224	248
3 विदेशी सहायता की निवल प्राप्ति (1–2)	863	341	159	712	1156	743

Source Economic Survey 1977 78 p 46

भारत को मिलने वाली विदेशी सहायता की राशि मे 1967–68 के बाद मे ही कमी आती चली गई किन्तु 1974–75 से पुन. वृद्धि होने लगी। 1972–73 मे

विदेशी सहायता का स्तर सबसे नीचा था, अर्थात् केवल 159 करोड़ रुपये ही प्राप्त हुए। 1975–76 मे स्तर सबसे ऊँचा रहा, इस वर्ष 1154 करोड़ रुपये की सहायता प्राप्त हुई। 1976–77 मे सहायता की राशि गिरकर 844 करोड़ रुपया और 1977–78 मे 743 करोड़ रुपये रह गया। 1977–78 मे विशुद्ध सहायता के नीचे स्तर को देखते हुए यह अनुमानित किया जाता है कि भविष्य मे सहायता राशि का अनुपात और घटेगा। 1975–76 मे सहायता राशि मे वृद्धि मुख्यतः तेल उत्पादक मित्र देशों तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास समूह से मिली सहायता के कारण हुआ। विदेशी सहायता के सन्दर्भ मे यह उत्साहवर्धक बात है कि पिछले कुछ वर्षों मे सहायता देने वाले कुछ देशों द्वारा दी गई सहायता की किस्म में सुधार हुआ है। यूनाइटेड किंगडम से मिलने वाली सहायता, जो अब पिछले कुछ समय से मुकम्मिल तौर पर अनुदानों के रूप मे रही है 1976–77 में पहले से अधिक थी। जर्मन संघीय गणराज्य ने अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की शर्तों पर सहायता दी। नीदरलैण्ड की सहायता भी अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की शर्त के अनुरूप थी और 1976–77 के दौरान इस सहायता मे काफी वृद्धि कर दी गई। स्वीडन तथा नार्वे पहले से ही भारत को अनुदान के रूप में सहायता प्रदान कर रहे थे। कनाडा तथा डेनमार्क द्वारा अनुदान के रूप मे दी गई सहायता में वृद्धि हुई है।

विदेशी सहायता के उपयोग के कुछ मुख्य क्षेत्र

विदेशी सहायता किसी देश की उत्पादन-क्षमता का विकास करने में किस सीमा तक सहायक हो सकती है, यह विदेशी सहायता के विवेकपूर्ण उपयोग पर निर्भर है। उपभोग-वस्तुओं के रूप मे प्राप्त सहायता के प्रभाव का ठीक-ठीक अनुमान लगाना कठिन है, अतः हम भारत की उत्पादन-क्षमता (Productive Potential) की वृद्धि मे विदेशी सहायता के योगदान को लेंगे—

(1) प्राप्त सहायता मे से आधी से कुछ कम सहायता वस्तु रूप में रही है, जिसके अधिकांश भाग का उपयोग देश मे खाद्यान्नो का आयात करने के लिए किया गया है। विदेशी सहायता के एक अंश का उपयोग कच्चे माल एवं अतिरिक्त पुर्जों के आयात के लिए किया गया है।

(2) देश की सिंचाई क्षमता का विस्तार करके कृषि-उत्पादन की वृद्धि मे विदेशी सहायता का योगदान विशेष महत्त्वपूर्ण रहा है। कृषि के कुछ क्षेत्रों में और मत्स्यपालन के क्षेत्र मे उत्पादन-तकनीकों के आधुनिकीकरण में भी विदेशी सहायता काफी लाभदायक सिद्ध हुई है।

(3) परिवहन, विशेषकर रेलवे विकास में सहायता का उपयोग हुआ है।

(4) विदेशी सहायता ने भारत मे इस्पात जैसे मूलभूत उद्योग की उत्पादन-क्षमता के निर्माण करने की दिशा मे बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

(5) दक्ष सेवाओं की व्यवस्था मे भारतीय कर्मचारियों के प्रशिक्षण मे और देश में शिक्षण, गवेषणा तथा प्रशिक्षण संस्थाओं के विस्तार और स्थापन मे भी विदेशी सहायता का उपयोग मूल्यवान सिद्ध हुआ है।

ब्याज और मूलधन के भुगतान का बढ़ता हुआ भार

भारत पर विदेशी सहायता के संदर्भ में मूलधन और ब्याज के भुगतान का भार चिन्ताजनक रूप में बढ़ता जा रहा है, जैसा कि निम्नांकित आँकड़ों से स्पष्ट होगा—

(करोड़ रुपये में)

अवधि	ऋण परिशोधन	ब्याज का भुगतान	कुल ऋण परिशोधन
पहली आयोजना	10 5	13 3	23 8
दूसरी आयोजना	55 2	64 2	119 4
तीसरी आयोजना	305 6	237 0	542 5
1966-67	159 7	114 8	274 8
1970-71	289 5	160 5	450 0
1975-76	462 7	224 2	686 9
1976-77	507 4	247 3	754 7
1977-78 (अनुमानित)	593 7	248 0	841 7

Source Economic Survey 1977 78, p 113

वास्तव में उपयोग क्षमता (Utilisation capacity) को सीमित करने वाला सबसे महत्वपूर्ण कारण किसी देश के वर्तमान में लिए गए ऋणों के भविष्य में भुगतान कर सकने की क्षमता है। भारत विशाल निर्यात-क्षमता का अभी तक निर्माण नहीं कर पाया है अतः भुगतान दायित्वों (Repayment Obligation) का बोझा और भी विषम बन गया है। जब तक देश का निर्यात-उपार्जन (Export Earnings) काफी अधिक बढ़ नहीं जाता तब तक समस्या का दूसरा प्रभावी विकल्प एक कठिन प्रश्न है। सरकारी क्षेत्रों को विश्वास है कि भारत शीघ्र ही अपनी भुगतान क्षमता में तेजी से सुधार कर लेगा।

बद्ध बनाम अबद्ध सहायता

भारत को बद्ध और अबद्ध (Tied and untied) दोनों प्रकार की विदेशी सहायता प्राप्त होती है। संयुक्त राज्य अमरिका तथा अन्य कुछ देशों से प्राप्त होने वाली अधिकांश सहायता बद्ध सहायता के रूप में है। इसके अन्तर्गत उधार लेने वाले देश को ऋणदाता देश से वस्तुएं अथवा उपकरण खरीदने के लिए बाध्य होना पड़ता है। ऋणदाता देश इस स्थिति का प्रायः अनुचित लाभ उठाते हैं और वस्तुओं की कीमत अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों से काफी अधिक वसूल करते हैं। अबद्ध सहायता (Untied aid) में इस प्रकार का बन्धन नहीं होता। भारत को लम्बे अर्से तक लगभग 70 से 90 प्रतिशत के बीच बद्ध सहायता मिलती रही है और इस प्रकार देश के लिए विदेशी सहायता बहुत महंगी सिद्ध हुई है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय भाव से बहुत अधिक मूल्य वस्तुओं पर भारत को चुकाना पड़ा है।

विदेशी सहायता से सम्बन्धित कुछ प्रश्न और समाधान के उपाय

विदेशी सहायता से सम्बन्धित अनेक समस्याएँ देश के सामने उपस्थित हुई है, जिनमे मुख्य इस प्रकार हैं—

(1) मूलधन और ब्याज के भुगतान का भाग निरन्तर बढ़ता जा रहा है।

(2) प्राकृतिक प्रकोपों तथा अन्य संकटों के कारण समय-समय पर देश की अर्थ-व्यवस्था को भारी धक्का पहुँचा है और फलस्वरूप ऋणों के मूलधन और ब्याज को चुकाने मे हमारे समक्ष बड़ी कठिनाई उपस्थित हुई है। भारत सरकार को भुगतान 1 या अधिक वर्ष तक स्थगित करने अथवा नए ऋण लेकर पुराने ऋण चुकाने और शर्तों को पुन: निर्धारित करने के प्रयत्न करने पड़े हैं। ऋण-राहत (Debt relief) की आवश्यकता मे वृद्धि की यह स्थिति हमारे लिए दयनीय है।

(3) भारत को जो विदेशी ऋण मिले हैं उनमें से अधिकांश ऋणों के उपयोग पर विभिन्न प्रकार के प्रतिबन्ध लगे रहते हैं। इस प्रकार के प्रतिबन्ध वास्तव मे देश के हितों को क्षति पहुँचाने वाले होते हैं, उदाहरणार्थ बद्ध-सहायता के अन्तर्गत भारत को सहायता देने वाले देश से ही निर्धारित वस्तुएँ खरीदनी पड़ती हैं और इनका मूल्य अन्तर्राष्ट्रीय भाव से बहुत अधिक चुकाना पड़ता है।

(4) भारत को दी गई विदेशी सहायता मे प्रोजेक्ट-सहायता (Project aid) का अनुपात अधिक रहा है। ऐसी सहायता मे हमे शेष परियोजनाओं को पूरा करने के लिए ही सहायता प्राप्त होती है। विश्व बैंक तथा विकसित देशो ने अधिकांशत: ऐसी ही सहायता स्वीकार की है। भारत को गैर-प्रोजेक्ट सहायता अधिक दी जानी चाहिए और सन्तोष की बात है कि कुछ वर्षों से भारत की इस माँग पर अधिक सहानुभूतिपूर्वक विचार किया जाने लगा है। भारत को गैर-प्रोजेक्ट सहायता मे भी स्वतन्त्र सहायता अधिक स्वीकार है।

(5) विदेशी सहायता की स्वीकृति (Authorisation) तथा सहायता के प्रयोग (Utilisation) मे काफी अन्तर बने रहना भी देश के हितों के प्रतिकूल है। इस अन्तर का एक बड़ा कारण यह रहा है कि प्रोजेक्ट सहायता अधिक मिली है, अत: सहायता का पूरा उपयोग करने मे विभिन्न कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। गैर प्रोजेक्ट सहायता के उपयोग में अधिक कठिनाई नहीं होती।

(6) देश मे निजी विदेशी पूँजी (Private Foreign Capital) के आयात को जितना प्रोत्साहन मिलना चाहिए था उतना नहीं मिला है। विदेशों में भारत की आर्थिक नीति के सम्बन्ध में काफी भ्रम पैदा हुआ है और वे भारत में अपनी पूँजी लगाने से कुछ हिचकिचाते हैं। भारत सरकार को अनावश्यक भ्रम का निराकरण करते हुए अपनी कर नीति मे ऐसे संशोधन करने होंगे जिनसे विदेशी

पूंजीपति भारत में पूंजी लगाने में असुरक्षा का अनुभव न करें। विदेशी निजी विनियोग के लिए आकर्षण उत्पन्न करना ही होगा।

(7) जो विदेशी सहायता प्राप्त हुई है, उसका प्रभावपूर्ण उपयोग नहीं हो पाया है। कुछ क्षेत्रों में तो सहायता का उपयोग अनुचित ढंग से हुआ है। भारी मात्रा में विदेशी सहायता और घरेलू विनियोग के बावजूद देश में आर्थिक विषमता बढ़ती जा रही है उपभोग वस्तुओं का अभाव है और वस्तुओं की कीमतें बेहताशा बढ़ रही हैं।

विदेशी पूंजी के सम्बन्ध में उपस्थित कठिनाइयों का सामना करने के लिए और विदेशी सहायता पर आर्थिक विकास की निर्भरता कम करने के लिए भारत को निम्नलिखित बातों पर प्रभावी रूप से ध्यान देना होगा--

(1) विदेशी पूंजी का प्रयोग देनदार देश के निर्यात को बढ़ाने या आयात को घटाने के लिए किया जाना चाहिए।

(2) निर्यातों की वृद्धि और आयातों की कमी का समय इस तरह व्यवस्थित किया जाना चाहिए कि मूलधन और ब्याज का निर्धारित समय पर शोधन हो जाए।

(3) पूंजी अथवा ऋण की अदायगी के समय में लेनदार देशों को अधिक माल लेने के लिए राजी किया जाना चाहिए।

(4) विदेशी पूंजी अथवा ऋण सम्बन्धी व्यय अधिक नहीं होने चाहिए। वरना उनके शोधन में राष्ट्रीय आय की वृद्धि का एक बहुत बड़ा भाग देश से बाहर चला जाएगा।

(5) पूंजी उत्पादक कार्यों में ही प्रयुक्त की जानी चाहिए और इस सम्बन्ध में प्रशासनिक कुशलता तथा मितव्ययिता पर पूरा बल दिया जाना चाहिए।

(6) परम्परागत कच्ची सामग्री के निर्यात के साथ-साथ निर्मित और परम्परागत वस्तुओं के निर्यात को भी प्रोत्साहन दिया जाए।

(7) सार्वजनिक क्षेत्र के साथ ही निजी क्षेत्र में भी मितव्ययिता बरती जाए। विकास कार्यों का भी समय-समय पर मूल्यांकन किया जाए।

(8) देश की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप देश में कर लगाने और बचत करने की प्रणालियों में भी आवश्यक परिवर्तन किए जाएँ।

(9) यथासम्भव तकनीकी सहायता के लिए भारत में अधिकाधिक तकनीकी संस्थान कायम किए जाने चाहिए और विदेशों में प्रशिक्षण के लिए भेजने के कार्यक्रमों को सीमित करना चाहिए।

(10) सहायता सम्बन्धी समझौते लम्बी अवधि के होने चाहिए क्योंकि कम अवधि के समझौतों से अनिश्चितता की मात्रा बढ़ जाती है।

(11) बद्ध सहायता कम से कम ली जानी चाहिए। जो बद्ध सहायता पहले से ही है उसकी शर्तों में आवश्यक सुधार के लिए प्रयत्न किए जाने चाहिए।

1977–78 में विदेशी सहायता

(करोड़ रुपये में)

क्र. स.	स्वीकृत सहायता देश/संस्था	अप्रैल—दिसम्बर 1977 तक किए गए सहायता करार		
		परियोजना, भिन्न सहायता जिसमें ऋण-राहत शामिल है	परियोजना सहायता	जोड़
1	2	3	4	5
1.	आस्ट्रिया	2·4	—	2·4
2	कनाडा	44 2	0 7	44 9
3.	पश्चिमी जर्मनी	40 2	97 7	137 9
4.	जापान	68 0	30 6	98 0
5.	नीदरलैण्ड	68 0	—	68 0
6.	स्वीडन	46·3	—	46 3
7.	ब्रिटेन	4 6	—	4 6
8	अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक	—	214·7	214·7
9.	आई. डी. ए.	—	547 4	547·4
10.	सोवियत रूस	—	250·01[1]	250·01[1]
11	सऊदी अरबिया फंड	—	100·3	100 3
12.	ओ. पी. ई. सी. विशेष फंड	—		
13.	यूरोपीय आर्थिक समुदाय	10 7	—	10 7
	योग	284·4	991·4[2]	1275·8[2]

सहायता का स्वरूप	भुगतान[3]
जोड़ जिसमें	1585
(i) परियोजना भिन्न सहायता	710
(ii) परियोजना सहायता	875

टिप्पणी : स्वीकृत सहायता के आँकड़े भारत के रुपये तथा सहायता देने वाले देशों की अलग-अलग मुद्रा के बीच की नौ महीने की औसत विनिमय दर के आधार पर निकाले गए हैं। ऋण उपयोग के आँकड़े तत्सम्बन्धी तारीखों को रुपये और सहायता देने वाले देश की मुद्रा के बीच प्रचलित वास्तविक दैनिक विनिमय दरों पर आधारित है।

1 मिलियन रूबल्स में।
2 इसमें 250 मिलियन रूबल्स की रूसी परियोजना सहायता शामिल नहीं है।
3 1977–78 के लिए अनुमान।

विदेशी ऋण और ब्याज आदि का भुगतान

(करोड रुपय)

अवधि	ऋण परिशोधन	ब्याज का भुगतान	कुल ऋण परिशोधन
1	2	3	4
पहली आयोजना	10 5	13 3	23 8
दूसरी आयोजना	55 2	64 2	119 4
तीसरी आयोजना	305 6	237 0	542 5
1966–67	159 7	114 8	274 8
1967–68	210 7	122 3	333 0
1968 69	236 2	138 8	375 0
1969 70	268 5	144 0	412 5
1970–71	289 5	160 5	450 0
1971–72	299 3	180 0	479 3
1972–73	327 0	180 4	507 4
1973–74	399 9	195 9	595 8
1974 75	411 0	215 0	626 0
1975–76	462 7	223 6	686 3
1976–77	502 6	258 1	760 7

21 अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ

(ROLE OF THE INTERNATIONAL BANK FOR RECONSTRUCTION AND DEVELOPMENT AND INTERNATIONAL DEVELOPMENT ASSOCIATION)

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक, जिसे कई बार विश्व बैंक भी कहकर पुकारा जाता है, की स्थापना जुलाई, 1944 मे ब्रेटनवुड्स सम्मेलन मे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के साथ ही कर दी गई। कोष की स्थापना का लक्ष्य सदस्य-देशो की भुगतान सम्बन्धी विषमताओं को दूर करना था किन्तु विश्व बैंक की स्थापना इसलिए की गई ताकि युद्ध के कारण उत्पन्न सदस्य-देशो की आर्थिक अव्यवस्था की स्थिति को दूर किया जा सके और विकासशील एव अविकसित देशों को दीर्घकालीन ऋणो के रूप मे सहायता दी जा सके ताकि वे प्रगति के पथ पर बढ सकें। इस सम्बन्ध मे स्नाइडर का कहना है कि "बैंक और कोष दोनों अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाएँ थी, जो अनुपूरक कार्यों से युक्त थी तथा जिन्हे अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सम्बन्धों के क्षेत्र मे सहकारी कार्य को प्रोत्साहित करने के लिए बनाया गया था।"[1]

विश्व बैंक के उद्देश्य
(The Objectives of World Bank)

विश्व बैंक भी कोष की भाँति अतीत के असन्तोषजनक अनुभव की उपज थी। यह उन युद्धोत्तर परिस्थितियो एव समस्याओ के कारण सगठित की गई जिनको तत्कालीन व्यवहारों और सस्थाओ द्वारा सन्तुष्ट नही किया जा सकता था। इस समय विशेष रूप से एक ओर तो उन अन्तर्राष्ट्रीय अनुदानो के दुर्भाग्य पूर्ण परिणामों की याद ताजा थी जो प्रथम विश्व-युद्ध के बाद प्रथम शताब्दी मे दिए गए; दूसरी ओर द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद पुनर्रचना और विकास मे सहायता करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी की स्पष्ट आवश्यकता थी। ऐसी स्थिति मे दो आवश्यकताओ के कारण कुछ कदम उठाना जरूरी बन गया—(1) विश्व-युद्ध के बाद की

1 "The Bank and the Fund were to be twin International Institutions, complementary in function and designed to promote cooperative action in the field of International Monetary Relations."

—*Delebert A. Snider*, Op. cit., p 425

जटिल आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अल्पकालीन पूंजी प्रदान की जाए जिसे व्यक्तिगत पूंजी या तो पूरा नहीं कर सकती अथवा पूरा करना नहीं चाहती, (2) व्यक्तिगत अनुदान कोषों के व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह को दीर्घकालीन रूप में प्रेरित किया जाए।

यह सोचा गया कि इन उद्देश्यों की प्राप्ति अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग पूर्ण क्रिया के माध्यम से की जा सकेगी। इस प्रकार एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की रचना की गई, जिसकी बनावट और संगठन बहुत कुछ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से मिलता हुआ था। ब्रेटनवुड्स के सम्मेलन में जिन 44 देशों ने प्रतिनिधित्व किया उन सभी ने विश्व बैंक को स्वीकार नहीं किया। सोवियत रूस इसका सदस्य न बना। 1953 के अन्त तक इस बैंक में 54 देश सदस्य बन गए।

विश्व बैंक मुख्य रूप से चार उद्देश्यों को लेकर संगठित की गई—

1 सदस्यों को आर्थिक पुनर्निर्माण और विकास कार्य में सहायता देना— विश्व बैंक का प्रथम मुख्य उद्देश्य यह था कि युद्ध में सदस्य देशों को जो क्षति हुई है उसे सुधारने के लिए पुनर्निर्माण और विकास की दृष्टि से सहायता दी जाए। वर्तमान में यह बैंक विकसित सदस्यों की अर्थ व्यवस्थाओं के पुनर्निर्माण कार्य में वित्तीय सहायता देता है और अविकसित सदस्यों को पर्याप्त मात्रा में वित्तीय एवं तकनीकी सहायता देकर उनके तीव्र आर्थिक विकास को सम्भव बनाता है।

2 अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी निवेश में वृद्धि करना— विश्व बैंक का दूसरा मुख्य उद्देश्य व्यक्तिगत और संस्थागत निवेशकर्त्ताओं को अविकसित देशों में उत्पादन कार्य के लिए पूंजी का निवेश करने हेतु प्रोत्साहित करता है। इसके लिए वह निवेश-कर्त्ताओं को उनकी पूंजी की गारन्टी देता है अथवा उनके निवेश या ऋण में हाथ बँटाता है।

3 दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन— विश्व बैंक द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन दिया जाता है। यह अपने सदस्य देशों के उत्पादन के साधनों का विकास करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विनियोगों को प्रोत्साहन देता है ताकि सम्बन्धित देश में रोजगार आय तथा जीवन-स्तर आदि ऊँचा उठाया जा सके।

4 शान्तिकालीन अर्थ व्यवस्था की स्थापना— युद्ध के समय देश की आवश्यकताओं की प्रकृति शान्तिकाल की अपेक्षा भिन्न होती है। युद्ध के बाद यह आवश्यकता हुई कि उस समय की अर्थ-व्यवस्था को शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था में परिणत किया जाए। यह कार्य विश्व बैंक को सौंपा गया।

विश्व बैंक का संगठन
(The Organisation of World Bank)

जो देश 31 दिसम्बर, 1945 तक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य बने केवल उन्हीं को विश्व बैंक के मूल सदस्य माना गया। कोई देश दो शर्तों पर विश्व बैंक का सदस्य बन सकता है। प्रथम उस देश के प्रार्थना पत्र को सदस्यों की मतदान शक्ति के बहुमत द्वारा स्वीकार किया जाए और दूसरे, वह देश अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष

का सदस्य होना चाहिए। यदि कोई सदस्य कोष की सदस्यता से त्याग-पत्र देता है तो विश्व बैंक से भी उसकी सदस्यता समाप्त हो जाती है। कोष की सदस्यता त्यागने पर भी एक देश को ऐसी स्थिति में बैंक का सदस्य बनाए रखा जा सकता है जबकि उसके तत्कालीन सदस्यों में से 75 प्रतिशत उसके पक्ष में मत प्रकट करें। बैंक की सदस्यता केवल तभी तक बनी रहती है जब तक कि सम्बन्धित देश उसके नियमों का पालन करता रहे। बैंक की सदस्यता का परित्याग एक लिखित सूचना के आधार पर भी किया जा सकता है। इस प्रकार त्याग-पत्र देने से पूर्व सदस्य को चाहिए कि वह ऐसा करने से पूर्व बैंक के सारे दायित्वों का भुगतान करें। 30 जून, 1977 तक बैंक की सदस्य संख्या 122 तक पहुँच गई और 1979 के अन्त तक 150 तक पहुँचने की आशा है।

बैंक की शक्तियाँ संचालक मण्डल में निहित होती हैं जिसके अन्तर्गत समस्त सदस्यों का प्रतिनिधित्व होता है। बैंक के दिन-प्रतिदिन के कार्यों का संचालन कार्यपालिका संचालकों द्वारा किया जाता है जिनको शक्तियाँ संचालक मण्डल द्वारा हस्तान्तरित की गई होती हैं। अध्यक्ष के अधीन अन्तर्राष्ट्रीय कर्मचारियों का एक स्टॉफ कार्य करता है। यह स्टॉफ अध्यक्ष के निर्देशन के अधीन कार्य करता है। अध्यक्ष का चयन कार्यपालिका संचालकों द्वारा किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की भाँति बैंक भी विशेष संगठन है। इसने दुनियाँ के अधिकांश राज्यों को पहली बार एक साथ मिलाया है।

परम्परागत रूप से प्राय. सदस्य देशों के वित्त मन्त्रियों को ही बैंक का गवर्नर नियुक्त किया जाता है। बैंक की सभाओं में भाग लेने के लिए स्थानापन्न गवर्नर भी नियुक्त किए जाते हैं किन्तु वे मतदान का अधिकार नहीं रखते। वैसे सैद्धान्तिक दृष्टि से विश्व बैंक की सारी शक्तियाँ गवर्नर मण्डल में निहित हैं किन्तु व्यवहार में इसके अधिकांश अधिकारों का प्रयोग सचालक मण्डल द्वारा किया जाता है।

प्रशासकीय संचालक मण्डल की सदस्य संख्या कम से कम बारह होती है। इनमें से पाँच की नियुक्ति वे देश करते हैं जिनके चन्दे की मात्रा सबसे अधिक है। प्रत्येक सचालक का कार्यकाल दो वर्ष होता है और प्रतिमास इसकी सभाएँ आयोजित की जाती हैं। संचालकों द्वारा किसी भी व्यक्ति को अध्यक्ष नियुक्त कर लिया जाता है जो उनकी सभाओं का सभापतित्व करता है। वह अध्यक्ष बैंक का प्रमुख अधिकारी होता है। उसे मताधिकार प्राप्त नहीं होता, किन्तु वह निर्णायक मत देने का अधिकार रखता है।

बैंक की एक सलाहकार समिति होती है जो उसकी सामान्य नीति के सम्बन्ध में परामर्श देती है। इस समिति के सदस्यों की संख्या कम से कम 7 होती है। समिति की सभा का वर्ष में एक बार आयोजन होना जरूरी है।

सचालक मण्डल द्वारा एक अन्य समिति भी नियुक्त की जाती है जिसे ऋण समिति कहा जाता है। जब कोई देश ऋण के लिए कहता है तो उसकी उपयुक्तता की जाँच इस समिति द्वारा की जाती है। इसमें ऋण के लिए प्रार्थना करने वाले

देश का भी एक सदस्य बैठता है। विश्व बैंक का प्रमुख कार्यालय वाशिंगटन मे है। इसके अतिरिक्त न्यूयॉर्क, लन्दन तथा पेरिस मे भी इसके कार्यालय है।

पूंजी (Capital)

प्रारम्भ मे विश्व बैंक की अधिकृत पूंजी 10 बिलियन (100 000 मिलियन) अमेरिका डॉलर थे जो 100,000 डॉलर राशि मूल्य के प्रत्येक 10,000 अशो मे विभाजित थे। प्रत्येक राष्ट्र की अश पूंजी निर्धारित कर दी गई थी। बैंक की इस अधिकृत पूंजी मे से कुल 9 4 बिलियन डॉलर (9400 मिलियन डॉलर) राशि 44 सदस्य देशो से चन्दो द्वारा प्राप्त हुई थी।

बैंक के प्रत्येक सदस्य का चन्दा निम्नलिखित तीन भागो मे विभाजित किया गया है—

(क) प्रत्येक सदस्य को अपने कुल चन्दे का 2 प्रतिशत स्वर्ण अथवा अमेरिकी डॉलरो मे बैंक के पास तुरन्त जमा करना पडता है। बैंक को अधिकार है कि वह इस स्वर्ण राशि को ऋण देकर उपभोग करे।

(ख) प्रत्येक सदस्य को अपने कुल चन्दे का 18 प्रतिशत अपनी राष्ट्रीय मुद्रा मे बैंक को देना पडता है।

(ग) कुल चन्दे का शेष 80 प्रतिशत भाग आवश्यकता पडने पर सदस्यो से लिया जा सकता है।

अभिप्राय यह हुआ कि विश्व बैंक को अधिकृत पूंजी का 20 प्रतिशत भाग स्वर्ण अथवा अमेरिकी डॉलरो मे तथा सदस्य देशो की राष्ट्रीय मुद्रा मे प्राप्त होता है और इस प्रदत्त पूंजी (Paid-up-Capital) का विश्व बैंक अपने ऋण साधनो के रूप मे उपयोग कर सकता है।

बैंक के कार्यों के विस्तार और सदस्यो द्वारा बैंक से अधिक मात्रा मे ऋण लेने की प्रवृत्ति के कारण विश्व बैंक की पूंजी मे निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। फलस्वरूप बैंक की अभिदत्त पूंजी (Subscribed Cap tal) कुछ वर्ष पूर्व बढकर 25,197 3 मिलियन डॉलर हो गई और बैंक की अधिकृत पूंजी (Authorised Capital) भी बढकर 27,000 मिलियन डॉलर तक जा पहुँची। यह स्थिति 1972–73 तक थी। 1975 के अन्त तक विश्व बैंक की कुल स्वीकृत पूंजी 2700 करोड डॉलर थी जो 128 सदस्यो मे विभाजित थी। अभ्यशों (Quotas) की दृष्टि से अमेरिका का स्थान प्रथम है और फिर क्रमश इंग्लैण्ड, पश्चिमी जर्मनी, फ्रांस, जापान और भारत का है। 1975 के अन्त मे अमेरिका के अभ्यश की मात्रा 635 करोड डॉलर अर्थात् कुल का 23·8 प्रतिशत थी। इंग्लैण्ड के अभ्यश की मात्रा 260 करोड डॉलर अर्थात् कुल का 11 4 प्रतिशत थी। भारत के अभ्यश की मात्रा 90 करोड डॉलर का अर्थात् कुल का 3 5 प्रतिशत थी।

उल्लेखनीय है कि प्रत्येक सदस्य का मताधिकार उसके अभ्यश के आधार पर निर्धारित किया जाता है। मताधिकार के अन्तर्गत प्रत्येक अश के लिए एक मत के अतिरिक्त प्रत्येक सदस्य को 250 मत का अधिकार है। इस प्रकार भारत का

मताधिकार 250+9000=9250 है। भारत का अभ्यंश 90 करोड डॉलर है और चूँकि एक अंश 1 लाख डॉलर का है अतः प्रति अंश एक मत से 90 करोड़ डॉलर पर 9000 मत हुए और 250 सदस्यता के अतिरिक्त मत हुए, इस प्रकार कुल मताधिकार 9250 हुए। मताधिकार प्रतिशत को लें तो 1975 के अन्त मे अमेरिका का यह प्रतिशत 25, इग्लैण्ड का 10.3, पश्चिमी जर्मनी का 5·1, फ्रांस का 4·8, जापान का 4·0 और भारत का 3·2 था।

बैंक की पूँजी की सुरक्षाएँ
(Safeguards of the Bank-Resources)

बैंक द्वारा सदस्य-देशों के क्षेत्र मे किसी भी व्यापारी उद्यम अथवा सरकारों को कर्ज की गारन्टी दी जाती है। उनमें अंशदान किए जाते हैं अथवा स्वयं कर्ज दिए जा सकते है। जब बैंक ने अपना कर्ज सरकार अथवा उसके किसी राजनीतिक उपसम्भाग को नहीं दिया है और किसी गैर-सरकारी प्रोजेक्ट को दिया है तो जिस देश की सीमा मे वह प्रोजेक्ट स्थित है उस देश की सरकार उस कर्ज के पुनर्भुगतान अथवा ब्याज के भुगतान की पूरी पूरी गारन्टी नहीं दे सकती, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि बैंक की पूँजी डूब जाएगी।

बैंक के स्रोतों की रक्षा के लिए तथा उनके उपयुक्त प्रयोग की व्यवस्था के लिए चार अतिरिक्त सुरक्षाएँ स्थापित की गई हैं—

1. कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़कर ऋण केवल पुनर्रचना तथा विकास के विशेष प्रोजेक्टों को ही दिया जाना चाहिए। बैंक द्वारा किसी प्रकार का कर्जा या गारन्टी दी जानी चाहिए कि उस विशेष प्रोजेक्ट को आवेदित धन प्राप्त किया जाए अथवा नहीं। बैंक को यह देखना चाहिए कि उसके कोष का प्रयोग उत्पादन के लिए किया जाए, बेकार अथवा कम महत्त्व के विषयों मे उनको न लगाया जाए।

2 बैंक यह देखता है कि कर्ज लेने वाला अथवा उसकी गारन्टी देने वाला देश कर्ज के दायित्वों को निभाने की स्थिति मे हो। पहले जो गैर-सरकारी ऋणदाता थे वे प्रायः यही देखा करते थे कि कर्ज लेने वाला व्यक्ति ब्याज देने और पुनर्भुगतान करने के योग्य है अथवा नहीं है। उस समय हस्तान्तरण की समस्या पर बहुत कम ध्यान दिया जाता था। एक अन्तर्राष्ट्रीय कर्ज के शुद्ध पुनर्भुगतान के लिए यह जरूरी है कि कर्ज लेने वाले देश के भुगतान सन्तुलन के चालू लेखे में अतिरेक हो और कर्ज देने वाले देश के माल तथा सेवाओं के आयात अतिरेक की स्थिति मे हो। ये शर्तें पूरी होती हैं या नहीं, यह बात सामान्यतः अपनाई गई आर्थिक, मौद्रिक एवं व्यापारिक नीतियों पर निर्भर करती है। इसके अलावा प्रभावशील व्यापार चक्र का स्तर तथा अन्य ऐसे ही चक्र भी प्रभाव डालते हैं जिन पर निजी कर्जदार अथवा कर्जदाता का कोई नियन्त्रण नहीं है।

वैसे कोई भी निश्चय के साथ इस बात की भविष्यवाणी नहीं कर सकता कि अन्तर्राष्ट्रीय कर्ज या उसके भुगतान में क्या-क्या कठिनाइयाँ आएँगी। यहाँ तक कि बैंक का विशेषज्ञ भी इससे अनभिज्ञ रहता है। यदि कर्ज लेने वाला देश गम्भीर रूप

से विनिमय के प्रभाव से पीड़ित है तो बैंक उसके कर्ज पर ब्याज की शर्तों को हल्का कर सकता है। यह भी हो सकता है कि तीन वर्ष तक ब्याज का भुगतान सदस्य-देश अपनी मुद्रा में करे। इस काल में उस देश के सामने विनिमय की समस्या नहीं रहेगी।

3 बैंक से लिए जाने वाले कर्जे की एक अन्य सुरक्षा का यह प्रावधान है कि इस प्रकार प्राप्त स्रोतों का प्रयोग उन्हीं उद्देश्यों के लिए किया जाएगा जिनके लिए कर्ज दिया गया है।

4 बैंक द्वारा दिए गए कर्जे सामान्य रूप से उसी विदेशी मुद्रा का प्रबन्ध करते हैं जो सम्बन्धित प्रोजेक्ट के लिए आवश्यक है। किसी भी प्रोजेक्ट का स्थानीय मुद्रा का व्यय उस कोष से ही पूरा किया जाना चाहिए जो उस देश में प्राप्त किया गया है। इसका अपवाद वह स्थिति हो सकती है जब आवश्यक स्थानीय मुद्रा उपर्युक्त शर्तों पर कर्जदार द्वारा प्राप्त न की जा सके।

बैंक की कार्य-प्रणाली
(The Functions of the Bank)

विश्व बैंक द्वारा मुख्य रूप से विकास योजनाओं के लिए ऋण प्रदान किया जाता है। यह एक देश को केवल तभी ऋण देता है जबकि उसे यह विश्वास हो जाए कि सदस्य देश ऋण लेने के योग्य है और अन्य साधनों से उसे उचित शर्तों पर ऋण प्राप्त नहीं हो रहा है।

विश्व बैंक द्वारा अपनी पूँजी में से प्रत्यक्ष रूप से ऋण दिए जाते हैं। कई बार यह उधार ली गई पूँजी में से ऋण प्रदान करता है। यह स्वयं गारण्टी देकर भी ऋण दिला सकता है। इस प्रकार की गारन्टी देने से पूर्व बैंक यह देख लेता है कि ऋण देने की शर्तें उचित तथा न्यायपूर्ण हैं, जिस कार्य के लिए ऋण लिया जा रहा है वह उचित है, ऋण लेने वाला देश उसे वापिस कर सकता है तथा सम्बन्धित देश की सरकार भी उस ऋण की गारन्टी दे रही है।

बैंक द्वारा जो ऋण देते समय एक विशेष प्रक्रिया अपनाई जाती है। विश्व बैंक का सम्बन्ध या तो सदस्य देश की सरकार अथवा उसके केन्द्रीय बैंक से रहता है वह सदस्य देश की गैर सरकारी संस्था को केवल तभी ऋण प्रदान करता है जबकि उस देश की सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक उस ऋण के मूलधन, ब्याज एवं अन्य खर्चों के भुगतानों की गारन्टी प्रदान कर सके।

विश्व बैंक द्वारा दिए गए ऋण की राशि को सम्बन्धित देश के केन्द्रीय बैंक में जमा किया जाता है और वहाँ से कर्ज लेने वाली संस्था अपनी आवश्यकता के अनुसार धन ले सकती है।

ऋण की मात्रा और गारन्टी आदि के निर्धारण का कार्य स्वयं बैंक द्वारा किया जा सकता है।

विश्व बैंक ऋण देते समय ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं लगा सकता कि ऋण देने वाले देश में ही खर्च किया जाए।

ऋण लेने वाला देश प्राप्त राशि को केवल उसी विकास योजना के काम मे ला सकता है जिसके लिए ऋण लिया गया है। विश्व बैंक निरीक्षण का भी अधिकार रखता है।

विश्व बैंक के पास जितनी प्राथित पूँजी और सचित निधि होती है वह उससे अधिक ऋण न तो स्वय दे सकता है और न गारन्टी देकर किसी से दिला सकता है।

जब विश्व बैंक किसी को गारन्टी दिलाकर कर्ज दिलाता है तो कर्ज लेने वाला भुगतान करते समय स्वय अथवा उसी मुद्रा को काम मे लेगा जिसमें कर्ज दिया गया था।

जब बैंक स्वय गारन्टी देकर ऋण दिलाता है तो उस पर 1 या 1½ प्रतिशत कमीशन लेता है। यह कमीशन एक विशेष कोष मे जमा किया जाता है। जब कोई कर्ज वाला कर्ज का भुगतान नही कर पाता तो विश्व बैंक इसी कोष में से उसका भुगतान करता है।

सिद्धान्त रूप से बैंक एक अन्तिम ऋणदाता है। सामान्य नियम यह है कि बैंक केवल उसी समय हस्तक्षेप करेगा जबकि उसे यह सन्तोष हो जाए कि सदस्य देश ऋण लेने योग्य है और उचित शर्तो पर वह अन्य कही से भी ऋण प्राप्त नही कर सकता। इस प्रकार बैंक वर्तमान साख-सुविधाओ को केवल सहायता प्रदान करती है, उनके ऊपर उठकर सहयोग नही देती। साख के अन्य स्रोतो के साथ इसकी प्रतियोगिता नही है। बैंक के उधार देने की क्षमता, कुल योगदान एव सुरक्षाओं अथवा अतिरेकों को मिलाकर बनती है। बैंक अपने कुल योगदान मे से केवल 20 प्रतिशत ही उधार दे सकता है। यह स्वय के बॉण्ड्स की बिक्री करके उधार दे सकती है अथवा ऋणो की गारन्टी देकर निजी ऋण दान को भी प्रोत्साहित कर सकता है। ऋण दान सम्बन्धी निम्न कार्यो का अध्ययन करने के बाद हमे बैंक के कार्यों का स्पष्ट ज्ञान हो सकता है—

(1) बैंक के कोष मे से प्रत्यक्ष ऋण (Direct Loan from the Bank's Own Funds)—बैंक के पास उसके सदस्यो द्वारा दिया गया धन रहता है। इसके अतिरिक्त कुछ सुरक्षित भण्डार एव अतिरेक भी रहते हैं। इन सब मे से बैंक 20 प्रतिशत उधार दे सकता है। इस 20 प्रतिशत मे दो प्रतिशत स्वर्ण के रूप मे होता है जिसका प्रयोग किसी भी उद्देश्य के लिए किया जा सकता है। शेष 18 प्रतिशत भाग जिस देश की मुद्रा मे दिया जा रहा है उसकी स्वीकृति आवश्यक है। यह प्रावधान सदस्यो द्वारा दिए गए ऋण पर उनके नियम को लागू करता है। एक बार उधार देने के बाद सदस्य को यह अधिकार नही होता कि वह कर्जदार से प्राप्त करने मे नियन्त्रण रख सके।

ब्याज और मूलधन का जो भुगतान किया जाता है वह मुद्रा के उसी मूल्य मे होता है जो उधार देने के समय था। समझौते-पत्र में कहा गया है कि "ये भुगतान के उन भुगतानो के मूल्य के बराबर होगे जो कर्ज देने के समय था। यह

भुगतान उस मुद्रा में होगा जो बैंक के कुल मतदाताओं के 3/4 बहुमत से इस उद्देश्य के लिए निर्दिष्ट किया जाएगा। इस प्रावधान के अनुसार पुनर्भुगतान अवमूल्यित मुद्रा में नहीं किया जा सकता।"

(2) बैंक द्वारा उधार लिए गए कोष में से प्रत्यक्ष ऋण देना (Direct Loan from Funds Borrowed by the Bank)—बैंक को यह शक्ति दी गई है कि वह अपने बॉण्ड प्रसारित कर सके। इसके बॉण्ड सामान्यतः विश्व बैंक के बॉण्ड के रूप में जाने जाते हैं। बैंक द्वारा जिस देश के बाजार के लिए बॉण्ड प्रसारित किए जाते हैं वह उस देश से पहिले स्वीकृति प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त यदि बॉण्ड के अतिरिक्त किसी मुद्रा में ऋण दिया जा रहा है तो उस मुद्रा वाले देश की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक है। इस स्वीकृति के प्रभाव में हो सकता है कि सदस्य देश *माल और सेवाओं के उन दावों को स्वीकार न करें जो बैंक के साख कार्यों से जन्म* लेते है। स्वीकृति प्राप्त होने के बाद ली गई मुद्रा को स्वतन्त्रतापूर्वक परिवर्तित किया जा सकता है।

बैंक अपने उधार लिए गए कोष में से उतना ही ऋण दे सकता है जितना उसने स्वयं उधार लिया है। उदाहरण के लिए, यदि बैंक अपने बॉण्ड्स बेचकर 1 0 बिलियन डॉलर प्राप्त करे तो वह इतना कर्जा नहीं दे सकता कि इसकी मात्रा 1 0 बिलियन डॉलर से अधिक बढ़ जाए। इस प्रावधान द्वारा उन देशों के भुगतान सन्तुलन की रक्षा करने का प्रयास किया जाता है जिनको बैंक द्वारा ली गई मात्रा से अधिक मात्रा में भुगतान करना पड़े।

अब तक बैंक से अधिकतर डॉलर की माँग की गई है और इस माँग को पूरा करने के लिए उसने अपने बॉण्ड्स (Bonds) अमेरिकी बाजार में बेचे हैं। *बॉण्ड्स के खरीददार ढूँढना कोई मुश्किल काम नहीं है।*

(3) गारन्टीज (Guarantees)—जो कर्ज लेने वाले उपयुक्त शर्तों पर दूसरी जगहों में कर्ज प्राप्त नहीं कर पाते वे बैंक से प्रार्थना करते हैं और यदि बैंक इस प्रार्थना को स्वीकार करले तो यह अपने कोष में से कर्ज दे देती है अथवा कर्ज लेने वाले का ध्यान निजी पूंजीगत बाजार की ओर इंगित कर देती है, किन्तु ऐसा करते समय वह पूर्ण अथवा आंशिक रूप से गारन्टी प्रदान करती है। बैंक द्वारा ऐसे ऋणों के लिए केवल तभी गारन्टी प्रदान की जाती है जब वह पहले उन देशों की स्वीकृति प्राप्त करले जिनके बाजारों से कोष एकत्रित किया जाएगा तथा जिस देश की मुद्रा में वह ऋण दिया जाएगा। एक बार स्वीकृति प्राप्त हो जाने के बाद सम्बन्धित देशों का वापिसी के सम्बन्ध में कोई नियन्त्रण नहीं रहता। प्रारम्भ में यह विश्वास *किया गया था कि निजी ऋणों को गारन्टी देना, बैंक का मुख्य कार्य रहेगा, किन्तु अनुभव से यह सिद्ध नहीं हुआ।*

बैंक के कार्यों का लेखा-जोखा

(An Account of the Functions of World Bank)

विश्व बैंक द्वारा अपनी स्थापना से अब तक किए गए कार्यों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण व उल्लेखनीय कार्य ऋणों से सम्बन्धित है। बैंक ने अपनी स्थापना से

30 जून, 1975 तक लगभग 113 सदस्य देशों को कुल 24690 मिलियन डॉलर के लगभग 1151 ऋणो की स्वीकृति प्रदान की। चूँकि ऋणों के वितरण में समय लग जाता है, अतः कुछ अर्से पूर्व तक उपरोक्त स्वीकृत ऋणों में से लगभग 50-55 प्रतिशत ऋणों का ही वितरण किया जा सका था। इस बैंक द्वारा सबसे अधिक ऋण अल्प विकसित राष्ट्रों को उनके विकास कार्यों के लिए स्वीकृत किए जाते हैं। अकेले वित्तीय वर्ष 1975 मे ही विश्व बैंक ने 51 देशों को 4319·7 मिलियन डॉलर के 112 ऋण स्वीकृत किए थे जो अपने आप मे एक रिकार्ड था। विश्व बैंक द्वारा दिए गए ऋणो का बहुत बड़ा भाग विकास कार्यों के लिए स्वीकृत किया गया है जिसमे सबसे अधिक ऋण यातायात एव परिवहन विकास के लिए, तत्पश्चात् विद्युत विकास के लिए दिए गए हैं। उद्योगो और कृषि क्षेत्र के लिए ऋण तीसरे और चौथे नम्बर पर आते हैं। विश्व बैंक ने पिछड़े और विकासशील राष्ट्रों को ऋणों की स्वीकृति में प्राथमिकता दी है।

विश्व बैंक विकास कार्यों के लिए धन की व्यवस्था करने के अलावा अर्द्ध-विकसित तथा अविकसित देशो को तकनीकी एवं औद्योगिक सहायता भी प्रदान करता है। पश्चिमी यूरोप, अमेरिका के विभिन्न देशो तथा जापान ने जो अद्वितीय सम्पन्नता प्राप्त की है उसका श्रेय बहुत कुछ विश्व बैंक को दिया जा सकता है। विश्व बैंक अविकसित सदस्य राष्ट्रों मे आर्थिक सर्वेक्षण की व्यवस्था करता है। यह इन देशो मे औद्योगिक, परिवहन, प्राकृतिक सम्पदा आदि के विकास की सम्भावनाओ की जाँच करता है। विभिन्न आयोजना कार्यों मे सहायता के लिए बैंक के विशेषज्ञों को भेजा जाता है। यह बैंक विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओ को सर्वेक्षण और अनुसंधान कार्यों के लिए सहायता प्रदान करता है। बैंक यूनेस्को, खाद्यान्न कृषि सगठन और सयुक्त राष्ट्र सघ के विशेष विकास कोष से प्रावधान सहायता भी प्रदान करता है। इसमे सन्देह नहीं कि पिछड़े देशो की अर्थव्यवस्था को सुधारने और उनके उत्पादन को बढाने मे विश्व बैंक का सराहनीय सहयोग रहा है।

विश्व बैंक विकासशील सदस्य राष्ट्रो के अधिकारियो और विशेषज्ञों को प्रशिक्षण की व्यवस्था भी करता है। इसके अतिरिक्त सदस्य राष्ट्रो के पारस्परिक विवादो का शान्तिपूर्ण निपटारा करने के लिए निष्पक्ष मध्यस्थ के रूप मे भी बैंक अपनी सेवाएँ देता रहा है। विश्व बैंक की मध्यस्थता के कारण ही भारत एवं पाक नहर-विवाद का निपटारा हुआ और 1956 मे स्वेज नहर विवाद के निपटाने मे भी बैंक की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही।

विश्व बैंक ने विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय वित्त सस्थाओ की स्थापना मे सहयोग दिया। ये सस्थाएँ सीधे अन्तर्राष्ट्रीय ऋणो से आर्थिक विकास और पुनः निर्माण के लिए दीर्घकालीन विदेशी पूँजी विनियोग करती हैं। 1956 में विश्व बैंक की एक पूरक और सम्बद्ध संस्था के रूप मे अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (International Finance Corporation) की स्थापना की गई और 1960 मे अन्तर्राष्ट्रीय विकास (International Development Association) की स्थापना भी बैंक के ही

प्रयासो का परिणाम है। इनके अतिरिक्त, फोर्ड एव राकफेलर सस्थानो द्वारा प्रदत्त वित्तीय सहायता से विश्व बैंक ने एक आर्थिक विकास सस्थान (Economic Development Institute) की स्थापना की है जहाँ अविकसित देशो के चुने हुए अधिकारियो को आर्थिक विकास सम्बन्धी समस्याओ के सम्बन्ध मे प्रशिक्षण दिया जाता है।

बैंक विकासशील राष्ट्रो को ऋण दिलाने के लिए समय-समय पर ऋणदाता देशो की बैठकें आयोजित करता है। भारत को विकास कार्यों म ऋण देने के लिए विश्व बैंक ने भारत सहायता क्लब (Aid India Club) की स्थापना की और इसी प्रकार पाकिस्तान के लिए भी सहायता क्लब बनाया गया।

बैंक के कार्यों की आलोचना

विश्व बैंक ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे पुनर्निर्माण विकास कार्यों म महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, तथापि कई कारणो से बैंक के कार्य कलाप आलोचना के पात्र हैं। बैंक पर प्राय आरोप लगाए जाते हैं कि—(1) बैंक की ब्याज दर अधिक है। अविकसित देशो की दृष्टि स 7 25 प्रतिशत ब्याज की दर इतनी अधिक है कि ऋण-भुगतान का भार बहुत अधिक हो जाता है। (2) ब्याज की ऊँची दर के अतिरिक्त बैंक 1 प्रतिशत का अतिरिक्त कमीशन भी लेता है जो अनुचित है। वाणिज्य सिद्धान्तो की कीमत पर सहायता की भावना को भुलाना उचित नही। उपयुक्त यह है कि बैंक प्रत्येक उधारकर्त्ता देश स उसकी आर्थिक एव भुगतान सामर्थ्य के अनुसार ब्याज और कमीशन प्राप्त करे। (3) बैंक उधारकर्त्ता सदस्य को ऋण देने स पर्व उसकी ऋण-भुगतान शक्ति का अध्ययन करता है जो उचित नही है। ऋण भुगतान की शक्ति तो ऋण के उत्पादन उपयोग के उपरान्त उत्पन्न होती है, पहले नही। यदि ऋण प्राप्त करने से पूर्व ही उधारकर्त्ता देश म ऋण-भुगतान शक्ति मौजूद है तो वह ऋण ही क्यो लेगा? (4) बैंक ने अर्द्ध-विकसित देशो को काफी मात्रा मे ऋण तो दिए हैं लेकिन फिर भी ये ऋण उनकी वित्तीय आवश्यकताओ के मुकाबले बहुत कम है। (5) बैंक का ऋण वितरण का कार्य भी बहुत विलम्बपूर्ण है।

विश्व बैंक और भारत

भारत विश्व बैंक के सस्थापक सदस्यो मे मे एक है और बैंक के पाँच बडे अशधारियो मे होने के नाते, उसको बैंक के कार्य सचालक मण्डल म स्थायी स्थान प्राप्त है। बैंक भारत मे अपने विशेषज्ञो की टोलियाँ भेजकर भारत की विभिन्न आर्थिक विकास योजनाओ का अध्ययन करता है। भारत की आर्थिक विकास योजनाओ की पूर्ति के लिए विश्व बैंक ने काफी सहायता दी है। 30 जून, 1975 तक विश्व बैंक ने 113 देशो को कुल मिलाकर 24609 मिलियन डॉलर के जो 1151 ऋण स्वीकृत किए उनमे से भारत को कुल 1536 6 मिलियन डॉलर के 44 ऋण प्राप्त हुए हैं। अकेले वित्तीय वर्ष 1975 मे विश्व बैंक से भारत को 209 मिलियन डॉलर के दो ऋण मिले हैं। भारत को विश्व बैंक से जिन विकास

कार्यों के लिए ऋण मिले हैं उनमे मुख्य हैं—रेलो का विकास और सुधार, कृषि विकास, व्यास बाँध योजना, दामोदर घाटी योजना, कोयला उद्योग विकास, टाटा लोहा इस्पात उद्योग तथा इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी का विकास, कलकत्ता एव मद्रास बन्दरगाहो का विकास, औद्योगिक साख एव विनियोग निगम, रासायनिक खाद उद्योगो का विकास आदि । बैंक द्वारा राजस्थान की विभिन्न परियोजनाओ के लिए 1975 तक 140 करोड़ रुपए अर्थात् 200 मिलियन डॉलर से भी अधिक के ऋण और सहायता स्वीकृत किए गए हैं । 1957 से ही भारत मे विश्व बैंक का एक स्थायी प्रतिनिधि रहता आया है । विश्व बैंक के प्रयासो के कारण ही दस विकसित राष्ट्रो का एक सघ 'भारत सहायता क्लब' (Aid India Club) के नाम से अस्तित्व मे आया है । इस क्लब की बैठकें भारत को आर्थिक सहायता देने के लिए बैंक द्वारा आयोजित की जाती हैं । फिर भी बैंक ने भारत की विकास आवश्यकताओ के मुकाबले बहुत कम ऋण दिया है और बैंक का व्यवहार पक्षपातपूर्ण भी रहा है । बैंक ने एशिया और अफ्रीका के देशो के साथ सौतेला सा व्यवहार करते हुए यूरोप और प राष्ट्रो के मुकाबले बहुत कम ऋण दिए हैं । भारत से ऋणो पर 2·5% से लेकर 5·8 प्रतिशत तक ब्याज लिया गया है जो बहुत अधिक है । नए ऋणो पर ब्याज दर 8 प्रतिशत से 8½ प्रतिशत तक ऊँची कर दी गई है । ऋणो के उपयोग पर प्रतिबन्ध की नीति भी उचित नही है । विश्व बैंक द्वारा प्रदत्त ऋण केवल उन्हीं योजनाओ पर व्यय किए जा सकते हैं जिनके लिए वे स्वीकृत किए गए हैं । यह उचित नही है कि आवश्यकता पडने पर ऐसे ऋणो का दूसरा अधिक वाञ्छित उपयोग न किया जाए ।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास-संघ
(International Development Association)

जैसा कि कहा जा चुका है, अन्तर्राष्ट्रीय विकास-सघ विश्व-बैंक से सम्बन्धित है । इसकी स्थापना सितम्बर,1960 मे की गई थी । अल्पविकसित देशों को आसान शर्तों पर ऋण देने के लिए ही इस नई सस्था की स्थापना की गई है ।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास-सघ का उद्देश्य अल्पविकसित देशो को परिवहन, विद्युत-सचार, सिंचाई, बाढ-नियन्त्रण, आदि के लिए ऋण प्रदान करना है । यह सदस्य देशो को आवास-गृहो के निर्माण, पेय जल की आपूर्ति, स्वास्थ्य, चिकित्सा आदि से सम्बन्धित योजनाओ के लिए भी ऋण देता है । वास्तव मे अन्तर्राष्ट्रीय विकास-सघ विश्व-बैंक के पूरक के रूप मे अविकसित सदस्य देशों के आर्थिक विकास के लिए सस्ता दीर्घकालीन ऋण उपलब्ध कराता है । इन पर ब्याज की कम दर कर ली जाती है। दीर्घकालीन ऋणो का भुगतान देश की मुद्रा मे ही ले लिया जाता है ।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास-सघ की कुल पूँजी 1000 मिलियन डालर है। सघ के सदस्य दो श्रेणियो मे विभाजित हैं । पहली श्रेणी मे आर्थिक दृष्टि से अति विकसित 18 देश हैं जो अपना चन्दा स्वर्ण तथा परिवर्तनीय मुद्रा मे देते हैं । दूसरी श्रेणी मे अल्पविकसित 76 देश हैं जो अपने चन्दे का 10 प्र. श. भाग स्वर्ण मे और शेष

90 प्रश भाग अपनी मुद्रा में देते हैं। विकास संघ का प्रबन्ध उन्हीं अधिकारियों के हाथों में है जो विश्व-बैंक का संचालन करते हैं। आवश्यकतानुसार संघ के लिए पृथक् कर्मचारी अधिकारी भी नियुक्त किए जाते हैं।

आर्थिक विकास के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ का विशेष कोष

संयुक्तराष्ट्र के इस विशेष कोष की स्थापना 1 जनवरी, 1959 को हुई थी। इसका मुख्य उद्देश्य पिछड़े तथा अल्पविकसित देशों का आर्थिक सामाजिक एवं तकनीकी विकास के लिए यथासम्भव सहायता प्रदान करना है। कोष का प्रबन्ध संयुक्त राष्ट्रसंघ के हाथों में है। कोष द्वारा समय-समय पर निश्चित उद्देश्यों के लिए भारत को ऋण प्राप्त होते रहे हैं।

व्यापार विकास सम्मेलन

व्यापार और विकास सम्बन्धी संयुक्त राष्ट्रीय सम्मेलन की स्थापना कुछ ही वर्षों पूर्व सन् 1964 में हुई थी। इस सम्मेलन की स्थापना का मुख्य उद्देश्य आर्थिक विषमताओं को दूर करना और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन देना है। यह सम्मेलन राष्ट्रों को आपस में प्रतिस्पर्धा से बचाता है तथा उन्हें अधिकाधिक निर्यात के लिए प्रोत्साहित करता है।

संयुक्तराष्ट्र विकास कार्यक्रम

संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम सन् 1966 से चालू है। यह विकासशील देशों की आर्थिक सम्भावनाओं और उनके सर्वोत्तम उपयोग की योजना बनाने हेतु आवश्यक सर्वेक्षण और अध्ययन करता है। इस प्रकार विकास-कार्यक्रम की महती उपयोगिता है। वर्तमान में संयुक्तराष्ट्र विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत लगभग 10 हजार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के विशेषज्ञ लगभग 130 से भी अधिक देशों में विकास-परियोजनाओं में कार्यरत हैं। ये परियोजनाएँ बड़ी व्ययसाध्य हैं। इन पर करोड़ों डालर का व्यय होता है। यह व्यवस्था है कि जिन देशों में इन परियोजनाओं पर कार्य हो रहा हो, उन्हें परियोजना का कुल आधा व्यय देना पड़ता है।

मूल्यांकन
(Evaluation)

विशेष एजेंसियों ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है एवं सैद्धान्तिक रूप से उनका कार्य सराहनीय है। सांख्यिकी क्षेत्र में इनका कार्य उपयोगी है। एजेंसियों द्वारा प्रस्तुत आँकड़ों के आधार पर राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों का निर्माण होता है। विशेष एजेंसियों द्वारा किए गए सर्वेक्षण अधिक सम्पूर्ण एवं व्यापक होते हुए भी इतने स्वतन्त्र नहीं होते जितने निजी अध्ययन द्वारा। विशेष एजेंसियों की बैठकों के बाद विवादों में महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर प्रकाश डाला जाता है परन्तु कभी-कभी उनसे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में अड़चन भी पड़ने लगती हैं क्योंकि वाद-विवादों को प्रचार का माध्यम बना लिया जाता है। विशेष एजेंसियों द्वारा ऐसे प्रारूप एवं समझौते

तैयार किए जाते हैं जिन्हें सदस्य-राष्ट्र सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन में यह पद्धति बहुत उपयोगी प्रतीत होती है।[1]

प्रगतिशील राष्ट्रों को दी जाने वाली सहायता का कुछ अंश इन एजेंसियों द्वारा दिया जाता है। उन्नतिशील राष्ट्र अपनी राष्ट्रीय नीतियों के आधार पर अविकसित राष्ट्रों की सहायता करते हैं। अमेरिका ने मार्शल-योजना द्वारा युद्धपीड़ित राष्ट्रों को आर्थिक सहायता दी थी। राष्ट्रकुल के उन्नतिशील राष्ट्रों ने कोलम्बो योजना द्वारा दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रगतिशील देशों के लिए आर्थिक सहायता की व्यवस्था की। नशीली तथा हानिकारक औषधियों के प्रयोग पर नियन्त्रण, संक्रामक बीमारियों पर नियन्त्रण, अन्तर्राष्ट्रीय डाक तथा तार सेवाओं की उचित व्यवस्था, अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक-उड्डयन संचालन की व्यवस्था, विश्व ऋतुविज्ञान सर्वेक्षण, इत्यादि महत्त्वपूर्ण कार्य अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर ही किए जा सकते हैं। अनेक राष्ट्रों के साधनों का उपयोग अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान हेतु विशेष एजेंसियों द्वारा ही सम्भव है। महान् राष्ट्रों की अपेक्षा छोटे-छोटे राष्ट्रों का सहयोग अधिक हितकर प्रमाणित हुआ है। विशेष एजेंसियों के अन्तर्गत सहायता देने वालों की अन्तर्राष्ट्रीय साख तथा प्रतिष्ठा बहुत अधिक बढ़ जाती है तथा जो बड़े राष्ट्र विशेष एजेंसियों के माध्यम से सहायता न कर अलग से सहायता या सहयोग करते हैं, उनकी इसलिए आलोचना की जाती है कि बड़े राष्ट्र अपनी सहायता के माध्यम से अपना राजनैतिक स्वार्थ पूरा करना चाहते हैं। निहित स्वार्थों की पूर्ति हेतु साम्राज्यवादी राष्ट्रों द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता को स्वाभिमानी राष्ट्र अस्वीकार भी कर देते हैं। विशेष एजेंसियों द्वारा दी जाने वाली सहायता का दुरुपयोग सम्भव नहीं है क्योंकि ऐसी सहायता अविकसित राष्ट्रों के हितों को ध्यान में रखकर दी जाती है एवं इसके साथ किसी तरह की राजनीतिक शर्तें नहीं लगायी जा सकती जिसके कारण गरीब राष्ट्र किसी भी बड़े राष्ट्र से सहायता स्वीकार करते समय अनुचित आभार का अनुभव नहीं करते। आज के वैज्ञानिक युग में विशेष एजेंसियों द्वारा दी जाने वाली सहायता अनिवार्य होती जा रही है। पिछड़े तथा अविकसित राष्ट्र अपनी भूख, दरिद्रता, परेशानी तथा अशिक्षा को दूर करने के लिए बिना किसी राजनैतिक शर्त तथा दबाव के विशेष एजेंसियों द्वारा सहायता प्राप्त करना चाहते हैं। साम्राज्यवादी अभिशाप से बचने के लिए विशेष एजेंसियों के माध्यम से ही हर तरह की सहायता प्राप्त करना न्यायोचित है। इस तरह की सेवा द्वारा यदि उन्नतिशील राष्ट्रों की आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था ठीक हो सकी तो यह अवश्य ही इतिहास की युगपरिवर्तक घटना होगी।[2]

---

1 रामसखा गौतम : वही, पृष्ठ 153.
2 वही, पृष्ठ 153-54.

22 भारत के विदेश व्यापार के मूल्य, रचना और दिशाओं की आधुनिक प्रवृत्तियाँ

(TRENDS IN THE VALUE COMPOSITION AND DIRECTION OF INDIA'S TRADE IN RECENT YEARS)

1947 तक भारत के विदेशी व्यापार का स्वरूप परम्परागत ग्रौपनिवेशिक ग्रौर कृषि प्रधान देश की तरह था। भारत का विदेशी व्यापार मुख्यत ब्रिटेन ग्रौर राष्ट्रमण्डल के ग्रन्य देशो तक ही सीमित था। भारत सूती-वस्त्र, जूट के बने सामान चाय, मसाले, खालें ग्रादि जैसी कुछ कृषि पर ग्राधारित वस्तुएँ ग्रौर ग्रभ्रक तथा मैंगनीज जैसे खनिज पदार्थों का ही निर्यात करता था। ग्रायात भी सीमित ही था ग्रौर मुख्य रूप से निर्मित सामान का ही ग्रायात किया जाता था। स्वतन्त्रता के बाद उद्योगो के तेजी से विकास के फलस्वरूप भारत के विदेशी व्यापार की पूरी तरह से काया पलट हो गई है। ग्रब भारत का व्यापार कुछ ही देशो तक सीमित नही है। ग्रब विश्व के लगभग सभी देशो के साथ भारत के व्यापारिक सम्बन्ध हैं ग्रौर भारत से निर्यात होने वाले सामान की सूची मे, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय की लगभग 50 वस्तुग्रो के मुकाबले 3000 से भी ग्रधिक वस्तुएँ हैं।

देश की ग्रर्थ-व्यवस्था के विकास की ग्रावश्यकता के कारण ग्रायात मे भारी वृद्धि हुई है। स्वभावत ग्रब देश के ग्रायात-व्यापार म वस्तुग्रो की दृष्टि से बहुत परिवर्तन हो गया है। ग्रब मुख्य रूप से उद्योगो के लिए ग्रत्याधुनिक मशीनो एव दुर्लभ कच्चे माल का ग्रौर देश के ग्रौद्योगिक एव कृषि सम्बन्धी विकास के लिए चिकनाई वाले पदार्थ, तेल ग्रौर रासायनिक खाद का ग्रायात किया जाता है। विकास के लिए भारी मात्रा मे ग्रावश्यक ग्रायात करने के परिणामस्वरूप ही देश का व्यापार सन्तुलन प्रतिकूल रहा है। यह व्यापार सन्तुलन यद्यपि ग्रब भी प्रतिकूल है, लेकिन निर्यात ग्रौर ग्रायात दोनो ही नीतियो मे जनता पार्टी की सरकार ने कुछ ग्राधारभूत परिवर्तन किए हैं। इन परिवर्तनो का सार यह है कि निर्यात नीति को ग्रधिकाधिक प्रभावी बनाया जाए ग्रौर साथ ही, देश के पास पर्याप्त विदेशी मुद्रा को देखते हुए, ग्रायात नीति को इस तरह उदार बनाया जाए कि ग्रौद्योगिक उत्पादन को बढ़ावा

मिले, छोटे एवं मध्यम स्तर के लोगों को आयात में परेशानी कम हो और देश की कीमतों पर बुरा असर न पड़े।

विदेशी व्यापार की मात्रा

राष्ट्रीय सरकार की प्रभावी नीति के कारण भारत के विदेशी व्यापार में मूल्य और मात्रा दोनों ही दृष्टियों से वृद्धि हो रही है और 1950 की तुलना में 1978 के प्रारम्भ तक 10 गुने से भी अधिक वृद्धि हुई है। 1950–51 में 650·21 करोड़ रुपये का आयात हुआ जबकि 1972–73 में 1582·83 करोड़ रुपये का, 1976-77 में 4908·20 करोड़ रुपये का और 1977-78 में लगभग 5832·49 करोड़ रुपये का आयात हुआ। इसी प्रकार 1950-51 में पुनर्निर्यात सहित निर्यात (Exports including re-exports) 600·64 करोड़ रुपये से बढ़कर 1972–73 में 1703·29 करोड़ रुपये, 1976–77 में 4980·60 करोड़ रुपये और 1977–78 में लगभग 5252·67 करोड़ रुपये तक जा पहुँचा। 1977-78 के आँकड़ों में वृद्धि होने की सम्भावना प्रकट की गई है और यह आशा की गई है कि इस वर्ष के आयात और निर्यात के अन्तिम आँकड़े क्रमश. 6000 करोड़ रुपये और 5400 करोड़ रुपये होंगे।

भारत के प्रमुख आयात और आयात मूल्य

इस शीर्षक के अन्तर्गत हम देखेंगे कि किन प्रमुख देशों से कितना आयात करते हैं और आयात की जाने वाली प्रमुख वस्तुएँ कौनसी हैं।

भारत जिन प्रमुख देशों से आयात करता है उनमें उल्लेखनीय हैं—अमेरिका, ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी, ईरान, जापान, इटली, फ्रांस, सोवियत संघ, बेल्जियम, स्विट्जरलैण्ड, आस्ट्रेलिया मलेशिया, सऊदी अरब, कनाडा, चैकोस्लोवाकिया, बंगलादेश, बर्मा, नीदरलैण्ड, सिंगापुर, स्वीडन, मिस्र, केनिया और सूडान। अग्रिम पृष्ठों में भारत की विदेश व्यापार की दिशा के अन्तर्गत बताया गया है कि 1975-76 में भारत में पश्चिम यूरोप से 12·6 करोड़ रुपये का, एशिया तथा ओसीनिया से 1777 करोड़ रुपये का, अफ्रीका से 114 करोड़ रुपये का और अमेरिका से 1552 करोड़ रुपये का आयात किया था। 1976-77 में इन्हीं क्षेत्रों से क्रमश. 1123 करोड़ रुपये, 1994 करोड़ रुपये, 215 करोड़ रुपये और 1235 करोड़ का आयात हुआ। भारत 1976 के अनुसार 1973-74 में विश्व के प्रमुख देशों तथा अन्य देशों सहित कुल आयात 2,92,091 लाख रुपये का हुआ।

भारत में जल थल तथा वायु मार्ग द्वारा जिन प्रमुख वस्तुओं का आयात किया जाता है, वे ये हैं—लोहा तथा इस्पात, मशीनें (बिजली की मशीनों को छोड़कर), पेट्रोलियम पदार्थ, परिवहन का सामान, बिजली की मशीनें तथा उपकरण, कपास, गेहूँ, पेट्रोलियम (बिना साफ और आंशिक रूप से साफ किया हुआ), रासायनिक तत्त्व तथा यौगिक धातु की बनी वस्तुएँ, सूत और धागा, तांबा, जस्ता, ···, औषधियाँ, ताजे फल तथा मेवे, कच्ची ऊन तथा बाल, कागज तथा गत्ता,

तिलहन तथा गिरियाँ आदि, कोलतार, रंग, सामग्री तथा नील, अल्यूमीनियम, दूध तथा क्रीम (डिब्बाबन्द), कच्चा पटसन आदि तथा वनस्पति तेल।

भारत के प्रमुख आयातों की दृष्टि से कुछ उल्लेखनीय बातें ये हैं—

(i) भारतीय आयातों में पूँजीगत माल का पहला स्थान है। पूँजीगत माल के अन्तर्गत बिजली के अतिरिक्त अन्य मशीन, बिजली की मशीनें, परिवहन का आवश्यक साज सामान आदि शामिल किया जाता है। देश के औद्योगिक विकास के लिए मशीनों का आयात अनिवार्य है। भारत विशेषकर मशीनें बनाने की मशीनों के आयात पर जोर देने लगा है ताकि मशीनों के मामलों में शीघ्र पूर्ण आत्म-निर्भरता प्राप्त कर ली जाए।

(ii) आर्थिक विकास के प्रभावपूर्ण आयोजन के फलस्वरूप देश में लोहे और इस्पात की माँग पूर्ति से अधिक है अतः इन वस्तुओं का आयात किया जाता है। देश अब इस क्षेत्र में तेजी से आत्मनिर्भर होता जा रहा है।

(iii) भारत के आयातों में खनिज ईंधन चिकनाई तथा अन्य सम्बन्धित पदार्थों का भी विशेष महत्त्व है। देश को पट्रोल, मिट्टी का तेल तथा पट्रोल की अन्य वस्तुएँ बड़ी मात्रा में आयात करनी पड़ती हैं। कच्चा तेल मुख्यतः ईरान तथा अन्य अरब देशों से आयात किया जाता है।

(iv) देश में बढ़िया किस्म की कपास का आयात मुख्यतः अमरिका पाकिस्तान सूडान तथा मिस्र से होता है जबकि मोटे रेशे की कपास का हमारे यहाँ से निर्यात किया जाता है। विभाजन के फलस्वरूप कपास के प्रमुख क्षेत्र पाकिस्तान में चले जाने से भारत इस वस्तु के निर्यातक देश की जगह आयातक देश बन गया। विभाजन के बाद देश में जूट का भी अभाव हो गया, लेकिन नियोजन काल में जूट का उत्पादन बढ़ा कर इस अभाव को बहुत कुछ कम कर दिया गया है।

(v) अनाज का आयात अमरिका, कनाडा, बर्मा और रूस से किया जाता रहा है। रूस से अनाज का आयात हाल ही के वर्षों में बढ़ा है।

(vi) देश में उर्वरक और रसायन पदार्थ भी बड़ी मात्रा में आयात किए जाते हैं।

(vii) आयात की जाने वाली अन्य वस्तुओं में ताँबा शीशा, राँगा तथा कुछ दूसरे खनिज पदार्थ हैं। कुछ वर्षों से सोयाबीन तेल और भेड़ की चर्बी का भी काफी आयात किया जाने लगा है।

आर्थिक समीक्षा 1977-78 के अनुसार आयात स्थिति

भारत सरकार के प्रकाशन 'आर्थिक समीक्षा' 1977-78 में भारत के आयात की मात्रा मूल्य आदि पर जो प्रकाश डाला गया है वह इस प्रकार है—

वर्ष 1976-77 के दौरान, भारत के आयात का मूल्य कुल मिलाकर 5074 करोड़ रुपए हुआ था और यह 1975-76 के आयात के स्तर से 3.6 प्रतिशत कम था। खाद्यान्न, उवरकों तथा लोहा और इस्पात के आयात में 887 करोड़ रुपए की कमी हुई। कुल आयात में इन वस्तुओं के आयात का अनुपात जो कि 1975-76 में

काफी ज्यादा अर्थात् 42·6 प्रतिशत था, कम होकर 1976-77 मे 26·7 प्रतिशत रह गया। किन्तु इन वस्तुओ के आयात के मूल्य मे जो भी कमी हुई वह कपास, वनस्पति तेल और वसा, पैट्रोलियम तथा पैट्रोलियम के उत्पादों, पूंजीगत वस्तुओं तथा अलौह धातुओ के आयात मे काफी ज्यादा वृद्धि होने से, पर्याप्त रूप मे प्रति सन्तुलित हो गई। कपास, वनस्पति तेलों तथा वसा आदि के आयात मूल्य मे 188 करोड रुपये की, पैट्रोलियम तथा पैट्रोलियम के उत्पादों के आयात-मूल्य मे 187 करोड रुपये की, पूंजीगत वस्तुओं के आयात मूल्य मे 40 करोड रुपये की तथा अलौह धातुओ के आयात मूल्य मे 59 करोड रुपए की वृद्धि हुई।

वर्ष 1976-77 मे पैट्रोलियम तथा उसके उत्पाद (अर्थात् पैट्रोलियम, तेल और चिकनाने के पदार्थ) ही अकेले आयात की सबसे बडी मद थे और इनके आयात का मूल्य, आयात की गई वस्तुओ के कुल मूल्य के एक चौथाई भाग मे अधिक था। पहले के वर्ष के विपरीत, पैट्रोलियम, तेल तथा चिकनाने के पदार्थों के आयात की मात्रा मे 1976-77 मे 3 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इकाई कीमत मे भी 11·7 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी और उसके परिणामस्वरूप पैट्रोलियम, तेल तथा चिकनाने के पदार्थों के आयात मूल्य मे 15 प्रतिशत की वृद्धि हुई। कपास के आयात मूल्य मे चौगुनी से भी ज्यादा वृद्धि हुई अर्थात् 1975-76 में 28·2 करोड रुपये के मूल्य की कपास का आयात हुआ था जबकि 1976-77 मे 129 5 करोड रुपये के मूल्य की कपास का आयात किया गया। आयात की गई कपास की मात्रा दुगुनी हो गई जबकि इकाई कीमत मे 130 प्रतिशत की अधिक वृद्धि हुई। कपास का आयात, हमारी आवश्यकता और देश में कपास के उत्पादन के बीच अन्तर को पूरा करने के लिए आवश्यक था। इसी प्रकार वनस्पति तेलो तथा वसा के आयात मे, मूल्य की दृष्टि मे इस अवधि में सात गुनी वृद्धि हुई; इसका मुख्य कारण यह था कि घरेलू उत्पादन की कमी को पूरा करने के लिए आयातों मे बहुत वृद्धि करनी पडी। अलौह धातुओ के आयात मे, मूल्य की दृष्टि से 59·2 प्रतिशत की वृद्धि हुई और इसका आयात मूल्य बढ़कर 160 करोड रुपये हो गया। इसका मुख्य कारण यह था कि आयात की गई अलौह धातुओं की मात्रा में वृद्धि हुई अर्थात् 1975-76 में 84·5 हजार मीट्रिक टन अलौह धातुओ का आयात हुआ जबकि इसके मुकाबले 1976-77 मे 140 7 हजार मीट्रिक टन अलौह धातुओं का आयात किया गया। इसके अलावा एक कारण यह भी था कि निकल, एल्यूमिनियम, टिन तथा जस्ते की इकाई कीमत मे और ज्यादा वृद्धि हुई। आयात नीति को उदार बनाए जाने के परिणामस्वरूप पूंजीगत माल के आयात मे 4·1 प्रतिशत वृद्धि हुई और इनका आयात मूल्य 1008 करोड़ रुपये हो गया।

दूसरी ओर, खाद्य के आयात में जो 1975-76 मे आयात की जाने वाली अकेली सबसे बड़ी मद थी, मूल्य के हिसाब से 34·6 प्रतिशत की कमी हुई और आयात मूल्य कम होकर 878·6 करोड़ रुपये रह गया। इसका मुख्य कारण यह कि आयात की गई गेहूँ की मात्रा में कमी हुई और वह 71 लाख मीट्रिक टन से

घटकर 50 लाख मीट्रिक टन रह गई। इसी के साथ ही इसकी इकाई कीमत में भी 5 प्रतिशत की मामूली सी कमी हुई। उर्वरकों तथा उर्वरक सामग्री के आयात मूल्य में इसी अवधि के दौरान 330 6 करोड़ रुपय की भारी कमी हुई और यह कम होकर 261 2 करोड़ रुपय हो गया। इसका मुख्य कारण यह था कि कच्चे उर्वरक की इकाई कीमत म 77 प्रतिशत की तथा विनिर्मित उवरक की इकाई कीमत म 57 5 प्रतिशत की कमी हुई। किन्तु आयात किए गए उवरक तथा उर्वरक सामग्री की कुल मात्रा म करीब 15 लाख मीट्रिक टन की वृद्धि हुई और यह मात्रा बढ़कर 45 लाख मीट्रिक टन हो गई। उवरक तथा उवरक सामग्री के आयात की मात्रा म वृद्धि की आवश्यकता इसलिए हुई कि उवरकों की कीमतों म कमी किए जाने के कारण उनकी घरलू खपत में वृद्धि हो गई थी। लोहे और इस्पात के आयात मूल्य म 92 करोड़ रुपए की कमी हुई जिसका मुख्य कारण यह था कि आयात की मात्रा म 30 प्रतिशत की कमी हुई थी। घरलू उत्पादन म जो वृद्धि हुई उससे लोहे तथा इस्पात के आयात की मात्रा म कमी करने म सहायता मिली।

वर्ष 1977-78 के पहले आठ महीनों में कुल आयात का मूल्य 3400 करोड़ रुपय था जो कि 1976 77 के पहले आठ महीनों के आयात मूल्य के स्तर के मुकाबले 3·8 प्रतिशत ज्यादा था। इस अवधि के दौरान खाद्यान्न का आयात नगण्य ही था जबकि इसकी तुलना म पिछले वर्ष के पहले आठ महीनों म 696 करोड़ रुपए के मूल्य के खाद्यान्न का आयात हुआ था। इस कमी का समायोजन करने के लिए चालू वर्ष के पहले आठ महीनों म खाद्य भिन्न आयात म, 1976 77 की इस अवधि के खाद्य भिन्न आयात के स्तर के मुकाबले 32 प्रतिशत की वृद्धि हुई। वस्तुवार ब्योरा चालू वर्ष की पहली तिमाही तक के लिए ही उपलब्ध है। इस ब्योरे से पता चलता है कि एक ओर खाद्यान्न के आयात मूल्य म लगभग 200 करोड़ रुपये की कमी हुई और दूसरी ओर काजू, प्लास्टिक सामग्री, धातु भिन्न खनिज पदार्थों विनिर्मित वस्तुओं तथा सामान्य औद्योगिक मशीनरी तथा उपकरणों के आयात म उल्लेखनीय वृद्धि हुई।

भारत सरकार के वाणिज्य मन्त्रालय की 1977-78 की रिपोर्ट के अनुसार आयात स्थिति

भारत सरकार के वाणिज्य मन्त्रालय की 1977-78 की वार्षिक रिपोर्ट में भारत के आयात की स्थिति इस प्रकार दर्शायी गई है—

1974-75 तथा 1975-76 के दौरान आयातों में काफी वृद्धि के बाद 1976-77 में भारत के कुल आयात 5074 36 करोड़ रु० के हुए जिसमें लगभग 3 6 प्रतिशत की गिरावट प्रकट होती है। 3 प्रमुख समूहों अर्थात् अनाज, पी० ओ० एल० तथा विनिर्मित उर्वरकों के संयुक्त आयात 1975-76 के दौरान हुए भारत के कुल आयातों के 58 प्रतिशत ठहरते हैं, लेकिन 1976 77 म उनका भाग घटकर 49 प्रतिशत रह गया। घरेलू उत्पादन में सुधार के कारण अनाज का भाग, जो 1975-76 में 25 5 प्रतिशत था घटकर 17·3 प्रतिशत हो गया तथा विनिर्मित

उर्वरकों का भाग 8·9 प्रतिशत से घटकर 3 9 प्रतिशत हो गया। तथापि पी० ग्रो० एल० के मामले मे उसके भाग मे वृद्धि हुई है जो 23·3 प्रतिशत से बढ़कर 27 8 प्रतिशत हो गई।

1976-77 के दौरान पूर्ण मूल्य के आधार पर जिन मदो मे 1975-76 की अपेक्षा वृद्धि प्रकट होती है, उनमे मुख्यत. ये शामिल है : पी० ओ० एल० (+ 15 प्रतिशत), मशीनरी (+9 प्रतिशत), परिवहन उपस्कर (+13 प्रतिशत), अलौह धातु (+59 प्रतिशत), कपास (+ 356 प्रतिशत), खाद्य तेल (+549 प्रतिशत). रासायनिक तत्व तथा यौगिक (17 प्रतिशत), कागज तथा गत्ता (+8 प्रतिशत), सश्लिष्ट तथा फिर से तैयार फैब्रिक्स (+370 प्रतिशत), प्लास्टिक सामग्री (+40 प्रतिशत) तथा कच्ची ऊन (+ 8 प्रतिशत) । तथापि आयातो मे जो वृद्धि हुई है वे अन्य अनेक मदो के आयातो मे गिरावट आने से खत्म हो गई। इनमे मुख्यत ये शामिल हैं—अन्न तथा अन्न से बने पदार्थ (–35 प्रतिशत), विनिर्मित उर्वरक (–58 प्रतिशत), लोहा तथा इस्पात (–29 प्रतिशत), धातु से बना माल (-9 प्रतिशत), मूल्यवान तथा अर्द्ध-मूल्यवान पत्थर (– 4 प्रतिशत), कच्चे काजू (– 46 प्रतिशत) ।

1977-78 की पहली तीन तिमाहियो (अप्रेल-दिसम्बर) के दौरान आयातो के अंतिम आँकडो के अनुसार कुल आयात 3917·92 करोड़ रु० के हुए जो पिछले वर्ष की इसी अवधि मे हुए 3767·70 करोड र० के आयात स्तर की तुलना मे लगभग 4 प्रतिशत बढे हैं। तथापि सरकारी लेखो के सम्बन्ध मे पूरी रिटर्न प्राप्त हो जाने पर इन आयात-आँकड़ो मे वृद्धि होने की सम्भावना है।

1977-78 की पहली छमाही के आयात आँकडो के सचयन से प्रकट होता है कि अन्न तथा अन्न से बने पदार्थों का आयात घटकर 42 करोड रु० का हुआ जब कि अप्रेल-सितम्बर 1976 मे 479 करोड का हुआ था। पी० ओ० एल०, लोहा एव इस्पात तथा कुछ सीमा तक मशीनरी और परिवहन उपस्करो के आयातो मे भी गिरावट प्रकट होती है। वर्ष 1977-78 के लिए आयात नीति और अधिक उदार बना दी गई है ताकि आयातित कच्चे माल, उपकरणों, फालतू पुर्जो तथा उपस्करो के लिए अर्थव्यवस्था की जरूरतो को पूरा किया जा सके तथा कम सप्लाई वाली कुछ आम उपभोग की मदो की उपलब्धता बढाई जा सके। इसे देखते हुए यह सम्भावना है कि 1977-78 की पहली छमाही के दौरान कच्चे माल, मशीनरी तथा परिवहन उपस्कर सम्बन्धी मदो के आयातो मे तथा अन्य पोषण सम्बन्धी आयातो मे जो वर्तमान गिरावट आई है उसकी स्थिति वर्ष की दूसरी छमाही मे बदल सकती है।

खाद्य तेल, रूई, मानव-निर्मित रेशे के मामले मे आयात विशेषकर इस उद्देश्य से अधिक किए गए कि इन मदो की घरेलू उपलब्धता बढे तथा उनकी कीमतो पर नियन्त्रण हो। रासायनिक तत्वो तथा यौगिको, भेषजीय तथा औषध, कागज तथा गत्ता, प्लास्टिक सामग्री, विनिर्मित उर्वरक, बिना तराशे हुए मूल्यवान तथा अर्द्ध-. पत्थरो मे भी वृद्धि भिन्न-भिन्न मात्रा मे हुई।

अप्रेल-दिसम्बर 1977 के दौरान 5375 करोड रु० मूल्य के आयात लाइसेंस जारी किए गए थे जबकि 1976 की इसी अवधि मे 2835 करोड रु० के हुए थे। विदेशी मुद्रा की अच्छी स्थिति का लाभ उठाते हुए अप्रेल दिसम्बर, 1977 मे जारी किए गए लाइसेंसो मे स 75 प्रतिशत लाइसेंस मुक्त विदेशी मुद्रा के आधार पर जारी किए गए थे।

पिछले 3 वर्षों के प्रमुख मदो/समूहो के सम्बन्ध मे आयातो का रुख निम्न-लिखित तालिका मे दिखाया गया है—

भारत द्वारा प्रमुख वस्तुओ के आयात

(करोड रु० म)

क्रमांक	वस्तुएँ	1975-76	1976 77	अप्रेल से सितम्बर	
				1976	1977
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)
1	अन्न तथा अन्न से बने उत्पाद	1342 08	8"8 06	478 83	42 32
2	खाद्य तेल	15 50	100 61	38·18	333·62
3	कपास	28 02	उ० नही	14·09	96 91
4	संश्लिष्ट तथा पुन तैयार किया हुआ रेशा	6 04	30 01	2·51	उ० नही
5	खनिज तेल, स्नेहक तथा सम्बद्ध उत्पाद	1226 00	1412 01	651·74	504·32
6	मोती, मूल्यवान तथा अर्द्ध मूल्यवान पत्थर	83 87	80 64	76 46	147 83
7	लोहा तथा इस्पात	311 09	220 05	122 95	91 90
8	विनिर्मित उर्वरक	469 04	197 07	55·11	58 38
9	अलोह धातु	100 04	159 08	72 12	62 17
10	रासायनिक तत्त्व तथा यौगिक	117 37	137 21	62 70	74 60
11	मशीनरी	777·05	845 08	399 27	384 92
12.	परिवहन उपस्कर	157 01	176 08	70 11	64·52

भारत के प्रमुख निर्यात एवं निर्यात मूल्य

भारत जिन प्रमुख देशों को निर्यात करता है, उनमें उल्लेखनीय हैं—ब्रिटेन, अमेरिका, सोवियत संघ, जापान, आस्ट्रेलिया, श्रीलंका, जर्मनी (फैडरल रिपब्लिक), कनाडा, बर्मा, मिस्र, फ्रांस, अर्जेन्टाइना, सूडान, मलेशिया सिंगापुर, नीदरलैंड, चैकोस्लोवाकिया, कीनिया, इटली, नाइजीरिया, क्यूबा, न्यूजीलैंड, बंगलादेश तथा इण्डोनेशिया।

भारत 1976 के अनुसार विश्व के प्रमुख देशों तथा अन्य देशों को 1950-51 में 60,064 लाख रुपए का निर्यात हुआ था जो बढ़कर 1973-74 में 3,48,322 लाख रुपए का हो गया। 1976-77 में अस्थायी आँकड़ों के अनुसार भारत का कुल निर्यात 4,980,60 करोड़ रुपए का था जो बढ़कर 1977-78 में (पुनर्निर्यात सहित) 5,252,67 करोड़ रुपए हो गया। 1977-78 के आँकड़ों में वृद्धि होने का अनुमान लगाया गया है और यह आशा की जाने लगी है कि इसी वर्ष पुनर्निर्यात सहित निर्यात की राशि 5400 करोड रुपए होगी। जैसा कि अगले पृष्ठों में भारत के विदेश *व्यापार की दिशा में बताया गया है कि विश्व के सभी क्षेत्रों में* भारत के निर्यातों में वृद्धि हुई है, लेकिन यह वृद्धि विशेषकर पश्चिमी यूरोप को (खासकर यूरोपीय साझा बाजार को) तथा शेष एशिया तथा द्वीप देशों को अधिक हुई है। 1976-77 में पश्चिम यूरोप को 1605 करोड़ रुपए का निर्यात हुआ था, जिसमें यूरोपीय साझा बाजार को निर्यात की राशि 1394 करोड़ रुपए थी। एशिया तथा ओसीनिया को 1834 करोड़ रुपए का, अफ्रीका 311 करोड़ रुपए का और अमेरिका को 649 करोड रुपए का निर्यात हुआ था।

देश से जल, थल और वायुमार्ग द्वारा जिन प्रमुख वस्तुओं का निर्यात किया जाता है, वे ये हैं—पटसन की वस्तुएं (सूत आदि के अतिरिक्त), चाय, सूती वस्त्र (सूत आदि के अतिरिक्त अन्य वस्त्र), सूती वस्त्र (सूती वस्त्र और पटसन को छोड़कर), वस्त्र की बनी चीजें (सूती तथा पटसन के वस्त्र, ऊनी कालीन, चटाई, गलीचे आदि छोड़कर), सूत और धागा, अलोह धातुओं के अयस्क और सांद्र अयस्क, चमड़ा, कपास (रद्दी कपास आदि छोड़कर) ताजे फल तथा गिरियाँ (तेल वाली गिरियों को छोड़कर), कच्ची वनस्पति-जन्य सामग्री (अखाद्य), चीनी (सीरा सहित) लोह अयस्क और सांद्र अयस्क, कच्चा तम्बाकू, वनस्पति, तेल (निर्गंधीय), कच्चे खनिज पदार्थ (कोयला, पैट्रोल, उर्वरक तथा रत्नों को छोड़कर), ऊनी कालीन, गलीचे और चटाई आदि लोहा तथा इस्पात कहवा, चमड़ा तथा खालें (कच्ची), पैट्रोलियम पदार्थ, कोयला, कोक तथा कोयला-चूरे की ईंटें।

देश के निर्यात-व्यापार का उत्साहजनक पहलू यह है कि कुछ गैर-परम्परागत वस्तुओं जैसे इन्जीनियरी का सामान, रसायन, खनिज, ईंधन, लोहा एवं इस्पात हस्त-शिल्प के सामान आदि का निर्यात बढ़ता जा रहा है। भारत अपने योजनाबद्ध आर्थिक विकास के फलस्वरूप अनेक महत्त्वपूर्ण वस्तुओं से निर्यात की स्थिति में आ गया है। कृषि सम्बन्धी मशीनरी और औजार, हाथ-पम्प, स्टील फर्नीचर, बिजली

का भाज सामान, चमड़े की बढ़िया वस्तुएँ, प्लास्टिक का सामान, साइकिलें, अनेक ऊँची और पेचीदा श्रेणी की वस्तुओं जैसे मशीन टूल्स एवं वस्त्र मशीनरी, सिलाई की मशीनें, रेलवे वैगनों, बिजली की मोटर, डीजल इन्जन आदि का निर्यात बढ़ता जा रहा है। इन वस्तुओं का निर्यात दक्षिण पूर्वी एशिया और अफ्रीका के विकासशील देशों तथा यूरोप के विकसित देशों-दोनों को किया जा रहा है। भारत आधुनिक टैक्नोलॉजी के क्षेत्र मे काफी आगे बढ गया है, अत उसकी प्रतियोगिता-शक्ति काफी उन्नत हुई है। सक्षेप म, देश के निर्यातों का स्वरूप एक औद्योगिक देश के निर्यातों के अनुरूप बनता जा रहा है। निर्यातों का एक उल्लेखनीय पहलू यह है कि न केवल वस्तुओं का बल्कि अपने प्राविधिक ज्ञान और डिजाइन तथा परामर्शदात्री सेवाओं का निर्यात भी भारत करने लगा है। भारतीय उद्यमकर्त्ताओं ने सऊदी अरब, घाना, ईरान श्रीलंका नपाल नाइजीरिया, मलेशिया आदि देशो मे ही नहीं कनाडा और ब्रिटेन तक मे सयुक्त उपक्रम चालू किए है।

आर्थिक समीक्षा 1977–78 के अनुसार निर्यात स्थिति

आर्थिक समीक्षा 1977-78 मे भारत के निर्यात की मात्रा, मूल्य आदि पर जो प्रकाश डाला गया है वह इस प्रकार है—

'वर्ष 1976-77 के दौरान निर्यात मे परिमाण तथा मूल्य दोनो ही दृष्टियो से उत्साहवर्द्धक वृद्धि हुई है। निर्यात से हुई कुल आय में 27 प्रतिशत की वृद्धि हुई और यह आय बढ़कर 5143 करोड रुपये हो गई। आर्थिक गतिविधि मे तेजी आ जाने से केवल विकसित देशो मे लागतगत सामान की परिपूर्ति किए जाने से और देश मे चल रहे निर्यात सम्वर्द्धन के जोरदार अभियान के कारण, निर्यात के परिमाण मे 18 प्रतिशत की महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई जबकि इसके मुकाबले इससे पहले के दोनो वर्षों म हर साल 8 5 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। निर्यात की इकाई कीमत मे 6 6 प्रतिशत की साधारण सी वृद्धि हुई जबकि इसके विपरीत 1975-76 मे 7 7 प्रतिशत की और 1974-75 मे 25 3 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी।

वस्तुवार विवरण से पता चलता है कि खली, कपास (रूई) और कृत्रिम रेशम का कपडा, कहवा (काफी) और चाय जैसी वस्तुओं का निर्यात जो 1975 76 मे काफी शिथिल हो गया था 1976-77 मे काफी ज्यादा बढा है। अन्य वस्तुओं जैसे समुद्री उत्पादो, चमडे और चमडे के सामान, दस्तकारी के सामान, रासायनिक पदार्थों, इजीनियरी वस्तुओं और सूती कपडो के निर्यात मे बराबर वृद्धि होती रही और उनके निर्यात से प्राप्त होने वाली आय मे भी वृद्धि हुई। लोहा और इस्पात के निर्यात से पहले के वर्षों मे कोई महत्त्वपूर्ण आमदनी नहीं होती थी परन्तु इस अवधि मे उसका काफी योगदान रहा। दूसरी ओर जूट से बनी वस्तुओं के निर्यात से होने वाली आमदनी मे और कमी आई और चीनी के निर्यात से होने वाली आमदनी तो एक दम घट गई।

अनिर्मित वस्तुओं के वर्ग मे चाय कहवा, कच्चा लोहा, खली, काजू की गिरी, मछली तथा मछली से बने पदार्थों के निर्यात से प्राप्त होने वाली आय मे

सामान्य स्तर से लेकर काफी ज्यादा वृद्धियाँ हुईं। निर्यात की गई चाय के मूल्य में 23 6 प्रतिशत की वृद्धि हुई जिसका कारण यह है निर्यात की जाने वाली चाय की मात्रा में 14·5 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी और उसकी इकाई कीमत में भी 8 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। 1976-77 की दूसरी छमाही के आस-पास चाय की विदेशी मण्डियाँ हमारे लिए और ज्यादा अनुकूल हो गईं क्योंकि केनिया तथा श्रीलंका जैसे प्रतियोगी देशों से चाय की सप्लाई कम हो गई थी। मूल्य की दृष्टि से काफी (कहवा) के निर्यात में 71 प्रतिशत की वृद्धि हुई जो मुख्य रूप से इकाई कीमत में 114 प्रतिशत की अभूतपूर्व वृद्धि हो जाने के कारण हुई। काफी की विदेशी मण्डियों में ब्राजील के द्वारा जो दुनिया का सबसे बड़ा काफी उत्पादक देश है, बड़े पैमाने पर की गई खरीद के कारण, बहुत तेजी रही। यदि घरेलू पूर्ति पर अंकुश लगाया गया होता तो काफी के निर्यात से अपेक्षाकृत और ज्यादा आमदनी होती। वास्तव में, 1976-77 में काफी के निर्यात में मात्रा की दृष्टि से 20 प्रतिशत कमी हुई।

खली का निर्यात, जो पहले के दो वर्षों में शिथिल रहा था, 1976-77 में फिर से बढ़ा और उसके निर्यात मूल्य में 132 प्रतिशत की प्रभावशाली वृद्धि हुई। खली की इकाई कीमत में 47 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि उसके मुकाबले निर्यात मात्रा में 58 प्रतिशत की वृद्धि हुई। सूरजमुखी तथा सोयाबीन की फसल कम होने से विश्व बाजार में तंगी की जो स्थिति बनी यह उसकी माँग तथा कीमत दोनों में हुई वृद्धि के लिए बहुत हद तक उत्तरदायी है। मछली और मछली से बने पदार्थों के निर्यात में 42 प्रतिशत की महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई जिसका मुख्य कारण यह था कि इकाई कीमत में 26·3 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। इसी तरह खनिज लोहे के निर्यात में मूल्य की दृष्टि से 11·5 प्रतिशत की वृद्धि हुई; इसका कारण यह था कि निर्यात की मात्रा में 3·5 प्रतिशत की और इकाई कीमत में 7·7 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। काजू की गिरी के निर्यात में मूल्य की दृष्टि से 10 5 प्रतिशत की मामूली सी वृद्धि हुई जो पूर्ण रूप से इकाई कीमत में 14·5 प्रतिशत की वृद्धि होने के कारण हुई थी।

विनिर्मित वस्तुओं के वर्ग के अन्तर्गत, लोहे और इस्पात, इंजीनियरी सामान, सूती कपड़ों, नकली रेशम के कपड़ों, चमड़े और चमड़े का सामान तथा दस्तकारी की वस्तुओं के क्षेत्र में काफी वृद्धि हुई। वास्तव में, 1976–77 में निर्यात की आय में सबसे ज्यादा वृद्धि लोहे और इस्पात के निर्यात से हुई। इससे 283 करोड़ रुपये की आमदनी हुई जबकि इसके मुकाबले 1975-76 में केवल 68 करोड़ रुपये की आमदनी हुई थी। यह मुख्य रूप से निर्यात की मात्रा में वृद्धि होने से हुआ। इंजीनियरी के सामान के निर्यात में 34 2 प्रतिशत की वृद्धि हुई जो कुछ तो खाड़ी (गल्फ) के देशों में बाजार की स्थिति अनुकूल होने के कारण और कुछ विपणन में सुधार तथा निर्यात सुविधाओं में वृद्धि होने के कारण हुई।

सूती कपड़ों की माँग फिर से बढ़ी और 1976–77 में निर्यात की आमदनी में 3/6 प्रतिशत की वृद्धि हुई। निर्यात की मात्रा में, लगभग 30 प्रतिशत की वृद्धि हुई मिल से बने कपड़े की इकाई कीमत में 24·4 प्रतिशत की वृद्धि हुई। नकली

रेशम के कपड़ों के निर्यात के मूल्य में 88 प्रतिशत की वृद्धि हुई जो मुख्य रूप से निर्यात किए गए कपड़े की मात्रा के दुगुने हो जाने के कारण हुई, हालांकि इकाई कीमत में 6 प्रतिशत की साधारण-सी कमी भी हो गई थी। सूती परिधान (सिले-सिलाए कपड़े) के निर्यात में 76 प्रतिशत की वृद्धि हुई जो प्रभावपूर्ण वृद्धि है और इस प्रकार सूती परिधान निर्यात की एक ऐसी वस्तु बन गया, जिसका निर्यात सबसे अधिक तेजी से बढ़ रहा है। 1976–77 में चमड़े और चमड़े से निर्मित सामान के निर्यात में और वृद्धि हुई और निर्यात के मूल्य में 31 प्रतिशत बढ़ोतरी हुई जिससे इस बात का पता चलता है कि पूरी तरह से कमाए हुए चमड़े और चमड़े के सामान के निर्यात को प्रोत्साहन देने की नीति पूरी तरह से सफल रही है क्योंकि पूर्वोक्त माल में अर्द्ध-निर्मित चमड़े और खालों के मुकाबले ज्यादा ऊँचे मयाजित मूल्य का तत्व समाविष्ट रहता है। दस्तकारी की वस्तुओं के निर्यात के मूल्य में भी 60 प्रतिशत की वृद्धि हुई जिसका मुख्य कारण यह है कि एक तो इन वस्तुओं की मांग बढ़ी और दूसरे खास तौर से खाड़ी के देशों से हीरे जवाहरात आदि बहुमूल्य पत्थरों और अर्द्ध बहुमूल्य पत्थरों की खरीद की माँग में और उनकी बिक्री के अवसरों में बहुत वृद्धि हुई।

वर्ष 1976–77 में जूट से बनी वस्तुओं और चीनी के निर्यात में उल्लेखनीय कमी हुई। निर्यात आमदनी की दृष्टि से जूट से बनी वस्तुओं के निर्यात में 20 प्रतिशत की कमी हुई क्योंकि इनकी खपत कम हुई और दूसरे इसकी इकाई कीमत में भी 8.4 प्रतिशत की कमी हुई। संश्लिष्ट पदार्थों से बनी वस्तुओं के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए प्रचार और अन्य निर्यातकों की ओर से कड़ी प्रतियोगिता होने के कारण मुख्य रूप से उपर्युक्त वस्तुओं की मात्रा में कमी हुई और विदेशों में इनके मूल्य घटे। चीनी का निर्यात जो 1975–76 में 472 करोड़ रुपये का हुआ था, 1976–77 में कम होकर केवल 148 करोड़ रुपये का रह गया क्योंकि इकाई कीमत में 35 प्रतिशत की गिरावट आई और निर्यात की मात्रा में भी 52 प्रतिशत की कमी हुई। यह सब विश्व भर में चीनी की मुनदृ स्थिति रहने के कारण हुआ।

1977–78 के पहले आठ महीनों में किए गए निर्यात का मूल्य 3472 करोड़ रुपये है जो 9.3 प्रतिशत वृद्धि का द्योतक है जबकि इसके मुकाबले इससे पहले के वर्ष की इसी अवधि में निर्यात मूल्य में लगभग 31 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। जो यह विचारणीय शिथिलता आई है वह अंशतः इस बात की द्योतक है कि विकसित देशों ने, उनकी अपनी आर्थिक विकास की गति में धीमापन आ जाने के कारण कम मात्रा में माल मँगवाया है और इसके अलावा तानिकायन सामान की माँग इन देशों में अमूमन कम होती गई है। वर्ष 1977–78 की पहली तिमाही तक के वस्तुवार उपलब्ध पक्के आँकड़ों से पता चलता है कि लोह और इस्पात जैसी मदों के निर्यात से होने वाली आय में, विश्वभर में माँग में गिरावट आने के कारण, तथा चमड़ा और चमड़े के सामान और सूती परिधान के निर्यात से होने वाली आय में विकसित देशों में आयात पर और ज्यादा पाबन्दियाँ लगा दिए जाने के कारण कमी आई है। इन तीनों मदों से 1976–77 में 804 करोड़ रुपए की आमदनी हुई थी और निर्यात

से होने वाली आमदनी मे कुल मिलाकर 1100 करोड़ रुपये की वृद्धि का 35 प्रतिशत भाग इन्हीं तीनों मदों के कारण प्राप्त हुआ था। चीनी के निर्यात मे बराबर कमी होती गई और पहली तिमाही मे उसने केवल 10·5 करोड रुपए का योगदान दिया था। पहली तिमाही मे जूट से बनी वस्तुओं के निर्यात में और ज्यादा कमी हो गई। दूसरी ओर मछली और मछली से बने पदार्थों तथा इंजीनियरी सामान के निर्यात मे चालू वर्ष की पहली तिमाही मे क्रमश· 5 प्रतिशत तथा 16 6 प्रतिशत की साधारण वृद्धियाँ हुई। कुल मिलाकर इस वर्ष मे जो निर्यात हुआ है उसे साधारण रूप में ही उत्साहवर्धक कहा जा सकता है। केवल मात्र चाय और काफी के निर्यात की दरो मे सराहनीय वृद्धि हुई है।

भारत सरकार की रिपोर्ट 1977-78 के अनुसार निर्यात स्थिति

भारत सरकार के वाणिज्य विभाग की 1977-78 की वार्षिक रिपोर्ट में भारत की निर्यात स्थिति पर जो प्रकाश डाला गया है वह इस प्रकार है—

1976-77—वर्ष 1976-77 से सम्बन्धित निर्यातों की वस्तुवार प्रवृत्तियों से पता लगता है कि प्राथमिक तथा निर्मित उत्पाद दोनो की अनेक मदों के निर्यातों के मूल्य मे सुधार हुआ है। 1975-76 की तुलना मे वर्ष 1976-77 के दौरान निर्यातो मे प्रभावशाली वृद्धि हुई। खासकर इन मदो के निर्यात मे वृद्धि हुई—यथा सूती परिधान सहित सूती वस्त्रो के निर्यात 371·5 करोड. रुपए से बढकर 603 2 करोड रुपए हो गए अर्थात् उनमें 62·4 प्रतिशत की वृद्धि हुई, इंजीनियरी माल के निर्यात 413 करोड रुपए से बढकर 554·4 करोड़ रुपए हो गए अर्थात् उनमें 34 3 प्रतिशत की वृद्धि हुई। रत्न तथा आभूषण सहित हस्तशिल्प की वस्तुओं के निर्यात 252 करोड रुपए से बढकर 404 8 करोड रुपए के हो गए अर्थात् उनमें 60 7 प्रतिशत की वृद्धि हुई, चमडा तथा चमड़ा निर्मित माल, जिसमे जूते भी शामिल है के निर्यात 220 7 करोड रुपए से बढकर 290·2 करोड रुपए के हो गए अर्थात् उनमे 31 67 प्रतिशत की वृद्धि हुई, खली के निर्यात 106 6 करोड रुपए से बढकर 256·5 करोड रुपए के हो गए अर्थात् उनमे 140 प्रतिशत की वृद्धि हुई, मछली के निर्यात 127·2 करोड रुपए से बढकर 180 6 करोड़ रुपए के हो गए, अर्थात् उनमे 42 0 प्रतिशत की वृद्धि हुई, रसायन तथा सह-उत्पाद के निर्यात 85·3 करोड रुपए से बढकर 109 5 करोड रुपए के हो गए अर्थात् उनमे 28·3 प्रतिशत की वृद्धि हुई, काफी के निर्यात 66·7 करोड रुपए से बढ़कर 125 8 करोड रुपए के हो गए अर्थात् उनमे 88 7 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

1976-77 के दौरान अन्तर्राष्ट्रीय बाजारो मे व्यापार की दशा, मुख्यत. पटसन निर्मित माल तथा चीनी जैसे प्रमुख निर्यातों के सम्बन्ध मे, प्रतिकूल बनी रही। वर्ष के दौरान चीनी की विश्व कीमतो मे विशेष गिरावट आई तथा पटसन निर्मित माल के इकाई मूल्य प्राप्ति में भी और गिरावट आई। चीनी के निर्यात घटकर 1976-77 मे 148·1 करोड़ रुपए के रह गए जबकि 1975-76 मे 472 3 करोड़ रुपए के थे। उसी अवधि में पटसन निर्मित माल के निर्यात 250 9 करोड़ से घटकर

निर्यात में गिरावट दर्शाने वाली मदें

(करोड़ रुपए)

	1976–77	अप्रैल-सितम्बर	
		1976	1977
श्रेणी ख			
चीनी	148 1	89 6	10·5
मछली	180 6	87 9	88·1
सब्जी तथा फल	158·2	93 8	128 1
तिलहन	71·2	37·5	2·3
कच्ची रूई	27 0	26 6	0 10
अयस्क तथा खनिज (लौह अयस्क, मैंगनीज अयसम आदि को छोड़कर)	55·2	24 7	21·5
मैंगनीज अयस्क	19 1	5·1	2 3
अभ्रक	17 4	8 4	8·4
वनस्पति तेल तथा चर्बी	50 1	33 67	10·5
चमडा तथा चमडा निर्मित माल	264 1	135 1	121·3
सीमेंट	28 8	9 5	6 7
लोहा तथा इस्पात	292·3	188 4	137 6
सिले-सिलाए परिधान	265 0	161·5	145·3
जूते-चप्पल आदि	29 5	12·1	3 83

भारत के विदेशी व्यापार की मुख्य प्रवृत्तियाँ
अथवा
1947 से भारत के निर्यात-आयात व्यापार की प्रवृत्तियाँ

भारत के विदेशी व्यापार के आकार, आयात-निर्यात की प्रमुख मदो, आयात और निर्यात के प्रमुख देशो आदि का विवरण देने के उपरान्त भारत के विदेशी व्यापार अथवा *निर्यात-आयात व्यापार की मुख्य प्रवृत्तियो को समझना आवश्यक है*–

(क) निर्यात-व्यापार की प्रवृत्तियाँ और परिवर्तन

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त अब तक के आयोजन काल मे देश के निर्यात-व्यापार मे जो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए या मुख्य प्रवृत्तियाँ दिखाई दी वे इस प्रकार हैं—

(1) वस्तु के अनुसार परिवर्तन— देश के निर्यातो मे यद्यपि परम्परागत वस्तुओं का महत्त्व बना हुआ है लेकिन गैर-परम्परागत वस्तुओं का महत्त्व भी बढ़ता जा रहा है। पटसन के माल, चाय, कहवा आदि परम्परागत निर्यात-वस्तुओ से हम काफी विदेशी मुद्रा अर्जित करते हैं, किन्तु लोहा एवं इस्पात, इंजीनियरी के सामान आदि गैर-परम्परागत निर्यात-वस्तुओ की स्थिति मे भी बड़ा उत्साहवर्द्धक सुधार हुआ

है। परम्परागत और गैर-परम्परागत दोनों ही वस्तुएँ भारत के निर्यात व्यापार में कितनी महत्त्वपूर्ण बनती जा रही हैं, इसका आभास हम भारत सरकार की 25-5-78 की प्रेस विज्ञप्ति के निम्नलिखित अनुच्छेद से होता है—

'*चाय, काफी और मसालों के निर्यात से अधिक आय हुई। इंजीनियरी माल* रसायन और सम्बद्ध उत्पादों तथा पटसन से तैयार वस्तुओं का भी अच्छी मात्रा में निर्यात हुआ और हीरे जवाहरात के निर्यात में भी उल्लेखनीय वृद्धि हुई। निर्यात प्रोत्साहन परिषदों और जिन्स बोर्डों से प्राप्त जानकारी के आधार पर चाय का निर्यात मूल्य 295 करोड़ रुपए से बढ़कर 556 करोड़ रुपए हो गया और इस प्रकार चाय के निर्यात में 88 प्रतिशत वृद्धि हुई। काफी का निर्यात मूल्य 114 करोड़ रुपए से बढ़कर 230 करोड़ रुपए हो गया। इस प्रकार काफी के निर्यात में 102 प्रतिशत वृद्धि हुई। मसालों का निर्यात मूल्य 76 करोड़ रुपए से बढ़कर 138 करोड़ रुपए हुआ अर्थात् इसमें 82 प्रतिशत वृद्धि हुई। इंजीनियरी माल के निर्यात में 12 से 13 प्रतिशत रसायन और सम्बद्ध उत्पादों के निर्यात में 17 प्रतिशत और हीरे-जवाहरात के निर्यात में 50 प्रतिशत की वृद्धि हुई।"

(2) **दिशा के अनुसार परिवर्तन**—विदेशी व्यापार की दिशा (Direction of Foreign Trade) का आशय इस बात से होता है कि भारत का व्यापार किन देशों के साथ है अर्थात् किन देशों से वह आयात करता है और किन देशों को निर्यात करता है। यदि निर्यात व्यापार की दिशा को लें तो 1951-52 से 1971-72 की अवधि में जापान का प्रतिशत अंश लगभग 2.2% से बढ़कर 11.5% हो गया, पूर्वी यूरोपीय देशों का प्रतिशत अंश लगभग 1.2% से बढ़कर 22% हो गया, ब्रिटेन का प्रतिशत अंश 27 प्रतिशत से गिरकर 11 प्रतिशत पर और इसी प्रकार अमेरिका तथा कनाडा का प्रतिशत अंश लगभग 21 प्रतिशत से घटकर 19 प्रतिशत पर आ गया। निर्यात माल के मुख्य खरीददारों में 1971-72 में अमेरिका सबसे ऊपर, रूस दूसरे नम्बर पर जापान तीसरे नम्बर पर, और ब्रिटेन चौथे नम्बर पर थे। 1972-73 में देश का निर्यात-निष्पादन काफी प्रभावोत्पादक रहा, क्योंकि बंगला देश के साथ व्यापार आरम्भ हो गया और विश्व की प्रमुख मुद्राओं के बीच विनिमय की नई दरों की व्यवस्था हो गई।

(3) **घरेलू आवश्यकता की पूर्ति के बाद वस्तुओं का निर्यात**—जनता पार्टी की सरकार ने निर्यात नीति को एक नया मोड़ दिया है। वर्ष 1977–78 के दौरान सरकार ने घरेलू जरूरतों को पूरा करने के पश्चात् ही आम जरूरत की वस्तुओं का निर्यात करने की नीति अपनाई। 1977–78 के दौरान तिलहन, वनस्पति तेलों, मूँगफली, चीनी, ताजी सब्जियों जिनमें प्याज और आलू शामिल हैं चावल, दालें और सीमेंट जैसी आम उपभोग की वस्तुओं का कुल निर्यात 160 करोड़ रु. का हुआ जबकि इसकी तुलना में 1976–77 में यह निर्यात 500 करोड़ रु. का था। घरेलू उपभोक्ताओं को अधिक चाय उपलब्ध कराने के लिए, चाय के निर्यात की मात्रा को कम रखा गया। 1976–77 के दौरान 24·2 करोड़ कि. ग्रा. चाय का निर्यात किया गया था।

(4) विश्व व्यापार में कमी के कारण निर्यात की अनेक वस्तुओं पर प्रतिकूल प्रभाव—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के नवीनतम सर्वेक्षण के अनुसार विश्व व्यापार की मात्रा की वृद्धि मे तेजी से कमी आई है। 1976 मे यह लगभग 12 प्रतिशत थी जबकि 1977 मे यह 5 प्रतिशत रह गई। या तो संरक्षणवाद या फिर मन्दी के कारण वस्त्र, इस्पात, अनेक इजीनियरिंग उत्पाद, खनिज और चमडा व चमडे से बने सामान सहित निर्यात की अनेक महत्वपूर्ण वस्तुओ विशेष तौर से सूती वस्त्रों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। 1977–78 के दौरान घरेलू माँग बढ जाने से इस्पात के निर्यात मे लगभग 100 करोड रु की कमी आई। 1977-78 के दौरान सूती कपड़ा और चमडा तथा चमड़ा निर्मित सामान के निर्यात मे कम से कम 45 से 50 करोड़ रु. की कमी होने का अनुमान है।

(5) नई निर्यात नीति के उद्देश्य—जनता सरकार द्वारा व्यापार में विविधिकरण को बढावा देकर व्यापार मे परिवर्तन लाने के प्रयास किए जा रहे हैं। नई निर्यात नीति का उद्देश्य कच्चे माल के स्थान पर तैयार माल का निर्यात करना है ताकि इनका अधिक मूल्य हो और देश मे रोजगार के अवसर बढाए जा सकें। नई निर्यात नीति का उद्देश्य वर्तमान क्षमता का बेहतर उपभोग, अधिक निवेश और आधुनिकीकरण के माध्यम से अधिक निर्यात करना है। नई निर्यात नीति का उद्देश्य नए बाजारो का पता लगाना है और उन्हे अपने अनुकूल बनाना भी है।

(ख) आयात-व्यापार की मुख्य प्रवृत्तियाँ और परिवहन

स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त भारत के आयात-व्यापार मे जो महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं या मुख्य प्रवृत्तियाँ दिखाई दी हैं वे निम्न प्रकार हैं—

(1) वस्तु के अनुसार परिवर्तन—आयात की जाने वाली वस्तुओं मे लोहा एव इस्पात, मशीनो (बिजली की मशीनो को छोड़कर) परिवहन के समान, बिजली के मशीनो एव उपकरणो, कपास, गेहूँ, पैट्रोल (बिना साफ तथा आंशिक रूप से साफ किया गया), रासायनिक तत्व तथा यौगिक धातु की बनी वस्तुओं, ताँबा आदि का विशेष महत्व है।

भारत सरकार की 1977-78 की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार—"1974-75 तथा 1975-76 के दौरान आयातो मे काफी वृद्धि के बाद 1976–77 मे भारत के कुल आयात 5074·36 करोड रु के हुए जिससे लगभग 3 6 प्रतिशत की गिरावट प्रकट होती है। 3 प्रमुख समूहो अर्थात् अनाज, पी ओ. एल तथा विनिर्मित उर्वरको के संयुक्त आयात 1975–76 के दौरान हुए भारत के कुल आयातों के 58 प्रतिशत ठहरते हैं, लेकिन 1976–77 मे उनका भाग घटकर 49 प्रतिशत रह गया। घरेलू उत्पादन मे सुधार के कारण अनाज का भाग, जो 1975-76 मे 25 5 प्रतिशत था, घट कर *17·5* प्रतिशत हो गया तथा विनिर्मित उर्वरकों का भाग 8·9 प्रतिशत से घटकर 3 9 प्रतिशत हो गया।

खाद्य तेल, रूई, मानव निर्मित रेशे के मामले मे आयात विशेषकर इस उद्देश्य से अधिक किए गए कि इन मदो की घरेलू उपलब्धता बढ़े तथा उनकी कीमतों

पर नियन्त्रण हो। रसायनिक तत्त्वों तथा यौगिकों, भेषजीय तथा औषध, कागज तथा गत्ता, प्लास्टिक सामग्री, विनिर्मित उर्वरक, बिना तराशे हुए मूल्यवान तथा अर्द्ध-मूल्यवान पत्थरों में भी वृद्धि भिन्न भिन्न मात्रा में हुई है।

(2) दिशा के अनुसार परिवर्तन—आयातों का दिशा परिवर्तन निर्यातों के दिशा परिवर्तन के अनुरूप है। जिन देशों से आयात किया जाता है उनमें अमरिका, ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी, ईरान, जापान, कनाडा और रूस मुख्य हैं। 1971–72 में अमेरिका का स्थान सबसे ऊँचा ब्रिटेन का दूसरे नम्बर पर, जापान का तीसरे नम्बर पर और ईरान का चौथे नम्बर पर था। रूस से हमारा आयात व्यापार तुलनात्मक रूप में बहुत अधिक बढ़ा है। जहाँ 1950–51 में रूस से केवल 23 लाख रुपयों का आयात किया गया वह वहाँ आयात राशि बढ़कर 1971–72 में 8,156 लाख रुपए हो गई। अमेरिका, ब्रिटेन से हमारा आयात-व्यापार पहले ही काफी बढ़ा हुआ था।

1975–76 में पश्चिम यूरोप से 1256 करोड़ रु का आयात हुआ जिससे यूरोपीय साझा बाजार से 1096 करोड़ रु का था। इसी अवधि में एशिया तथा ओसीनिया से 1777 करोड़ रु का आयात हुआ जिसमें एस्कैप से आयात की राशि 1064 करोड़ रु और शेष एशिया तथा ओसीनिया से 100 करोड़ रु की थी। इस अवधि में अफ्रीका 5000 करोड़ रु और अमेरिका से 1552 करोड़ रु का आयात हुआ। वर्ष 1977–78 में आयात अस्थायी रूप से 5,832 करोड़ 49 लाख रु मूल्य का होना अनुमानित किया गया है।

(ग) भारत का प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन और उसके कारण

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से 1971–72 तक प्रति वर्ष भारत के आयातों का मूल्य निर्यातों के मूल्यों से अधिक रहा अतः व्यापार सन्तुलन भारत के विपक्ष में रहा। बाद के वर्षों में भी स्थिति में उतार-चढ़ाव आता रहा। 1977–78 के वर्ष के लिए अनुमान लगाया गया है कि व्यापार सन्तुलन लगभग 600 करोड़ रु विपक्ष में रहेगा। मई, 1978 की भारत सरकार की प्रेस विज्ञप्ति के अनुसार 1977–78 के आँकड़ों में अन्तिम रूप से वृद्धि होने की सम्भावना है और आशा है कि निर्यात और आयात के अन्तिम आँकड़े क्रमशः 5400 करोड़ रु और 6000 करोड़ रु के होंगे।

व्यापार सन्तुलन के विपक्ष में रहने के कारण—प्रश्न उठता है कि देश का व्यापार-सन्तुलन निरन्तर विपक्ष में क्यों रह रहा है ? अवश्य ही इसके कुछ विशेष कारण हैं—

1. देश के विभाजन के फलस्वरूप अनाज और कच्चे माल के उत्पादक अधिकांश क्षेत्र पाकिस्तान में चले गए। अतः इन वस्तुओं की कमी पूर्ति के लिए देश को भारी मात्रा में आयात करना पड़ा और व्यापार-सन्तुलन हमारे विपक्ष में हो गया।

2 स्वतन्त्रता के बाद से ही विभिन्न कारणोंवश देश में खाद्यान्नों का निरन्तर अभाव बना हुआ है और इनके आयात पर विपुल धनराशि विदेशों को चुकानी पड़ती है।

3 योजनाबद्ध आर्थिक विकास में औद्योगीकरण पर और कृषि के वैज्ञानिकीकरण पर अधिकाधिक बल देने से विदेशों से कच्चे माल, पुर्जे तथा अन्य साज-सामान का भारी मात्रा में आयात करना पड़ा है अतः हमारा आयात-बिल निरन्तर बढ़ता गया है।

4. चीन और पाकिस्तान के शत्रुतापूर्ण व्यवहार और भारत पर आक्रमण के कारण देश को सुरक्षा सामग्री के आयात पर भी भारी व्यय करना पड़ा है, अत यह भी व्यापार-सन्तुलन के विपक्ष में रहने का एक बड़ा कारण है।

5. देश के विभिन्न क्षेत्रों के आर्थिक विकास के लिए विभिन्न प्रकार की विकास-सामग्री का आयात करना पड़ा है। विकास-मूलक आयातों को तब तक कम नहीं किया जा सकता जब तक हम स्वयं इस क्षेत्र में आत्मनिर्भरता की ओर न बढ़ें। विभिन्न किस्म की मशीनरी, परिवहन के साज-सामान, रासायनिक उर्वरक आदि का उत्पादन देश में अपर्याप्त होने से इनके आयात पर भारी व्यय किया गया है और फलस्वरूप व्यापार की बाकी हमारे विपक्ष में रही।

6 देश में आयात-बिल तो बढ़ता रहा है जब कि प्रयत्न करने पर भी निर्यातों में हम तेजी से वृद्धि नहीं कर सके हैं। वास्तव में 1971-72 तक तो निर्यात के क्षेत्र में हम बहुत कुछ स्थिरता की दशा में थे। विगत वर्षों में सरकार निर्यात-वृद्धि के सभी सम्भव उपायों पर अमल कर रही है और इसके अच्छे परिणाम भी दिखाई देने लगे हैं।

भारत जैसे अर्द्ध-विकसित देश में योजनाबद्ध आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में व्यापार-सन्तुलन का प्रतिकूल रहना कोई अस्वाभाविक और चिन्ताजनक बात नहीं है, अशर्ते कि देश की अर्थ-व्यवस्था निरन्तर सबल और समुन्नत होती जाए। उपलब्ध स्रोतों का समुचित विदोहन करके और आर्थिक विकास की दृढ़ आधारशिला रखकर निर्यातों में वृद्धि करना तथा विदेशी ऋणों को चुकाना सम्भव है, लेकिन यदि आर्थिक विकास की गति मन्द हो और दीर्घकाल तक व्यापार-सन्तुलन विपक्ष में चला जाए तो यह स्थिति चिन्ताजनक है। इसमें देश के समक्ष विदेशी विनिमय का गम्भीर संकट उपस्थित हो जाता है। दुर्भाग्यवश भारत के सन्दर्भ में यह चिन्ताजनक पहलू लागू हो रहा है।

भारत के विदेश व्यापार की प्रवृत्तियाँ : सम्पूर्ण स्थिति
भारत सरकार की रिपोर्ट 1977-78

भारत सरकार के वाणिज्य विभाग की वार्षिक रिपोर्ट 1977-78 के अनुसार 1973-74 से 1977-78 के मध्य भारत के विदेश व्यापार की प्रवृत्तियों की सम्पूर्ण स्थिति का चित्रण इस प्रकार किया गया है—

नवीनतम संशोधन के अनुसार वर्ष 1976-77 के दौरान पुनर्निर्यातों सहित समग्र भारतीय निर्यात कुल 5143·35 करोड़ रु० के रहे। इस प्रकार विगत वर्ष में हुए निर्यातों की तुलना में इनमें लगभग 27·2 प्रतिशत की वृद्धि हुई। आयातों के मामले में पिछले वर्षों में वृद्धि की जो गति थी वह उलट गई। वर्ष के दौरान कुल

देश के प्रमुख आयातों अर्थात् पी.ओ.एल., खाद्य तथा उर्वरकों जैसी मदों की विश्व कीमतों में तीव्र वृद्धि के कारण 1973–74 तथा 1975–76 के मध्य आयातों में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई अर्थात् वे 2,955 करोड़ रु० से बढ़कर 5,265 करोड़ रु० के हो गए। आयातों में 1973–74 में 5 प्रतिशत की तथा 1974–75 में 53 प्रतिशत की वृद्धि हुई और 1975–76 में 16·5 प्रतिशत की वृद्धि हुई। तथापि घरेलू उत्पादन, खासकर खाद्यान्नों, उर्वरकों तथा लोहा तथा इस्पात में वृद्धि होने के कारण वर्ष 1976–77 के दौरान आयात काफी हद तक कम हुए अर्थात् उसमें 3 6 प्रतिशत की गिरावट आयी। इस प्रकार वर्ष 1976–77 में विदेशों में भारत के व्यापार कारोबार में महत्त्वपूर्ण मोड़ आया।

निर्यात के सम्बद्ध सूचकांकों से पता चलता है कि 1975-76 तथा 1976-77 दोनों वर्षों में निर्यातों के मूल्य में जो वृद्धि हुई उसमें इकाई मूल्य प्राप्ति में वृद्धि की अपेक्षा निर्यातों की मात्रा में वृद्धि का अपेक्षाकृत अधिक योगदान था। यह स्थिति 1973–74 तथा 1974–75 से भिन्न थी। निर्यातों के सूचकांक मात्रा में 1973-74 तथा 1974–75 में क्रमशः 4 2 प्रतिशत तथा 6 4 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी जिसकी तुलना में 1975–76 तथा 1976-77 के दौरान क्रमशः 10 5 प्रतिशत तथा 18 4 प्रतिशत की वृद्धि हुई, परन्तु इकाई मूल्य प्राप्ति के मामले में रुख अलग था। विश्व बाजार में मन्दी आने से 1975–76 तथा 1976–77 के दौरान निर्यातों से इकाई मूल्य प्राप्ति में केवल 7 7 प्रतिशत तथा 6·6 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि 1973-74 में 21·7 प्रतिशत तथा 1974–75 में 25 4 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी।

आयातों के इकाई मूल्य में वृद्धि की दर सामान्यतः निर्यातों के इकाई मूल्य में वृद्धि से अधिक रही है जिसके परिणामस्वरूप व्यापार की स्थिति में कुल मिलाकर गिरावट रही। तथापि 1976–77 के दौरान आयात के इकाई मूल्य में मामूली गिरावट होने से उसके साथ ही आयात की कम मात्रा के कारण पिछले वर्ष जो व्यापार की स्थिति में जो गिरावट आई थी वह 1976–77 में रुक गई। निर्यात आयात के सम्बद्ध सूचकांक निम्नोक्त तालिका में दिए गए हैं—

सूचकांक

(आधार वर्ष 1968–69=100)

वर्ष	इकाई मूल्य		मात्रा		व्यापार स्थिति (निवल)
	निर्यात	आयात	निर्यात	आयात	
1972–73	120	97	120	99	124
1973–74	146	133	125	114	106
1974–75	183	239	133	100	77
1975–76	197	280	147	99	70
1976–77	210	278	174	97	76

क्षेत्र के अन्य महत्त्वपूर्ण बाजार ये हैं—पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया, जर्मन लोकतन्त्रीय गणराज्य, रूमानिया, बल्गेरिया तथा हगरी।

1976–77 के दौरान अफ्रीका क्षेत्र को किए गए निर्यातों मे पिछले वर्ष की तुलना मे लगभग 15 प्रतिशत की वृद्धि हुई। 1976–77 में इस क्षेत्र मे भारतीय माल का सबसे बड़ा खरीददार मिस्र का अरब गणराज्य है जिसके बाद ये आते है—सूडान, नाइजे रिया, तजानिया, कीनिया, लीबिया, मारिशस तथा जाम्बिया।

1976–77 के दौरान एशिया तथा ओसीनिया द्वारा की गई खरीद लगभग 20 प्रतिशत बढी। एस्कैप के मामले मे वृद्धि लगभग 6 प्रतिशत हुई। 1976–77 मे उसके द्वारा 1150 करोड रु के माल की खरीद की गई जबकि 1975–76 मे 1282 करोड रु की खरीद की गई थी। शेष एशिया तथा ओसीनिया को निर्यात बढकर 582 करोड रु के हुए जबकि पहले 341 करोड़ रु. के हुए थे और इस प्रकार 71 प्रतिशत की वृद्धि हुई। 1976–77 मे एस्कैप को किए गए कुल निर्यातों का 44 प्रतिशत भाग अकेले जापान को ही भेजा गया था तथा उसके बाद ईरान तथा आस्ट्रेलिया आते है जिनका भाग 12 प्रतिशत तथा 5 प्रतिशत था। 1976–77 मे 544 करोड रु के कुल निर्यातो मे जापान को किए गए हमारे निर्यातो मे अयस्क तथा मछली प्रमुख मदें हैं। अन्य मदो मे ये शामिल हैं—पटसन खाल, तम्बाकू, लोहा तथा इस्पात, मोती, मूल्यवान तथा अर्द्ध-मूल्यवान पत्थर तथा काजू गिरी। 1976–77 मे ईरान को किए गए हमारे निर्यातो को भारी धक्का लगा। 1976–77 मे ये घटकर 146 करोड रु के हुए जबकि 1975–76 मे 273 करोड रु. के हुए थे। यह गिरावट मुख्य रूप से चीनी के निर्यातो मे तीव्र कमी के कारण आई।

शेष एशिया को, जिसमे अधिकांशत. पश्चिम एशिया के देश है, भारत के निर्यात हाल के वर्षों मे बढते रहे हैं। 1976-77 के दौरान इस क्षेत्र को किए गए हमारे कुल निर्यातो मे से 28 प्रतिशत निर्यात संयुक्त अरब अमीरात, 20 प्रतिशत कुवैत, 13 प्रतिशत सऊदी अरब तथा 8 प्रतिशत ईराक को किए गए। 1976-77 मे सयुक्त अरब अमीरात के सम्बन्ध मे निर्यात लगभग 152 प्रतिशत बढ़े जो 66 करोड रु. से बढकर 167 करोड़ रु हुए, कुवैत के सम्बन्ध मे 148 प्रतिशत बढे जो 47 करोड रु. से बढकर 117 करोड रु. हुए, सऊदी अरब के सम्बन्ध मे 27 प्रतिशत बढे जो 60 करोड रु से बढकर 76 करोड रु हुए, लेकिन ईराक के मामले मे निर्यात 26 प्रतिशत घटे जो 64 करोड रु से घटकर 47 करोड रु. रह गए। तेल की कीमतो मे वृद्धि के परिणामस्वरूप तेल राजस्व मे काफी वृद्धि होने से मध्यपूर्व के तेल उत्पादक देशो ने विकास की बहुत बडी योजनाएं आरम्भ की है जिनमे अब स्थापना तथा उद्योगो का विकास शामिल है। इससे माल तथा सेवाओ की सप्लाई के लिए बड़ा बाजार तैयार हो गया है।

पश्चिम यूरोप, विशेषकर यूरोपीय साझा बाजार के साथ भारत के विदेशी व्यापार मे एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि 1975-76 मे जो 265 करोड रु. का घाटा था, उसके स्थान पर 1976-77 मे 482 करोड रु. का अधिशेष रहा है।

भारत के विदेश आर्थिक सम्बन्धों से पता चलता है कि बंगलादेश, नेपाल, बर्मा, श्रीलंका, अफगानिस्तान और ईरान जैसे पड़ोसी देशों के साथ द्विपक्षीय सम्बन्ध और अधिक सुदृढ़ हुए हैं तथा पाकिस्तान और चीन के साथ व्यापार मार्ग खुले हैं।

1977 में चीन लोक गणराज्य के साथ व्यापार सम्पर्क हुए तथा व्यापार का आदान प्रदान हुआ जिससे उसके साथ व्यापार का सामान्यीकरण हुआ। कैंटन मेले (अप्रैल-मई 1977) और (अक्तूबर-नवम्बर 1977) में भारत के भाग लेने के परिणामस्वरूप चीन के साथ 3 94 करोड़ रु. मूल्य के व्यापार के लिए संविदा की गयी, जिसके अन्तर्गत जस्ता, एन्टीमनी, धातु और पारे का आयात तथा कच्चे लोहे और चमड़े का निर्यात किया जाना है। भारत-पाकिस्तान व्यापार को, जो 1975 में फिर से आरम्भ हुआ तथा पहले जो दोनों देशों के राज्य व्यापार अभिकरणों तक सीमित था, 15-7-76 से प्राइवेट व्यापार के लिए खोल दिया गया। अप्रैल 1977 के दौरान नई दिल्ली में भारत तथा पाकिस्तान के बीच जो व्यापार समीक्षा सम्बन्धी बात-चीत हुई थी उसके परिणामस्वरूप व्यापार सम्बन्धों में और परिवर्तन हुए हैं। 1976-77 के दौरान पाकिस्तान को किए गए भारत के निर्यात 8·97 करोड़ रु. के हुए। व्यापार बढ़ने लगा और 1977-78 के पहले 6 महीनों के दौरान निर्यात 8·00 करोड़ रु. के स्तर के हुए। भारत से पाकिस्तान को निर्यात की जाने वाली प्रमुख मदें ये हैं—चाय, इन्जीनियरी माल, लोहे तथा इस्पात से बना माल, कोयला, सीमेंट तथा ताम्रबूल पात्र आदि। पाकिस्तान से हमारे आयातों के विविधीकरण के लिए प्रयास किए जा रहे हैं तथा नई मदें अभिज्ञात की जा रही हैं। 1977-78 की पहली छमाही के दौरान बंगला देश को किए गए निर्यातों का मूल्य 25·63 करोड़ रु था।

नेपाल के साथ पृथक् रूप से व्यापार तथा पारगमन सन्धियाँ करने के लिए वार्ताएँ चल रही हैं। 1976-77 के दौरान नेपाल को किए गए निर्यातों का मूल्य 51·66 करोड़ रु था तथा 1977-78 की पहली छमाही के दौरान 24·31 करोड़ रु. के निर्यात हुए। श्रीलंका की कुल खरीद बढ़ रही है। श्रीलंका को हमारे निर्यात जो 1975-76 में 23·10 करोड़ रु. के थे, 1976-77 में बढ़कर 39 35 करोड़ रु के हो गए तथा 1977-78 की पहली छमाही के दौरान उस देश को किए गए निर्यात 24·36 करोड़ हो गए।

निर्यात का महत्त्व और निर्यात-संवर्धन के उपाय

शीघ्रातिशीघ्र पूर्ण रोज़गार और आर्थिक आत्मनिर्भरता प्राप्त करना हमारी सरकार की आर्थिक नीतियों और कार्यक्रमों के प्रमुख उद्देश्य हैं। इसलिए निर्यात में वृद्धि आवश्यक और वान्छनीय है क्योंकि अधिक निर्यात के द्वारा जरूरी विदेशी मुद्रा कमा कर ही हम बहुत-सी महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ और साज-सामान, जोकि अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के विकास के लिए आवश्यक हैं, खरीद सकते हैं। निर्यात मूल्य की अपेक्षा आयात मूल्य अधिक रहने की प्रवृत्ति से व्यापार सन्तुलन हमारे विपक्ष में रहता है जिसका सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर घातक प्रभाव पड़ता है।

विदेश व्यापार--नीति
(Foreign Trade Policy)

व्यापार के सम्बन्ध मे सरकारी नीति का बड़ा महत्त्व होता है और विशेषकर एक विकासशील देश के सन्दर्भ मे तो इसका बहुत ही महत्त्व है। यदि आयातो पर प्रतिबन्ध लगाने की नीति अपनाई जाती है तो घरेलू उद्योगों के विकास के लिए संरक्षित बाजार की व्यवस्था होती है। अमेरिका, जापान, जर्मनी आदि अति उन्नत देशो ने अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओ मे घरेलू अथवा देशी उद्योगो को विकसित करने के लिए आयातो पर सीमा शुल्क लगाने की नीति अपनाई है। निर्यात के क्षेत्र मे भी सरकारी रीति-नीति का विशेष महत्त्व है। निर्यातो को प्रोत्साहन देने के लिए तथा आर्थिक पिछड़ेपन से सम्बन्धित कमियो को दूर करने के लिए आज के युग मे राज्य का सर्वोपरि महत्त्व है। राज्य द्वारा सूचना-प्रबन्ध, विदेशो मे व्यापार अभिकरणो का प्रबन्ध आदि किया जाता है। राज्य निर्यातकों को वित्तीय सहायता एवं प्रोत्साहन प्रदान करता है। आवश्यक होने पर कुछ विशेष वस्तुओ का एवं कुछ विशेष उद्देश्यो के साथ व्यापार राज्य स्वय भी करता है।

भारत मे विदेशी व्यापार नीति के विकास में 1923 का वर्ष एक विभाजक रखता है। इससे पूर्व मुक्त व्यापार नीति की प्रधानता थी जिसका पूरा उपयोग ब्रिटिश हितों के सरक्षण के लिए किया गया और फलस्वरूप भारत के निर्यात मे से विनिर्मित मालों का नामोनिशान मिटाकर भारत उत्तरोत्तर कृषि-वस्तुओ पर निर्यातक बनता गया। भारत से कच्चे माल और खाद्यान्न के निर्यात और इंग्लैण्ड से निर्मित माल के आयात की नीति तत्कालीन भारत सरकार द्वारा अपनाई गई। इस प्रकार देश के व्यापार ने औपनिवेशिक व्यापार का रूप धारण कर लिया। 1923 मे भेदमूलक सरक्षण की नीति आरम्भ की गई जो आगे चल कर यथार्थतः केवल "विभेद की नीति" ही रह गई, "संरक्षण" प्रदान करने की नीति नहीं बन पाई। 1947 में स्वतन्त्र भारत के उदय के साथ ही राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हुई और विदेशी व्यापार-नीति मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तनो का सूत्रपात हुआ। अब विदेश व्यापार नीति इस प्रकार ढाली जाने लगी जिससे वह योजनाबद्ध आर्थिक विकास एवं औद्योगीकरण को प्रोत्साहित करने में सहायक हो। व्यापार के भारतीयकरण की प्रक्रिया भी आरम्भ की गई।

कांग्रेस सरकार की व्यापार नीति

(अ) आयात नीति

भारत सरकार की आयात नीति में समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं। कभी यह उदार रही है तो कभी कठोर। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के तुरन्त बाद आयात नीति को उदार रखा गया, फलस्वरूप आयातो मे काफी वृद्धि हुई तब मई,1949 से आयातो पर प्रतिबन्ध की नीति अपनाई गई और फिर 1950–51 मे नीति को पुन: उदार बनाते हुए आयात-सूची मे कई और वस्तुएँ जोड़ी गई। फिर भी कुल

(4) आयात-नीति का बुनियादी उद्देश्य अब भी यही रहा कि आयातित माल की जगह देशी माल का उपयोग किया जाए। अनावश्यक आयातो पर पूर्ण प्रतिबन्ध अथवा रोक की नीति अपनाई गई जबकि कई अन्य मदों पर आयातो के आंशिक प्रतिबन्ध की नीति लागू की गई और इस तरह आयात नीति मे "इनाम और" सजा की नीति का सम्मिश्रण किया गया।

(5) 1969--70 की आयात-नीति मे निर्यात के लिए उत्पादन बढाने और आयात मे कमी करने पर जोर दिया गया। आयात कम करने के लिए और आयातित वस्तुओं की जगह कई वस्तुएँ बनाने के लिए 316 वस्तुओ के आयात पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। इसके अतिरिक्त 129 नई वस्तुओ का आयात सीमित किया गया।

(6) 1970–71 की आयात-नीति मे कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ। सरकारी क्षेत्रो की एजेन्सियो द्वारा आयात की जाने वाली वस्तुओ मे 38 और वस्तुएँ भी शामिल कर दी गई।

(7) 1971-72 की आयात-नीति मे कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए गए, जैसे—(i) सरकारी क्षेत्र के अभिकरणो के आयात सम्बन्धी कार्य बढा दिए गए, *(ii) निर्यात-उत्पादन और निर्यात-क्षमता बढाने के लिए अधिक सुविधाएँ दी गई,* (iii) निर्यात सदनो (Export Houses) सम्बन्धी परिभाषा और व्यापक बना दी गई, (iv) प्राथमिकता प्राप्त उद्योगो को आवश्यकतानुसार लाइसेन्स देने की नीति जारी रखी गई, लेकिन गैर-प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रो मे छोटे-बडे दोनो उद्योगो को कच्चे माल के आयात के लाइसेन्स वार्षिक आधार पर दिया जाना तय किया गया, (v) लघु-स्तरीय उद्योगो को कच्चे माल के आयात की पहले से अधिक उदार सुविधाएँ दी गई, एव (vi) यह निश्चय किया गया कि जो वस्तुएँ देश मे ही निर्मित होने लगी हैं उनका आयात घटाया जाएगा। 1971-72 की नीति के अनुसार राज्य द्वारा 51 और वस्तुओं का आयात अपने हाथ मे ले लिया गया। इस प्रकार विदेशी व्यापार मे सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार की नीति एक कदम और आगे बढी।

(8) 1973–74 की अवधि के लिए, औद्योगिक विकास की दृष्टि से, उदार आयात-नीति अपनाई गई। 11 और उद्योग प्राथमिकता सूची मे ले लिए गए, 20 अन्य मदो को आयात के लिए सरकारी क्षेत्र मे लिया गया। 220 मदों का आयात पूर्णत: प्रतिबन्धित किया गया और 81 मदो को सीमित कर दिया गया। नई आयात नीति ऐसी रखी गई जो विकासोन्मुख और रोजगार-सम्वर्द्धक हो।

(9) सरकार ने 1974–75 के लिए उदार आयात-नीति घोषित की जिसका उद्देश्य *निर्यातों को प्रोत्साहन देना तथा प्राथमिकता प्राप्त उद्योगो के लिए* आवश्यक कच्चे माल के आयात की व्यवस्था करना था।

(10) 1976–77 की आयात नीति मे कुछ और उदारता का समावेश हुआ। आयातित कच्चे माल तथा संघटको के लिए 1975–76 मे लागू की गई

रुपये हो गया। अवमूल्यन का उद्देश्य था निर्यात-संवर्धन और आयात-प्रतिस्थापन को प्रोत्साहन। अवमूल्यन की घोषणा के साथ ही सरकार ने निर्यात-प्रोत्साहन की दूसरी योजनाएँ समाप्त कर दी। कुछ वस्तुओं पर निर्यात-शुल्क लगा दिए गए तो आयात करो मे भी कुछ संशोधन किए गए। सरकार का विचार था कि विदेशो मे जिन वस्तुओ की माँग बेलोच है, उन पर निर्यात कर लगाना उचित होगा। अवमूल्यन के बाद निर्यात-सवर्धन के और भी विभिन्न उपाय किए गए। 1970 मे ससद् मे एक निर्यात नीति सकल्प प्रस्तुत किया गया और उसी के अनुसार देश की व्यापार नीति चलाई जाने लगी। यह निर्यात नीति सकल्प आज भी प्रभावी है। इसमे निर्यात आय को अधिकाधिक बढाने के लिए मार्गदर्शक सिद्धान्त निर्धारित किए गए हैं। इस नीति के अनुसार भारत सरकार निर्यात के लिए उत्पादन क्षमता बढाने हेतु आवश्यक निवेश को प्रोत्साहन देती है। औद्योगिक लाइसेंस नीति के अन्तर्गत विशेष रूप से निर्यात के लिए औद्योगिक उत्पादन का विस्तार करने की व्यवस्था की गई। निर्यात के लिए देश की जरूरत से अधिक उत्पादन और विदेशो मे उनके लिए बाजार ढूंढने की समस्याएँ हल करने के लिए वाणिज्य मन्त्रालय मे निर्यात उत्पादन विभाग खोला गया है। आयात और निर्यात व्यापार को सुचारू रूप से चलाने के लिए सरकारी व्यापारिक अभिकरणो को अनुकूल साँचे मे ढाला जा रहा है। सरकार ने विशेष प्रकार के व्यापार का सचालन करने के लिए अलग-अलग निगम स्थापित किए हैं। इस प्रकार निर्यात व्यापार मे विशेषीकरण की बढती हुई आवश्यकताओ को स्वीकार किया गया है।

निर्यात सवर्धन के लिए सरकार विभिन्न देशो से व्यापारिक समझौते करती है जिनमे मुख्यत: निम्नलिखित उद्देश्य अन्तर्निहित हैं—(1) व्यापारिक लाभ के आधार पर विदेशी व्यापार मे वृद्धि करना, (2) दूसरे देशों से, प्रत्यक्ष व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करना, (3) देश के परम्परागत और गैर-परम्परागत दोनों ही निर्यात मे वृद्धि करना, (4) परम्परागत निर्यातो के मूल्यों मे स्थिरता लाना तथा गैर-परम्परागत निर्यातो के लिए आकर्षक मण्डियाँ स्थापित करना, (5) विदेशी विनिमय साधनों पर बिना अतिरिक्त दबाव डाले अथवा कम से कम अतिरिक्त दबाव डाले पूँजीगत माल तथा औद्योगिक कच्चा माल प्राप्त करना, एव (6) रुपये मे भुगतान वाले देशो से व्यापार मे अधिकाधिक प्रगति करना।

जनता सरकार की नई निर्यात-आयात नीति की विशेषताएँ

जनता पार्टी की सरकार ने जो नई आयात-निर्यात नीति अपनाई है उसकी विशेषताएँ निश्चय ही उत्साहवर्धक हैं।

नई आयात नीति की विशेषताएँ

जनता सरकार की नई आयात नीति की चार प्रमुख विशेषताएँ हैं। *आयात-निर्यात* इस ढग का हो कि—

(1) देश मे कीमतो पर बुरा असर न पड़े,

(2) औद्योगिक उत्पादन बढ़े,
(3) आम उपभोग की वस्तुओं का निर्यात न किया जाए, एव
(4) छोटे व मध्यम स्तर के उद्योगों म परेशानी कम हो।

सब बात तभी पूरी की जा सकती हैं जब आयात नीति सरल एव उदार हो। इसलिए नई नीति के तहत विदेशी मुद्रा के उपयोग एव कच्चे व पूँजीगत माल के आयात को जनता सरकार ने काफी उदार बनाया है। वाणिज्य मन्त्री श्री मोहन धारिया ने तो यह भी सकेत दिया था कि अब भविष्य म पूँजीगत माल एव औद्योगिक कच्चे माल के आयात को अधिक उदार बनाया जाएगा। इसके सम्बन्ध म केन्द्र ने अलक्ज़ण्डर समिति गठित की है जो जनता सरकार की आयात व निर्यात नीति के परिणामो की समीक्षा करेगी एव परिवर्तन के सम्बन्ध मे सिफारिशें करेगी। अगर परिणामो को देखा जाए तो उदार आयात नीति सफल रही है। इस नीति की पहली सफलता तो यह है कि आलू प्याज नमक, शक्कर एव अन्य ताजी सब्जियो का निर्यात नही हो रहा है। अगर इनका निर्यात शुरू कर दिया जाता तो देश मे इनके भावो म काफी वृद्धि हो जाती और उपभोक्ता को परेशानी होती। अगर इन वस्तुओ का निर्यात करते तो गत वर्षों की तुलना मे यहा इनके 1977–78 मे निर्यात म 15 प्रतिशत की वृद्धि निश्चय हो जाती, किन्तु दूसरी ओर भाव अधिक बढ जाते।

अभी तक देश की आयात नीति काफी नियन्त्रित थी एव यह सपना देखा जाता था कि निर्यात म अधिक वृद्धि हो। इस सपने का मुख्य कारण यही था कि देश मे विदेशी मुद्रा की कमी थी और इसलिए बासमती चावल आलू प्याज, मूँगफली दाना एव खाद्य तेलो का निर्यात करने का प्रयास किया जाता था। पर अब स्थिति एकदम बदल गई है। अब भारत के पास विदेशी मुद्रा की कोई कमी नही है। विदेशी मुद्रा कोष का बढना समस्या बन गई है। इसलिए सरकार ने विदेशी मुद्रा का उपयोग आवश्यक चीजो के आयात करने की बात सोची है और व्यावहारिक आयात निर्यात नीति बनाई है जिससे पूँजीगत व कच्चे माल की कमी न रहे। हमने अपनी औद्योगिक क्षमताएँ बढा ली है इसलिए उसके अनुरूप कच्चा माल भी चाहिए। उदार आयात नीति से उत्पादन बढेगा जिससे देश म मूल्यो को स्थिर बनाए रख सकेंगे तथा अतिरिक्त उत्पादन का निर्यात किया जा सकेगा। इस तरह निर्यात बढाने के लिए आयात जरूरी है।

इस उदारता के साथ दूसरी ओर यह सावधानी भी जरूरी है कि कोई ऐसी वस्तुएँ आयात न होने लगें जो देश मे ही पैदा हो रही हैं। नई नीति के तहत कुछ ऐसी कमियाँ हैं जिन्हे ठीक करना है। उदार नीति के अनुसार पूँजीगत माल एव मशीनरी के साथ-साथ टैक्नोलॉजी के आयात को प्रोत्साहन देते है तो उससे देश के विकास को बढावा मिलेगा। वर्तमान विशाल विदेशी मुद्रा कोष ऐसे आयात के लिए सहायक होगा।

आयात को उदार बनाने के साथ ही यह देखना भी जरूरी है कि आयात

इतना न बढ़ जाए कि विदेशी-व्यापार में अभी जो सन्तुलन बन रहा है वह बिगड़ जाए। इस सिलसिले में निर्यात के क्षेत्र मे आने वाली परेशानियों को भी दूर करना है क्योंकि अब हमारा विदेश व्यापार बहुमुखी बनता जा रहा है। अब कच्चे माल का निर्यात 33 प्रतिशत से भी कम हो गया है एव दूसरी ओर इजीनियरी व हस्त-शिल्प की वस्तुओ के निर्यात मे काफी वृद्धि हुई है।

नई निर्यात नीति की विशेषताएँ

जनता सरकार के वाणिज्य मन्त्री श्री मोहन धारिया ने जनवरी, 1978 के अपने विशेष लेख मे इस बात पर अफसोस प्रकट किया कि निर्यात की महत्त्वपूर्ण भूमिका को समझते हुए भी हमने तथाकथित 'निर्यातपरक' विकास की नीति को धीरे-धीरे छोड दिया। श्री धारिया ने जनता सरकार की नई निर्यात नीति की आधारभूत विशेषताओ पर *प्रकाश डाला। ये विशेषताएँ उन्ही के शब्दो मे निम्न*-लिखित हैं—

1. हम निर्यात-मिश्रण को गतिशील क्षेत्रो की ओर मोडने पर बल देंगे जिसमे *हमे लम्बी अवधि का प्रतियोगिक लाभ होगा और जहाँ कृत्रिम बैसाखियो के* सहारे के बिना ही निर्यात मे वृद्धि की जा सकती है। निर्यात विस्तार के अग्रणी क्षेत्रो मे इजीनियरिंग वस्तुएं, रसायन, चमड़ा उत्पाद, सिले-सिलाए कपड़े, हाथ करघा उत्पाद तथा परामर्श और इजीनियरिंग सेवाएँ और परियोजना निर्यात जैसी तकनीकी सघन उत्पादन शामिल है।

2. परम्परागत निर्यात के क्षेत्रों मे हमारा उद्देश्य उत्पादकता बढाना और वस्तु-मिश्रण को विविधतापूर्ण बनाना होगा ताकि हम अपनी आय अधिकतम कर सकें। कुछ क्षेत्रो मे यह पहले ही किया जा रहा है। उदाहरण के लिए अब हम कच्ची हड्डियो और मालो के निर्यात के स्थान पर तैयार चमडे और चमड़ा उत्पादो के निर्यात की ओर उन्मुख रहे हैं। भविष्य मे हम भारी मात्रा मे खुली चाय भेजने के बजाए इसे पैकेटो और थैलो मे भेजेंगे। इसी प्रकार, हम समुद्री और वन उत्पादो जैसे समाप्त न होने वाले पदार्थों तथा लौह अयस्क जैसे समाप्त होने वाले खनिजो के निर्यात मे घरेलू उपभोग की वस्तुओ मे वृद्धि करने का प्रयास करेंगे। नई निर्यात नीति के इस तत्त्व के द्वारा अधिक रोजगार के माध्यम से निर्यात के सामाजिक फायदो को अधिकतम किया जा सकेगा।

3. हमारी नई नीति का उद्देश्य आवश्यक आम उपभोग की वस्तुओं के निर्यात को नियमित करके हमारे निर्यात की सामाजिक लागत को न्यूनतम करना है। तिलहनो, दालो, चाय, सब्जियो और प्याज जैसे उत्पादो के मामले मे इनके निर्यात के बजाए घरेलू खपत को सदा प्राथमिकता दी जाएगी तथा निर्यात का घरेलू उत्पादन और कीमत पर बुरा प्रभाव नही पडने दिया जाएगा।

4. हम राज्य व्यापार निगमो की सहायता तथा बेहतर अन्तर्राष्ट्रीय विपणन और सूचना प्रणाली के रूप मे अन्य बुनियादी सुविधाओ की मदद से अपने निर्यातकों की सौदा करने की शक्ति बढाने का प्रयास करेंगे।

हमारी नई निर्यात नीति का मुख्य उद्देश्य हमारे अपार स्रोतो का अधिकतम दक्षता के साथ अधिकतम उपयोग करना होगा। इस नीति से वस्त्र उद्योग हस्तशिल्प, हाथकरघा, चमडा उद्योग, धातु पर आधारित उद्योग तथा इजीनियरिंग और परामर्श सेवाओ जैसे क्षेत्र मे कुशल व अकुशल दोनो प्रकार के श्रमिको के लिए प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रोजगार के अवसरो मे वृद्धि होगी। इसके साथ साथ निर्यात के लिए कोई निर्यात नही किया जाएगा तथा निर्यात करने और उसे बढाने की सामाजिक लागत को न्यूनतम रखा जाएगा।

आर्थिक समीक्षा 1977-78 के अनुसार व्यापार नीति की नई बातें

भारत की व्यापार नीति का व्यापक उद्देश्य यही है कि उत्पादन के आधार का विस्तार किया जाए, आर्थिक विकास की गति का और ज्यादा तेज करने के लिए प्रोत्साहन दिए जाएं और निर्यात को बढावा दिया जाए। 1977-78 की आयात नीति को न केवल इस कारण से उदार बताया गया था कि उद्योग धन्धो के लिए आवश्यक वस्तुओ और कच्चे माल की सारी आवश्यकताएं पूरी हो जाएं बल्कि इसका उद्देश्य यह भी था कि कीमतो को, खास कर जन उपयोग की वस्तुओ की कीमतो को उचित स्तर पर रखा जाए।

आयात को उदार बनाए जाने के उपाय के रूप मे बहुत सी वस्तुओ जैसे कि आयातित मशीनरी के फालतू पुर्जो, पालिनासिक तथा विस्कोस रेशो, खाद्य तेल, घडियों के पुर्जो और सूखे मेवो आदि को मुक्त लाइसेन्स प्रणाली के अन्तगत रख दिया गया। इसके साथ-साथ, खुली सामान्य लाइसेंस प्रणाली की व्याप्ति को और ज्यादा व्यापक बना दिया गया और चमडे की वस्तुएं बनाने की मशीनरी पोशाक बनाने की मशीनरी तथा बहुत सी औषधो दवाइयो रासायनिक पदार्थो, इलेक्ट्रानिक वस्तुओ, लोहे और इस्पात की वस्तुओ तथा वैज्ञानिक व तकनीकी विषयो की पुस्तको के आयात को भी खुली सामान्य लाइसेंस प्रणाली के अन्तर्गत रख दिया गया। मुक्त व्यापार क्षेत्रो मे मशीनरी के आयात, कच्चे माल तथा उपयोग की अन्य वस्तुओ के आयात को भी खुली सामान्य लाइसेंस प्रणाली के अन्तर्गत रख दिया गया।

स्वत लाइसेंस प्रणाली को और भी ज्यादा लोचदार बना दिया गया और पहले के वर्ष मे जारी किए गए स्वत लाइसेंसो के मूल्य को ध्यान मे न रखते हुए आयातित कच्ची सामग्री के वास्तविक उपयोग के आधार पर लाइसेंस दिए जाने लगे। निर्गम आदेशो के बिना ही वास्तविक उपभोक्ताओ को सस्या विशेष के माध्यम से आयात की जाने वाली वस्तुओ के प्रत्यक्ष आवटन की जो योजना 1976-77 मे शुरू की गई थी उसे और ज्यादा व्यापक बना दिया गया और उसके अन्तर्गत इस प्रकार की लगभग सभी वस्तुओ को सम्मिलित कर दिया गया।

लघु क्षेत्र के उद्योगो को उपलब्ध अनुकूल वर्ताव के दायरे को और ज्यादा विस्तृत कर दिया गया। इसके अन्तर्गत आयातित कच्चे माल को सघटको की प्राप्ति के सम्बन्ध मे इन उद्योगो की हकदारी को 20 प्रतिशत और ज्यादा बढा दिया गया। इसके अलावा, क्षमता मूल्यांकन की पेचीदा प्रणाली को समाप्त कर दिया गया तथा

लघु उद्योग-धन्धों को भी अनुपूरक लाइसेंस पद्धति की सुविधा उसी प्रकार से उपलब्ध करा दी गई जैसे कि तकनीकी विकास महानिदेशालय के एककों को उपलब्ध है।

पंजीबद्ध निर्यातकों से सम्बन्धित नीति को नई दिशा प्रदान की गई और उसके अन्तर्गत निर्यात सम्बन्धी प्रयत्नों को और ज्यादा सशक्त बनाने के लिए आवश्यक प्रेरणा दिए जाने की व्यवस्था कर दी गई। 'शापिंग लिस्ट' को खत्म कर दिया गया और निर्यातकों को जितने माल का पुनर्भरण करने की हकदारी है उतने माल के मूल्य के अन्दर-अन्दर आवश्यक कच्चे माल तथा संघटकों का आयात करने की अनुमति इस शर्त पर दे दी गई कि देशी उद्योग-धन्धों के उचित हितों की रक्षा पूरी तरह हो। यह अनुमति इसलिए दी गई कि निर्यातक अपनी वस्तुओं में विविधता ला सकें और अपने उत्पादों की कोटि में सुधार कर सकें। निर्यातकों को आयात पुनर्भरण लाइसेंस प्राप्त कर सकने के लिए किसी भी निर्माता को नामजद करने की भी अनुमति दे दी गई। इसके अलावा, अग्रिम लाइसेन्सों के आधार पर सीमा शुल्क उन्मुक्ति योजना के अन्तर्गत और ज्यादा वस्तुओं को भी शामिल कर दिया गया तथा इस प्रकार की प्रक्रिया को सरल बनाने वाले उपाय भी किए गए जिनका उद्देश्य निर्यातकों को उत्पादन के क्षेत्र में तारतम्य बनाए रख सकने और निर्यात सम्बन्धी आदेशों को पूरा करने के लिए आवश्यक सहायता की व्यवस्था करना था।

आयात पर पूर्ण रोक/निषेध लगाने की नीति में, नई आयात नीति के उदार तत्त्वों के अनुरूप, यथोचित परिवर्तन किया गया। पिछले वर्ष 59 निषिद्ध वस्तुओं की जो सूची मौजूद थी उसके स्थान पर 17 पूर्णत. निषिद्ध वस्तुओं की सूची निकाली गई। चूँकि ये वस्तुएँ देश में ही उपलब्ध हैं, इसलिए इनके आयात की अनुमति नहीं दी जा सकती।

निर्यात व्यापार नियन्त्रण नीति की मोटी रूपरेखा ज्यों की त्यों रखी गई है। पहले जिन 200 वस्तुओं के निर्यात के लिए लाइसेंस लेने की जरूरत होती थी उनमें से अब लगभग दो-तिहाई वस्तुओं के सम्बन्ध में 5 अगस्त, 1975 से लाइसेंस लेने की औपचारिकताओं को समाप्त कर दिया गया है और अब केवल बहुत ही कम वस्तुएँ बची हैं जिन पर इस प्रकार का नियन्त्रण है। इनमें से बहुतसी वस्तुओं को खुली सामान्य लाइसेंस प्रणाली के अन्तर्गत रख दिया गया है। घरेलू सुलभता तथा कीमतों की प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए वर्ष 1977-78 में कुछ एक वस्तुओं के निर्यात पर या तो रोक लगा दी गई या फिर उनके निर्यात को विनियमित कर दिया गया है। इनमें दालें, बीज के काम आने वाला गेहूँ, एच० पी० एस० मूंगफली, कोदों, रामतिल (हाईों और नाइगर) और तिल तथा उनका तेल, आलू, प्याज, ताजी सब्जियाँ, नमक तथा दूध का पाउडर शामिल है।

निर्यात संवर्धन नीति को भी न्यूनाधिक रूप में अपरिवर्तित रखा गया। निर्यात प्रोत्साहन के क्षेत्र में, नकद मुआवजा सहायता दिए जाने, पुनर्भरण सम्बन्धी हकदारी बनाए रखने, शुल्क वापसी की व्यवस्था तथा रियायती शर्तों पर लदानपूर्व तथा लदान के बाद के ऋण दिए जाने की व्यवस्था को जारी रखा गया। पंजीकृत

विस्कोस, फिलामेंट यार्न को भी सीमा-शुल्क से मुक्त कर दिया गया। ये सुविधाएँ इन वस्तुओं को अधिक मात्रा मे आयात करने की सुनिश्चित व्यवस्था करने तथा घरेलू पूर्ति की स्थिति को ठीक करने के लिए दी गई थी। बहुत सी अन्य वस्तुओं जैसे कि मिट्टी के तेल, ताड की गिरी के तेल, स्टेनलेस स्टील की प्लेटों आदि के आयात-शुल्कों मे भी कमी की गई ताकि घरेलू उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा की जा सके। इसी उद्देश्य की पूर्ति को ध्यान मे रखते हुए, जीवन रक्षक औषधियों पर से भी जनवरी 1978 में आयात-शुल्क हटा दिया गया।

आलोच्य वर्ष में, भारत मे नवीन अन्तर्राष्ट्रीय चीनी करार पर हस्ताक्षर किए गए। व्यापारिक करारो के क्षेत्र में एक सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण घटना यह हुई कि *हंगरी और उत्तरी कोरिया के साथ रुपयों में किए जाने वाले व्यापार* को हंगरी के साथ जनवरी 1978 से और उत्तरी कोरिया के साथ मार्च 1978 से परिवर्तनीय *मुद्रा मे करने का निर्णय लिया गया।*

23 भारत में विनिमय नियन्त्रण तथा 1966 में रुपये का अवमूल्यन

(EXCHANGE CONTROL IN INDIA AND DEVALUATION OF THE RUPEE IN 1966)

भारत के रिजर्व बैंक द्वारा विदेशी विनिमय नियमन अधिनियम (Foreign Exchange Regulation Act) के तहत विदेशी मुद्रा को नियन्त्रित किया जाता है। विदेशी विनिमय म अधिकृत डीलर ही इसका लेन देन कर सकता है। इसक सभी डीलर प्राय बैंकिंग कम्पनियाँ हैं। इनके अतिरिक्त अनुज्ञप्ति प्राप्त (Licenced) डीलर भी होते हैं जिनको अधिकृत धन परिवर्तनकर्त्ता (Authorised Money Changers) कहा जाता है। य विदेशी मुद्रा के नोट तथा सिक्कों को खरीदने और बेचने का काम करते हैं। उल्लेखनीय है कि अधिकृत डीलरों को हर प्रकार की विदेशी मुद्रा का व्यापार करने की अनुमति प्राप्त होती है जबकि धन परिवतनकर्त्ता केवल सिक्कों तथा नोटों का ही लेन-देन करते हैं।

अधिकृत हुए बिना कोई विदेशी लेखा नहीं रख सकता। विदेशी विनिमय नियमन अधिनियम के अधीन विदेशी मुद्रा के सभी सग्रहो की घोषणा करनी होती है। विदेशी विनिमय के रूप मे होने वाली प्रत्येक आय अधिकृत डीलरों के माध्यम से भारत के रिजर्व बैंक को सौंप दी जाती है। सौंपने वाले व्यक्ति को बदले म स्थानीय मुद्रा अर्थात् रुपया प्रदान किया जाता है।

विनिमय नियन्त्रण का सगठन
(Exchange Control Organisation)

जहाँ तक विदेशी विनिमय के लेन-देन का सम्बन्ध है, रिजर्व बैंक को प्रत्यक्ष रूप से जनता से सम्बन्ध नहीं रखना होता। इस कार्य के लिए जनता विदेशी विनिमय के अधिकृत डीलरों की सेवाओं से लाभ उठाती है। विनिमय नियन्त्रण के प्रशासन से सम्बन्धित कार्यों की देखभाल रिजर्व बैंक द्वारा की जाती है। विनिमय नियन्त्रण विभाग का अध्यक्ष विदेशी विनिमय का नियन्त्रक (Controller of Foreign Exchange) कहलाता है। उसकी सहायता उपनियन्त्रक (Deputy Controller)

तथा सहायक नियन्त्रक द्वारा की जाती है। विभाग का केन्द्रीय कार्यालय बम्बई में स्थित है। इसकी शाखाएँ कलकत्ता, बम्बई, कानपुर, मद्रास तथा नई दिल्ली में हैं। प्रत्येक शाखा की अध्यक्षता एक उपनियन्त्रक (Deputy Controller) द्वारा की जाती है। विनिमय नियन्त्रण से सम्बन्ध रखने वाले दिन-प्रतिदिन के कार्य इन्हीं कार्यालयों द्वारा सम्पन्न किए जाते हैं। विनिमय नियन्त्रण से सम्बन्धित सभी प्रार्थनापत्र इन कार्यालयों के नाम भेजे जाते हैं। विभिन्न कार्यालयों का अधिकार क्षेत्र निम्न तालिका से स्पष्ट होता है—

विनिमय नियन्त्रण कार्यालय	राज्य
1 बम्बई	गुजरात और महाराष्ट्र
2 कलकत्ता	असम, बिहार, मणिपुर, उड़ीसा, त्रिपुरा और पश्चिमी बगाल (अण्डमान तथा निकोबार द्वीपों सहित)
3 कानपुर	मध्यप्रदेश और उत्तर प्रदेश
4 मद्रास	आन्ध्र प्रदेश, केरल (साथ ही लक्षदिव, मिनिकाय और अमिन्डिवी द्वीप), मद्रास, मैसूर और पाण्डिचेरी।
5 नई दिल्ली	देहली, हिमाचल प्रदेश, जम्मू और कश्मीर, पजाब और राजस्थान।

विनिमय नियन्त्रण के लक्ष्य
(Objects of Exchange Control)

भारत में विनिमय नियन्त्रण का लक्ष्य है देश की विदेशी विनिमय की समस्त आय को राष्ट्र के व्यापक हित की दृष्टि से सरकार को उपलब्ध कराना। व्यापक रूप से देखा जाए तो विनिमय नियन्त्रण निम्न उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है—

(1) मूलभूत आवश्यकता की वस्तुओं का आयात किया जा सके।
(2) देश के बाहर पूँजी की गति को प्रतिबन्धित किया जा सके।
(3) देश के हित की दृष्टि से विदेशी विनिमय को बचाया और रक्षित किया जा सके।
(4) विदेशी विनिमय की दर यथासम्भव एक जैसी बनी रहे।
(5) राष्ट्र के विदेशी दायित्वों जैसे कर्जा आदि का निर्वाह करने के लिए विदेशी विनिमय उपलब्ध होता रहे।
(6) विदेशी बाजारों में देश की सौदेबाजी करने की क्षमता बढ़ जाए।

विदेशी विनिमय की प्राप्ति एवं भुगतान
(Receiving and Remitting Foreign Exchange)

विदेशी विनिमय की प्राप्ति तथा भुगतान आयातकर्ता अथवा निर्यातकर्त्ता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नहीं वरन् भारत के रिजर्व बैंक को सूचना देकर किए जाते हैं।

निर्यातों के लिए प्राप्तियाँ

जिन वस्तुओं का निर्यात किया जाता है उनकी सूचना रिजर्व बैंक को दी जाती है। इस कार्य के लिए बैंक ने विभिन्न प्रकार के फार्म निर्धारित किए हैं। निर्यातकर्त्ता अपने प्रत्येक लेन-देन का प्रतिवेदन रिजर्व बैंक को तत्सम्बन्धी फार्म भरकर देता है।[1] किस समय कौनसा फार्म भरा जाए इसका निर्णय दो बातों पर निर्भर है--(1) कौन देश अन्तिम रूप से भुगतान करेगा, और (2) भारत में यह भुगतान किस प्रणाली द्वारा प्राप्त किया जाएगा। सही फार्म भरना स्वयं निर्यातकर्त्ता का दायित्व है।

इन फार्मों के माध्यम से निर्यातकर्त्ता द्वारा यह सूचित किया जाता है कि निर्यात की जाने वाली वस्तु से सम्बन्धित विशेष बातें क्या है जैसे-माल का विवरण, लक्ष्य, अधिकृत विदेशी विनिमय के डीलर का नाम जिसके माध्यम से विदेशी विनिमय प्राप्त किया जाएगा आदि-आदि। निर्यातकर्त्ता को जो विदेशी विनिमय प्राप्त होता है उसे वह रिजर्व बैंक को समर्पित कर देता है।

रिजर्व बैंक के निर्देशानुसार इन फार्मों की तीन चार प्रतिलिपियाँ भरी जाती हैं। मूल प्रतिलिपि (Original Copy) को शिपिंग बिल के साथ कस्टम को प्रस्तुत किया जाता है जबकि दूसरी प्रतिलिपि शिपिंग परिपत्रों के साथ निर्यातकर्त्ता बैंक को प्रस्तुत की जाती है। कस्टम द्वारा निर्यातित माल के मूल्य को प्रमाणित करने के बाद मूल प्रतिलिपि रिजर्व बैंक को भेज दी जाती है। नियमानुसार भारत से किए गए आयात से सम्बन्धित परिपत्रों को एक अधिकृत डीलर के माध्यम से जहाज में लादने के बाद 21 दिन के भीतर प्रदान किए जाने चाहिए। विदेशी विनिमय का अधिकृत डीलर, जो कि एक बैंक होता है, फार्म में दी गई बातों को प्रमाणित करने के बाद उसकी दूसरी प्रतिलिपि रिजर्व बैंक में भेज देता है। तीसरी प्रतिलिपि उसी के पास रहती है। विदेशी खरीददार से धन वसूल करके तथा निर्यातकर्त्ता के खाते में जमा करके अधिकृत डीलर फार्म की तीसरी प्रतिलिपि में इसका उल्लेख कर देता है तथा रिजर्व बैंक को भेज देता है। नियमानुसार कुल निर्यातित माल की कीमत का भुगतान माल को जहाज में लादने के बाद 6 माह के भीतर-भीतर प्राप्त कर लिया जाता है। पाकिस्तान तथा अफगानिस्तान के सम्बन्ध में यह समय केवल तीन माह है। विशेष परिस्थितियों में यह बढ़ाया भी जा सकता है किन्तु इसके लिए निर्यातकर्त्ता द्वारा रिजर्व बैंक को ऐसे कारण बताने होंगे जो उसके नियन्त्रण से बाहर

1 G R Form 1, G R Form 2, G R Form 3, E P, 1 or P P

हो और यह स्पष्ट किया जाएगा कि बढ़ाए गए समय की सीमा में कुल कीमत वसूल हो सकेगी। ऐसा न करने पर समय नहीं बढ़ाया जाएगा।

आयातों के लिए भुगतान
(Payments for Imports)

भारत में केवल उन्हीं वस्तुओं का आयात बिना लाइसेन्स के किया जा सकता है जो ओ० जी० एल० (OGL) के अन्तर्गत आती हैं। इनके अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु के आयात के लिए पहले आयात लाइसेन्स प्राप्त करना जरूरी है। आयात लाइसेन्स की हमेशा दो प्रतिलिपियाँ दी जाती हैं। प्रथम प्रतिलिपि Custom Purpose Copy और दूसरी Exchange Control Copy कही जाती है। दूसरी प्रतिलिपि केवल तभी दी जाती है जबकि आयातकर्त्ता भुगतान करते समय केवल उतना ही विदेशी विनिमय प्राप्त कर सके जितना कि उसके लाइसेन्स में दिया हुआ है।

आयातों के भुगतानार्थ विदेशी विनिमय प्राप्त करने के लिए अधिकृत डीलर को प्रार्थना-पत्र दिया जाता है। विदेशी विनिमय के लिए प्रार्थना-पत्र देने के हेतु चार प्रकार के फार्म निर्धारित किए गए हैं।[1] भुगतान जिस मुद्रा में किया जाना है उसी के आधार पर यह निश्चित किया जाएगा कि कौनसा फार्म भरा जाए। आयातकर्त्ता अधिकृत डीलर से उपयुक्त फार्म प्राप्त करता है। इस फार्म में आयात-कर्त्ता को आयात लाइसेन्स सम्बन्धी सूचना, आयातित माल की मात्रा एवं विवरण, उत्पादक देश का नाम तथा भुगतान की जाने वाली मुद्रा का प्रकार आदि लिखना होता है। यह आयात लाइसेन्स की विनिमय नियन्त्रण प्रतिलिपि के साथ प्रस्तुत किया जाता है।

विदेशी विनिमय नियमन अधिनियम के अनुसार आयातित माल का भुगतान उस देश की मुद्रा में ही किया जाएगा जहाँ से माल मँगाया जा रहा है। भुगतान के लिए जो तरीके निर्धारित किए गए हैं केवल उनके अनुसार ही एक व्यापारी अपने आयात का भुगतान करेगा। अनिर्धारित तरीके से भुगतान करने की अनुमति नहीं दी जाती।

आयात नियन्त्रण नियमनों के अधीन जो आयात लाइसेन्स जारी किए जाते हैं वे अदेय (Non-Transferable) होते हैं।

भुगतान के तरीके
(How Remittances are made)

भारत से विदेशों को धन जिन विभिन्न तरीकों द्वारा हस्तान्तरित किया जा सकता है, वे ये हैं—

(1) चैक के द्वारा
(2) बैंक ड्राफ्ट के द्वारा

1 These are—'A' 'A—5' 'A—6' 'A—7' and SA—1'

(3) डाक स्थानान्तरण द्वारा (Mail Transfer)
(4) तार स्थानान्तरण द्वारा (Telegraphic Transfer)
(5) साख पत्र द्वारा (Letter of Credit)

रुपए के बदले आयात
(Imports against Rupee Payments)

भारत सरकार ने कुछ देशों के साथ रुपए के बदले आयात करने के समझौते किए हैं। इनमें पूर्वी योरोप के देश जैसे—बल्गारिया, जर्मनी गणराज्य, हंगरी, रूमानिया, सोवियत संघ तथा पोलैण्ड आदि प्रमुख हैं। इन समझौतों के द्वारा यह सुविधा दी गई है कि आयातित माल का भुगतान रुपए में ही किया जा सके। इन आयातों में विदेशी विनिमय का कोई खर्चा नहीं आएगा। ऐसा लगता है किन्तु यह सच नहीं है क्योंकि आयातों के बदले जो रुपए विदेशों में गए उनके द्वारा सम्बन्धित देश भारतीय माल या सेवा खरीदेगा और इस प्रकार भारत उस विदेशी विनिमय से वंचित रह जाएगा जो अन्यथा उसे प्राप्त होना। रुपए में भुगतान करने वाले लेनदेनों में भी रिज़र्व बैंक की अनुमति प्राप्त करनी होती है।

(ब) अवमूल्यन
(The Devaluation)

अवमूल्यन का अर्थ

अवमूल्यन का अर्थ देश की मुद्रा के बाह्य मूल्य को कम करने से है। जब एक देश की मुद्रा का अवमूल्यन कर दिया जाता तो उसके बदले में अब विदेशी मुद्राएँ कम प्राप्त होने लगती हैं। मि० पाल ऐंजिग (Paul Enzig) के अनुसार "अवमूल्यन का अर्थ मुद्राओं की अधिकृत तुल्यनाओं में कमी करना है।"[1] अवमूल्यन में यह जरूरी नहीं होता कि मुद्रा के बाह्य मूल्य कम होने के साथ-साथ वस्तुओं तथा सेवाओं के रूप में उसका आन्तरिक मूल्य भी कम हो जाएगा। जून, 1966 में भारत सरकार ने जब रुपए का अवमूल्यन किया तो अनेक मनोरंजक बातें समाचार पत्रों में पढ़ने को मिलीं। जब ग्रामीण क्षेत्रों में यह सुना गया कि रुपए की कीमत 36 5 प्रतिशत कम हो गई है तो अनेक ग्रामीण लोग सौ रुपए के नोट के बदले 64 रुपए लेने को तैयार हो गए। मुद्रा के अवमूल्यन का यह सही अर्थ नहीं था। प्रत्येक देश की मुद्रा का एक आन्तरिक मूल्य होता है और दूसरा बाहरी मूल्य होता है। मुद्रा के आन्तरिक मूल्य से हमारा अर्थ यह है कि एक मुद्रा अपने बदले देश में कितनी सेवाएँ और वस्तुएँ प्रदान कर सकेगी, मुद्रा के बाह्य मूल्य का अर्थ यह है कि मुद्रा की एक इकाई के बदले कितनी विदेशी मुद्रा प्राप्त हो सकेगी। जब एक देश की मुद्रा का अवमूल्यन किया जाता है तो उसके आन्तरिक मूल्य में किसी प्रकार की कमी किए बिना ही उसके बाह्य मूल्य को कम कर दिया जाता है। डॉ० गांगुली के कथनानुसार "अवमूल्यन से हमारा अभिप्राय एक देश की मुद्रा का बाह्य मूल्य कम कर देने से है, आन्तरिक

1. "Devaluation means lowering of the Official Parties." —*Paul Enzig*

नहीं।"[1] जब मुद्रा का बाह्य मूल्य कम होता है तो उसका आन्तरिक मूल्य भी प्राय: कम हो जाता है किन्तु यह सम्भावना ही होती है नियम नहीं। असल में अवमूल्यन का अर्थ देश की मुद्रा के आन्तरिक मूल्य का स्थिर रहना है। यदि उसकी कीमत घटे भी तो इतनी नहीं जितनी उसके बाह्य मूल्य की घट रही है।

अवमूल्यन के उद्देश्य

मुद्रा के अवमूल्यन के लिए अनेक कारण उत्तरदायी होते हैं। इनको ही अवमूल्यन का औचित्य माना जा सकता है। जिस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अवमूल्यन किया जाता है उसमे से कुछ निम्न प्रकार हैं—

1. विदेशी प्रभाव से बचना—जब दूसरे देश अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर देते हैं तो उसके परिणामस्वरूप उनका माल एक देश में पहले की अपेक्षा सस्ता आने लगता है इसके परिणामस्वरूप उस देश का निर्यात बाजार छिन जाने का भय रहता है। ऐसी स्थिति मे वह देश भी अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करके सुरक्षा प्राप्त करने का प्रयास करता है और तभी वह उन देशों के साथ अपने व्यापार की पूर्व स्थिति को बनाए रखने मे सफल हो सकता है।

2. भुगतान सन्तुलन—कई बार अवमूल्यन की नीति को भुगतान सन्तुलन की प्रतिकूलता कम करने अथवा दूर करने के लिए भी अपनाया जाता है। जब दूसरे देशों की मुद्रा की क्रय शक्ति गिर जाती है अर्थात् वहाँ आन्तरिक मूल्य स्तर गिर जाते हैं तो उन देशों का माल अधिक मात्रा में दूसरे देशों में आने लगता है। इससे दूसरे देशों के उद्योग-धन्धे खतरे में पड जाते है। कई बार विदेशी मे देशी वस्तुओं का राशिपातन करके देशी भुगतान सन्तुलन को अनुकूल बनाने का प्रयास किया जाता है अथवा ऐसा करके दूसरे देश में किए जाने वाले राशिपातन को रोकने के प्रयास भी किए जा सकते है।

जब एक देश यह अनुभव करता है कि उसके विदेशी व्यापार में निरन्तर घाटे की स्थिति रहती है और स्थिर विनिमय दर पर विदेशी ऋणों, स्वर्ण आयात एव अन्य किसी उपाय द्वारा उसे दूर नहीं किया जा सकता तो ऐसी स्थिति मे स्वदेशी मुद्रा का अवमूल्यन करके विदेशी विनिमय की दर को कम कर दिया जाता है ताकि घाटे की व्यवस्था को दूर किया जा सके। अवमूल्यन को अपनाने के कारण एक देश की वस्तुएँ दूसरे देशों में सस्ती हो जाती हैं और उनके निर्यातों को प्रोत्साहन मिलता है। दूसरी ओर देश मे विदेशी वस्तुओं की कीमत बढ जाती है इसलिए आयात निरुत्साहित होते हैं। फलत: भुगतान सन्तुलन मे अनुकूलता आने लगती है। अवमूल्यन का मार्ग यद्यपि भुगतान सन्तुलन की स्थापना में महत्त्वपूर्ण योगदान करता है फिर भी इसे बार-बार नहीं अपनाना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से विनिमय दर की अस्थिरता के बारे में व्यापारियों एव सट्टेबाजारों को विश्वास नहीं रहता और वे हमेशा यह आशंका करते रहते हैं कि मूल्य और भी कम हो जाएगा।

[1] *B. N. Ganguli* : Devaluation of Rupee, 1966, Page 10.

अवमूल्यन से लाभ

अवमूल्यन की नीति अर्थ व्यवस्था के दोषों को सुधारने का एक अस्थायी साधन है। इस नीति द्वारा जो लाभ प्राप्त होते हैं वे ऐसे ही प्राप्त नही होते। ये लाभ केवल उसी समय तक मिलते है जब तक घरेलू तथा विदेशी बाजारो मे लागत मूल्य संरचनाएँ अवमूल्यन के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली नवीन विनिमय क्षमता के अनुसार स्वयं को समायोजित नही कर लेती। सामान्यतः यह देखा गया है कि अवमूल्यन के लाभ एक देश को केवल 2–3 वर्ष तक प्राप्त होते रहते हैं। इस प्रकार यह एक अस्थायी समायोजन है और कुछ समय तक के लिए एक देश को इससे राहत मिलती है। इतने पर अवमूल्यन की नीति को बार-बार नही अपनाना चाहिए।

इस नीति की सफलता के लिए कुछ परिस्थितियों का होना आवश्यक है। इनको हम अवमूल्यन की सफलता की शर्तें कह सकते हैं। इनके बिना कोई भी अवमूल्यन से प्राप्त होने वाले लाभो की आशा नही कर सकता। इस सम्बन्ध मे पहली शर्त यह है कि अवमूल्यन की नीति को अपनाने के बाद सम्बन्धित देश की लागत मूल्य संरचना मे कोई विपरीत प्रभाव नही पडना चाहिए। यदि उस देश की कीमतो में वृद्धि हो गई तो जिस सीमा तक वृद्धि हुई है उस सीमा तक अवमूल्यन का प्रभाव लाभदायक नही रहेगा। अवमूल्यन की सफलता के लिए दूसरी शर्त यह है कि जिन देशो की मुद्राओ की तुलना मे यह अवमूल्यन किया जा रहा है वे इस नीति का समर्थन करें अर्थात् वे प्रशुल्क अथवा अन्य किसी उपाय द्वारा इसे प्रभावहीन बनाने की चेष्टा न करें। तीसरे, अवमूल्यन की सफलता बहुत कुछ विदेशी विनिमय से सम्बन्धित माँग और पूर्ति के लोच पर निर्भर करती है। जब लोच कम रहती है तो अवमूल्यन द्वारा भुगतान सन्तुलन स्थापित नही किया जा सकता, क्योंकि ऐसा करने के लिए अवमूल्यन बहुत अधिक मात्रा में करना होगा जो अपने आप मे एक बुराई है।

1949 का अवमूल्यन
(The Devaluation of 1949)

1949 मे पौण्ड का अवमूल्यन किया गया। इसके परिणामस्वरूप भारत ने भी अपने रुपये को उतना ही अवमूल्यित करने का निर्णय लिया ताकि रुपये तथा पौण्ड मे समानता बनी रहे। पौण्ड का अवमूल्यन दूसरी अनेक मुद्राओ के अवमूल्यन के बाद अचानक किया गया था और इसके परिणामस्वरूप जो परिस्थितियाँ पैदा हुई उनमे रुपये का अवमूल्यन भी आवश्यक बन गया। उस समय समूचे पौण्ड क्षेत्र मे घाटे की स्थिति थी और इसलिए इस स्थिति को बिगडने मे रोकने के लिए ग्रेट-ब्रिटेन के चान्सलर ऑफ एक्सचेकर द्वारा 18 सितम्बर, 1949 को ब्रिटिश मुद्रा के अवमूल्यन की घोषणा की गई। इस घोषणा का अनुसरण करते हुए भारत ने 20 सितम्बर, 1949 को स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्य देशों के साथ अपनी मुद्रा का भी अवमूल्यन कर दिया। भारत द्वारा किए गए अवमूल्यन का अनुपात ब्रिटेन द्वारा किए गए अवमूल्यन के अनुकूल था और इसलिए रुपए का स्टर्लिंग मूल्य पहले जितना ही बना रहा। इस अवमूल्यन का निर्णय स्वयं भारत सरकार द्वारा नहीं लिया गया था। इसे प्रेस अथवा जनता के विचारार्थ

4. भारतीय रुपए का अवमूल्यन इसलिए जरूरी बन गया ताकि पौण्ड पावने का मूल्य बनाए रखा जा सके। अवमूल्यन न किया जाता तो भारतीय वस्तुएँ विदेशी प्रतियोगिता में ठहर नहीं सकती थी।

अवमूल्यन की नीति का समर्थन उक्त कारणों से किया गया, किन्तु फिर भी अनेक लोग अवमूल्यन के विपक्ष में थे और उनके अनुसार अवमूल्यन की नीति आर्थिक कारणों से नहीं वरन् राजनीतिक कारणों से अपनाई गई थी।

भारत सरकार ने रुपये के अवमूल्यन तथा उसके प्रभावों को व्यापक बनाने के लिए एक आठ सूत्रीय योजना तैयार की। संसद् द्वारा यह योजना 5 अक्तूबर, 1949 को घोषित की गई। इसके अन्तर्गत कई बातें कही गई। उदाहरण के लिए भारत द्वारा विदेशी विनिमय का उपयोग कम से कम किया जाएगा, दुर्लभ मुद्रा क्षेत्र से माल का आयात कम से कम किया जाएगा, दुर्लभ मुद्रा क्षेत्र को निर्यात किए गए माल पर कर लगाया जाएगा ताकि दोहरी आय प्राप्त की जा सके आदि-आदि। इस योजना को अपना कर यह प्रयास किया गया कि देश की समस्त अर्थ-व्यवस्था को सन्तुलित किया जाए तथा देश को लाभान्वित किया जाए। इसके परिणामों से देश का भुगतान सन्तुलन सुधरे तथा निर्यात बढे। आगे चलकर घाटे की राशि में भी पर्याप्त कमी आई। अवमूल्यन का प्रभाव बहुत कम समय तक रहा, क्योंकि प्रथम पचवर्षीय योजना के प्रारम्भ होते ही भुगतान सन्तुलन में घाटे की व्यवस्था प्रारम्भ हो गई। देश में वस्तुओं की कीमतें बढने लगी। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप देश में अनेक चीजे महँगी हो गई और इसलिए उनके आयात में होने वाली कमी ने देश के आर्थिक विकास में बाधा पहुँचाई। शीघ्र ही भारत का भुगतान सन्तुलन पुनः विपरीत दिशा में चला गया। ऐसी स्थिति में अवमूल्यन का विरोध करने वाले अनेक लोगों ने 1951 में यह माँग की कि मुद्रा का पुनर्मूल्यांकन किया जाए। जब 31 जुलाई, 1955 को पाकिस्तान ने भी अपने रुपये का अवमूल्यन कर दिया तो भारत में रुपये के पुनर्मूल्यन का प्रश्न इतना महत्त्वपूर्ण न रहा।

रुपये का अवमूल्यन विचारकों और आलोचकों के भारी विचार-विमर्श का विषय बना रहा। अनेक कारणों से देश का सरकारी व्यय बढता रहा और उसके बाद वांछनीय निर्यात उसी अनुपात में नहीं बढ पाए। 1956 में प्रोफेसर बी. आर. सेनाय ने यह सुझाव प्रस्तुत किया कि रुपये का और भी अवमूल्यन कर दिया जाए। केवल ऐसा करने पर ही भारतीय निर्यात बढ सकता था। द्वितीय वित्त आयोग के अध्यक्ष मि. सन्थानम ने भी इसी प्रकार का विचार प्रस्तुत किया।

इस अवमूल्यन का अधिक से अधिक लाभ उठाने के कुछ प्रयास किए गए। प्रथम, अवमूल्यन के बाद कीमतों की वृद्धि को रोकने के लिए अवमूल्यित लाभों को विदेशी आयातकर्त्ताओं, घरेलू उत्पादकों और सरकारी कोष के बीच वितरित करने के लिए भारत सरकार ने कुछ निर्यात कर लगाए। कोरिया युद्ध के परिणामस्वरूप तथा शस्त्रीकरण के कारण वस्तुओं की कीमतें बढने से रोकने के लिए निर्यात करों को बढाया गया। दूसरे, पाकिस्तान से किए गए आयातों पर जो ओ. जी. एल.

सका। इनके अतिरिक्त ऐसे देशो के माल की जब मांग बढी तो वहाँ के उत्पादकों ने कीमतो मे वृद्धि कर दी। इसके साथ ही नरम मुद्रा वाले क्षेत्रो में जब डॉलर क्षेत्र से ऊँची कीमत पर आयात किया जाने लगा तो वहाँ भी उत्पादन लागत मे वृद्धि हुई। ऐसी स्थिति मे भारत को नरम मुद्रा वाले क्षेत्रो से भी अधिक कीमत पर आयात करना पडा।

अवमूल्यन का दूसरा प्रभाव निर्यातो पर पडा। भुगतान सन्तुलन की विपरीत स्थिति को सुधारने के लिए एक तरीका यह अपनाया गया कि निर्यातों को प्रोत्साहित किया जाए। इसके लिए घरेलू उत्पादन के अपने साधन स्रोतो को निर्यात की जाने वाली वस्तुओ की ओर मोडना कोई सही करना नही था फिर भी अवमूल्यन ने उन देशो के लिए निर्यातो को प्रोत्साहित किया, जिनके सम्बन्ध मे मुद्रा को अवमूल्यित किया गया था। इस प्रकार अमेरिका और अन्य कठोर मुद्रा वाले क्षेत्रों के लिए भारत के निर्यात आवश्यक रूप मे बढे। रुपए के रूप मे निर्यात की आमदनी बढ गई। यह वृद्धि कई तथ्यो पर निर्भर थी। इनमे प्रमुख तथ्य यह था कि भारतीय माल की अमेरिकी मांग कितनी लोचशील है। मैंगनीज और अभ्रक की मांग पहले से ही अधिक थी जिसे सन्तुष्ट करना कठिन जान पड रहा था। अत. उसके निर्यात बढाने के लिए उसकी कीमतो को कम करना जरूरी नही था। अवमूल्यन द्वारा अमेरिका को भारत की चाय का निर्यात बढाया जा सकता था, फिर भी कुल निर्यात को अन्तर्राष्ट्रीय चाय समझौते के अधीन सीमित कर दिया गया। इस प्रकार सामान्य रूप से अमेरिका के लिए भारत के व्यापार लोच-विहीन रहे।

अवमूल्यन मे जो लाभ प्राप्त हो सकते थे वे भारत मे पूर्ति की लोचहीनता के कारण सीमित हो गए। यहाँ औद्योगिक और कृषि सम्बन्धी उत्पादनो की स्थिति संकटपूर्ण थी। जब देश का उत्पादन बढती हुई मांगो को पूरा करने के लिए पर्याप्त नही था तो अवमूल्यन मे आशान्वित लाभ प्राप्त नही किए जा सके। अवमूल्यन की उपयोगिता के हेतु यह जरूरी था कि उत्पादन को घरेलू बाजारों की पूर्ति से निर्यातों की ओर प्रोत्साहित किया जाए। इसके अलावा अवमूल्यन के बाद जूट और सूती कपडे के उद्योगो के उत्पादन अधिक मूल्यवान बन गए क्योंकि उनमे ऊँची कीमत का आयातित कच्चा माल लगाया जाता था। इन सबके अतिरिक्त अवमूल्यन के लाभ केवल कुछ समय के लिए ही रहे क्योंकि अवमूल्यन न करने वाले देशो ने अपने आयातो पर विभिन्न प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिए।

रुपये का अवमूल्यन होने के बाद लगभग 28 देशो ने भी इसी प्रकार का निर्णय लिया और इसलिए उन देशो के लिए भारतीय निर्यात का लाभ शून्य हो गया। उदाहरण के लिए भारतीय चाय का प्रमुख बाजार ग्रेट-ब्रिटेन था और वहाँ उसका मुख्य प्रतिद्वन्दी लंका था। जब इन दोनो देशो ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर दिया तो भारतीय अवमूल्यन के अच्छे परिणाम प्राप्त होने का प्रश्न ही नही उठता। तम्बाकू और सिगरेटो के क्षेत्रो मे आस्ट्रेलिया तथा इंग्लैण्ड मे अच्छी आशाएं नजर आई क्योंकि वहाँ मुख्य प्रतिद्वन्द्वी केवल संयुक्तराज्य अमेरिका था, किन्तु यहाँ

पौण्ड स्टर्लिंग की विनिमय दर 13·33 रुपए थी किन्तु अब वह 21 रुपए हो गई। पहले रूबल की कीमत 5·21 रुपए थी किन्तु अब वह 8·33 हो गई।

भारतीय मुद्रा के इतिहास मे अवमूल्यन का यह दूसरा अवसर था। विभिन्न विचारको, राजनीतिज्ञो एव अर्थशास्त्रियो ने अवमूल्यन के समर्थन एव विरोध मे अपने विचार प्रकट किए। एक ओर प्रो० बी० एन० शेनाय आदि ने अवमूल्यन का स्वागत करते हुए यह मत प्रकट किया कि अभी भी अवमूल्यन कम है और इसलिए यह अधिक किया जाना चाहिए। दूसरी ओर विद्वानो ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि अवमूल्यन एक गलत कदम था जो हमारी समस्याओ को बढाने का कारण बनेगा।

अवमूल्यन के बारे मे यह आरोप लगाया गया कि यह निर्णय विश्व बैंक और अमेरिका के दबाव मे आकर लिया गया है। यह सच है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक ने यह सलाह दी कि भारतीय रुपए का अवमूल्यन किया जाए। इतने पर भी अवमूल्यन का निर्णय भारतीय हितों को ध्यान मे रखकर लिया गया। प्रो० सी० एन० वकील ने अवमूल्यन को एक प्रायश्चित कहा। उनके मतानुसार भारत ने घाटे की व्यवस्था और फिजूल खर्ची के अपने पुराने पापों का प्रायश्चित अवमूल्यन के रूप मे किया। उनके मतानुसार सच्चा प्रायश्चित यह तभी माना जा सकता था जबकि पुराने पापो को दोहराया न जाए। डॉ० बी० एल० गांगुली के मतानुसार रुपए का अवमूल्यन छिपे रूप मे तो पहले ही किया जा चुका था किन्तु अब वह खुले रूप मे आ गया। प्रायः सभी अर्थशास्त्रियो का यह मत था कि योजना काल मे भारत ने जिन नीतियों का पालन किया है वे यहाँ की अर्थव्यवस्था को सुदृढ बनाने के स्थान पर निरन्तर कमजोर बनाती गई।

1966 का अवमूल्यन 1949 के अवमूल्यन से कई दृष्टियों से भिन्न था। पहले यह केवल 30·5 प्रतिशत किया गया था किन्तु अब 36·5 प्रतिशत किया गया। दोनो अवसरो पर अवमूल्यन की परिस्थितियां भिन्न थी। पहले दूसरे देशो की मुद्राओ के अवमूल्यन के परिणामस्वरूप यह निर्णय लिया गया किन्तु अब ऐसी बात नही थी। प्रथम अवमूल्यन मे रुपए की बाजार दर और अधिकृत दर एक कर दी गई थी किन्तु 1966 मे अवमूल्यन के बाद भी रुपए की बाजार दर कम रही।

अवमूल्यन के लक्ष्य
(The Objects of Devaluation)

1966 मे किया गया अवमूल्यन विभिन्न कारणो का परिणाम था। भारत सरकार ने अवमूल्यन के बाद अपने प्रेस नोट मे इसके लिए उत्तरदायी विभिन्न कारणो का उल्लेख किया जो निम्न प्रकार है—

(1) विदेशी विनिमय के भार को हल्का करना—पंचवर्षीय योजनाओ ने देश के आयातो की वृद्धि की। इस वृद्धि का सामना करने के लिए विदेशी सहायता का सहारा लिया गया किन्तु वह पर्याप्त न रही और हमारा विदेशी विनिमय कोष कम होता गया। एक ओर तो औद्योगिक क्षमता बढ़ जाने के कारण कच्चे माल

रोकने तथा रुपए के आन्तरिक मूल्य को कम होने से बचाने के लिए अवमूल्यन जरूरी हो गया।

(5) विदेशी सहायता को आकर्षित करना—अवमूल्यन का एक मुख्य उद्देश्य विदेशी सहायता को अपनी ओर आकर्षित करना था। यह निश्चित नहीं था कि चतुर्थ पंचवर्षीय योजना मे विदेशी सहायता कितनी प्राप्त हो सकेगी। अतः *विनिमय दर को बदल दिया गया। विदेशी मुद्रा की कमी ने उसके दुरुपयोग को* प्रोत्साहन दिया। निर्यात के बिलो का कम मूल्य लगाने और आयात के मूल्यों का अधिक मूल्य दिखाने की व्यवस्था प्रचलित हुई। निर्यातकर्त्ता एव आयातकर्त्ता दोनो ही समान रूप से विदेशी मुद्रा की चोरी मे भाग लेने लगे। विदेशी विनिमय की सरकारी दर और काला बाजार की दर मे उल्लेखनीय अन्तर आ गया।

(6) विदेशी विनिमय का क्षरण—सरकार यह अनुभव कर रही थी कि विदेशी विनिमय के क्षरण से उसे पर्याप्त हानि हो रही है। विदेशी विनिमय के अप्रत्यक्ष स्रोत पहले की अपेक्षा बहुत कम हो गए थे। कमीशन, बीमे के प्रीमियम, विदेशो में बसे भारतीयो द्वारा देशवासियों को रुपए भेजना आदि स्रोत ऐसे थे जिनसे पहले पर्याप्त प्राप्तियाँ होती थी किन्तु अब ये बहुत थोडी रह गईं। विदेशों में स्थित भारतीय जो मुद्रा भेजते थे, उसमे से अधिकांश को विदेशी विनिमय के आँकडो मे सम्मिलित नहीं किया जाता था और वे प्रायः बैंकिंग प्रणाली द्वारा नही भेजी जाती थी। विनिमय दर को बनाए रखने के लिए क्रान्तिकारी कदम उठाना *परम आवश्यक था और इसीलिए 36·5 प्रतिशत की सीमा तक अवमूल्यन करना* जरूरी समझा गया।

तत्कालीन वित्त मन्त्री श्री शचीन्द्र चौधरी ने 5 जून, 1966 को अपने रेडियो भाषण मे बताया कि नए उद्योगो की तो बात ही अलग है, हमे स्थित उद्योगों को पूरी शक्ति से काम करने के लिए समर्थ बनाने के हेतु कच्चे माल के आयात का प्रवाह बढाना होगा। इस दिशा मे प्रत्येक सम्भव कदम उठाया गया है। इस कार्य के लिए यदि प्रत्यक्ष रूप से करो पर निर्भर रहा जाए तो इससे हमारे बजट सम्बन्धी साधनो पर असहनीय भार बढ जाएगा। इसके अतिरिक्त यदि विदेशों से प्रत्यक्ष *और खुले रूप में सहायता ली जाए और इसे बहुत समय तक जारी रखा जाए तो* यह उस देश पर गलत असर डालेगी जिसे हम निर्माण कर रहे हैं।

अवमूल्यन का प्रमुख उद्देश्य देश की अर्थ-व्यवस्था को हर सम्भव साधन से सुदृढ बनाना है। भुगतान की समस्या का समाधान करने, देश मे रोजगार को बढाने, निर्यात से सम्बन्धित एव आयात के विकल्प उद्योगों को अधिक प्रोत्साहित करने आदि के उद्देश्य से अवमूल्यन किया गया। अवमूल्यन की सफलता अपने आप में निहित नही है। इसकी तुलना एक बडे आपरेशन से की जानी है जिसका पूरा-पूरा लाभ केवल तभी प्राप्त किया जा सकेगा जबकि मरीज पर्याप्त सयम, अनुशासन और त्याग से काम लेगा। अवमूल्यन से मूल्यो के बढने का खतरा रहता है और इसे रोकने का प्रमुख साधन अधिक उत्पादन है। तत्कालीन रक्षा मन्त्री, मि० चौहान

के कथनानुसार "अवमूल्यन स्वयं अधिक उत्पादन की व्यवस्था करेगा, इसके लिए अधिक आयात जैसे अन्य कुछ प्रयास भी वांछनीय हैं।" इस सम्बन्ध में श्रीमती गांधी का यह कहना सही था कि अवमूल्यन एक साधन है यह मार्ग का उद्देश्य नहीं है। हम कठिन निरन्तर और अनुशासित प्रयास द्वारा एक नवीन प्रारम्भ करना है जो नए अवसरों का पूरा लाभ प्रदान करके आत्मनिर्भरता का अर्थ प्रदान करेगा।[1]

अवमूल्यन के अपेक्षित लाभ
(The Expected Advantages of Devaluation)

अवमूल्यन द्वारा यह आशा की गई कि इससे विभिन्न लाभ प्राप्त होंगे जैसे—

(1) इससे निर्यातों को प्रोत्साहन मिलेगा। पहले सौ डालर का माल निर्यात करने पर केवल 476 रुपए मिलते थे किन्तु अब 750 रुपए प्राप्त होने लगे। इस स्थिति में यह स्वाभाविक था कि निर्यात उद्योगों में अधिक से अधिक निवेश किया जाए। अवमूल्यन न केवल औद्योगिक माल को प्रोत्साहन देगा वरन् कृषि निर्यातों को भी प्रभावित करेगा।

(2) अवमूल्यन के कारण आयात के विकल्पों की भी तीव्र गति से प्रगति होगी। आयातित माल का मूल्य रुपए की दृष्टि से बढ़ जाएगा। ऐसी स्थिति में व्यापारी उन उद्योगों में निवेश करने की ओर आकर्षित होंगे जो आयातित माल का उत्पादन कर रहे हैं। शचीन्द्र चौधरी के शब्दों में "निर्यात और आयात बचत-प्रक्रियाओं को लगातार प्रोत्साहन देने से हम चौमुखी आत्मनिर्भरता की ओर तीव्र गति से आगे बढ़ेंगे।"

(3) अवमूल्यन के बाद की दरें न केवल आयातों और निर्यातों पर ही लागू होंगी वरन् वे अदृश्य प्राप्तियों पर भी लागू होंगी। देश में आने वाला धन हर प्रकार से प्रोत्साहित होगा और देश से जाने वाला धन हर प्रकार से निरुत्साहित होगा। व्यक्तिगत निवेशकर्ता यदि देश में विदेशी विनिमय लाते हैं तो उनको इसके बदले अधिक रुपए प्राप्त होंगे और इस प्रकार उन क्षेत्रों में नवीन विदेशी निवेश प्रोत्साहित होगा जिनमें हम चाहते हैं। इसी प्रकार भारत विदेशी पर्यटकों के लिए आकर्षक बन जाएगा जबकि भारतीयों के लिए विदेश यात्रा महँगी है, इसलिए इस ओर कम आकर्षण हो जाएगा।

(4) रुपए की क्रय शक्ति घटने के कारण अनेक गलत व्यवहार और भ्रष्टाचार विकसित हो गए हैं और वे निरन्तर बढ़ते जा रहे हैं। स्वयं वित्तमन्त्री ने यह स्वीकार किया कि स्वर्ण तथा अन्य वस्तुओं जैसे घड़ियों, कैमरों तथा ट्रांजिस्टरों आदि की तस्करी अधिक से अधिक आकर्षित होती जा रही थी और उसे रोकना कठिन था। यहाँ तक कि कानूनी आयातों से प्राप्त होने वाले लाभ के माध्यम से भी जो धन देश में आया उसे पूरी तरह गिना नहीं जा सका। यह आशा की गई कि अवमूल्यन के बाद की दरों पर ये समस्त समाज-विरोधी क्रियाएँ पर्याप्त कम आकर्षक बन जाएँगी और इसलिए उनका प्रसार रुक जाएगा।

1 Talk Broadcast by *Smt Indira Gandhi, Prime Minister* June 12 1966

(5) विदेशी विनिमय के क्षरण मे कमी करके देश के सरकारी विदेशी-विनिमय के भण्डारो को सशक्त बनाया जा सकता था।

(6) अवमूल्यन द्वारा भुगतान सन्तुलन मे वांछनीय परिवर्तन किए गए। सरकार द्वारा आशा की गई कि अवमूल्यन द्वारा वह रकम हतोत्साहित होगी जो भारत से विदेशो को जाती है। दूसरी ओर देश मे आने वाली विदेशी रकम प्रोत्साहित होगी, इससे भुगतान सन्तुलन पर्याप्त अनुकूल बन जाएगा क्योंकि—(i) विदेशी कम्पनियाँ अपने लाभो को स्वदेश भेजने की अपेक्षा भारत मे ही लगाना उपयुक्त समझेंगी। (ii) भारत मे पर्याप्त विदेशी पूँजी आने लगेगी। (iii) भारत मे विदेशी यात्रा सस्ती होने के कारण आकर्षक बन जाएगी और भारतीयो के लिए विदेशी यात्रा महँगी होने के कारण अनाकर्षक होगी। विदेशो में स्थित भारतीय धन भी स्वदेश को वापस आने लगेगा।

(7) अवमूल्यन की नीति अपनाकर सरकार की आय बढाने का प्रयास किया गया।

अवमूल्यन की हानियाँ
(The Disadvantages of Devaluation)

अवमूल्यन से विभिन्न हानियाँ होने की सम्भावनाएँ बढ जाती हैं—

(1) इससे वस्तुओं के मूल्य बढने की आशका रहती है। इसके विरुद्ध जन-साधारण की रक्षा करना परम आवश्यक बन जाता है। यह जरूरी है कि मूलभूत आवश्यकता की वस्तुओ की कीमत स्थिर रखी जाए। यह सच है कि अवमूल्यन के कारण आयातो की लागत सामान्य रूप से बढ जाती है। इसके विरुद्ध तत्कालीन वित्त मन्त्री ने यह आश्वासन दिया कि अवमूल्यन द्वारा कुछ मूलभूत वस्तुओ की कीमत को बढने से रोकेंगे। मूल्यो मे स्थिरता अन्तिम रूप से केवल अधिक उत्पादन और अधिकतम उत्पादकता द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। अवमूल्यन के बाद देश के कृषि-उत्पादन और औद्योगिक उत्पादन को बढाने की दिशा मे उल्लेखनीय कार्य किए गए।

(2) अवमूल्यन द्वारा यह खतरा भी बढ जाता है कि देश पर विदेशी ऋण और उसके ब्याज का भार बढ जाएगा। नियोजित आर्थिक विकास के लिए भारत ने पर्याप्त ऋण लिया। तीसरी योजना के अन्त तक विदेशी ऋण की मात्रा 2629 करोड रुपए हो चुकी थी। यह स्पष्ट था कि अवमूल्यन के बाद ऋणो के भुगतानो का भार रुपए की मात्रा मे बढ जाएगा। अवमूल्यन ने भारतीय रुपए की विनिमय दर को विदेशी विनिमय मुद्रा की तुलना मे गिरा दिया। ऐसी स्थिति मे देश को ब्याज का भुगतान करने और ऋण चुकाने के लिए अधिक रुपया देना आवश्यक हो गया। इस स्थिति के उपचार के रूप मे यह कहा जाता है कि अवमूल्यन के बाद प्राप्त होने वाली विदेशी सहायता का मूल्य रुपयो मे अधिक होगा।

(3) अवमूल्यन के बाद सरकारी व्यय मे पर्याप्त वृद्धि हुई। विदेशी दूतावास और सरकारी मिशनो पर पहले जो खर्च किया जा रहा था वह अब रुपए के रूप

मन्त्री निरन्तर इस बात से मना कर रहे थे कि वे किसी प्रकार के अवमूल्यन पर विचार कर रहे हैं, फिर भी अवमूल्यन कर दिया गया। इस आरोप के विरुद्ध यह कहा जाता है कि यदि सरकार रुपए से प्रस्तावित बाहरी मूल्य के परिवर्तन से पूर्व ही उसकी घोषणा कर देती है तो इससे अधिक खतरनाक और कुछ भी नहीं रहता। यदि कोई भी मन्त्री अपरिपक्व रूप से इस बात की घोषणा कर देता तो मि. चह्वाण के शब्दों में "हम नष्ट हो सकते थे।"

जहाँ तक अवमूल्यन द्वारा देश के सम्मान को गिराने की बात है उसे भी मि. चह्वाण ने एक गलत तर्क बताया है। उनके कथनानुसार "यह इसी प्रकार है कि कोई एक बीमार व्यक्ति से कहे कि यदि उसने ऑपरेशन कराया तो इससे उसकी बेइज्जती होगी। भारतीय अर्थ-व्यवस्था थोड़ी बीमार थी। अब तक जो इलाज किए गए वे प्रभावशाली सिद्ध नहीं हो रहे थे और इसके लिए शल्य चिकित्सा का सुझाव दिया गया। कोई भी ऑपरेशन बिना तकलीफ के नहीं हो सकता और ऑपरेशन के बाद पुनः उत्साह प्राप्त करके अपने कार्य में संलग्न होने के लिए मरीज को पर्याप्त समय तक अनुशासन और सावधानी बरतनी होती है।"

अवमूल्यन तत्कालीन परिस्थितियों में आवश्यक था। लन्दन की 'एकनामिस्ट' नामक पत्रिका ने अवमूल्यन को इन्दिरा गांधी का एक साहसपूर्ण कार्य बताया। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने रुपये के अवमूल्यन को अत्यन्त दूरदर्शी नीति सम्बन्धी परिवर्तन बताया। टी. टी. कृष्णमाचारी के मतानुसार अवमूल्यन के अतिरिक्त दूसरा कोई चारा नहीं था। डॉ. डी. आर. गाडगिल के मतानुसार अवमूल्यन पिछली नीतियों की असफलता का परिणाम था। डॉ. ए. एन. अग्रवाल के मतानुसार रुपये का अवमूल्यन द्रुतगति से विकास के लिए एक गरीब देश द्वारा किए गए नए प्रयोग का प्रारम्भ था। डॉ. पी. एस. लोकनाथन के मतानुसार सरकार ने अवमूल्यन के पक्ष में जो भी तर्क दिए वे सही नहीं थे। उनका कहना था कि अवमूल्यन के बाद निर्यात नहीं बढ़ेंगे, किन्तु आयातों की कीमत अवश्य बढ़ जाएगी। कीमतें असहनीय स्तर तक पहुँच जाएँगी और भारतीय अर्थ-व्यवस्था उन सब लाभों को प्राप्त नहीं कर सकेगी जिनका उल्लेख वित्त मन्त्री द्वारा किया गया था।

रिजर्व बैंक के भूतपूर्व गवर्नर मि. एच. वी. आयंगर का मत था कि यदि योजनाओं की फिजूलखर्ची को रोका नहीं गया तो शीघ्र ही पुनः रुपये का अवमूल्यन करना पड़ेगा। मद्रास के उद्योग मन्त्री श्री आर. वैंकटारमन ने बताया कि "अवमूल्यन का निर्णय आर्थिक दृष्टि से विकृत और राजनीतिक दृष्टि से अबुद्धिमतापूर्ण था।" रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के तत्कालीन गवर्नर श्री पी.सी. भट्टाचार्य ने भी यह स्वीकार किया कि अवमूल्यन को सभी आर्थिक बुराइयों के लिए रामबाण औषधि नहीं माना जा सकता। निर्दलीय संसद् सदस्य डॉ. लक्ष्मीमल सिंघवी ने बताया कि यह इलाज बीमारी से भी बदतर है। कांग्रेसी संसद् सदस्य अन्सार हरवानी का कहना था कि यह मेरे देश के लिए एक काला दिन है। अमेरिका से प्रभावित विश्व बैंक की इच्छाओं के सम्मुख देश ने आत्मसमर्पण कर दिया है। श्री एल. एन. बिड़ला ने

(7) साख नीति का निर्धारण इस प्रकार किया जाए कि निर्यात करने वाले आयात के विकल्प उद्योगों को वित्त की कमी महसूस न हो।

(8) उद्योगों का उत्पादन बढ़ाने के लिए राजकोष की ओर से उन्हें प्रोत्साहन दिया जाए।

(9) निर्यात योग्य सभी वस्तुओं पर भारी उत्पादन कर लगाए जाएँ।

(10) विदेशों से पूंजीगत वस्तुओं और अतिरिक्त पुर्जों का आयात कम से कम किया जाए और उन्हें देश में ही बनाया जाए।

(11) उपयोग के लिए विदेशी साधनों का प्रयोग न किया जाए क्योंकि अवमूल्यन ने विदेशी सहायता और सहयोग को पर्याप्त महँगा बना दिया है।

(12) आने वाले 12 महीनों में मजदूरी तथा वेतन में किसी प्रकार की वृद्धि न की जाए।

(13) कार्यालयों और कारखानों में काम के घण्टे अधिक कर दिए जाएँ।

अवमूल्यन के सम्बन्ध में इस मिली-जुली प्रतिक्रिया को देखने के बाद कुछ बातें स्पष्ट हो जाती हैं—(1) अवमूल्यन तत्कालीन परिस्थितियों का परिणाम था, इसे रोका नहीं जा सकता था, (2) अवमूल्यन से जिन लाभों की आशा की गई वे केवल तभी प्राप्त किए जा सकते थे जब कि पर्याप्त सजगतापूर्ण दृष्टिकोण अपनाए जाए, (3) अवमूल्यन, समस्याओं का एक समाधान मात्र है। यह अपने आप में कोई लक्ष्य नहीं है, (4) अवमूल्यन के बाद यदि पर्याप्त सावधानी, संयम और सजगता न बरती जाए तो इसका दुष्परिणाम देश को भुगतना होगा।

अवमूल्यन का आयात-निर्यात पर प्रभाव
(Impact of Devaluation on Import-Export)

अवमूल्यन का प्रभाव देश के आयातों और निर्यातों पर उल्लेखनीय रूप से पड़ा। विभिन्न वस्तुओं पर से निर्यात नियन्त्रण हटा दिया गया जबकि दूसरी कुछ वस्तुओं पर निर्यात कर लगा दिए गए। अवमूल्यन से निर्यातों का बढ़ना दो बातों पर निर्भर करता था—(1) विदेशी खरीददारों की हमारी वस्तुओं के प्रति माँग की लोच कितनी है, और (2) हमारे देश में पूर्ति की परिस्थितियाँ कैसी हैं। अवमूल्यन के तुरन्त बाद भारत के निर्यात तेजी से घटे। जून, 1966 में अवमूल्यन के कारण जो अस्त-व्यस्त स्थिति पैदा हुई उसने हमारे निर्यातों को बहुत कम कर दिया; क्योंकि निर्यात व्यापार से सम्बन्धित विभिन्न फसलों पर अधिकारियों का दृष्टिकोण स्पष्ट नहीं था। बाद में निर्यात व्यापार कुछ बढ़ा। फिर भी वह पिछले वर्ष की तुलना में कम रहा। कुल मिलाकर 1966–67 की अवधि में भारत का निर्यात 1132·4 मिलियन डॉलर था। यह 1965–66 की तुलना में 160 मिलियन डॉलर कम था। इन दोनों वर्षों के निर्यातों को अग्रांकित तालिका द्वारा वर्णित किया जा सकता है।

कुछ सावधानी बरती गई। इस उदार नीति के अन्तर्गत सरकार ने 59 ऐसे उद्योगों की सूची प्रकाशित की जिन्हें प्राथमिकता दी गई थी। यह कहा गया कि ये उद्योग अपनी पूरी शक्ति से उत्पादन को बढाने के लिए कच्चा माल, उपकरण और आवश्यक पुर्जे आदि 5 माह तक आयात कर सकते थे। इसके अतिरिक्त अगस्त, 1966 मे आयात व निर्यात के मुख्य नियन्त्रक ने 15 नियत उद्योगों के सम्बन्ध में नई आयात नीति की घोषणा की। इन उद्योगो की रक्षा, पुनर्स्थापन, पुनर्वासन, आधुनिकीकरण, विस्तार तथा सुधार के लिए पूंजीगत आयात करने के हेतु विदेशी विनिमय की विशेष व्यवस्था करने का प्रावधान रखा गया। अवमूल्यन के परिणाम-स्वरूप आयातो की कीमत 57 प्रतिशत बढ गई और इसलिए यह डर था कि सम्भवत आयात हतोत्साहित होगे। आवश्यक वस्तुओं के आयात पर से सरकार ने आयात कर घटा दिया। आयात के सम्बन्ध मे सरकार की उदार नीति होने के कारण आयातो के अधिकाधिक बढने की आशाएँ की जाने लगी। व्यापार सन्तुलन की स्थापना के लिए निर्यातों को बढाना पर्याप्त आवश्यक था। यदि निर्यात नही बढते तो व्यापार सन्तुलन मे घाटे की स्थिति आ जाएगी। जिन वस्तुओं का निर्यात किया जाता है उन वस्तुओ का उत्पादन देश में करने के लिए तत्सम्बन्धी उद्योगों को प्रोत्साहन देना भी इसलिए आवश्यक माना गया।

24 भारतीय विदेश व्यापार में व्यापार निगम की भूमिका

(ROLE OF THE STC IN INDIA'S FOREIGN TRADE)

राज्य व्यापार निगम की स्थापना भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत 18 मई सन् 1956 को की गई थी। यह भारत सरकार द्वारा स्थापित एक पूर्ण सरकारी संस्थान है। इसकी वर्तमान में अधिकृत पूंजी 5 करोड़ रुपये तथा प्रदत्त पूंजी 2 करोड़ रुपये है।

उद्देश्य
(Objectives)

व्यापार निगम की स्थापना निम्न उद्देश्यों को पूरा करने के लिए की गई है–

(1) भारतीय विदेशी व्यापार में पाई जाने वाली त्रुटियों को दूर करके विदेशी व्यापार को बढ़ाना।

(2) देश के निर्यातों का क्षेत्र विस्तृत करना तथा आवश्यक वस्तुओं के आयात की व्यवस्था करना।

(3) निर्यातित वस्तुओं के न्यूनतम मूल्य की प्रतिभूति देना तथा उचित मूल्य पर जरूरी वस्तुओं का आयात करना।

(4) केन्द्रीय सरकार के निर्देशों पर मूल्य स्थिर रखने तथा कुछ वस्तुओं का बफर-स्टॉक बनाने का कार्य करना।

(5) चालू बाजारों के विस्तार के साथ-साथ नए बाजारों की खोज करना।

इस प्रकार निगम का मुख्य उद्देश्य निर्यात व्यापार को प्रोत्साहित करके देश के विदेशी व्यापार को अधिक सन्तुलित बनाना है। निगम निजी व्यापारियों के घनिष्ठ सहयोग से काम करता है और उन्हें वित्तीय तथा संगठनात्मक सहायता देता है।

भारतीय विदेशी व्यापार में निगम की भूमिका
(Role of the STC in India's Foreign Trade)

भारतीय विदेशी व्यापार को बढ़ाने में इस निगम की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इसके द्वारा जो महत्त्वपूर्ण कार्य किए गए हैं वे अग्रानुसार हैं—

1. पूर्वी यूरोपीय देशों के साथ व्यापार—राज्य व्यापार निगम की महत्वपूर्ण उपलब्धि पूर्वी यूरोप के देशो के साथ विशेष कर समाजवादी देशों के साथ व्यापार में वृद्धि करना रहा है। निगम ने इन बाजारों मे न केवल परम्परागत वस्तुओं का ही निर्यात बढाया है वरन् नई मदें भी प्रचलित की हैं। वर्ष 1955–56 तक इन देशों के साथ हमारा व्यापार अत्यन्त ही सीमित था, परन्तु 1973–74 तक निर्यात का लगभग $\frac{1}{5}$ भाग इन्ही देशो को निर्यात किया जाने लगा था। इसी प्रकार आयात का लगभग 20% इन देशो से ही प्राप्त किया जाने लगा है। वर्तमान मे इन देशो से जो कुछ भी व्यापार हो रहा है उसका सारा का सारा श्रेय राज्य व्यापार निगम को ही जाता है। वैसे यह अलग वात है कि इन देशों से किए जाने वाले व्यापार मे निगम को एकाधिकार प्राप्त है।

2. निगम के कुल व्यापार में वृद्धि—सन् 1955–57 में राज्य व्यापार निगम ने 5 8 करोड रुपये के निर्यात तथा 3·4 करोड रुपये के आयात किए थे जो सन् 1977–78 मे बढकर 785 करोड़ रुपये के निर्यात तथा 375 करोड़ रुपये के आयात हो गए।

3. निर्यात व्यापार—निगम के निर्यात कार्यक्रमों को पाँच भागो मे बाँटा जा सकता है—

(अ) रेल के उपकरण

(ब) इजीनियरी का सामान

(स) रसायन व औषधियाँ

(द) परम्परागत उपभोग की वस्तुएँ जैसे चमड़े के जूते, विग, तैयार पोशाकें आदि,

(य) मछलियाँ, ताजे फल, फलो का रस आदि।

आज यह निगम के कार्यों का ही परिणाम है कि भारत विकासशील देशों में विशेषकर अरब देशो तथा दक्षिणी एशिया के देशो मे विभिन्न वस्तुओ के निर्यात आर्डर अन्य देशो से प्रतियोगिता करते हुए ज्यादा से ज्यादा प्राप्त करने मे सफल होता जा रहा है।

4. निगम द्वारा आयात—निगम विदेशो से कुछ प्रकार के पूँजीगत सामान, औद्योगिक कच्चा माल और कुछ दुर्लभ वस्तुएँ भी मँगाता है, जो देश की अर्थ-व्यवस्था और औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक है। निगम द्वारा आयात किए जाने वाले पदार्थों मे उर्वरक, रुई, इस्पात व औद्योगिक कच्चा माल, कच्चा रेशम, फिल्में, सोयाबीन का तेल, गन्धक आदि प्रमुख हैं। सीमेंट के वितरण का कार्य भी निगम कर चुका है। निगम अल्पकालीन सूचना पर भी कठिन विश्व बाजार परिस्थितियों के बावजूद पूँजीगत सामान, कच्चे मालो एवं दुर्लभ सामग्रियो की अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों पर व्यवस्था करने मे समर्थ रहा है।

5. सम्पर्क व्यवस्था—निगम विदेशो मे अच्छी ख्याति वाली फर्मो के साथ सम्पर्क, अदल-बदल तथा समानान्तर व्यवहार भी करता है जिससे निर्यातो मे वृद्धि

1. निगम की स्थापना निर्यात बढ़ाने एवं नवीन बाजारों की खोज करने के लिए की गई थी, परन्तु निगम इस कार्य को सम्पन्न करते समय व्यापारिक दृष्टिकोण का पालन नहीं कर सका।

2 निगम उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं के अनुसार तुरन्त ही न्यायोचित मूल्यो पर वांछित किस्म का माल आयात करने मे असफल रहा है।

3 निगम ने कई वस्तुओं का निर्यात अन्तर्राष्ट्रीय विक्रय मूल्यों से कम दरों पर करके विदेशी मुद्रा अर्जन मे राष्ट्रीय हितो की उपेक्षा की है।

4 इस निगम के समानान्तर कोई प्रतियोगी सस्था नही होने से इसमे एकाधिकारी व्यवस्था के दोष व्याप्त हैं।

5 निगम द्वारा निजी निर्यातको के कोटे मे सदा कटौती करने की ही प्रणाली अपनाई गई है जिससे देश के कुल निर्यात व्यापार मे अपेक्षाकृत उतनी वृद्धि नहीं हुई जितनी की होनी चाहिए थी।

6. निगम के क्षेत्र की स्पष्ट व्याख्या न होने के कारण यह लाभ कर व्यापार को अपने हाथो मे लेता रहा है जिससे निजी व्यापार क्षेत्र मे इसका हस्तक्षेप बढता जा रहा है और निजी व्यापारियो मे यह भय बना हुआ कि किसी दिन निगम निजी व्यापार पर भी अपना आधिपत्य न जमा ले।

7 निगम ने विश्व बाजार की पूर्ण जानकारी के अभाव मे ज्यादातर ऊंचे मूल्यो पर वस्तुओ का आयात किया है जिससे देश की उत्पादन लागतें बढ गई है।

8 निगम बाजार की दशाओ से भिन्न मूल्य नीति का पालन करता है तथा उपभोक्ताओ की सुरक्षा तथा उत्पादको की तकनीकी समस्याओं पर ध्यान नही दिया जाता है।

9 सरकार का निगम के साथ पक्षपात पूर्ण व्यवहार के कारण यह सही ढग से प्रगति नही कर पाया है।

भारत सरकार की वार्षिक रिपोर्ट 1977-78 के अनुसार राज्य-व्यापार निगम के कार्यकलाप

भारत सरकार के वाणिज्य मन्त्रालय की 1977-78 की रिपोर्ट मे समीक्षाधीन वर्ष मे राज्य व्यापार निगम के कार्यो का जो लेखा-जोखा दिया गया है, वह इस प्रकार है—

'भारतीय राज्य व्यापार निगम लि (एस टी. सी.) ने देश के विदेश व्यापार मे अपना महत्त्वपूर्ण योगदान जारी रखा। इसके कार्यकलापो मे चुनी हुई मुख्य मदो का निर्यात, आयात तथा आन्तरिक व्यापार शामिल है। चालू वर्ष मे इसका व्यापार कारोबार अग्रांकित सारणी मे दिखाया गया है।"

निगम ने विपणन तकनीकी तथा वित्तीय सहायता उपलब्ध करके विशेषतः लघु उद्योग क्षेत्र मे, अनेक गैर-परम्परागत उत्पादो के निर्यातो को बढाने के लिए सप्लाइकर्त्ताओ के साथ संघो के निर्माण को मजबूत बनाया है। इस स्कीम के अन्तर्गत जो मदे शामिल हैं वे इस प्रकार हैं—तैयार चमडा, चमडे के उत्पाद, सिले-सिलाए परिधान, फलो के रस, जूते तथा आर्मीसाफ्ट वियर। ये मदे रोजगार बढाने के पहलू से महत्त्वपूर्ण होने के अलावा उच्च मूल्य वर्धित खासियत भी रखती हैं।

निगम ने कुछ नई मदो का संवर्धन किया है जिनमे पश्चिमी जर्मनी को टोपियो का, चिप्स तथा सूखी खुम्बियो का निर्यात महत्त्वपूर्ण है। चमडे के लिए चीन तथा ग्रामोफोन रेकार्डों के लिए सोवियत संघ के नए बाजार ढूंढे गए हैं।

कीमत समर्थन कार्य

लालदाने के मामले मे बफर स्टॉक नीति तथा प्राकृतिक रबड के मामले में कीमत समर्थन करने से आन्तरिक कीमतो मे स्थिरता बनी रही और निगम का कारोबार भी बढा।

आयात

अप्रैल 1977–14 जनवरी, 1978 के दौरान 384·1 करोड रुपये मूल्य के आयात हुए जबकि गत वर्ष की इस अवधि मे 192 करोड रुपए मूल्य के आयात हुए थे। खाद्य तेलो तथा अखबारी कागज की बिक्री मे वृद्धि होने से कारोबार मे यह वृद्धि हुई है। सीधे आवटन स्कीम के अन्तर्गत कैरोलैक्टम एम. ई जी को शामिल कर लेने के फलस्वरूप चालू वर्ष मे इन मदो की बिक्रियाँ पहले से अधिक हुई।

खाद्य तेल

चालू वर्ष मे निगम का भारी मात्रा मे खाद्य तेल आयात करने का कार्यक्रम है ताकि आन्तरिक उत्पादन की अनुपूर्ति की जाए और आन्तरिक कीमत स्तर को भी बनाए रखा जा सके। अब तक निगम ने 6 9 लाख मी टन आयात करने की संविदाओ पर हस्ताक्षर किए हैं जिसमे से 4 5 लाख मी टन का लदान भी हो चुका है। अब तक कुल 4·3 लाख मी.टन की कुल बिक्रियाँ की गई है। गत वर्ष की अवधि मे 1·8 लाख मी टन की बिक्रियाँ हुई थी और इस प्रकार आयातित खाद्य तेलो की सप्लाई मे पर्याप्त वृद्धि हुई है।

आयातित वनस्पति तेलो को देश भर के समस्त वनस्पति एककों को किफायती तथा पूर्व-निर्धारित कीमतो पर वितरित किया जाता है ताकि अन्तिम उत्पाद की कीमतो को बनाए रखा जा सके। निगम सीधी खपत के लिए, राज्य सरकारो के माध्यम से भी खाद्य तेलो की सप्लाई कर रहा है। वनस्पति उद्योग की आवश्यकताओ को यथासमय पूरा करने के विचार से निगम ने, भण्डारण की समग्र क्षमता को बढाने के अतिरिक्त कई नए वितरण-स्थल भी बनाए हैं। कुल भण्डारण क्षमता वर्ष के आरम्भ मे 87,000 मी. टन थी जिसे (14–1–1978 तक) बढाकर 2·21 लाख मी टन कर दिया गया है और उत्तरी जोन मे भण्डारण क्षमता को, जो कि वर्ष के आरम्भ में 5,000 मी. टन थी, बढाकर (14–1–1978 तक) 32,000 मी. टन कर दिया गया है। इस समय निगम देश में वनस्पति उद्योग की 75 प्रतिशत

25 भारत का भुगतान सन्तुलन

(INDIA'S BALANCE OF PAYMENTS : RECENT TRENDS AND PRESENT POSITION)

निर्यात और आयात के अन्तर को व्यापार सन्तुलन कहा जाता है। यदि कोई देश आयात की अपेक्षा निर्यात अधिक करता है तो सन्तुलन उसके अनुकूल माना जाएगा और यदि वह निर्यात की अपेक्षा आयात अधिक करता है तो सन्तुलन उसके प्रतिकूल कहा जाएगा। आयात और निर्यात केवल दृश्य वस्तुओं के ही नहीं होते किन्तु उन अदृश्य वस्तुओं के भी होते हैं जिन्हें देखा तो नहीं जा सकता लेकिन अनुभव किया जा सकता है तथा जो व्यापार सन्तुलन को प्रभावित करते हैं। आजकल भुगतानों के सन्तुलन का अध्ययन आर्थिक विचारों का मूलभूत विषय बन गया है। एक देश का 'भुगतान सन्तुलन' उस सन्तुलन का परिणाम है जो व्यापार के कारण, सीमाओं से पार देची गई सेवाओं के कारण तथा लिए गए ऋण के कारण स्थापित किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने भुगतान सन्तुलन को प्रभावित करते हुए इसे एक देश के निवासियों और दूसरे देश के निवासियों के बीच स्थित समस्त आर्थिक लेन-देनों का एक व्यवस्थित अभिलेख कहा है। एक देश के भुगतान सन्तुलन का सही अनुमान लगाने पर यह ज्ञात किया जा सकता है कि वर्तमान और भविष्य में उसकी आर्थिक क्रियाएँ क्या रहेंगी, उसकी साख कितनी होगी, वह भुगतान करने की कितनी क्षमता रख सकता है, तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में कितना योगदान कर सकता है।

युद्ध से पूर्व स्वर्ण मानक के अधीन भुगतान सन्तुलन को स्वर्ण की गति और पूँजी या केन्द्रीय बैंक के कार्यों द्वारा मूल्य स्तर में लाए गए परिवर्तनों के माध्यम से समायोजित किया जाता था। आजकल भुगतानों की अन्तर्राष्ट्रीय सरचना उल्लेखनीय रूप से बदल गई है। वर्तमान परिस्थितियों में भुगतान सन्तुलन के समायोजन की परम्परागत प्रथा लागू नहीं होती फिर भी विश्व व्यापार को नियमित तथा नियन्त्रित करने की आवश्यकता आज भी उतनी ही महत्वपूर्ण है क्योंकि इसके बिना भुगतान सन्तुलन के गलत समायोजनों को नहीं रोका जा सकता है।

PRE-WAR BALANCE OF PAYMENTS

(In Crores of Rupees)

	Current Account					Capital Account			
Year	Goods, Mercha-ndise	Services and Interest & Dividends	Gold Other Services	Gold	Total	Capital Long term	Capital Short term	Items total	Errors & Ommiss-ions
1924–25	+117·66	−31 78	−33·37	−73 88	−21·37	−12 25	−0 03	−12·28	+33 65
1932–33	− 5 45	−34·41	−16·16	+65·52	+ 9·48	+ 6 50	−8·15	−14·65	+ 5 17
1936–37	+ 56 73	−32·38	−18 31	+27·84	+33 88	−	−	−33·36	− 0 52
1937–38	− 0 02	−30·17	−18 13	+16 33	−31·99	−	−	+ 5·30	+26 69
1938–39	+ 7 2		−46 4	+23·3	−15·7	−	−	+ 3 6	−12 1

मे घनिष्ठ रूप से एकरूपता बनाए रखी गई। 1946 में भारत को अपने निर्यातों के बदले 337·5 करोड रुपए प्राप्त हुए जबकि खाद्यान्न सहित सौदागिरी की वस्तुओं का आयात कुल 388·7 करोड रुपए का हुआ था। 1947 में आयातो पर नियन्त्रण को अंश रूप मे ढीला कर दिया गया और अब भुगतान 534·7 करोड़ रुपए तक बढ गए। दूसरी ओर प्राप्तियाँ भी बढ कर 453·7 करोड़ रुपए तक पहुँच गई। इसलिए व्यापार सन्तुलन मे कोई गम्भीर हानि नही हुई। देश के विभाजन के कारण और आयात नियन्त्रणों को पुनः लागू करने के कारण 1946 के उत्तरार्द्ध मे व्यापारिक वस्तुओ के आयात का मूल्य 493·5 करोड रुपए हो गया। इस समय की प्राप्तियो और भुगतानो के बीच एकरूपता इसलिए प्राप्त हो सकी क्योकि आयात नियन्त्रण नीति मे परिवर्तन ला दिए गए थे और 1946 से 1948 के मध्य तक व्यापार शर्तों मे सुधार हो गया था। व्यापार शर्तों मे सुधार से यह स्पष्ट होता है कि इस काल मे व्यापार की मात्रा मे कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नही हुआ। 1948 तक भारत व्यक्तिगत लेखे मे अनुकूल सन्तुलन रखता था।

इस काल मे गैर-मौद्रिक स्वर्ण के आवागमन ने अत्यन्त महत्त्वहीन भाग लिया। चालू खाते मे शुद्ध स्थिति का निर्धारण सेवा की मदों द्वारा किया गया। 1946 मे भारत ने ग्रेट ब्रिटेन से भुगतान प्राप्त किए और इसलिए उसका सन्तुलन अनुकूल बना रहा। 1947 मे स्थिति मे परिवर्तन आया।

चालू खाते में घाटा कोई बहुत अधिक नही था। 1946 मे यह केवल 29 करोड था। 1947 मे पूँजीगत खाते में लगभग 5 करोड रुपए का घाटा था, किन्तु इन आँकडो को पूरी सावधानी के साथ देखा जाना चाहिए क्योकि अधिकांश पूँजियाँ गलतियो मे पूर्ण हैं। पूँजीगत खाते यह प्रदर्शित करते हैं कि चालू खाते की घाटे की अर्थ-व्यवस्था किस प्रकार की है। बैंक व्यवस्था की विदेशी सम्पत्तियाँ 1946 मे 56 9 करोड रुपए थी। ये 1947 मे 107·5 करोड़ रुपए और 1948 मे 327·0 करोड रुपए हो गईं। 1948 मे 1947 की अपेक्षा व्यक्तिगत सम्पत्ति का प्रवाह अधिक था किन्तु इस खाते मे 1948 मे शुद्ध भुगतान पर्याप्त कम था।

1948 के उत्तरार्द्ध के दौरान उदार आयात नीति और निर्यातो के मूल्य घटने से स्थिति बिगडने लगी। यह प्रक्रिया जून, 1949 तक चलती रही। सरकार द्वारा किए गए आयातों के उच्च स्तर मे स्थिति को और भी बदतर बना दिया। 1948 के तृतीय चतुर्थांश मे व्यापार शर्तें कुछ और खराब हुई।

मई, 1949 मे नई आयात नीति को अपनाने पर आयातो की दर कम होने के कारण भुगतानो का अन्तर कम होने लगा। 1949 मे रुपए का अवमूल्यन होने के बाद भुगतानो मे सुधार की स्थिति आई। जुलाई, 1948 से जून 1949 तक 236·7 करोड रुपया ऐसा रहा जिसे विनियोजित नही किया गया। जुलाई 1949 से जून 1950 तक ऐसे रुपए की मात्रा केवल 3·2 करोड थी। पौण्ड क्षेत्र के साथ भारत के भुगतान सन्तुलन की स्थिति पुनः सन्तुलन की ओर जा रही थी। चालू खाते मे अक्तूबर, 1948 से सितम्बर 1949 तक 248·8 करोड रुपए का घाटा था

पौण्ड क्षेत्र में भारत का भुगतान सन्तुलन
(India's Balance of Payments with Sterling Area)

युद्ध के वाद भारत के व्यापारिक घाटे ने उसके पौण्ड कोष को कम कर दिया। भारत के पौण्ड सन्तुलनो के भारी मात्रा मे कमी होने के लिए उत्तरदायी दो अन्य कारण भी थे—

(1) जुलाई, 1948 मे एक समझौता हुआ जिसके अनुसार भारत सरकार को ब्रिटिश सरकार के लिए 2480 करोड़ रुपए का भुगतान करना था ताकि पौण्ड पेशनों के भुगतान की वित्तीय व्यवस्था की जा सके और उन सुरक्षात्मक स्टोरो तथा शस्त्र सामग्री को प्राप्त किया जा सके जिसे युद्ध के बाद ब्रिटिश सरकार ने भारत मे छोडा था।

(2) पाकिस्तान ने इन सन्तुलनो के लिए अपने भाग का जो भुगतान किया वह भारत की मुद्रा से भिन्न था। यह भुगतान *31 मार्च, 1950* तक चलता रहा, पाकिस्तान ने भारतीय नोटों को प्रसारित होने से रोक दिया और उन्हें भारत के रिजर्व बैंक को सौंप दिया गया। ऐसी स्थिति मे भारत को पाकिस्तान को पौण्ड स्टर्लिंग सौंपना पडा। 1 मार्च, 1949 तक पाकिस्तान स्टेट बैंक को 1770 मिलियन रुपए की कीमत की स्टर्लिंग मुद्रा दी जा चुकी थी।

डॉ जान मथाई के शब्दों मे भारत सरकार की आयात नीति का उद्देश्य व्यापार को इस प्रकार विनियमित करना था कि देश की आवश्यकताओ और मांगों के अनुरूप *बना रहे और वह अपने चालू खाते मे किसी भी विशेष समय मे अपने* भुगतान सन्तुलन मे घाटे की स्थिति न रखे।

कठोर मुद्रा क्षेत्रों में भुगतान सन्तुलन
(Balance of Payment ins Hard Currency Areas)

युद्धोत्तर व्यापार सॉख्यिकी को देखने से यह मालूम होता है कि कठोर मुद्रा वाले क्षेत्रो मे भारत का व्यापार सन्तुलन उसके विरुद्ध था। इस क्षेत्र में संयुक्त राज्य अमेरिका, अर्जेन्टाइना, कनाडा, बलजियम, पुर्तगाल आदि आते हैं। 1948 मे भारत मे डॉलर का घाटा 200 मिलियन डॉलर से भी आगे बढ गया। इसके लिए भारत को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से 100 मिलियन डॉलर का कर्ज लेना पड़ा। 60 मिलियन डॉलर के मूल्य के परिवर्तन योग्य स्टर्लिंग को काम मे लिया गया और 20 मिलियन डॉलर दूसरे तरीको से बचाए गए। इसके बाद भी लगभग 46 मिलियन डॉलर की शुद्ध घाटे की स्थिति रही। 1950 मे खाद्यान्नों की कीमत गिर जाने पर भी डॉलर के घाटे को कम से कम 150 मिलियन डॉलर तक आंका गया।

युद्ध के दौरान संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ भारत का प्रायः अतिरेक रहता था क्योंकि युद्ध प्रयास के लिए डॉलर को बचाए रखने हेतु अमेरिका से किए जाने वाले आयात में भारी कटौती की गयी। भारत अतिरेक को निरन्तर बढ़ाता रहा और उसने साम्राज्य के डॉलर पूल को महत्त्वपूर्ण योगदान किया। युद्ध के बाद व्यापार की प्रवृत्तियां उसके विरुद्ध बन गयी। कठोर मुद्रा वाले देशों के साथ भारत

विभाजन के बाद के व्यापार से तुलनात्मक अध्ययन करें तो पाएँगे कि दोनों के बीच काफी अन्तर आ गया था। विभाजन के बाद भारत से जिन वस्तुओं का निर्यात किया जाने लगा उनमें निर्मित माल का भाग अधिक रहा। भारत के आयातों में कच्चे माल का अनुपात बढ़ गया। इस दृष्टि से देखने पर यह कहा जा सकता है कि अब भारत कच्चा माल उत्पादित करने वाले देशों की श्रेणी में नहीं रहा, जैसा कि वह विभाजन से पहले था। यह कहना अधिक सही रहेगा कि विभाजन के बाद भारत फ्रांस की भाँति अर्द्ध-निर्माता देश बन गया। अदृश्य वस्तुओं की दृष्टि से भारत-पाक विभाजन ने भारत को अधिक आमदनी कमाने वाला देश बना दिया। पहले सेवाओं की दृष्टि से भारत के जो बाहरी दायित्व थे वे अब उतने नहीं रहे। भारत की परिवर्तित भौगोलिक स्थिति ने उसकी मौद्रिक स्थिति को प्रभावित किया, यहाँ तक कि उसकी सम्पूर्ण आर्थिक नीतियाँ प्रभावित हुई। नयी राजनैतिक सीमाओं ने नवीन हितों को जन्म दिया।

भुगतान सन्तुलन के प्रभावक तत्व (Influencing Factors of Balance of Payments)

भारत के भुगतान सन्तुलन पर जिन विभिन्न तत्वों ने प्रभाव डाला है उनमें व्यापार शर्तें (Terms of Trade), डॉलर समस्या (Dollar Problem), विदेशी पूँजी (Foreign Capital), सहायक सेवाओं का विकास (Development of Auxiliary Services) तथा पर्यटक यातायात का विकास (Development of Tourist Traffic) आदि महत्त्वपूर्ण रूप से उल्लेखनीय हैं—

1. व्यापार शर्तें (Terms of Trade)—युद्ध के बाद भारत के आयात और निर्यात की कीमतें युद्ध से पूर्व की तुलना में बढ़ रही थी। 1945-46 का *निर्यात का मूल्य सूचकांक 1938-39 की तुलना में दो गुने से भी अधिक था।* यह प्रक्रिया 1948-49 तक चलती रही जबकि निर्यात मूल्य लगभग चौगुने हो गए। 1949-50 में वस्तु स्थिति में परिवर्तन आया। 1945-46 में व्यापार शर्तें भारत के अनुकूल नहीं थी, किन्तु वे अगले वर्षों में कुछ सुधरी। इनके फलस्वरूप हमारे व्यापार की स्थिति विकृत होने से रुकी। मई, 1948 में व्यापार शर्तें भारत के पक्ष में उच्च स्तर पर पहुँच गयी। किन्तु उसके बाद वे 1949 के प्रारम्भिक महीनों तक विपरीत बनी रहीं। व्यापार शर्तों के इस विपरीत मोड़ ने तथा आयातों के आकार में वृद्धि ने भुगतान सन्तुलन की हमारी कठिनाइयों को बढ़ा दिया। खाद्यान्न, दाल, आटा और कच्चे जूट आदि के क्षेत्र में देश का आयात निरन्तर बढ़ता जा रहा था। मशीनों का आयात भी बढ़ रहा था। देश के निर्यात कम हो रहे थे। उसके आयात तथा आयातों की कीमतें बढ़ रही थी और इस प्रकार कुल मिलाकर भुगतान *सन्तुलन देश के विपरीत होता जा रहा था।* मूल्य की ओर ध्यान न देते हुए सरकार ने जो आयात किए उनमें स्थिति और भी बिगड़ गयी। अवमूल्यन के बाद कुछ व्यापार शर्तें (Gross Terms of Trade) निरन्तर भारत के प्रतिकूल रही।

का कहीं और से संयुक्त राज्य अमेरिका के खरीदने का प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरी ओर डॉलर-विहीन अनेक देश अमेरिका से वह माल खरीदना चाहते हैं जिनकी उन्हें बहुत आवश्यकता है।

(iv) अर्द्ध-विकसित उद्योगों का विकास हो रहा है और वे इस विकास को और भी आगे बढ़ाने की धुन में हैं। उन्होंने यूरोप के औद्योगिक देशों को एक चुनौती दी है जो बहुत कुछ इनके निर्यातों पर निर्भर करती है।

डॉलर की समस्या उपर्युक्त कारणों से एक विश्व-व्यापी समस्या थी और इसलिए भारत भी इससे अछूता न रहा। भारत की डॉलर समस्या विश्व के अन्य देशों की डॉलर की समस्या से भिन्न नहीं थी। वस्तु स्थिति के परिणामस्वरूप भारत को डॉलर क्षेत्र के देशों से आयात करना पड़ा। जब तक कठोर मुद्रा के घाटे डॉलर पूल द्वारा पूरे किए जाते रहे तब तक डॉलर की समस्या अधिक गम्भीर नहीं रही, किन्तु जब ग्रेट-ब्रिटेन ने पौण्ड को डॉलर में परिवर्तित करने की सुविधा को सीमित कर दिया तो भारत को कठोर मुद्रा वाले क्षेत्रों से आयातों पर प्रतिबन्ध लगाने पड़े। इस प्रकार कुछ समय के लिए उसे सन्तुलन प्राप्त हो गया किन्तु अन्न के आयात ने उसकी समस्या को बढ़ा दिया क्योंकि इसके लिए डॉलर की आवश्यकता थी। कठोर मुद्रा वाले देशों के साथ घाटे की स्थिति बढ़ी और इसलिए इन देशों के लिए किया जाने वाला निर्यात बढ़ाना परमावश्यक बन गया।

निर्यात को बढ़ाना जितना आवश्यक था उतना सरल नहीं था। विभाजन के बाद कच्चे जूट की पूर्ति अनिश्चित और मूल्यवान बन गई। इसलिए उत्पादन घटा और निर्यातों को हानि हुई। विभाजन के बाद कच्ची रूई आदि में जो निर्यात अतिरेक उपलब्ध था वह भी समाप्त हो गया। भारतीय माल की ऊँची कीमत के कारण उसका निर्यात बहुत घट गया।

भारत की डॉलर समस्या ने यहाँ के व्यापार की दिशाओं को मोड़ दिया। 1938–39 में नर्म मुद्रा वाले क्षेत्रों द्वारा हमारे माल का लगभग 71 प्रतिशत निर्यात समाहित कर लिया जाता था किन्तु 1947–48 में यह घटकर 67 5 प्रतिशत रह गया। इसका कारण पौण्ड क्षेत्र में योगदान की गिरावट थी। इसके लिए हमारे निर्यातों को डॉलर बाजार खोजने पड़े। 1938–39 में डॉलर क्षेत्र के इन देशों को हमारा लगभग 12 प्रतिशत निर्यात होता था किन्तु 1947–48 में इसकी मात्रा 27 प्रतिशत हो गई। 1949–50 में इन क्षेत्रों को हमारे निर्यात अवमूल्यन के कारण बढ़ गए थे किन्तु फिर भी इनकी कुल मात्रा 20 प्रतिशत बनी रही। इस प्रकार भारत एक दुविधापूर्ण स्थिति में था। एक ओर डॉलर की कमी के कारण वह डॉलर बाजारों की खोज की ओर प्रयत्नशील था और दूसरी ओर मूल्य की प्रेरणाओं ने उसके निर्यातों को नर्म मुद्रा वाले क्षेत्रों में बढ़ाने को प्रेरित किया।

भारत ने पौण्ड क्षेत्र का एक सदस्य होने के नाते डॉलर के आयातों और निर्यातों में उस सामान्य नीति को स्वीकार कर लिया जिस पर सम्पूर्ण पौण्ड क्षेत्र के देश एकमत हैं। सितम्बर, 1950 में राष्ट्र मण्डल के वित्त मन्त्रियों का एक सम्मेलन

की परिस्थितियों ने माल की अधिक पूर्ति को आवश्यक बना दिया ताकि देश में अभाव की समस्या को सुलझाया जा सके। पहले जो पौण्ड की छूट दी गई थी उसे व्यावहारिक रूप से पूरा काम में ले लिया गया। आयात के सम्बन्ध में बरती जाने वाली नीति ने स्थिति को गम्भीर बना दिया। इसके कारण इतना अधिक आयात हुआ कि इससे हमारे सारे अन्य खर्चे सन्तुलन समाप्त हो गए और अप्रेल, 1949 तक 42 मिलियन पौण्ड का अधिक खर्च कर लिया गया। यह कहा जाता है कि इस काल में भारत के सामने जो कठिनाइयाँ आई उनमें से कुछ को सुलझाया जा सकता था, बशर्ते कि हमारी आयात नीति नियन्त्रित और न्यायपूर्ण ढग से प्रशासित की जाती।

इतनी मात्रा में आयातों को अधिक समय तक जारी नहीं रखा जा सकता था और इसलिए मई, 1949 तथा अगस्त, 1949 में आयात नीति को कठोर बनाया गया। इसके परिणामस्वरूप आयातों में धीरे-धीरे कमी हुई और पौण्ड सन्तुलनों की दर का गिरना धीमा पड़ गया। रुपये के अवमूल्यन ने निर्यातों को बढ़ा दिया और आयातों को कम किया और इस प्रकार 31 मार्च, 1950 तक पौण्ड सन्तुलन 859 करोड़ रुपये तक बढ गए। देश औद्योगिक कच्चे माल और आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं से वंचित रह गया। इसके परिणामस्वरूप प्रमुख उद्योगों में उत्पादन घटा तथा मुद्रा स्फीति की प्रवृत्तियाँ बढ़ने लगी। यह स्थिति भी बहुत समय तक नहीं रखी जा सकती थी और इसलिए आयातों को उदार बनाया गया। अवमूल्यन के कुछ समय बाद निर्यात भी गिर गए। ऐसी स्थिति में पौण्ड सन्तुलन दुबारा घट गया। यह घटाव कोरिया युद्ध के कारण पुनः रोक दिया गया। ऊँचे मूल्यों और अनुपलब्धता के कारण निर्यात बढ़े और आयात घटे। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि पौण्ड के क्षेत्र में जो भारी भुगतान सन्तुलन के उतार-चढ़ाव आए उनका मूल कारण आयात और निर्यात के सम्बन्ध में हमारी अनियोजित नीतियाँ थी।

1948 में पौण्ड सन्तुलन समझौते के स्थान पर एक दीर्घकालीन समझौता किया गया जिसमें 6 वर्ष तक हमारे पौण्ड सन्तुलनों में प्रतिवर्ष 35 मिलियन पौण्ड की राहत प्रदान की गई। यह समय एक जुलाई, 1951 से प्रारम्भ होना था। इस समझौते के प्रावधान पर्याप्त लोचशील थे, इनके अनुसार यदि किसी विशेष वर्ष में कुल मात्रा के किसी भाग को काम में न लाया जा सके तो उसे आगे के काल में मिला दिया जाएगा।

4. विदेशी पूँजी (Foreign Capital)—1947 के मूल्य स्तर को आधार बनाकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भारत की पूँजीगत व्यय की कम से कम आवश्यकताएँ 250 करोड़ रुपये प्रतिवर्ष हैं। मूल्यों में वृद्धि होने के कारण यह आवश्यकता निरन्तर बढ़ती रहती है। यदि खाद्य और औद्योगिक कच्चे माल की कमी को ध्यान में रखा जाए तो कृषि का अंश पर्याप्त बढ जाता है। भारत की कम से कम पूँजीगत आवश्यकताओं और उसकी घरेलू बचतों के बीच एक बड़ा रिक्त स्थान है। ऐसी स्थिति में विदेशी पूँजी की आवश्यकता स्पष्ट हो जाती है। भारत की

विकास योजनाओं को सचालित करने के लिए पूँजीगत माल और प्रसाधनों पर भारी व्यय करना जरूरी था। ये केवल विदेशों से ही खरीदे जा सकते थे और इनका भुगतान विदेशी मुद्रा, विशेषकर डालर में किया जाना था। पौण्ड सन्तुलनों को डॉलर में स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं बदला जा सकता था और इसलिए विदेशी ऋण एक मात्र उपाय था। तकनीकी ज्ञान, औद्योगिक अनुसंधान तकनीकी विशेषज्ञों का प्रशिक्षण, प्रबन्धकों और प्रशासकों के प्रशिक्षण आदि के लिए निश्चय ही विदेशी मुद्रा परमावश्यक थी। दक्षिण और दक्षिण पूर्व एशिया में आर्थिक विकास के लिए 6 वर्षीय कोलम्बो योजना ने हमारी अनेक औद्योगिक महत्त्वाकांक्षाओं को वास्तविकता में परिणत कर दिया। इस योजना के अधीन यह सम्भव था कि देश बिना किसी राजनीतिक सोच विचार के विदेशी सहायता स्वीकार कर सके।

विदेशी पूँजी के विभिन्न स्रोत थे। इन स्रोतों में व्यक्तिगत निवेशकर्ता (Private Investor), अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (The International Bank of Reconstruction and Development) विदेशी सरकारों द्वारा भेंट और ऋण (Gifts and loans from Foreign Governments) आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन सभी स्रोतों ने भारत को विदेशी पूँजी प्रदान करके यहाँ के भुगतान सन्तुलनों को अनुकूलता की ओर प्रेरित किया।

5 **सहायक सेवाओं का विकास (Development of Auxiliary Services)**—भारत को सहायक सेवाओं (Auxiliary Services) की खातिर भारी भुगतान करना होता था। 1948 के दौरान विदेशी यातायात और बीमा कम्पनियों की निर्यात से होने वाली कुल आमदनी (Gross Income) लगभग 19 करोड़ रुपये थी। इसका एक अल्प भाग भारत की कम्पनियों का माना जा सकता है। यह स्थिति भारत के भुगतान सन्तुलन के विपरीत उत्तरदायी विभिन्न कारणों में से एक है। यदि इस क्षेत्र में भारतीय उद्यम विकास करे तो भुगतान यदि पूरी तरह समाप्त नहीं हुए तो कम अवश्य हो जाएंगे। इससे भारत का भुगतान सन्तुलन मजबूत बनेगा।

6 **पर्यटक यातायात का विकास (Development of Tourist Traffic)**—भारतवर्ष प्रतिवर्ष अपने देशवासियों द्वारा की जाने वाली विदेश-यात्राओं पर भारी व्यय करता है, किन्तु यह सब वहन कुछ एक पक्षीय रूप से किया जाता है। यह प्रयास किया जाना चाहिए कि भारत विदेशी पर्यटकों से कम से कम इतनी विदेशी मुद्रा प्राप्त करे जितनी कि वह विदेशों में अपने देशवासियों पर खर्च करता है।

के लिए जिन लोगों के पास फालतू समय है, उनकी सख्या बहुत अधिक बढ गई है। हम सब स्थिति का फायदा उठाते हुए ऐसे प्रयास किए जा सकते है जिनसे भारत को विदेशी मुद्रा की अधिक से अधिक आमदनी हो सके और उसका भुगतान सन्तुलन अनुकूलता की ओर जा सके। पर्यटन को प्रोत्साहन देने के लिए वायु यातायात ने क्रान्तिकारी कार्य किया है।

यह पाया गया है कि जो देश पर्यटन को प्रोत्साहन देते हैं उनकी आय का एक अन्य स्रोत खुल जाता है। इस दृष्टि से हम स्विट्जरलैंड का नाम ले सकते हैं जिसने पर्यटन को राष्ट्रीय उद्योग के रूप मे विकसित किया है। पर्यटन यातायात को प्रोत्साहित करने के लिए पर्याप्त सरकारी, अर्द्ध-सरकारी और निजी सगठन विदेशो मे सगठित किए जाते हैं। पर्यटन उद्योग एक ऐसा उद्योग है जो पर्याप्त विदेशी मुद्रा की आय का कारण बन सकता है किन्तु इसमे अधिक व्यय नहीं करना पडता। इस उद्योग के प्रोत्साहन से हमे दूसरे उद्योग के लाभ भी प्राप्त हो सकते हैं। व्यापारिक आगन्तुकों को प्रोत्साहित करके यह हमारे निर्यात व्यापार को बढाने मे सहायता करेगा। पर्यटक जब पर्यटन करने आते है तो व्यक्तिगत रूप मे खरीददारी करते हैं और उसके बाद भी वे उन्ही चीजों को खरीदते रहते हैं। यातायात सेवाओं के बढने से देश मे रोजगार की स्थिति अच्छी होगी। इसके द्वारा विदेशी पूँजी के निवेश को प्रोत्साहित किया जा सकता है। इस सब के अलावा हम अपने रहन-सहन के तरीकों की जानकारी प्रदान करके अच्छे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विकास मे सहायता कर सकते हैं।

भारत पर्यटकों के आकर्षणों की दृष्टि से पर्याप्त धनवान है। यहाँ के प्राकृतिक दृश्यों का मुकाबला दुनिया मे कोई देश नही कर सकता। इसके अतिरिक्त प्राचीन स्मृति की चीजें यहाँ महत्त्व और प्राचीनता की दृष्टि से किसी भी देश से कम नही हैं। इतने पर भी यह दुर्भाग्य की बात है कि इस देश की सम्भव क्षमताओं को पूरी तरह से पहचाना नही गया। यद्यपि इन दिनों अनेक प्रयास किए गए हैं फिर भी अभी बहुत कुछ करना शेष है।

पंचवर्षीय योजनाएँ और भुगतान सन्तुलन
(Five Year Plans and Balance of Payments)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत का प्रमुख दायित्व पिछली शताब्दियों के शासन द्वारा निर्मित व्यापक गरीबी और बहुल जनसख्या की समस्या को सुलझाना था। एक कृषि प्रधान देश होते हुए भी भारत का कृषि व्यवसाय अभी तक उस पुराने तरीके से सम्पन्न किया जाता था जिसमे बैलगाडी और देशी हल अभी तक मुख्य औजार बने हुए थे। विज्ञान के आधुनिक प्रसाधनों ने कृषि को अभी तक छुआ नहीं था किन्तु उसकी माँग देश मे निरन्तर बढ़ती जा रही थी। ससार के दूसरे देशों मे सम्पन्नता बढ रही थी किन्तु भारत में गरीबी अधिक से अधिक होती जा रही थी। पाश्चात्य देशों तथा भारत के बीच जीवन स्तर की दृष्टि से जो महत्वपूर्ण दूरी पैदा हुई, उसे दूर करना और देश को न्यूनतम मानवीय जीवन-स्तर प्रदान

इसका एक प्रमुख समस्या थी जिसे सुलझाने तथा प्रति व्यक्ति आय बढ़ाने के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया जाना बहुत जरूरी था। जीवन स्तर व उच्च मापदण्डों की प्राप्ति के लिए और भारत में प्रजातन्त्रात्मक मूल्यों की रक्षा के लिए नियोजन आवश्यक बन गया।

प्रति व्यक्ति आय बढ़ाने की दृष्टि से किया गया प्रजातन्त्रात्मक नियोजन देश के भुगतान सन्तुलन के घाटे की स्थिति से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित था। इस नियोजन में नियोजनकर्त्ता अपनी क्षमता के अनुसार उद्देश्यों की रचना नहीं करता किन्तु पहले उद्देश्य निर्धारित किए जाते हैं और फिर उनके साधन खोजे जाते हैं। देश के उच्चतर जीवन की प्राप्ति के लिए पर्याप्त मात्रा में जनता की प्राप्ति और उत्पादन साधनों की वृद्धि एकाएक नहीं की जा सकती। ऐसी स्थिति में देश को उपभोक्ता वस्तुएँ और पूँजीगत माल दोनों का इतनी मात्रा में आयात करना होता है जिसका वह अधिक निर्यात द्वारा तत्काल भुगतान नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में देश का भुगतान सन्तुलन घाटे की स्थिति में चलता है।

नियोजन देश की अर्थ-व्यवस्था तथा बाहरी भुगतान की स्थिति को घाटे की स्थिति में ला देता है क्योंकि—

(1) नियोजन को साकार बनाने के लिए जो खर्च किए जाते हैं उनकी आय उसी समय नहीं होती, और जो आय होती है उसका अधिकांश भाग आयातों पर खर्च किया जाता है। नए तरीके के विदेशी माल की दर्शनीय भूख आयात की मात्रा को पर्याप्त ऊँचा रखती है।

(2) नियोजनकर्त्ता देश में उन मशीनों और पूँजीगत माल की खरीददारी के लिए भारी खर्च किया जाता है जिन्हें देश घरेलू रूप से बनाने की स्थिति में नहीं है।

(3) परम्परागत रूप से जिन कृषि वस्तुओं का निर्यात किया जाता था उनका नियोजित अर्थ-व्यवस्था में अधिक से अधिक प्रयोग होने लगता है। यदि नियोजित निवेश स्पष्ट रूप से निर्यात से सम्बन्ध नहीं रखता तो निश्चय ही निर्यात का आकार और मूल्य घट जाएगा अथवा वह बढ़े हुए आयातों की माँगों के साथ मेल नहीं रख पाएगा।

(4) योजना की प्राथमिक आवश्यकताओं को जो प्रकाशन और प्रचार प्रदान किया जाता है तथा योजना के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए जो सम्माननीय स्थान प्रदान किया जाता है, उसके कारण पर्याप्त आयात आवश्यक बन जाते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि नियोजित अर्थ-व्यवस्था देश के भुगतान सन्तुलन में विभिन्न प्रकार से घाटे की स्थिति उत्पन्न करती है।

प्रथम योजना काल (1951-56)

प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में विदेशी विनिमय की स्थिति काफी सुदृढ़ थी और विदेशी विनिमय कोष की मात्रा 127 करोड़ रुपये थी जो तत्कालीन स्थिति में सन्तोषजनक थी। योजना के पहले वर्ष में काफी घाटा हुआ। बाद के चार वर्षों में

भुगतान-अधिशेष की स्थिति रही। इस योजना काल में व्यापार-शेष में यद्यपि 541 करोड रुपए का घाटा रहा लेकिन चालू खाते के भुगतान शेष में यह घाटा केवल 42·3 करोड रुपए ही था। प्रथम योजना काल मे भुगतान-शेष की इस स्थिति के दो मुख्य कारण थे—प्रथम उदार नीति के कारण आयातों मे भारी वृद्धि और द्वितीय, कोरिया युद्ध के कारण निर्यातो मे काफी वृद्धि।

द्वितीय योजना काल (1956-61)

द्वितीय योजना काल मे भुगतान-शेष निरन्तर घाटे मे रहा अतः देश में विदेशी मुद्रा का सकट उत्पन्न हो गया। इस योजना काल मे व्यापार शेष मे कुल घाटे की रकम 2,339 करोड रुपए तक पहुँच गई और चालू खाते मे भुगतान शेष मे 1,721 6 करोड रुपए का घाटा रहा। इस भारी घाटे के तीन मुख्य कारण थे—प्रथम, विकास कार्यों के लिए आयातो मे भारी वृद्धि, द्वितीय, खाद्यान्नो का भारी मात्रा मे आयात, एव तृतीय, निर्यातो मे कमी। सुधार के विभिन्न प्रयासो के बाद भी 1960-61 मे देश का विदेशी विनिमय-कोष घटकर 303 6 करोड रुपए पर आ गया।

तृतीय योजना काल (1961-66)

इस योजना काल मे भी भुगतान शेष की स्थिति द्वितीय योजना काल जैसी ही रही। चालू खाते मे घाटा 2,567'5 करोड रुपए का हुआ। योजना में कुल घाटा 3,075 5 करोड रुपए का था जिसका अधिकांश भाग (2,312 करोड रुपए) हमारे व्यापार सन्तुलन का घाटा था। घाटे की पूर्ति मुख्यतः बाह्य ऋणो से की गई।

वार्षिक योजनाएँ (1966-67 से 1968-69)

इन तीन वार्षिक योजनाओं के दौरान भी चालू खाते मे भुगतान शेष की प्रतिकूल स्थिति बनी रही। 1966-67 मे व्यापार घाटा 904·6 करोड रुपए हुआ जबकि कुल घाटा 1157·8 करोड रुपए का था। इस घाटे की पूर्ति बाह्य सहायता, अन्तर्राष्ट्रीय कोष से प्राप्ति और विदेशी विनिमय कोष से की गई। बाह्य सहायता (1,032 करोड रुपए) का ही प्राधान्य रहा। 1966 67 मे विदेशी विनिमय कोषो में 36·5 करोड रुपए की कमी हुई किन्तु बाद मे निर्यात में सुधार के फलस्वरूप 1967-68 और 1968-69 में इन कोषो मे औसतन 115 करोड रुपए की वृद्धि हुई।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना काल (1969-74)

यह योजना काल भारी उथल पुथल का रहा और 1973–74 मे विदेशी विनिमय का सकट गम्भीर हो गया। 1974-75 मे लगभग 1,000 करोड रुपए का व्यापार शेष में घाटा रहा। जनवरी 1974 मे विदेशी विनिमय का कुल कोष 776 5 करोड रुपए था जो बहुत ही कम था क्योंकि इस राशि से कुछ ही महीनों के आयात की व्यवस्था की जा सकती थी। योजना के पाँच वर्षों के अन्त मे चालू खाते का घाटा 2,140 करोड रुपये का रहा। वास्तव मे चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में भुगतान सन्तुलन की हमारी स्थिति बहुत ही बिगड़ गई।

कभी नही थी। किन्तु यहाँ पर इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया जाना जरूरी है कि इस लक्ष्य की प्राप्ति अंशतः वृद्धि (विकास) के लिए किए जाने वाले पूंजीनिवेश की कीमत पर हो सकी है। इसके अलावा कच्चे तेल की कीमतों मे भारी वृद्धि होने के कारण देश का आयात बिल भी काफी बढ गया है जो कि भविष्य मे, जब कभी भी समायोजन नीतियाँ अपनाना जरूरी होगा, हमेशा दुखदायक सिद्ध होगा।

चूंकि मार्च 1975 की अवधि के बाद के भारत के भुगतान शेष के ब्यौरेवार आँकडे इस समय उपलब्ध नही हैं इसलिए देश के समग्र भुगतान शेष की स्थिति के मुख्य पहलुओ की जानकारी, देश की विदेशी मुद्रा प्रारक्षित निधि मे हुई घट-बढ से, वाणिज्यिक आसूचना और सांख्यिकी महानिदेशालय द्वारा प्रकाशित विदेशी व्यापार के आँकडो से और प्राप्त हुई विदेशी सहायता की रकमो तथा उन अन्य अन्तिम आँकडो से मिल सकती है जो सकल आन्तरिक प्रेषणाओ (विदेशो से भेजी गई रकमो) के सम्बन्ध मे उपलब्ध हुए हैं।

भारत की विदेशी मुद्रा प्रारक्षित निधि मे सोना, जिसका मूल्य निर्धारित कीमत पर आँका जाता है, एस. डी. आर. (विशेष निकासी अधिकार) और विदेशी मुद्रा परिसम्पत्ति शामिल है। चूंकि सोने का प्रयोग चालू लेन-देन के लिए नही किया जाता है और एस. डी. आर. मे केवल मामूली घट-बढ होती है, इसलिए विदेशी मुद्रा के रूप मे धारित विदेशी मुद्रा प्रारक्षित निधि मे होने वाली घट-बढ से देश के विदेशी कारोबार के निबल परिणाम का पता चलता है।

1974–75 मे भारत के भुगतान शेष पर भारी दबाव पडा था और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से 484·7 करोड रुपये का ऋण प्राप्त कर लेने के बावजूद, इसकी प्रारक्षित निधि मे केवल 29·7 करोड रुपये की मामूली वृद्धि हो सकी थी। भुगतान शेष पर यह दबाव 1975–76 के शुरू मे भी बना रहा और अगस्त 1975 मे 1975 की 'तेल सुविधा' के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से 207 1 करोड रुपये (2013 लाख एस. डी. आर.) की रकम ले ली। वर्ष की दूसरी छमाही मे ये दबाव घटने लगे और 1975–76 के पूरे वर्ष के बाद भारत की विदेशी मुद्रा प्रारक्षित निधि मे सोना और एस. डी. आर. को छोडकर 881·2 करोड रुपये की वृद्धि हुई। 1975 की तेल सुविधा के अन्तर्गत ली गई 207·1 करोड रुपये की रकम को छोड़कर इन प्रारक्षित निधियो मे 674·1 करोड रुपये की वृद्धि हुई।

1975–76 मे भुगतान शेष की स्थिति मे जो विशेष सुधार हुआ, वह विदेशों से भेजी जाने वाली रकमो के आधार पर होने वाली अदृश्य प्राप्तियो मे और विदेशी सहायता से हुई निबल प्राप्तियो मे पर्याप्त वृद्धि होने के कारण हुआ। इसके अलावा आयात मे वृद्धि की दर मे भारी कमी हो जाने तथा निर्यात के लगातार बढते रहने के कारण, चाहे वृद्धि की यह दर 1974–75 के दौरान हुई वृद्धि की दर से कम थी। व्यापार घाटा पहले के वर्ष की तुलना में केवल थोडा सा अधिक रहा।

भुगतान शेष के खातों के ब्यौरेवार आँकड़े उपलब्ध न होने की स्थिति में विशिष्ट मदों के सम्बन्ध में जिनमें हाल के वर्षों से निवल अदृश्य प्राप्तियों में सुधार हुआ है कोई पक्का अनुमान लगाना वास्तव में कठिन है। जो जानकारी 1974–75 1975–76 और 1976–77 के दौरान विदेशों से भारत आने वाली नकद रकमों के सम्बन्ध में उपलब्ध हुई है उससे यह पता चलता है कि प्राप्तियों की इस राशि में लगातार वृद्धि होती रही है। विदेशों से भेजी जाने वाली सभी रकमें, वास्तव में निवासी से होने वाली प्राप्तियों से भिन्न हैं और इनमें परिवार के गुजारे के लिए भेजी जाने वाली अनिवासियों की बचतों के रूप में भेजी जाने वाली, प्रवासियों द्वारा अन्तरित की जाने वाली तथा मनीआर्डर की 'प्रावक' प्राप्तियों जैसी मदों के अलावा जो प्रावक प्रेषणाओं (इनवार्ड रेमिटेन्स) शब्द की धारणा के अधिक अनुरूप हैं हवाई कम्पनियों तथा नौ परिवहन की प्राप्तियाँ बीमा प्राप्तियाँ, लाभांश प्राप्तियाँ और पर्यटन प्राप्तियाँ जैसी मदों का शामिल किया गया है। चूँकि यह मान लेने का कोई आधार नहीं है कि नौ परिवहन तथा हवाई कम्पनियों और पर्यटन से होने वाली प्राप्तियों जैसी अदृश्य प्राप्तियों में एकदम से कोई वृद्धि हो गई है इसलिए इस नतीजे पर पहुँचना ही उचित होगा कि यह वृद्धि प्रावक प्रेषणाओं में हुए सुधार के कारण हुई है। विदेशों में काम करने वाले भारतीयों की संख्या में भारी वृद्धि, तस्करी की रोकथाम, देश और विदेश में सोने की कीमतों के अन्तर में कमी तथा रुपये की क्षमता में सुधार जैसी कई बातें हैं जिनसे प्राधिकृत बैंकों के माध्यम से आने वाली रकमों में वृद्धि हुई है। अनिवासी भारतीयों की बचतों को भारत में आकर्षित करने के लिए सरकार की ओर से जो विशेष योजनाएँ शुरू की गई थीं उनका बाहर से भेजी जाने वाली रकमों में हुई वृद्धि में कोई बड़ा योगदान प्रतीत नहीं होता।

1976–77 में भारत की विदेशी ऋण शोधन की स्थिति में अनुकूल प्रवृत्तियाँ बराबर बनी रहीं और व्यापार शेष में थोड़ा अधिशेष होने तथा निवल अदृश्य प्राप्तियों में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप विदेशी मुद्रा प्रारक्षित निधियों में वृद्धि का स्तर 1975–76 की अपेक्षा कहीं अधिक ऊँचा था। यदि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को की गई वापसी अदायगियों को हिसाब में न लिया जाए तो भारत की विदेशी मुद्रा प्रारक्षित निधियाँ (सोना, तथा एस डी आर को छोड़कर) मार्च 1977 के अन्त में 2863 0 करोड़ रुपये की थी अर्थात् मार्च, 1976 के अन्त में मौजूद राशि की तुलना में 1674 1 करोड़ रुपये अधिक थी। भारत ने फरवरी 1974 में प्रतिपूरक वित्त व्यवस्था सुविधा के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से ली गई रकम के सम्बन्ध में अप्रैल, 1976 में 64 7 करोड़ रुपये की पूरी वापसी अदायगी समय से पहले कर दी और 1974 की तेल सुविधा के अन्तर्गत ली गई रकम के सम्बन्ध में पूरी वापसी अदायगी और 1974 में लिए गए ऋण के प्रथम अंश की आंशिक रूप में वापसी अदायगी के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से पुनः 238 1 करोड़ रुपये की मुद्राएँ खरीद ली। इन वापसी अदायगियों के फलस्वरूप

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के प्रति भारत की पुनः खरीद सम्बन्धी बकाया देनदारियों मे काफी कमी हुई है।

ऐसी हालत मे जबकि विश्व की प्रमुख मुद्राओ के विनिमय मूल्य में उतार-चढाव बराबर हो रहे थे रुपये की प्रभावी विनिमय दर को अधिक स्थिरता प्रदान करने के उद्देश्य से 25 सितम्बर, 1975 को पौण्ड स्टर्लिंग से रुपये का सम्बन्ध विच्छेद कर दिया गया था। तब से रुपये का मूल्य उन देशों की मुद्राओ की टोकरी के अनुरूप निर्धारित किया जाता है जो व्यापार के क्षेत्र मे भारत के मुख्य साझेदार है। जबसे यह व्यवस्था लागू की गई है रुपये को विनिमय दर मे मध्यवर्ती मुद्रा (इन्टरवेशन करेंसी) के अनुरूप कई बार परिवर्तन किया गया है, और अब तक के अनुभव से यह पता चलता है कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत काम सुचारु रूप से चला है और इससे विदेशो के साथ हमारे व्यापार मे किसी प्रकार की कोई अस्थिरता पैदा नही हुई है।

आर्थिक समीक्षा 1977–78 के अनुसार विदेशी मुद्रा प्रारक्षित निधि में घट-बढ़ और समग्र भुगतान शेष की प्रवृत्तियाँ

पिछले दो तीन वर्षो मे भारतीय अर्थ-व्यवस्था की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह रही है कि इसके विदेशी भुगतानो की स्थिति मे महत्त्वपूर्ण सुधार हुआ है। इस सुधार मे जितना योगदान व्यापारिक माल के निर्यात मे लगातार होने वाली वृद्धि का रहा है उतना ही अदृश्य प्राप्तियो मे हुई वृद्धि का भी है। इसी के साथ ही, पहले के वर्षो मे आयात मे जो वृद्धि हुई थी वह भी खाद्यान्न तथा उर्वरकों के आयात मे जो 1975–76 मे देश के कुछ आयात के 37 प्रतिशत भाग के बराबर था, तेजी से कमी हो जाने के कारण बराबर हो गई। निर्यात, आयात तथा अदृश्य मदो के मामले मे जो परिवर्तन हुए है उनसे देश की विदेशी मुद्रा की प्रारक्षित निधि मे अत्यन्त आकस्मिक सुधार हुए हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के साथ हुए लेन-देनो को हिसाब मे न लेते हुए भारत की विदेशी मुद्रा प्रारक्षित निधि (सोना तथा एस डी. आर. को छोड़ कर जिनमे घट-बढ बहुत ही साधारण हुई है) जिसमे 1975–76 मे 674 1 करोड़ रुपये की वृद्धि हो गई थी, 1976–77 मे 1674 1 करोड रुपये और बढ गई। जनवरी, 1978 के साथ समाप्त हुए चालू वर्ष के दस महीनो मे प्रारक्षित निधि में 1344 9 करोड रुपये की और अधिक वृद्धि हुई है। इस वर्ष, 1976–77 की इस अवधि की तुलना मे प्रारक्षित निधि मे कही ज्यादा वृद्धि हुई।

भारत के भुगतान शेष पर जो दबाव था, वह 1975–76 मे काफी कम हो गया। इस दबाव को कम करने का श्रेय विदेशो से प्राप्त होने वाली प्रेषणाओ के रूप मे मिलने वाली अदृश्य प्राप्तियो की वृद्धि को तथा विदेशी सहायता की प्राप्तियों मे होने वाली काफी ज्यादा वृद्धि हुई किन्तु आयात मे कुछ और ज्यादा वृद्धि हो जाने से 1222 करोड रुपए का व्यापारिक घाटा रहा जो अधिकतम था जबकि इसकी तुलना मे 1974–75 मे 1190 करोड रुपये का व्यापारिक घाटा रहा था।

इस पर भी प्रारक्षित निधि मे—वृद्धि हुई क्योंकि निवल चालू अदृश्य प्राप्तियो तथा सहायता के रूप मे मिलने वाली राशि मे वृद्धि हुई थी और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की तेल सुविधा के अन्तर्गत रकम की निकासी की गई थी।

वर्ष 1976–77 मे, भारत की विदेशी भुगतान की स्थिति मे और ज्यादा सुधार हुआ। 69 करोड रुपये का सामान्य व्यापारिक अधिशेष भी रहा क्योंकि निर्यात बढ कर 5143 करोड रुपये का हो गया और आयात कम होकर 5074 करोड रुपये का रह गया। विदेशो से भेजी जाने वाली राशि मे बराबर वृद्धि होती गई और इस तरह के उपायो अर्थात् तस्कर व्यापार की रोकथाम के लिए किए गए उपायो से तथा विदेशो म काम करने वाले भारतीयो की सख्या म अत्यधिक वृद्धि हो जाने से तथा ससार की कई एक महत्त्वपूर्ण मुद्राओ की स्थिति मे अनिश्चितता आ जाने मे इस राशि की वृद्धि को भी बल मिला। यद्यपि निवल सहायता की प्राप्तियों में 306 करोड रुपय की कमी हुई तथापि देश की विदेशी मुद्रा प्रारक्षित निधि म 1976–77 म 1674 करोड रुपय की वृद्धि हुई जबकि इसकी तुलना म 1975–76 मे 674 करोड रुपय की वृद्धि हुई थी। भारत की विदेशी मुद्रा प्रारक्षित निधि मे इस कदर काफी अधिक वृद्धि हो जाने के कारण भारत ने 1976–77 मे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को 302 8 करोड रुपये की राशि लौटा दी जबकि इसके विपरीत इससे पहले के वर्ष मे उसने 207 1 करोड रुपय की रकम उधार ली थी।

चालू वर्ष के दौरान व्यापारिक माल के लेन-देन तथा अदृश्य मदो की वे सभी प्रवृत्तियाँ, जो कि 1976–77 म दृष्टिगोचर हुई थी, बराबर जारी रही। वाणिज्यिक आसूचना तथा सांख्यिकी महानिदेशालय के द्वारा सकलित प्रारम्भिक आँकडो के अनुसार, अप्रेल-नवम्बर 1977 मे कुल मिलाकर 3472 करोड रुपये के मूल्य का निर्यात हुआ जबकि इसके मुकाबले आयात 3400 करोड रुपये के मूल्य का हुआ और इस प्रकार 72 करोड रुपये का अधिशेष रहा। इससे तथा अदृश्य मदो के क्षेत्र मे बराबर चली आ रही अनुकूल प्रवृत्तियो से विदेशी मुद्रा प्रारक्षित निधि के भण्डार मे और अधिक वृद्धि हुई है। चालू वित्तीय वर्ष मे 31 जनवरी, 1978 तक प्रारक्षित निधि मे 1345 करोड रुपये की वृद्धि हुई जबकि इसकी तुलना मे 1976–77 की इसी अवधि मे 1201 करोड रुपये की वृद्धि हुई थी। जुलाई, 1977 मे देश ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को 248 6 करोड रुपये की राशि की और वापसी अदायगी की और इस प्रकार से कोष के प्रति हमारी बकाया देनदारी कम होकर 207 करोड रुपय रह गई जो कि तेल सुविधा के अन्तर्गत अगस्त, 1975 मे की गई निकासी के कारण थी।

हमारी अर्थ-व्यवस्था के वैदेशिक पक्ष मे लगातार मजबूती बनी रहने के कारण, पूँजी निवेश मे वृद्धि करने तथा विकास के क्रियाकलाप को और ज्यादा तीव्रगति से सम्पन्न करने के लिए नीति सम्बन्धी विकल्प खुल गए है। 1977–78 की आयात नीति के द्वारा, उत्पादन के आधार को और सुदृढ बनाने के लिए आयात

प्रक्रिया को उदार बनाए जाने का सिलसिला और आगे बढ़ाया गया ताकि अर्थ-व्यवस्था की प्रगति की दर और बढ़ सके। बहुत-सी अनिवार्य वस्तुओं के आयात की प्रक्रिया को और उदार बना दिया गया है। वर्तमान आयात नीति को इस प्रकार नई दिशा प्रदान की गई है कि जिससे घरेलू उपयोग तथा निर्यात के दोनों उद्देश्यों को पूरा करने के लिए उत्पादन मे वृद्धि करने के प्रयोजन से उद्योग धन्धों की कच्चे माल तथा संघटकों की सभी उचित आवश्यकताओं को पूरा किया जा सके। चमड़े तथा परिधान बनाने की मशीनरी, बहुत-सी औषधियों तथा दवाइयो, रासायनिक पदार्थों, इलैक्ट्रानिक वस्तुओं तथा लोहे और इस्पात की मदो का आयात, अब खुली सामान्य लाइसेंस प्रणाली के अन्तर्गत किया जा सकता है और इस प्रणाली को और ज्यादा व्यापक बना दिया गया है। इसके अलावा, बहुत-सी वस्तुओं, जैसे आयातित मशीनरी के फालतू पुर्जों, ऐसी मशीनरी की कतिपय मदो को जो देश के अन्दर उपलब्ध नही है, पोलिस्टर रेशे, घड़ियों के पुर्जों तथा सूखे मेवो को उन्मुक्त लाइसेंस प्रणाली के अन्तर्गत रख दिया गया है। इसके अलावा, घरेलू उपलब्धि मे वृद्धि करने और इस तरीके से कीमतो पर नियन्त्रण रखने के लिए खाद्य तेलो, कपास तथा मानव निर्मित रेशे जैसी आवश्यक वस्तुओं का आयात उदारता से किए जाने की अनुमति दे दी गई है। देश मे पूँजी के निवेश को बढ़ावा देने के प्रयोजन से, सरकार विशेषकर विद्युत (पावर), उर्वरक तथा सीमेन्ट जैसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्रो मे आयातित संयत्रों तथा उपकरणों के उपयोग के सिलसिले मे और ज्यादा लचीली नीति को अपनाती रही है।

आवश्यक वस्तुओं की घरेलू उपलब्धि मे वृद्धि करने तथा पूँजी के निवेश को बढ़ाने के लिए आयात प्रक्रिया को उदार बनाने के प्रयोजन से ये जो तमाम उपाय किए गए हैं, वे आगामी कुछ महीनो मे अपना फल दिखलाएँगे। आयात नीति को उदार बनाने का असर तो अभी से मालूम होने लगा है क्योंकि इससे आयात लाइसेंसो की संख्या मे अत्यधिक वृद्धि हो गई है। अप्रैल-अक्तूबर, 1977 मे 4147 करोड रुपये मूल्य के आयात लाइसेंस जारी किए गए जबकि इसकी तुलना मे 1976 की इसी अवधि मे 2149 करोड रुपये मूल्य के लाइसेंस जारी किए थे। अर्थ-व्यवस्था के वैदेशिक पक्ष की निरन्तर सुदृढ़ता को देखते हुए, सरकार ने हाल ही मे, भारतीयो द्वारा विदेशो की यात्रा करने पर लगी पाबन्दियों को भी ढीला कर दिया है।

देश की विदेशी मुद्रा सम्बन्धी स्थिति, कुछ वर्ष पहले की तुलना मे इस समय बहुत ज्यादा सुधरी हुई है। कृषि उत्पादन मे जितनी घटबढ़ होती है उसको ध्यान मे रखते हुए और इस तथ्य के लिए गुंजाइश छोड़ते हुए कि भारत के पास, बहुत से अन्य विकसित देशो की तरह, जरूरत के समय गुजारा करने के लिए प्रारक्षित निधि का कोई दूसरा साधन नही है, यह वांछनीय प्रतीत होता है कि देश को प्रचुर मात्रा में विदेशी मुद्रा का भण्डार सदा अपने पास रखना चाहिए। चूंकि यह निधि हमारा एक बहुमूल्य साधन है, इसलिए इसे विकास सम्बन्धी प्रयोजनो के लिए इस्तेमाल किए जाने की अविलम्ब आवश्यकता है।

स्मरण रहे कि भारतीय रुपये का सम्बन्ध 25 सितम्बर 1975 में पौण्ड स्टर्लिंग से तोड़ दिया गया था और रुपये की प्रभावी विनिमय दर को और ज्यादा स्थिरता प्रदान करने के लिए रुपये को पौण्ड के बजाय भारत के साथ मुख्य रूप से व्यापार करने वाले देशों की मुद्राओं की डलियों के साथ जोड़ दिया गया था। तथापि पौण्ड स्टर्लिंग को मध्यवर्ती मुद्रा के रूप में काम में लाया जा रहा है। सितम्बर 1975 में 18 3084 रुपये प्रति पौण्ड की माध्यमिक दर निर्धारित कर दी गई है। तब से मुद्राओं की डली के आधार पर कई बार माध्यमिक दर में समायोजन किया गया है। अन्तिम समायोजन पहली नवम्बर 1977 को किया गया जबकि माध्यमिक दर को 15 75 रुपये प्रति पौण्ड के हिसाब से निर्धारित किया गया था।

व्यापार शेष

वर्ष 1976–77 में भारत के वैदेशिक व्यापार सम्बन्धी लेनदेनों में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ आया। पेट्रोलियम खाद्य उर्वरकों तथा औद्योगिक कच्चे माल की कीमतों में वृद्धि हो जाने से जो खराबी पैदा हुई उसे 1976 77 में रोक दिया गया और व्यापार खाते में 69 करोड़ रुपये का थोड़ा आधिक्य भी प्राप्त हुआ। 1976–77 में निर्यात मूल्य में 27 प्रतिशत की वृद्धि हुई और यह बढ़कर 5143 करोड़ रुपये तक जा पहुँचा लेकिन परिमाण की दृष्टि से यह वृद्धि 18 प्रतिशत रही। निर्यात के क्षेत्र में 27 प्रतिशत की वृद्धि भी उल्लेखनीय है विशेषकर जब हम इसका मुकाबला विश्वव्यापी निर्यात क्षेत्र में हुई 13 6 प्रतिशत की वृद्धि और औद्योगिक क्षेत्रों में हुई 11 प्रतिशत की वृद्धि से करते हैं। दूसरी ओर आयात में 3 6 प्रतिशत की कमी हो गई और आयात 5074 करोड़ रुपये के मूल्य का रह गया। आयात में यह जो कमी हुई वह परिमाण तथा इकाई कीमत (यूनिट प्राइस) में लगभग समान अनुपात में कमी होने के कारण हुई। पहले के वर्षों में व्यापारिक मूल्य में जो गिरावट आई थी उसको 1976–77 में रोक दिया गया और पहले के वर्षों की तुलना में निवल व्यापारिक मूल्य में 7 4 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

वाणिज्यिक आसूचना तथा सांख्यिकी महानिदेशालय के द्वारा प्रस्तुत किए गए अन्तिम आँकड़ों के अनुसार 1977–78 के पहले आठ महिनों के दौरान हुए भारत के आयात तथा निर्यात का मूल्य क्रमशः 3400 करोड़ रुपये तथा 3472 करोड़ रुपये था जिसके परिणामस्वरूप 72 करोड़ रुपये का व्यापारिक अधिशेष रहा जबकि इससे पहले के वर्ष के पहले आठ महीनों में 98 करोड़ रुपये का व्यापारिक घाटा हुआ था। इस अवधि के दौरान निर्यात में वृद्धि की दर धीमी होकर 9 प्रतिशत रह गई जबकि 1976–77 के पहले आठ महीनों के दौरान इसमें 31 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी किन्तु आयात के मूल्य में 3 8 प्रतिशत की साधारण सी वृद्धि हुई थी जबकि इसके मुकाबले पिछले वर्ष की इसी अवधि में 6 7 प्रतिशत की कमी हुई थी।

भुगतान असन्तुलन की समस्या के निराकरण के उपाय

यद्यपि भुगतान सन्तुलन प्रतिवर्ष सन्तुलित हो जाता है या उसे सन्तुलित कर लिया जाता है, पर इसका यह आशय नहीं होता कि भुगतान सन्तुलन सदैव सन्तुलित रहता है। वास्तव में चालू खाते में (आयात-निर्यात एवं विभिन्न सेवाओं की मदों को शामिल करते हुए) भुगतान सन्तुलन विपक्ष में हो सकता है। भारतीय अर्थ-व्यवस्था में भुगतान असन्तुलन की समस्या को दूर करने के लिए आवश्यक है कि—

1. निर्यातों को प्रोत्साहन दिया जाए और निर्यात-संवर्धन के लिए सभी उपायों को अमल में लाया जाए। देश पर जो ऋण-भार है उन्हें चुकाने का वास्तविक समाधान यही है कि हम अपनी आय बढ़ाकर उन प्रभावों से मुक्त हों। इस दिशा में विदेशी सहायता पर निर्भर करना उचित नीति नहीं है क्योंकि एक तो वह अनिश्चित होती है और दूसरे पिछले कुछ वर्षों से उसमें निरन्तर गिरावट आ रही है। निर्यात-संवर्धन के साथ ही आयातों पर समुचित नियन्त्रण लगाना भी आवश्यक है। देश में 1956–57 के बाद से प्रतिबन्धात्मक आयात नीति प्रारम्भ की गई, लेकिन उस पर और प्रभावी अमल की आवश्यकता है। यह शुभ लक्षण है कि 1976 के प्रारम्भ से हमारे आयात कम हो रहे हैं जबकि निर्यात बढ़ रहे हैं। 1977–78 से आयात नीति को पुनः उदार बनाया गया है, फलस्वरूप हमारा व्यापार शेष पुनः प्रतिकूल हो चला है।

2. भुगतान-असन्तुलन की समस्या को दूर करने का एक अन्य उपाय विनिमय नियन्त्रण है। सरकार आयात-निर्यात नीतियों को कठोरतापूर्वक लागू करने के लिए विदेशी मुद्रा के लेन-देन पर यथोचित नियन्त्रण लगा देती है जिसके फलस्वरूप निर्यातों द्वारा अर्जित विदेशी मुद्रा अनिवार्य कार्यों में ही प्रयुक्त की जाती है। भारत सरकार विनिमय नियन्त्रण के उपाय को अपनाती रही है। यह भी आवश्यक है कि देश में विदेशी पर्यटकों को प्रोत्साहित किया जाए इससे विदेशी विनिमय प्राप्त किया जा सकता है। पिछले कुछ वर्षों में भारत सरकार ने विदेशी पर्यटकों की सुविधाओं का सराहनीय विकास किया है। उत्पादन में वृद्धि बहुत ही महत्त्वपूर्ण कदम है। भारत सरकार ने कपास और कच्चे जूट का उत्पादन बढ़ाकर इनका आयात कम करने का प्रयत्न किया है। निर्यात उद्योगों में भी उत्पादन वृद्धि के प्रयत्न विकासमान हैं। उत्पादन वृद्धि के साथ ही उत्पादकता में वृद्धि भी आवश्यक है और पिछले कुछ अरसे से उत्पादकता-वृद्धि आन्दोलन को बल मिला है।

यदि सरकार इन सभी प्रयत्नों पर कठोरता से अमल करती है तो अगले दशक तक देश अपने भुगतान खातों को बहुत कुछ सन्तुलित कर सकेगी।

प्रश्नावली

(UNIVERSITY QUESTIONS)

अध्याय 1 से 6

1 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मूल कारणों को समझाइए। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पृथक सिद्धान्त का क्या औचित्य है ? पूर्ण विवेचना कीजिए। (1978)

Explain the basic reasons for international trade What is the justification for a separate theory of International Trade ? Discuss fully

2 "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को अन्तर्क्षेत्रीय अथवा अन्तर्स्थानीय व्यापार का विशिष्ट रूप मात्र विचारा जाना चाहिए।" (बर्टिल ओहलिन) (1978)

इस कथन को समझाइए एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अलग सिद्धान्त की आवश्यकता प्रतिपादित कीजिए।

'International trade should be regarded as a special case within the general concept of inter regional or perhaps rather inter local trade '

(Bertil Ohlin)

Discuss this statement and explain the need for a separate theory of International Trade

3 अन्तर्क्षेत्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अन्तर बताइए। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पृथक सिद्धान्त की क्या आवश्यकता है ? इस सम्बन्ध में बर्टिल ओहलिन के विचारों को व्यक्त कीजिए। (1977)

Distinguish between inter regional and international trade Why is there need for a separate theory of international trade ? Give the reasons an views of Bertil Ohlin

4 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार का तो एक विशिष्ट रूप है।' यदि यह सत्य है तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के एक पृथक सिद्धान्त की क्या आवश्यकता है ? व्यापार के 'शुद्ध' सिद्धान्त का क्या अर्थ है ? (1976)

International Trade is only a special case of Inter regional Trade What then is the justification for a separate theory of trade ? What is the meaning of Pure' theory of trade ?

5 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आन्तरिक व्यापार की ही एक विशिष्ट दशा है।' (ओहलिन) विवेचना कीजिए। (1976)

'International Trade is only a special case of Inter-regional Trade ' (Ohlin) D scuss

6 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सस्थापक सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। आज के अल्पविकसित देशों के सन्दर्भ में यह सिद्धान्त कहाँ तक व्यावहारिक है ?

Examine critically the classical theory of International Trade How far is it applicable to the underdeveloped countries of today ?

7 अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार की प्रमुख विशेषताएँ कौन-सी हैं ? क्या इसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से भिन्न मानना युक्तियुक्त है ?

What are the salient features of inter-regional trade ? Is it justifiable to distinguish it from international trade from an analytical point of view ?

8 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार किस प्रकार क्षेत्रीय एवं अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार से भिन्न है ? क्या अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन पर आधारित विशिष्टीकरण द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को हमेशा अधिकतम किया जा सकता है ? अपने उत्तर में उपयुक्त कारण दीजिए।

In what way is the international trade different from the regional and inter-regional trade ? Would specialization on the basis of international division of labour always lead to the maximization of world trade ? Give reasons for your answer.

9 क्या आज के सन्दर्भ में भी आन्तरिक व्यापार की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी वस्तुओं का विनिमय मात्र है ? इन दोनों के बीच क्या मूल अन्तर है ?

Is international trade any more a case of barter of goods than domestic trade ? What are the fundamental points of difference between the two ?

10 "चूँकि विभिन्न देश भी निश्चयत. विभिन्न क्षेत्रों की भाँति हैं, इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त भी अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार के सिद्धान्त का एक प्रमुख प्रयोग है।" इस कथन की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

"As nations are certainly the most significant of all regions, so the theory of International Trade represents the chief applications of the general theory of inter-regional trade." (B *Ohlin*) *Discuss this statement critically.*

11 दो व्यापारकर्ता देशों के मध्य किन स्थितियों में वस्तुओं का मुक्त व्यापार साधन कीमतों में समानता लाने की प्रवृत्ति रखता है ? व्याख्या कीजिए। (1978)

Under what conditions will free international trade in commodities tend to equalise factor prices in the two trading countries ? Explain.

12 रिकार्डो के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए। यदि इन मान्यताओं को कि (अ) श्रम उत्पादन का एकमात्र साधन है, तथा (ब) उत्पादन स्थिर लागत नियम के अन्तर्गत होता है, त्याग दिया जाए तो इस सिद्धान्त में किस प्रकार का संशोधन हो जाएगा? (1978)

Explain the Ricardian theory of comparative costs. How will the theory be modified when the assumptions of (a) labour as the only factor of *production*, and (b) *the law of constant cost are dropped* ?

13 साधन-प्रबलता प्रतिलोमता का अर्थ समझाइए। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के हैक्शचर-ओहलिन सिद्धान्त के परिणामों पर क्या प्रभाव पड़ता है ? विवेचना कीजिए। (1978)

Explain the meaning of factor intensity reversal. How does this affect the conclusion of the Heckscher Ohlin theory of International Trade? Discuss

14 'हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त से यह सिद्ध होता है कि वस्तुओं की गतिशीलता साधनों की गतिशीलता का पूर्णरूप से प्रतिरूप है।" समझाइए। (1976)

"The Heckscher Ohlin theory proves that mobility of goods is a perfect substitute for mobility of factors." Explain

15 "दो देशों में बाजार की दशाएँ जितनी अधिक समान होंगी (विशेषकर आय स्तरों पर) उतनी ही किसी दिए हुए उत्पाद में सफल निर्यात प्रक्रिया होने की अधिक सम्भावनाएँ हैं।" हैक्शचर-ओहलिन प्रमेय के सन्दर्भ में उपर्युक्त वक्तव्य की विवेचना कीजिए। (1975)

"The more similar the market conditions are in the two countries, *especially in regard to income levels, the greater the prospect of successful* export performance in any given product" Discuss the above statement in the context of Hechscher Ohlin theorem.

16 मार्शल एजवर्थ वक्रों द्वारा दो व्यापार करने वाले देशों के बीच व्यापार सन्तुलन को दर्शाइए और समझाइए। (1975)
Show and explain the trade equilibrium of two trading countries with Marshall Edgeworth offer curves

17 हैबरलर द्वारा प्रतिपादित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अवसर लागत सिद्धान्त को संक्षेप में समझाइए। (1975)
Briefly explain the opportunity cost doctrine of international trade as propounded by Haberler

18 रिकार्डो के तुलनात्मक सिद्धान्त की उदाहरण सहित व्याख्या कीजिए। इसके विरुद्ध मुख्य आलोचनाएँ क्या हैं? (1976)
Discuss with the example the Comparative Cost of Theory of Ricardo? What are the main criticisms advanced against it?

19 किन मान्यताओं पर हैक्शर ओहलिन सिद्धान्त आधारित है? (1976)
On what assumptions the Heckshser Ohlin theory is based?

20 हैबरलर के अवसर लागत सिद्धान्त की व्याख्या निम्न दशाओं में कीजिए—
(अ) समता लागत और (ब) वृद्धि लागत। (1976)
Discuss the Haberler's theory of Opportunity Cost in case of
(i) Constant Cost and (ii) Increasing Cost

21 व्यापार शर्तों को निर्धारित करने वाले घटकों की व्याख्या कीजिए। (1976)
Discuss the factors determining the terms of trade?

22 रिकार्डो और हैक्शर ओहलिन के व्यापार मॉडलों में मूलभूत अन्तर क्या है? (1976)
What are the basic differences of the Ricardian and the Heckshser Ohlin trade models?

23 व्यापार के ढाँचे की व्याख्या के लिए सिद्धान्तों में तुलनात्मक लागतों के अन्तर पर बल दिया जाता है। वास्तविक व्यापार के ढाँचे को पूरी तरह समझने के लिए अन्य किन बातों पर ध्यान देना आवश्यक है? (1976)
Trade theory emphasizes differences in comparative costs to explain trade patterns. What other factors need to be taken into account if actual trade patterns are to be fully explained?

24 निम्नलिखित प्रश्नों को सिद्ध कीजिए—
(i) मुक्त व्यापार सर्वश्रेष्ठ नीति है।
(ii) सीमित व्यापार बिना व्यापार की स्थिति से उत्तम है। (1976)
Prove the following propositions
(i) Free trade is the best policy
(ii) Restricted Trade is better than no trade

25 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी हैक्शर ओहलिन सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। (1976)
Examine critically the Heckshser Ohlin Theory of International Trade

26 व्यापार की शर्तों का क्या अर्थ है? वे कब प्रतिकूल हो जाती हैं? इस विचार की जाँच कीजिए कि एक गरीब देश के लिए जो प्राथमिक उत्पादों का निर्यात करता है व्यापार की शर्तों की प्रवृत्ति आम तौर से प्रतिकूल होने की होती है। (1976)
What is meant by terms of trade? When do they become unfavourable? Examine the view that the term of trade of a poor country exporting primary products generally tend to be unfavourable

27 "तुलनात्मक लागतो के अन्तर के [कारण ही विदेशी व्यापार का अस्तित्व है तथा इन्हीं के द्वारा विदेशी व्यापार के परिमाण एवं सरचना का निर्धारण होता है।" स्पष्ट कीजिए।
"Differences in comparative costs account for the existence of foreign trade, and determine its composition and magnitude." Discuss.

28 "प्रतिष्ठित सिद्धान्तो में तुलनात्मक लागतो का सिद्धान्त अपेक्षाकृत बेहतर सिद्ध हुआ है।" स्पष्ट कीजिए।
"The theory of comparative costs has stood up much better than other parts of the old theory." Discuss.

29 "तुलनात्मक लागतों के अन्तर विभिन्न क्षेत्रो मे आर्थिक व सामाजिक विकास के अन्तर को प्रतिबिम्बित करते हैं, न कि अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण मे निहित लाभों को।" स्पष्ट कीजिए।
"*Differences in comparative costs, in international trade, reflects differences* in the social and economic development in different areas rather than the innate advantages of international specialization." Discuss

30 यह बताइए कि किस सीमा तक एक अल्पविकसित देश का विदेशी व्यापार तुलनात्मक लागतो के सिद्धान्त के अनुरूप है।
Consider how far the theory of comparative costs conforms to the conditions of foreign trade of an under-developed country.

31 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दशा को स्पष्ट करने हेतु प्रस्तुत हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त का परीक्षण कीजिए।
Examine the Heckscher Ohlin theory as an explanation of the pattern of international trade.

32 ल्योनटिफ विरोधाभास से आप क्या समझते हैं ? इसका महत्त्व तथा सीमाएँ बतलाइए।
What do you understand by Leontief Paradox ? Explain its importance and limitations. (1978)

33 व्यापार की शर्तों से आप क्या समझते हैं ? इनका निर्धारण किस प्रकार होता है ? व्यापार की शर्तों के सूचकांक को व्यापार से लाभों का सूचक मानने की क्या सीमाएँ हैं ? *(1978)*
What do you understand *by term of trade ? How are they determined ?* What are the limitations of using a terms of trade index as an indicator of the gains from trade ?

34 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे मार्शल एजवर्थ के अर्पण वक्रो को चित्रो के रूप में व्यक्त कीजिए तथा इसे समझाइए। *(1976)*
Give the graphical representation of Marshall Edgeworth offer curve in *International trade and explain it*

35 *व्यापार सिद्धान्तो की निम्नलिखित रेखीय विधियो का विवरण दीजिए—*
(i) *व्यापार उदासीनता वक्र;* (ii) *आफर वक्र;*
(iii) दो-देश, दो वस्तु, दो साधन मॉडल मे व्यापार साम्य का रेखीय चित्रण। (1976)
Explain the following graphical tools of trade theory :
(i) Trade indifference curves, (ii) Offer curves,
(iii) Graphical analysis of trade equilibrium in a two country, two commo*dity, two factor model.*

36 हैक्शर-ओहलिन द्वारा प्रतिपादित *अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार* के सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। *क्या आनुभाविक प्रमाण द्वारा इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है ? (1977)*
Examine critically the Heckscher Ohlin theory of *international trade.* Is the theory suppored by empirical evidence ?

37 रिकार्डो के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए। यदि इन मान्यताओं को कि (अ) श्रम उत्पादन का एकमात्र साधन है तथा (ब) उत्पादन स्थिर लागत नियम के अधीन होता है त्याग दिया जाए तो सिद्धान्त में किस प्रकार का परिवर्तन हो जाएगा ? (1977)
Explain the Ricardian theory of comparative costs How will the theory be modified when the assumptions of (a) Labour as the only factor of production, and b) the law of constant cost are dropped ?

38 हैक्शचर ओहलिन द्वारा प्रतिपादित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। क्या आनुभाविक प्रमाण द्वारा इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है ? (1978)
Examine critically the Heckscher Ohlin theory of International trade Is the theory supported by empirical evidence ?

39 देय वक्र को समझाइए। मार्शल एजवर्थ देय-वक्रों के द्वारा दो व्यापारकर्त्ता देशों के बीच व्यापार सन्तुलन को दर्शाइए तथा समझाइए। (1978)
What is an offer curve ? Show and explain the trade equilibrium of two trading countries with the help of Marshall Edgeworth offer curves

40 व्यापार की शर्तों का अर्थ समझाइए तथा शुद्ध एवं सकल वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तों के मध्य अन्तर बताइए। किस स्थिति में ये दोनों व्यापार की शर्तें एक समान (बराबर) होंगी। उन घटकों की व्याख्या कीजिए जो व्यापार की शर्तों को निर्धारित करते हैं। (1978)
Explain the meaning of terms of trade and distinguish between net and gross barter terms of trade In what situation will these two terms of trade be identical ? Discuss those factors which determine the terms of trade

41 उन स्थितियों का वर्णन कीजिए एवं समझाइए जिनमें ओहलिन का साधन मूल्य समानीकरण सिद्धान्त वैध होता है।
State and explain the conditions under which Ohlin's factors price equalization theory is valid

42 इस धारणा को स्पष्ट कीजिए कि किसी देश के निर्यात हेतु प्रचुर मात्रा में उपलब्ध साधन का गहन उपयोग किया जाता है। इस धारणा की वैधता हेतु आप कौन सी शर्तें प्रस्तुत करेंगे ?
Elucidate the proposition that a country's exports use intensively its abundant factor and lay down the conditions for its validity

43 व्यापार की शर्तों से आप क्या समझते हैं ? उन घटकों का विवरण दीजिए जो इसके निर्धारण को प्रभावित करते हैं।
What is meant by terms of trade ? Explain the factors that influence its determination

44 व्यापार की शर्तों से सम्बद्ध विभिन्न धारणाओं को स्पष्ट रूप से समझाइए।
Explain clearly the different concepts or terms of trade

45 यह बताइए कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ क्यों प्राप्त होते हैं ? इन लाभों को किस प्रकार मापा जाता है ?
Explain how gains of international trade accrue? How are they measured ?

46 रेखाचित्र की सहायता से अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों के सिद्धान्त में पूर्ति व माँग की लोच की धारणाओं का महत्त्व बताइए।
Explain with the help of diagrams the significance of the concept of elasticity of supply and demand in the theory of International values.

47 व्यापार की शर्तों के निर्धारण में पूर्ति एवं माँग की लोचों का क्या महत्त्व है, विस्तार से समझाइए।

Analyse the significance of supply and demand elasticities in influencing the terms of trade

48 टासिग द्वारा निरूपित विशुद्ध एवं सकल व्यापार-शर्तों का अन्तर बताइए। किसी देश की सकल व्यापार शर्तों में परिवर्तन का आपकी दृष्टि में क्या प्रभाव होगा ?

Explain Taussig's distinction between net and gross terms of trade. What significance would you attach to changes in a nation's gross terms of trade ?

49 व्यापार की शर्तों से सम्बद्ध विभिन्न धारणाओं का उल्लेख कीजिए। क्या आपकी दृष्टि में व्यापार की शर्तों में गिरावट का परिणाम आवश्यक रूप से आर्थिक कल्याण की क्षति के रूप में होता है ?

Discuss various concepts of terms of trade. Do you think that deterioration in terms of trade necessarily means loss of economic welfare ?

50 व्यापार अर्द्ध (शर्तों) के विभिन्न सूचकांकों की व्याख्या कीजिए। व्यापार अर्द्ध को निर्धारित करने वाले कारकों की विवेचना कीजिए। (1978)

Explain different indices of terms of trade ? Discuss those factors which determine the terms of trade

51 दो व्यापारकर्त्ता देशों के मध्य किन स्थितियों में मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अन्तर्गत साधनों की कीमतों में समानता की प्रवृत्ति होगी। समझाइए। (1978)

Under what conditions will free International trade in commodities will tend to equalise factor prices in the two trading countries ? Explain.

52 ल्योन्टीफ के विरोधाभास से आप क्या समझते हैं ? इसके महत्त्व व सीमाओं की व्याख्या कीजिए। (1978)

What do you understand by Leontief Paradox ? Explain its importance and limitations

अध्याय 7 से 10

53 किसी वस्तु के आयातों पर सीमा शुल्क के आंशिक सन्तुलन के अन्तर्गत सीमा शुल्क लगाने वाले देश में उस वस्तु के उपभोग, उत्पादन एवं आयातों पर पड़ने वाले प्रभावों को समझाइए तथा चित्र द्वारा दर्शाइए कि सीमा शुल्क लगाने वाले देश में सीमा शुल्क आय के वितरण तथा समुदाय के आर्थिक कल्याण को किस प्रकार प्रभावित करता है ? समझाइए। (1975)

Explain and show in a diagram the effects of an import tariff on production, consumption and imports of a commodity in the tariff imposing country under partial equilibrium How does tariff affect the distribution of income and community welfare in the tariff imposing country ?

54 आंशिक सन्तुलन चित्रों की सहायता से प्रशुल्क व आयात अभ्यंश पद्धति के विभिन्न प्रभावों को दिखाइए। संरक्षण उपायों के रूप में इनके सापेक्षिक गुण व अवगुणों की व्याख्या कीजिए।

Show with the help of the partial equilibrium diagrams the various effects of tariff and impact quote system Discuss their relative merits and demerits as protectionist devices. (1978)

55 आयातों पर प्रशुल्क लगाने वाले देश की दृष्टि से प्रशुल्कों के उत्पादन, उपभोग तथा आय के वितरण पर पड़ने वाले प्रभावों की व्याख्या कीजिए। इस सन्दर्भ में व्यापार नीति के यन्त्र के रूप में इष्टतम प्रशुल्क का अर्थ समझाइए। (1978)

Discuss the effects of tariffs on production, consumption, distribution of income and terms of trade from the point of view of tariff imposing country. In this context explain the concept of optimum tariff as an instrument of trade policy

56 निम्नलिखित पर प्रशुल्क के प्रभावों को समझाइए—

(i) व्यापार की शर्तें, (ii) आन्तरिक कीमत अनुपात और (iii) साधन आय। (1976)

Explain the effects of a tariff on—

(i) The terms of trade, (ii) The domestic price ratio and

(iii) Factor earnings

In which of the above mentioned contexts are the Metzler effect and the Stolper Samuelson theorem relevant ?

57 टैरिफ के सिद्धान्तों में निम्नलिखित तर्कों का परीक्षण करते हुए इनके नीति सम्बन्धी निष्कर्ष समझाइए—

(i) इष्टतम प्रशुल्क का तर्क, (ii) बाह्य बचतों का तर्क और

(iii) बाजार की अशुद्धियों का तर्क। (1976)

Examine the following arguments in the theory of tariffs and explain their policy implications

(i) Optimum tariff argument (ii) External economies argument and

(iii) Market distorations argument

58 निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिए— (1977)

(क) वास्तविक अथवा प्रभावकारी प्रशुल्क की दर तथा

(ख) अनुकूलतम प्रशुल्क।

इन दोनों प्रशुल्कों का व्यापार पद्धति नीति के सिद्धान्त में क्या महत्व है ? समझाइए।

Write short notes on the following

(i) The effective rate of tariff, and

(ii) The optimum tariff

Show the importance of the two concepts in the theory of trade policy ?

59 कस्टम्स संघ के क्या प्रभाव होते हैं ? कल्याण की दृष्टि से क्या कस्टम्स संघ बहुमुखी प्रशुल्क प्रणाली से उत्तम है ? (1977)

What are the effects of a customs union ? Is a customs union superior to a system of all round tariffs from a welfare point of view ?

60 आर्थिक एकीकरण के रूप में चुंगी संघ की आवश्यक विशेषताओं को बताइए। चुंगी संघ के व्यापार सृजन तथा व्यापार दिशा-परिवर्तन प्रभावों को समझाइए एवं चित्र द्वारा दर्शाइए। क्या आप इस मत से सहमत हैं कि यदि चुंगी संघ बनाने वाले देशों की अर्थ-व्यवस्थाएँ परस्पर पूरक न होकर परस्पर प्रतियोगात्मक हैं तो चुंगी संघ बनाने से इन देशों को अधिक लाभ प्राप्त होगा ? समझाइए। (1978)

Explain the essential features of a customs union as a form of economic integration Explain and show diagrammatically the trade creation and trade divers on effects of a customs union Do you agree that the gain from coming a customs union will be greater if the economies of the countries forming a union are competitive rather than complementary ? Explain

61 व्यापार पर अंकुश लगाने की विभिन्न विधियों का अन्तर बतलाते हुए—

(i) आयात प्रशुल्क और निर्यात प्रशुल्क के प्रभावों में अन्तर और

(ii) आयात कोटा और आयात प्रशुल्क के प्रभावों में अन्तर का विवरण दीजिए। (1976)

Distinguish between different methods of restricting trade and explain

(i) How the effects of an export tariff differ from the effects of an import tariff and

(ii) How the effects of an import quota differ from the effects of an import tariff

62 निम्नलिखित कथनों का परीक्षण कीजिए—

(i) "कस्टम्स संघ बहुमुखी प्रशुल्क स्थिति से श्रेष्ठ हैं क्योंकि इसमें प्रशुल्कों की संख्या कम होती है।"

(ii) "यदि संघ बनाने वाले देशों की अर्थ व्यवस्थाएँ परस्पर पूरक हो न कि प्रतिस्पर्द्धात्मक, तो कस्टम्स संघ के प्रभाव अधिक अनुकूल होंगे।" (1978)

Examine the following statements

(i) "A customs union is superior to a system of all round tariffs because it has fewer tariffs"

(ii) "A customs union would have more favourable effects if the economies of countries forming a union are complementary rather than competitive."

63 व्यापार शर्तों के विभिन्न निर्देशांकों की व्याख्या कीजिए। व्यापार की शर्तों के सिद्धान्त का क्या महत्त्व है ? (1976)

Explain the different indices of terms of trade What is the importance of the concept of terms of trade ?

64 संरक्षण की नीतियों के रूप में अभ्यंशों तथा आयात करों के गुण दोषों की विवेचना कीजिए।

Discuss the relative merits and demerits of quotas and import duties as methods of protection. (1975)

65 व्यापार एवं प्रशुल्क पर हुए सामान्य समझौते के प्रमुख उद्देश्य कौन-कौन से हैं ? इन उद्देश्यों की पूर्ति कहाँ तक हो चुकी है ? आप वर्तमान स्थिति को सुधारने हेतु कौन-कौन से सुझाव देंगे ?

What are the main objectives of the GATT ? To what extent they have been accomplished ? What practical suggestions can you make for improving the present situation ?

66 किन परिस्थितियों में आप विदेशी व्यापार एवं विनिमय के क्षेत्रों में विभेदात्मक नीति को उपयुक्त मानते हैं ? इस सन्दर्भ में व्यापार एवं प्रशुल्क पर हुए सामान्य समझौते में क्या प्रावधान हैं ?

Under what circumstances is it advisable to resort to trade and exchange discriminations ? Explain the provisions of the GATT in this regard.

67 व्यापार एवं प्रशुल्क पर हुए सामान्य समझौते का विश्व के व्यापार को सुगम बनाने एवं इसके विस्तार में क्या योगदान रहा है, विस्तार से समझाइए।

State briefly the contribution of GATT in facilitating and expanding the world trade.

68 व्यापार एवं प्रशुल्क पर हुए सामान्य समझौते के आधारभूत सिद्धान्त क्या हैं ? इन सिद्धान्तों को अल्पविकसित देशों के नियोजित आर्थिक विकास ने कहाँ तक प्रभावित किया है ? व्यापार एवं प्रशुल्क पर हुए सामान्य समझौते पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

What are the basic principles of GATT ? How have they been affected by the planned economic development of under developed countries ?

69 विकासशील देशों की समस्याओं को ध्यान में रखते हुए आप व्यापार एवं प्रशुल्क पर हुए सामान्य समझौते में क्या परिवर्तन करना चाहेंगे ?

What changes would you recommend in the GATT bearing in mind the problems of developing countries ?

अध्याय 11 एवं 12

70 मुक्त व्यापार पर अपनी समीक्षा प्रस्तुत कीजिए। आप किन परिस्थितियों में संरक्षण को न्यायोचित मानते हैं ?

Examine the case for free trade. Under what conditions do you justify protection ?

71 "सैद्धान्तिक दृष्टि से किसी भी देश के लिए मुक्त व्यापार सबसे उपयुक्त नीति हो सकती है, परन्तु व्यवहार में कोई भी देश इसे नहीं अपना सकता।" इस कथन पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

"Theoretically free trade is the most suitable policy for any country to adopt but in practice no country can adopt it." Comment on this statement.

72 संरक्षण के पक्ष में दिए गए प्रमुख तर्कों की वैधता स्पष्ट कीजिए।

Explain the validity of the main arguments which are put forward in favour of protection.

73 उन मान्यताओं की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए जिन पर मुक्त व्यापार के पक्ष में दिए जाने वाले तर्क आधारित हैं। क्या अपने आर्थिक विकास के लिए अल्पविकसित देश मुक्त व्यापार नीति अपना सकते हैं ?

Examine critically the assumptions on which the arguments in favour of free trade are based. Can the underdeveloped countries follow a policy of free trade for their economic development ?

74 "मुक्त व्यापार विकसित देशों के लिए सर्वाधिक लाभप्रद हो सकता है परन्तु यह अल्प-विकसित देशों के लिए सदैव घातक सिद्ध होता है।" आप इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं ?

"Free trade may be in the best interest of developed economies, it is always harmful to underdeveloped economies." How for do you agree with this review ?

75 संरक्षण के लिए दिए गए 'शिशु उद्योग' तर्क के औचित्य का परीक्षण कीजिए। इस तर्क को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार चार्टर में किस सीमा तक सम्मिलित किया गया है ?

Examine the 'infant industry argument' as a justification for granting protection. To what extent has it been incorporated in the International Trade Charter ?

76 आप किसी अल्पविकसित देश की इस दुमुंही नीति को कहाँ तक उचित मानते हैं, जिसके अनुसार वह निर्यात के लिए तो मुक्त व्यापार तथा आयात को सीमित करने के लिए संरक्षण नीतियाँ अपनाना चाहता है ?

How can you justify the double standard of an under developed country when it wants free trade to increase its exports and protection to decrease its imports ?

77 एक विकासशील देश के औद्योगीकरण के लिए शिशु उद्योग संरक्षण सिद्धान्त के पक्ष में क्या तर्क हैं ? मूल्यांकन कीजिए। (1976)

Appecise the infant industry argument for protection as a measure to promote the industrialisation of developing countries.

78 संरक्षण के किसी वस्तु के उपभोग, उत्पादन और आयात पर जो प्रभाव होते हैं एक रेखाचित्र द्वारा दिखाइए और समझाइए। संरक्षण आय के वितरण को किस प्रकार प्रभावित करता है ? (1976)

Explain and show in a diagram the effect of protection on the consumption, production and imports of a commodity. How does protection affect the distribution of income ?

79 संरक्षणात्मक तटकर क्या है ? अल्पविकसित देशों में संरक्षण के पक्ष में क्या तर्क दिए जा सकते हैं ?

What is protective tariff ? What are the arguments in favour of protection in under-developed countries ?

80 यह बताइए कि कुछ देश संरक्षण हेतु तटकरों की अपेक्षा आयात कोटा की मात्रात्मक की पाबन्दी को क्यों प्राथमिकता देते हैं ? क्या आपके मत में आयात-कोटा सदैव लाभप्रद सिद्ध होते हैं ?

Describe why quantitative restrictions by imposing import quotas in preferred by some countries to that of protective tariffs for giving protection to domestic industries. Do you think that in all cases quantitatives *restrictions by imposing quotas is advantageous ?*

81 क्षेत्रीय व्यापार एवं मौद्रिक सहयोग द्वारा एशिया में आर्थिक विकास को प्रगति देने की वास्तविक सम्भावनाओं का विश्लेषण कीजिए। (1976)

Discuss the practical possibility of stepping up the pace of economic *development in Asia through regional trade and monetary cooperation*

82 दक्षिणपूर्व एशिया में आर्थिक सहयोग के लिए बनी व्यवस्थाओं का विवरण दीजिए। इस क्षेत्र में साझा बाजार बनाने की समस्याओं की व्याख्या कीजिए। (1978)

Describe the different arrangements for economic cooperation in the *South East Asia* *Discuss the problems of forming a common market in* the region.

अध्याय 13 से 15

83 भुगतान सन्तुलन का क्या अर्थ है ? भारत के सन्दर्भ में उदाहरण देते हुए उन विधियों का वर्णन कीजिए जिनका विपरीत भुगतान-सन्तुलन को ठीक करने हेतु प्रयोग किया जाता है।

What is meant by *balance of payments ? Briefly discuss the measures* adopted to correct adverse balance of payments with reference to India.

84 "भुगतान-सन्तुलन सदैव सन्तुलित रहता है।" यदि ऐसा है तो फिर हम किसी देश के भुगतान-सन्तुलन में अतिरेक या घाटे की चर्चा क्यों करते हैं ?

"The balance of payment is always balanced " How then do we talk about a surplus or a deficit in the balance of payments of a country ?

85 किसी देश के प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन से आप क्या समझते हैं ?

What do you understand by a country's balance of payment deficit ?

86 भुगतान-सन्तुलन में समायोजन करने पर आय, मूल्य-स्तर एवं रोजगार पर होने वाले प्रभावों की व्याख्या कीजिए।

Analyse the possible income effects, price effects and employment effects associated with the adjustment in the balance of payments.

87 प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत उस व्यवस्था का विवरण दीजिए जिसके अनुसार भुगतान-सन्तुलन को साम्य स्थिति में बनाए रखा जा सकता है अथवा साम्य स्थिति को फिर से प्राप्त किया जा सकता है।

Discuss the classical theory of mechanism whereby international balance of payment is maintained in, or restored to, equilibrium position

88 किसी देश के भुगतान सन्तुलन में 'चालू खाता' और 'पूंजी खाता' में भेद कीजिए। निम्न लिखित का किसी देश के भुगतान सन्तुलन पर क्या प्रभाव पड़ता है—
(अ) उस देश में मुद्रा प्रसार
(ब) मुद्रा अतिमूल्यन
(स) विदेशी सहायता।
Distingu sh between Current Account and Capital Account in the Balance of Payment of a country Discuss the impact of
(a) Inflation within the country
(b) Over valuation of currency and
(c) Foreign aid on the balance of payment of a country

89 किसी देश के भुगतान सन्तुलन में असाम्यता के क्या कारण होते हैं? विकासशील देशों के विशेष सन्दर्भ में स्पष्ट बतलाइए कि इसी असाम्यता को कैसे सुधारा जा सकता है? (1976)
What are the causes of disequilibrium in the balance of payments of a country? Discuss the correctives of such disequilibrium with special reference to developing countries

90 अवमूल्यन के देश के भुगतान सन्तुलन पर क्या प्रभाव पड़ते हैं? अवमूल्यन के प्रभावों के लोच विश्लेषण एवं अवशोषण विश्लेषण के अन्तर को समझाइए। (1978)
What are the effects of devaluation on a country's balance of payments? Distinguish between the elasticity analysis and absorption analysis of the effects of devaluation?

91 भुगतान सन्तुलन के घाटे की कुछ वैकल्पिक धारणाओं पर विचार कीजिए। आपकी दृष्टि में इनमें से कौनसी सर्वाधिक महत्वपूर्ण है? सकारण उत्तर दीजिए।
Discuss a few alternative concepts of balance of payments deficit Which of these do you think is the most significant? Give reasons for your answer

92 यह बताइए कि विदेशी व्यापार गुणक के माध्यम से किस प्रकार भुगतान सन्तुलन सिद्धान्त को गत्यात्मकता प्रदान की जा सकती है।
How is it possible to dynamize the theory of payments by means of foreign trade multiplier?

93 भुगतान असन्तुलन ठीक करने हेतु अवशोषण विधि पर विस्तृत टिप्पणी लिखिए।
Write a lucid note on the Absorption Approach to correct a disequilibrium in the balance of payments

94 उन कारणों का उल्लेख कीजिए जिनसे भुगतान सन्तुलनों की कठिनाइयाँ वर्तमान काल में पहले की अपेक्षा अधिक सामान्य बन गई हैं।
How do you account for the fact that balance of payments difficulties have become much more common and a recurrent in the recent years then in the older days

95 विदेशी विनिमय दर का निर्धारण कैसे होता है? मुक्त विदेशी व्यापार के सन्दर्भ में विदेशी विनिमय दर के निर्धारण की प्रक्रिया समझाइए।
How is the rate of foreign exchange determined under conditions of free international trade?

96 विनिमय दर के निर्धारण हेतु प्रस्तुत विभिन्न सिद्धान्तों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
Critically examine the various theories for the determination of the rate of exchange

97 उन घटकों का विवरण दीजिए जिनके कारण विनिमय दर में परिवर्तन होते हैं।
Discuss the various factors that bring about fluctuation in the rate of foreign exchange.

98 दो अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्राओं के बीच विनिमय दर का निर्धारण कैसे होता है, उदाहरण सहित समझाइए।
How is the rate of exchange between two inconvertible paper currencies determined?

99 स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय दर के टकण समता सिद्धान्त को स्पष्टत: समझाइए। विनिमय दर के निर्धारण मे स्वर्ण-बिन्दुओं का क्या महत्त्व है ?
Explain clearly the mint par theory of exchange rate under gold standard. What is the importance of specie points in the determination of the rate of exchange?

100 क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त तथा भुगतान-सन्तुलन सिद्धान्त का अन्तर बताइए। इस अन्तर का व्यवहार मे क्या महत्त्व है ?
Distinguish between the theory of purchasing power parity and the theory of balance of payments. What is the significance of this distinction?

101 क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। यह आधुनिक दशाओं में कहाँ तक लागू होता है ? (1976)
Critically examine the Purchasing Power Parity Theory. How far is it applicable under modern conditions?

102 अवमूल्यन के प्रमुख उद्देश्य बताइए। किसी देश के व्यापार-सन्तुलन में सुधार हेतु अवमूल्यन किन शर्तों के अन्तर्गत लाभप्रद हो सकता है ?
Discuss the principal objectives of devaluation. Under what conditions can devaluation bring about an improvement in the balance of trade of a country?

103 अवमूल्यन से निम्नांकित बातों पर होने वाले प्रभावों की पूर्ण व्याख्या कीजिए—
(क) व्यापार की बाकी, (ख) राष्ट्रीय आय तथा (ग) घरेलू मूल्य स्तर।
Explain fully the effects of devaluation on the following:
(a) Balance of Trade, (b) National Income and (c) Domestic price level

104 उन घटकों का विवरण दीजिए जिनके कारण हाल के वर्षों मे विश्व की प्रमुख मुद्राओं का अवमूल्यन किया गया है।
List the factors that have motivated the devaluation of the major world currencies in recent years.

105 अवमूल्यन की व्याख्या के अवशोषण दृष्टिकोण से आप क्या समझते हैं ? यह दृष्टिकोण लोच दृष्टिकोण से किस प्रकार भिन्न है ?
What is the absorption approach to the analysis of devaluation and how is it different from the elasticity approach?

106 अवमूल्यन के उद्देश्यों की विवेचना कीजिए। किन दशाओं मे अवमूल्यन का व्यापार सन्तुलन में सुधार आ सकता है ? (1977)
Discuss the objectives of devaluation Under what conditions can devaluation bring about an improvement in balance of trade?

107 किसी देश के भुगतान शेष में असन्तुलन उत्पन्न करने वाले विभिन्न कारणों की व्याख्या कीजिए। स्वर्णमान मे यह असन्तुलन किस प्रकार ठीक किया जाता है? समझाइए। (1976)

Discuss the various factors which cause disequilibrium in the balance of payments of a country. How is this disequilibrium corrected under the gold standard ?

108 मुद्रा अवमूल्यन के देश के भुगतान शेष पर क्या प्रभाव पड़ते हैं ? मुद्रा अवमूल्यन के प्रभावो के लोच विश्लेषण और अवशोषण विश्लेषण म अन्तर को समझाइए। (1976)
What are the effects of devaluation on a country's balance of payments ? Distinguish between the elasticity analysis and the absorption analysis of the effects of devaluation.

109 मुक्त विनिमय दरों का क्या अर्थ है ? अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था के सुधार के सन्दर्भ में मुक्त विनिमय दरो से सम्बन्धित समस्याओं की व्याख्या कीजिए। (1978)
What are floating exchange rates ? Examine the problem of currency floats in the context of reform of the international monetary system

110 मुद्रा अवमूल्यन के देश के भुगतान शेष पर पड़ने वाले प्रभावों को व्याख्या कीजिए। इस सन्दर्भ मे—
(i) मार्शल लर्नर नियम, और
(ii) अवशोषण पर अप्रत्यक्ष प्रभावों का विवरण दीजिए। (1976)
Analyse the effects of devaluation on a country's balance of payments. *Explain in this context—*
(a) the Marshall Lerner conditions, and
(b) the indirect effects on absorption

111 विदेशी व्यापार गुणकों के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए। भुगतान-सन्तुलन की प्रक्रिया के सिद्धान्तो मे इस सिद्धान्त का क्या महत्त्व है ? (1976)
Explain the concept of foreign trade multipliers. What is the importance *of the concept in the theory of balance of payments adjustment ?*

अध्याय 16 से 18

112 विनिमय नियन्त्रण के प्रमुख उद्देश्य क्या हैं ? विनिमय नियन्त्रण की विधियों का वर्णन कीजिए।
What are the principal objects of exchange control ? Describe the *methods of exchange control*

113 विनिमय-प्रबन्ध एवं विनिमय नियन्त्रण का अन्तर बताइए। विश्व युद्ध के दौरान तथा युद्धोपरान्त काल मे विश्व के अधिकांश देशों ने विनिमय नियन्त्रण की विधियों का उपयोग क्यों किया था ?
Distinguish between exchange management and exchange control. Why did most countries of the world adopt exchange control methods during and after the world war ?

114 विनिमय नियन्त्रण के प्रमुख उद्देश्य क्या हैं ? भारत में पंचवर्षीय योजना की कार्यान्विति हेतु किस प्रकार का विनिमय नियन्त्रण लागू किया गया है, आलोचनात्मक समीक्षा के साथ बताइए।
What are the main objectives of exchange control ? Discuss the nature of exchange control instituted in India for the implementation of her five year plans. Examine it critically.

115 विनिमय-नियन्त्रण की परोक्ष विधियों का विवरण देते हुए बताइए कि ये किस सीमा तक प्रभावकारी हो सकती हैं ?

Describe the indirect methods of exchange control and show how far are they effective.

116 विनिमय नियन्त्रण का अर्थ समझाइए। विनिमय नियन्त्रण के विभिन्न उद्देश्यों तथा इन उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु तीसा के युग में संसार के देशों द्वारा विनिमय नियन्त्रण की अपनाई गई विभिन्न रीतियों का उल्लेख कीजिए।

Explain the meaning of exchange control. Discuss the various objectives and methods of exchange control that were employed by World countries to achieve these objectives during the thirties

117 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के प्रमुख उद्देश्य कौन-कौन से हैं ? मुद्रा कोष अपने सदस्य देशों को किस प्रकार सहायता देता है ?

What are the main objectives of International Monetary Fund ? How does *the Fund assist its member countries ?*

118 उन विधियों का विवरण दीजिए जिनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों में साम्य बनाए रखने का प्रयास करता है। इन विधियों की सफलता का भी मूल्यांकन कीजिए।

Describe the methods by which the IMF helps to maintain international payments equilibrium and estimate their success ?

119 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की अल्पविकसित देशों के लिए क्या उपयोगिता है। मुद्रा कोष के उद्देश्यों की तुलना में इसकी सफलता का मूल्यांकन कीजिए।

Examine the utility of the IMF for under-developed countries. Evaluate its contribution in relation to its objectives.

120 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्यों एवं नीतियों पर प्रकाश डालिए।

Explain the purposes and policies of I.M.F.

121 संक्षेप में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्य एवं कार्य बताइए तथा अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग बढ़ाने में यह कहाँ तक सफल हो सका है ?

State briefly the purposes and functions of IMF and give an appraisal as to what extent it *has successfully* brought about international monetary cooperation.

122 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने किस प्रकार विनिमय दरों में स्थिरता लाने हेतु प्रयास किया है ? यह बताइए कि मुद्रा कोष के कार्यकलापों एवं नीतियों ने भारत को किस प्रकार प्रभावित किया है ?

In what ways has the IMF helped to stabilize foreign exchange rates ? To what extent has India been affected by the policies and operations of the Fund ?

123 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के कार्यों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए तथा 'दुर्लभ मुद्राओं' की समस्या के समाधान में इसकी असफलता पर प्रकाश डालिए।

Examine critically the working of IMF and account for its failure to solve the problem of 'Scare Currencies'

124 दो देशों के बीच आधारभूत भुगतान असन्तुलन होने पर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष क्या-क्या कदम उठा सकता है ?

What steps can the IMF take if there is fundamental disequilibrium in balance of payments between two countries

125 भारत को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सदस्यता से विदेशी व्यापार एवं आर्थिक विकास के क्षेत्रों में क्या लाभ हुआ है ?

Asses the beneficial effects enjoyed by India in her membership of the IMF on her foreign trade and economic development

126 ' अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का उद्देश्य न तो विनिमय स्थायित्व है न विनिमय में परिवर्तनीयता है, वरन व्यवस्थित विनिमय की व्यवस्था है।"
आप कहाँ तक अपने इस उद्देश्य की पूर्ति में सफल हुआ है ? (1976)

The object of International Monetary Fund is neither exchange rigidity *nor exchange flexibility but orderly exchange arrangement* ' Comment How far has the I M F succeeded in this objective ?

127 अन्तर्राष्ट्रीय तरलता' से आप क्या समझते हैं ? इसके विभिन्न स्रोत कौन कौन से हैं ? अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा विशेष आहरण अधिकारों के निगमन से यह समस्या कहाँ तक सुलझी है ? (19⁻⁻)

What do you understand by 'International Liquidity ? What are its different sources ? To what extent has the issue of S D R s by the I M F eased this problem ?

128 अन्तर्राष्ट्रीय तरलता एवं भुगतान की समस्या पर एक आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए। इस सम्बन्ध में विद्यमान कठिनाइयों को दूर करने हेतु आप क्या सुझाव देंगे ?

Write a critical note on the problem of International Liquidity and Payment What suggestions do you offer to get over the present difficulties in relations to the development of world trade ?

129 अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के प्रमुख स्रोत कौन कौन से हैं तथा उनकी वर्तमान स्थिति कैसी है ? विस्तार से समझाइए।

What are the chief sources of International Liquidity and what is their present position ?

130 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने पिछले कुछ वर्षों से अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि करने हेतु क्या-क्या उपाय किए हैं ? ये उपाय किस सीमा तक सफल रहे हैं ?

What measures have been taken by I M F in recent years to increase International Liquidity and how far they have been proved successful ?

131 तरलता के अभाव की समस्या के समाधान हेतु परिवर्तनशील विनिमय दरों की भूमिका का वर्णन कीजिए।

Discuss the role of flexible exchange rates in meeting a situation of liquidity shortage

अध्याय 19 से 21

132 दीर्घकालीन पूँजी अन्तरण के सन्दर्भ में देशीय तथा विदेशी पूँजी निवेश के मध्य अन्तर बताइए।

Distinguish between domestic and foreign capital investment in the context of long term capital movements

133 प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के भुगतान की बाकी पर क्या प्रभाव होते हैं ?
What are the effects of direct forei n investment on the balance of payments ?

134 संसार के विकासशील देशों के आर्थिक विकास में विदेशी सहायता के तीव्र प्रवाह के महत्त्व की व्याख्या कीजिए। विकासशील देशों को विदेशी सहायता किस रूप में दी जानी चाहिए ? (1978)
Discuss the importance of increased flow of foreign aid in the economic development of world's developing countries In what form should foreign aid be given to the developing countries ?

135 इस दृष्टिकोण का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए कि विदेशी आर्थिक सहायता का विकासशील देशों के आर्थिक विकास में अधिक महत्त्व नहीं है।
Criticaliv examine the view that foreign economic aid is of minor importance in the economic development of under developed countries

136 आर्थिक विकास में विदेशी पूँजी का क्या योगदान है ? विदेशी पूँजी का प्रवाह ऋणी व ऋणदाता देशों को किस प्रकार प्रभावित करता है ?
What is the role of foreign economic aid in economic development ? How does a flow of foreign capital affect the lending and borrowing countries ?

137 विकासशील देशों की विदेशी व्यापार सम्बन्धी समस्याओं पर विस्तार से प्रकाश डालिए।
Explain the foreign trade problems of developing countries.

138 क्या यह ठीक है कि विकसित देशों की तुलना में विकासशील देशों के निर्यातों से प्राप्त आय में अधिक अस्थिरता है ? इस स्थिति में इन देशों की सहायता हेतु अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली में क्या परिवर्तन होने चाहिए ?
Are under-developed countries suffering from greater instability in export earnings than high income countries ? Are any changes necessary in the international economic system to help the poor countries in this respect ?

139 पूँजी का निर्यात ऋणदाता देश के लिए किस प्रकार सामाजिक दृष्टि से लाभप्रद या नुकसानदायक सिद्ध हो सकता है ?
In what respect may the export of capital be socially advantageous of disadvantageous from the point of view of the capital exporting country ?

140 अर्द्ध-विकसित देशों के आर्थिक विकास में विश्व बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ के योगदान का परीक्षण कीजिए। (1978)
Examine the role of IBRD and IDA in promoting the economic growth of underdeveloped countries

141 अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक की ऋण नीति की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए तथा विकासशील देशों के आर्थिक विकास में इसके योगदान का विवरण दीजिए।
Critically examine the lending policy of International Bank for Reconstruction and development and evaluate its role in the promotion of the economic development of developing countries.

142 अल्पविकसित देशों के आर्थिक विकास में अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एव विकास बैंक की क्या भूमिका रही है ? विस्तार से समझाइए।
Examine the role played by the IBRD is assisting the economic development of underdeveloped countries

143 क्या अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निमाण एव विकास बैंक ये दोनों पूरक सस्थाएँ हैं ? यह बताइए कि ये दोनों सस्थाएँ अपने उद्देश्य मे किस सीमा तक सफल रही हैं ?
The IMF and IBRD are complementary institutions and show how far they have been able to achieve the objectives for which they are meant ?

144 अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम एव अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ के लक्ष्यो, उद्देश्यों एव कार्य प्रणाली की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
Critically examine the aims, objectives and working of the International Finance Corporation and Internation l Development Association

145 अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एव विकास बैंक के उद्देश्यो एव सगठन का विवरण दीजिए। यह भी बताइए कि इस बैंक से भारत को क्या लाभ हुआ है ?
Discuss the organization and objectives of the IBRD To what extent has the Bank been able to help India ?

अध्याय 22 से 25

146 1966 के पश्चात् भारत की आयात एव निर्यात व्यापार नीति की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। (1978)
Critically examine the salient features of India's import and export trade policy since 1966

147 पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत भारत की आयात आवश्यकताओं निर्यात सम्भावनाओं और व्यापार आधिक्य के सर्वेक्षण का प्रयास कीजिए। (1978)
Attempt a brief survey of India's import needs, her export prospects and balance of trade position in the Fifth Five Year Plan.

148 भारत के विदेशी व्यापार की आधुनिक प्रवृत्तियों का परीक्षण कीजिए। (1977)
Examine the recent trends in India's Foreign Trade.

149 आर्थिक नियोजन की अवधि में भारत के विदेशी व्यापार की सरचना एव दिशा में हुए परिवर्तनो की विस्तृत समीक्षा कीजिए।
Describe the changes that have taken place in the composition and direction of India's foreign trade during the planned period

150 भारत के विदेशी व्यापार की सरचना मे हाल ही में हुए परिवर्तनों का वर्णन कीजिए। आप निर्यात बढ़ाने व आयातो का प्रतिस्थापन बढाने हेतु क्या सुझाव देंगे ?
Examine the recent trends in the composition of India's foreign trade. What steps do you suggest for promoting exports and substituting imports ?

151 भारत के आयात व निर्यात व्यापार में सम्मिलित प्रमुख वस्तुओं का विवरण दीजिए।
Describe main commodities of India's export and imports.

152 पिछले दो दशकों मे पूर्वी यूरोप के साथ भारत के व्यापार की सरचना तथा प्रवृति का विवरण प्रस्तुत कीजिए।

Discuss the composition and trend of India's trade with Eastern Europe during the last two decades.

153 वर्तमान समय में भारत सरकार द्वारा अपनाए गए विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्यों एवं विधियों का वर्णन कीजिए। (1976)
Describe the objects and various methods of exchange control adopted by the Government of India at the present moment.

154 विनिमय नियन्त्रण का क्या अर्थ है ? भारत में विनिमय नियन्त्रण के कार्य की व्याख्या कीजिए। (1976)
What is meant by exchange control ? Discuss the working of exchange control in India.

155 क्या आप रुपये के अवमूल्यन का समर्थन करेंगे ?
Would you advocate the devaluation of the Rupee ?

156 1966 में हुए रुपये के अवमूल्यन की आधारभूत परिस्थितियों पर विचार कीजिए। इससे हमारे देश का व्यापार किस प्रकार प्रभावित हुआ ?
Discuss the circumstances leading to the devaluation of Rupee in 1966. How did it effect the course of foreign trade in our country ?

157 भारतीय राजकीय व्यापार निगम की कार्यप्रणाली की व्याख्या कीजिए तथा यह बतलाइए कि यह देश के निर्यात व्यापार को किस प्रकार सहायता कर रहा है ? (1978)
Explain the working of the State Trading Corporation of India and state how it is helping the export trade of the country ?

158 भारतीय राज्य व्यापार निगम के कार्यों, प्रगति व सीमाओं पर एक निबन्ध लिखिए। (1978)
Write a note on the functions, progress and limitations of the State Trading Corporation of India.

159 भारत के भुगतान सन्तुलन की अभिनव प्रवृत्तियों व वर्तमान स्थिति का विश्लेषण कीजिए। हाल ही में हमारे विदेशी मुद्रा कोषों के उपयोग हेतु सरकार ने क्या कदम उठाए हैं ? (1978)
Discuss the recent trends and present position of India's balance of payments. What steps have been taken by the Government to utilise our foreign exchange reserves recently ?

160 तेल में कीमतों की वृद्धि से भारत के भुगतान सन्तुलन पर क्या प्रभाव पड़ रहा है ? स्थिति से निपटने के लिए क्या-क्या उपाय किए गए हैं ? (1976)
Discuss the impact of the rise in oil prices on India's balance of payments. What steps have been taken to deal with the situation ?

161 व्यापार सन्तुलन व भुगतान सन्तुलन में अन्तर बताइए। भारत सरकार द्वारा अपने प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन को ठीक करने के लिए हाल ही में अपनाए गए उपायों की विवेचना कीजिए। (1977)
Distinguish between balance of trade and balance of payment Discuss briefly the measures adopted by the Government of India to correct its adverse balance of payment recently.

य प्रश्न और टिप्पणियाँ

2 निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर टिप्पणियाँ लिखिए—

(i) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं अन्तर्राष्ट्रीय तरलता,
(ii) भुगतान शेष
(iii) अंकटाड
(iv) क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग। (1978)

Write short notes on any two of the following—

(i) IMF and International Liquidity
(ii) Balance o payments,
(iii) UNCTAD
(iv) Regional Economic Cooperation.

3 किन्हीं दो पर टिप्पणियाँ लिखिए—

(i) गैट
(ii) विनिमय नियन्त्रण
(iii) अंकटाड
(iv) विदेशी व्यापार गुणक।

Write notes on any two

(i) GATT
(ii) Exchange Control
(iii) UNCTAD
(iv) Foreign Trade Multiplier

निम्नलिखित पर (किन्हीं दो पर) टिप्पणियाँ लिखिए—

(i) रुपये का विनिमय दर
(ii) राजकीय व्यापार निगम
(iii) भारतीय व्यापार की दिशा
(iv) द्विपक्षीय व्यापार समझौते। (1976)

Write notes on any two

(i) Exchange rate of the Indian Rupee
(ii) State Trading Corporation,
(iii) Direction of India s trade
(iv) Bilateral trade aerecments

निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर टिप्पणियाँ लिखिए—

(i) फैक्टर इन्टेन्सिटी रिवर्सल
(ii) भुगतान शेष
(iii) विदेशी सहायता एवं कम विकसित देशों का आर्थिक विकास,
(iv) साधन कीमत समानीकरण सिद्धान्त। (1977)

Write short notes on any two of the following—

(i) Factor intensity reversal
(ii) Balance of payment
(iii) Foreign aid and economic development of less developed countries
(iv) Factor price equalisation theorem.